अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

(PRINCIPLES OF ECONOMICS)

लेखक
पि[illegible]ह, एम० ए०, एल-एल० बी०,
प्राध्यापक, राजस्थान कॉलिज, जयपुर।

तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

आगरा
नवयुग साहित्य सदन,
उच्च कोटि के शिक्षा सम्बन्धी साहित्य के प्रकाशक.
मूल्य : ८॥।) या ८ रु० ७५ नए पैसे

प्रकाशक—नवयुग साहित्य सदन, ३२७६, लोहामण्डी, आगरा।
मुद्रक—राजेन्द्रकुमार जैन, हिन्द प्रेस, ३२७६, लोहामण्डी, आगरा।

तीसरे संस्करण की भूमिका

पुस्तक का तीसरा संस्करण पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। पुस्तक पाठकों को पसन्द आये, लेखक के लिए इससे बड़ा कोई प्रोत्साहन नहीं हो सकता है। तीसरे संस्करण में पुस्तक में कुछ और नई बातों को भी सम्मिलित कर दिया गया है। प्रस्तुत संस्करण में 'फुटकर परिभाषाएं' नामक अध्याय के अन्तर्गत वैयक्तिक पद्धति अर्थशास्त्र एवं सामूहिक पद्धति अर्थशास्त्र तथा स्थैतिक एवं प्रावैगिक अर्थशास्त्र का भी विवेचन कर दिया गया है। भाषा सम्बन्धी काफी सुधार किये गये हैं तथा मुख्य-मुख्य बातें मोटे टाइप मे दी गई हैं, ताकि विद्यार्थियों को विषय सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बातों को समझने मे आसानी हो सके। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए प्रत्येक अध्याय के अन्त मे विभिन्न विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं में गत कई वर्षों में पूछे हुए प्रश्नों का भी समावेश कर दिया गया है।

लेखक उन सभी सज्जनो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है जिन्होंने पुस्तक के लिए सुधार सम्बन्धी बहु-मूल्य सुझाव दिये हैं।

आशा है, पुस्तक विद्यार्थीगण एव सम्बन्धित समाज को उपयोगी सिद्ध होगी।

१ जुलाई, १९६०। लेखक

पृष्ठ क्रम

पहला भाग

विषय परिचय

(INTRODUCTION)

अध्याय १

परिभाषा और सम्बन्धित बातें

(Definition and Related Matters)

परिभाषा की आवश्यकता—

किसी भी वस्तु को परिभाषा के बन्धन मे बांधना कठिन होता है, विशेषकर उन शब्दो की परिभाषा तो और भी कठिन होती है जिनसे हम अपने दैनिक जीवन में सबसे अधिक परिचित होते हैं, किन्तु फिर भी परिभाषा की आवश्यकता तो होती ही है। इसलिए किसी भी विषय अथवा शास्त्र का अध्ययन आरम्भ करने से पहले उसकी परिभाषा दी जाती है। अर्थशास्त्र का अध्ययन भी हम अर्थशास्त्र की परिभाषा से ही आरम्भ करते हैं। परिभाषा का प्रमुख लाभ यह होता है कि हम आरम्भ मे ही यह जान लेते हैं कि जिस विषय का हम अध्ययन करने जा रहे है, वह यथार्थ मे क्या है। अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में यह बात विवादग्रस्त रही है कि पहले अर्थशास्त्र की परिभाषा की जाय या उसके विषय की विवेचना। प्राचीन अर्थशास्त्री पहले विषय की विवेचना करते थे और परिभाषा अन्त मे करते थे। इसके पीछे किंचित यह तर्क छिपा हुआ था कि जब तक हमे यही ज्ञात नही है कि अर्थशास्त्र का विषय क्या है, हम उसकी परिभाषा को क्या समझेंगे? आधुनिक अर्थशास्त्री इसके विपरीत पहले परिभाषा करते हैं और विषय की विवेचना बाद मे। कारण यह है कि परिभाषा अध्ययन के क्षेत्र को सीमित कर देती है और लेखक इधर-उधर भटकने नही पाता है।

जहाँ तक अर्थशास्त्र की परिभाषाओं का प्रश्न है, इस शास्त्र की इतनी परिभाषायें हुई है कि डा० कीन्ज को यह कहना पडा है कि इस शास्त्र ने परिभाषाओं से अपना गला घोंट लिया है।[1] बारबरा ऊटन के इस हास्य मे भी कटु सत्यता छिपी हुई है कि जब कभी भी छः अर्थशास्त्री बैठते हैं उनके सात मत होते हैं,[2] कालान्तर मे बराबर अर्थशास्त्र की परिभाषाओं के निर्माण का काम होता चला आया है और अभी तक भी नई परिभाषायें बनाने और दूसरो की परिभाषाओं की आलोचना करने का क्रम बन्द नही हुआ है। आज भी हम यह नहीं कह सकते हैं कि भविष्य में अर्थशास्त्र की और नई परिभाषाएं नही होंगी। परिभाषाओं की इस अधिकता के कारण विद्यार्थी

---

1. "Political Economy is said to have strangled itself with definitions."—Dr. J. N. Keynes: *Scope and Methods of Political Economy*, p. 153.

2. "Whenever six economists are gathered there are seven opinions."—Barbara Wootton: *Lament for Economics*, p. 14.

को इस विषय के समझने में बहुधा कठिनाई होती है। वैसे भी इन विभिन्न परिभाषाओं मे आपस मे इतने अधिक अन्तर हैं कि किसी के लिए भी उलझन मे पड़ जाना स्वाभाविक ही है।

अर्थशास्त्र क्या है ?—

अर्थशास्त्र क्या है, यह एक ऐसा विषय बन गया है जिसके बारे मे अर्थशास्त्र के विद्वानों मे बहुत बड़ा मतभेद है। इस मतभेद के तीन मुख्य कारण हैं :—(१) प्रायः प्रत्येक प्राचीन लेखक ने पहले अर्थशास्त्र के विषय की विवेचना की है और परिभाषा करने का काम बाद में किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक लेखक ने परिभाषा की रचना इस प्रकार की कि जिससे वे सब समस्याएं, जिनकी वह विवेचना कर चुका था, उसकी परिभाषा के क्षेत्र मे आ जायें। कहने का तात्पर्य यह है कि पहले आर्थिक समस्याओ पर विचार किया गया और अर्थशास्त्र पर विचार बाद में हुआ। अस्तु प्रत्येक लेखक ने भिन्न-भिन्न प्रकार की परिभाषायें की, क्योंकि प्रत्येक की चुनी हुई आर्थिक समस्यायें एक जैसी न थी। (२) दूसरा कारण यह है कि आरम्भ में अर्थशास्त्र के विद्वानों और लेखकों को इस शास्त्र के विरुद्ध बड़े कड़े आरोपो का सामना करना पड़ा था। विशेषकर रसकिन (Ruskin) और कारलायल (Carlyle) ने *बड़े कड़े शब्दो में इस शास्त्र की निन्दा की थी। बात यह है कि कुछ ऐसी परम्परा सी* बन गई थी कि अर्थशास्त्र को एक नीची श्रेणी का अध्ययन माना गया। अर्थशास्त्र मनुष्य की साधारण आवश्यकताओ की पूर्ति का साधन मान लिया गया। इन आक्षेपों से बचने के लिए तथा यह सिद्ध करने के लिए कि इस शास्त्र का विषय इतना नीचा नही है, बहुधा अर्थशास्त्र के लेखको ने इस शास्त्र की परिभाषा तथा इसके विषय के सम्बन्ध मे उलट-फेर करने का भारी प्रयत्न किया। इस प्रकार बार-बार परिभाषाओं के बदलने के कारण अर्थशास्त्र की अनेक प्रकार की परिभाषाएं जमा हो गई। (३) तीसरे, अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य और उसकी क्रियाओ से रहा है तथा वैसे भी यह एक फलता-फूलता और निरन्तर उन्नति करता हुआ शास्त्र रहा है। इसके कारण भी अर्थशास्त्र की परिभाषाओ को बदला गया है, क्योंकि एक ओर तो स्वयं मनुष्य ही एक परिवर्तनशील प्राणी है और दूसरी ओर जीवन की भौतिक दशाएं (Material Conditions of Life) बदलती रही हैं।

सौभाग्य से अर्थशास्त्र के विषय मे बहुत कुछ अन्धकार अब दूर हो गया है। आजकल अर्थशास्त्र के पण्डितो को उन सब आक्षेपो का सामना नही करना पड़ता है जो उनके पूर्वजों को भुगतने पडे थे। अर्थशास्त्र के महत्त्व को ससार ने समझ लिया है। *आज इस शास्त्र के महत्व को कम करने वाला थोथा प्रयास करता है और अपने* प्रगतिशील न होने का परिचय देता है। इसके साथ साथ वर्तमान काल मे अर्थशास्त्रीय लेखको को काम करने में सुविधा भी हो गई है। अर्थशास्त्र का विषय और उसका क्षेत्र एक बड़े अंश तक निश्चित हो चुके है। इस समय यह सम्भव है कि इसकी परिभाषा तर्कशास्त्र (Logic) के नियमो के आधार पर बनाई जा सके। सच पूछिये तो परि-

भाषा करने के पश्चात् अर्थशास्त्र के विषय की विवेचना करने का श्रेय आधुनिक अर्थशास्त्रियों (Modern Economists) को ही है। कम से कम इस बात से तो अब सभी सहमत हैं कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य तथा उसकी प्रेरणाओं से है। अर्थशास्त्र इतिहास, राजनीति तथा मनोविज्ञान की भांति ही एक सामाजिक शास्त्र (Social Science) है।

परिभाषाओं का वर्गीकरण (The Classification of the Definitions)—

इसमे तो कोई सन्देह नही है कि प्राचीन काल मे भी आर्थिक समस्याएं थी और इन समस्याओ पर विचार भी किया गया था, परन्तु प्राचीन काल में मनुष्य का जीवन वर्तमान की भांति संघर्षमय न था। जन-संख्या थोडी थी और मनुष्य की आवश्यकताओ का विकास नही हुआ था। मानवी आवश्यकताओं की संख्या भी वर्तमान की तुलना में बहुत कम थी। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता थी और प्रकृति (Nature) की कृपणता (Niggardliness) उसके वर्तमान रूप में विद्यमान नही थी। यही कारण है कि लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओं मे साहित्य, ललित कलाओं और दर्शन-शास्त्र का तो विकास दृष्टिगोचर होता है, परन्तु अर्थशास्त्र की विवेचना कम दिखाई पड़ती है। ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि एक आर्थिक तथ्य के रूप मे धन की विवेचना १५ वी और १६ वी शताब्दी में आरम्भ हुई, जिस युग मे कि मनुष्य ने अनेक प्रकार की खोज और अनेक प्रकार के आविष्कारों का भी प्रयत्न किया था। इस काल से पहले जिन लेखको ने आर्थिक विषयो की विवेचना की थी वे शायद आर्थिक समस्याओ की वास्तविक प्रकृति से परिचित न थे। ये समस्याएं वास्तविक रूप मे उनके सामने आती भी न थी। आरम्भ मे यूनानी विद्वानों ने अर्थशास्त्र को घर-बार के प्रबन्ध की कला के रूप मे समझा था। आगे चल कर अर्थशास्त्र के क्षेत्र में थोडा विस्तार किया गया और इसे 'राज्य के प्रबन्ध की कला' कहा गया। प्रसिद्ध यूनानी विद्वान प्लेटो (Plato) और अरस्तू (Aristotle) ने घर के प्रबन्ध, राज्य की आय (State Revenues) तथा व्यवसायों के नियन्त्रण तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखा। इसी प्रकार वाणिज्यवादी अर्थशास्त्रियों (Mercantilists) ने भी अर्थशास्त्र को राज्य द्वारा बहुमूल्य धातुएं बटोरने के साधन के रूप में ही उपयोग किया। इन सभी विद्वानों का दृष्टिकोण बहुत संकुचित था। आगे चल कर निर्बाधावादी अर्थशास्त्रियो (Physiocrats) ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र का थोडा विस्तार कर दिया, परन्तु वास्तविक अर्थ मे अर्थशास्त्र का अध्ययन एडम स्मिथ से आरम्भ होता है, जिन्हे अर्थशास्त्र के पिता की पदवी दी गई है। तब से अर्थशास्त्र को एक पृथक शास्त्र के रूप मे अध्ययन करने की प्रथा बराबर चली आ रही है और तभी से अर्थशास्त्र की परिभाषाएं करने का क्रम भी सच्चे अर्थ में आरम्भ हुआ है।

यद्यपि अर्थशास्त्र की अनेक परिभाषाएं की गई हैं, परन्तु कुछ सामूहिक विशेषताओं के आधार पर इन परिभाषाओं को कुछ वर्गों में विभाजित किया जा

सकता है। साधारणतया अर्थशास्त्र की परिभाषाएं चार वर्गों मे बाँटी जा सकती हैं :—(१) वे परिभाषाएं जिनमे अर्थशास्त्र को धन का शास्त्र बताया गया है। एडम स्मिथ से लेकर मार्शल तक के लगभग सभी अर्थशास्त्रियो ने यही दृष्टिकोण अपनाया है। इन परिभाषाओ में मनुष्य की अपेक्षा धन को अधिक महत्त्व दिया गया है और साधारणतया एक संकुचित दृष्टिकोण अपनाया गया है। (२) वे परिभाषाएं जो धन की अपेक्षा मनुष्य पर अधिक जोर देती हैं और जिनमे अर्थशास्त्र को मनुष्य के भौतिक कल्याण का शास्त्र बताया जाता है। इस प्रकार की परिभाषाएं मुख्यतया मार्शल (Marshall) से आरम्भ होती हैं। अधिकांश आधुनिक लेखकों का दृष्टिकोण यही है। (३) वे परिभाषाएं जिनमे अर्थशास्त्र को सीमित साधनों का अध्ययन बताया गया है। ऐसा कहा जाता है कि आर्थिक समस्या उत्पन्न ही इस कारण होती है कि हमारे पास हमारी आवश्यकता की तुलना मे साधन सीमित होते हैं। यह दृष्टिकोण प्रो० रोबिन्स (Robbins) ने प्रस्तुत किया है और इसे नया दृष्टिकोण कहा जाता है। (४) चौथे वर्ग मे उन सब परिभाषाओ को सम्मिलित किया जाता है जो ऊपर के तीन वर्गों मे से किसी मे भी सम्मिलित नही की जा सकती हैं। ऐसी परिभाषाओं को हम 'अन्य परिभाषाएं' कह सकते हैं।

(१) धन का शास्त्र—

अर्थशास्त्र का प्राचीन नाम राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) था। लगभग सभी प्राचीन लेखको ने राजनीतिक अर्थशास्त्र को एक ऐसा अध्ययन बताया है जिसका सम्बन्ध धन से है। जैसा कि नाम से ही सिद्ध होता है, राजनीतिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य राज्यो के लिये धन या साधन जुटाना था। प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र को 'राज्य के कर लगाने और उनको एकत्रित करने की कला' के रूप मे समझा था। यही कारण है कि इस शास्त्र को धन का शास्त्र (Science of Wealth) अथवा सम्पत्ति के शास्त्र के नाम से पुकारा गया। इस मत के पक्ष के सबसे महत्त्वपूर्ण अर्थशास्त्री एडम स्मिथ थे। उन्होने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक वैल्थ ऑफ नेशन्स् (Wealth of Nations) का नाम ही इस प्रकार रखा है कि अर्थशास्त्र का विषय-क्षेत्र स्पष्ट हो जाय। *स्मिथ के अनुसार अर्थशास्त्र "राष्ट्रों के धन के स्वरूप और कारणों की जाँच करता है।"*[1] *इसी प्रकार फ्रांसीसी लेखक से (J. B. Say) के अनुसार— "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो धन का अध्ययन करता है।"*[2] और प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री वाकर *(Walker) का मत है कि "अर्थशास्त्र ज्ञान का वह संग्रह है जो धन से सम्बन्धित है।"*[3]

1. "An Enquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations."—Adam Smith.

2. "Economics is the science which treats of wealth."—J. B. Say.

3. "Economics is that body of knowledge which relates to wealth."—Francis L. Walker.

ऐसा प्रतीत होता है कि धन को एक महत्त्वपूर्ण वस्तु समझने और उसकी विवेचना करने की प्रथा केवल यूरोप के देशों तक ही सीमित न थी, भारत में भी प्राचीन आर्थिक लेखकों ने इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। महान आर्थिक पण्डित चाणक्य के अनुसार—"धर्म अथवा सदाचार (Virtue) और आनन्द (Enjoyment) धन से ही मिलते हैं।" इसी प्रकार शुक्र का कथन है कि "मनुष्यों को पवित्रता, सन्तोष और मुक्ति धन से ही प्राप्त होते हैं।"

अर्थशास्त्र की इन परिभाषाओं को देखने से पता चलता है कि प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने धन और उसके अध्ययन को ही विशेष महत्त्व दिया है। मनुष्य को पर्याप्त महत्त्व इन विद्वानों ने नहीं दिया है, यद्यपि इस सम्बन्ध में भारतीय विद्वान दूसरों से फिर भी कुछ आगे बढ़ गये थे। इस दृष्टिकोण का परिणाम यह हुआ है कि आर्थिक विद्वानों का दृष्टिकोण बहुत संकुचित हो गया और अर्थशास्त्र एक धन एकत्रित करने का साधन मात्र रह गया। एडम स्मिथ ने तो अर्थशास्त्र में आर्थिक मनुष्य (Economic Man) के विचार को उत्पन्न करके और भी कठिनाई उत्पन्न कर दी। स्मिथ का विचार था कि यह आर्थिक मनुष्य केवल अपने स्वार्थ को ध्यान में रख कर काम करता है और उसी को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करता है। स्मिथ का विचार था कि इसमें कोई दोष भी न था, क्योंकि जब प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने हितों को आगे बढ़ाता है तो इससे समाज का सामूहिक हित भी आगे बढ़ता है। स्मिथ के अनुसार व्यक्ति और समाज के हित प्रतिविरोधी नहीं बल्कि अनुरूप हैं।

आलोचनाएं—

(१) इन सभी परिभाषाओं में धन को, जो यथार्थ में मानव सुख का एक साधन मात्र है, मनुष्य से भी ऊँचा स्थान दे दिया गया है। इनसे अन्त में ऐसा आभास होता है कि मनुष्य के जीवन में धन ही सब कुछ है। ऐसे संकुचित दृष्टिकोण का परिणाम यह हुआ कि यूरोप के पूँजीपतियों ने उचित और अनुचित रीति से धन का जुटाना ही जीवन का लक्ष्य बना लिया। इससे निःसन्देह धन की तो बहुत वृद्धि हुई, परन्तु मानव समाज के हितों की उन्नति न हो सकी। यह स्वाभाविक था कि ऐसी दशा में अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्री दोनों की ही निन्दा की जाये। १९ शताब्दी में कारलायल (Carlyle), मोरिस (William Morris), रसकिन (John Ruskin) और दूसरे विद्वानों ने अर्थशास्त्र की कड़ी आलोचना की। उन्होंने इस शास्त्र को कुबेर की विद्या (Gospel of Mammon), रोटी व दाल का शास्त्र (Bread and Butter Science) तथा इस प्रकार के दूसरे घृणित नामों से सम्बोधित किया। इन लेखकों ने कुछ इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न कर दिया कि सभी ने अर्थशास्त्र को एक तुच्छ, निकृष्ट तथा नीचा शास्त्र समझना आरम्भ कर दिया। इस दृष्टिकोण ने अर्थशास्त्र और उसके अध्ययन के विकास में बहुत बाधा डाली है। (२) इन अर्थशास्त्रियों ने धन को जमा करना ही मानव जीवन का उद्देश्य बना दिया और आर्थिक मनुष्य के विचार को उत्पन्न करके मनुष्य को स्वार्थी बनाने और अपने ही हित

की ओर देखने का परामर्श दिया। यह परामर्श इस मान्यता पर दिया गया था कि व्यक्तिगत और सामूहिक हितो मे किसी प्रकार का विरोध न था और दोनों एक ही साथ उन्नत होते थे। वास्तव मे यह मान्यता ही गलत थी। अनुभव बताता है कि विभिन्न व्यक्तियो के हितों के बीच संघर्ष सम्भव है और फिर व्यक्तिगत तथा सामूहिक हितों का एक ही साथ पूरा होना तो और भी कठिन है। व्यावहारिक जीवन मे दोनो बहुधा एक दूसरे के विरोधी होते हैं। (३) सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इन परिभाषाओं के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि इनमें धन शब्द का उपयोग किया गया है, जो स्वयं एक अस्पष्ट शब्द है और अर्थशास्त्र की परिभाषा में अस्पष्टता उत्पन्न कर देता है। इस शब्द के विषय में इतना जान लेना आवश्यक है कि अभी तक भी इसके अर्थ के विषय मे एक मत नही है। अलग-अलग लेखको ने इसके अलग-अलग अर्थ किये हैं। सबसे अधिक लोकप्रिय परिभाषा टॉजिग (Taussig) की है। उनका विचार है कि कोई भी ऐसी वस्तु जो मनुष्य की आवश्यकता को पूरी करे तथा सीमित मात्रा मे हो, अर्थात् जिसका मूल्य हो और जो हस्तान्तरणीय (Transferable) हो, धन है। इस परिभाषा के अनुसार ससार की प्रत्येक वस्तु धन होगी, क्योंकि ऊपर दिये हुए तीनो गुण प्रत्येक वस्तु मे पाये जाते हैं। अचल सम्पत्ति, जैसे—मकान, खेत इत्यादि का भी स्वामित्व (Ownership) बदला जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि धन शब्द की परिभाषा करना ही व्यर्थ है, क्योंकि सभी वस्तुएं धन हैं। पर स्मरण रहे कि बहुधा अर्थशास्त्र मे धन को भी भौतिकता से सम्बन्धित किया गया है अर्थात् केवल भौतिक वस्तुओ को ही धन बताया गया है। यदि ऐसा है तो भौतिक और अभौतिक के भेद की आपत्ति सम्मुख आ जाती है, जिसे, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, सुलझाना सरल नही है। इसके अतिरिक्त टॉजिग (Taussig) की इस परिभाषा में एक महान् विरोध (Contradiction) भी है, इस परिभाषा के अनुसार जितनी ही किसी मनुष्य या देश के पास हस्तान्तरणीय उपयोगी वस्तुयें सीमित होंगी उतना ही वह अधिक धनवान होगा। यह विचार धनत्व के विषय में साधारण विचार के बिल्कुल विपरीत है। धन से सम्बन्धित मतभेद (Controversy) से बचने के लिए किंचित यह आवश्यक है कि इस शब्द का उपयोग ही न किया जाये।

(२) भौतिक कल्याण का शास्त्र—

अर्थशास्त्र को धन का शास्त्र बता कर अर्थशास्त्रियो ने जो आक्षेप खड़े कर दिये थे उनसे बचने के लिए अर्थशास्त्रियों ने अपने दृष्टिकोण को बदला। सर्वप्रथम मिल (J. S. Mill) ने, जो स्वय प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो (Classical Economists) मे से थे और एडम स्मिथ के अनुयायी थे, इस बात पर जोर दिया कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय धन नही, मनुष्य था। *रोशे (Rosher) ने कहा है—"हमारे विज्ञान का प्रारम्भिक बिन्दु और लक्ष्य मनुष्य है।"** इस प्रकार धन के

* "The starting-point and goal of our science is man."—Roscher.

स्थान पर मनुष्य को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए प्रो० कारवर ने कहा है—"*हमारे विज्ञान की विषय सामग्री आर्थिक वस्तुएँ नहीं हैं, बल्कि आर्थिक क्रियाएँ हैं।*"[1] धीरे-धीरे यह विचार-धारा बल पकड़ती गई और सभी अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य को बताना आरम्भ कर दिया, यद्यपि प्राय: सदा ही इस बात पर जोर दिया जाता था कि अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य का धन से सम्बन्धित व्यवहार था। आरम्भ में मार्शल ने भी अर्थशास्त्र की परिभाषा इसी दृष्टिकोण को लेकर की थी। उनके अनुसार—"*राजनीतिक अर्थशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र साधारण जीवन व्यवसाय में मनुष्य की क्रियाओं का अध्ययन है, यह इस बात का पता लगाता है कि वह (मनुष्य) किस प्रकार आय प्राप्त करता है और उसका किस प्रकार उपयोग करता है।*.........*इस प्रकार एक ओर तो यह धन का अध्ययन है और दूसरी तथा अधिक महत्त्वपूर्ण दिशा में मनुष्य के अध्ययन का एक अंग है।*"[2] ठीक इसी प्रकार की परिभाषा प्रो० ऐली ने भी की है। "*अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो उन सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है जो मनुष्य की धन कमाने और धन का उपयोग करने की क्रियाओं से उत्पन्न होती हैं।*"[3] इस विचारधारा के अन्य अर्थशास्त्रियों में फिशर (Fisher) और जाइड (Gide) के नाम भी उल्लेखनीय हैं। फिशर के अनुसार—"*इस बात पर आरम्भ में ही जोर देना आवश्यक होगा कि अर्थशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य धन का मानव जीवन और मानव कल्याण से सम्बन्ध बताना है, किन्तु मानव जीवन और कल्याण के सभी पक्षों का अध्ययन अर्थशास्त्र में नहीं किया जाता है, बल्कि केवल ऐसे पक्षों का अध्ययन किया जाता है जो प्रत्यक्ष रूप में धन से सम्बन्धित होते हैं।*"[4] इसी प्रकार जाइड ने लिखा है कि—"*समाज में रहने वाले मनुष्यों*

---

1. "Economic activities rather than economic goods form the subject-matter of the Science."—Carver *The Distributions of Wealth.*

2. "Political Economy or Economics is a study of man's actions in the ordinary business of life, it enquires how he gets his income and how he uses it.. . ...Thus it is, on the one side, a study of wealth, and on the other and more important side, a part of the study of man."—Marshall : *Economics of Industry*, p. 1.

3. "Economics is the science which treats of those phenomena that are due to the wealth-getting and wealth-using activities of man."—Ely.

4 "It is worth emphasizing at the outset that the chief purpose of economics is to set forth the relations of wealth to human life and welfare. It is not, however, within the province of Economics to study all aspects of human life and welfare, but only such as are connected in some rather direct manner with wealth."—Irving Fisher.

के बीच जो भी सम्बन्ध पाये जाते हैं, उनमें से अर्थशास्त्र केवल उनका अध्ययन करता है जो भौतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि और कल्याण से सम्बन्धित हैं।"[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि उपरोक्त सभी परिभाषाओं की रचना कारलाइल और रसकिन के आक्षेपों को ध्यान में रखकर की गई है। इनमें यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि धन की प्राप्ति उद्देश्य नहीं हो सकती है, यह तो एक साधन मात्र है—मनुष्य के भौतिक कल्याण की प्राप्ति का। अर्थशास्त्र का प्रमुख (Primary) विषय मनुष्य और उसकी क्रियाएं हैं। धन का अध्ययन तो केवल इसलिए किया जाता है कि उसकी सहायता से मानवीय आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। अर्थशास्त्र मनुष्य का विज्ञान है, परन्तु यह मनुष्य की उन क्रियाओं से सम्बन्धित है जो धन को कमाने और व्यय करने के लिए की जाती हैं। इस परिवर्तन के साथ-साथ एक और परिवर्तन हुआ है। अब राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) के स्थान पर केवल अर्थशास्त्र (Economics) शब्द का उपयोग होने लगा है।

धीरे-धीरे दृष्टिकोण में और भी परिवर्तन हुआ। मार्शल ने अपनी पहली पुस्तक इकॉनॉमिक्स ऑफ इन्डस्ट्री (Economics of Industry) में अर्थशास्त्र की जो परिभाषा की थी, आगे चल कर इसमें कुछ और संशोधन किये। धीरे-धीरे अर्थशास्त्र को मनुष्य के भौतिक कल्याण का शास्त्र बताया जाने लगा। मार्शल ने लिखा है कि *"अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवसाय में मानव जाति का अध्ययन है। इसमें व्यक्तिगत और सामाजिक क्रियाओं के उस भाग की जाँच की जाती है जिसका भौतिक सुख के साधनों की प्राप्ति और उनके उपयोग से बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध है।"*[2] इस परिभाषा के प्रकाशित होते ही इससे मिलती-जुलती अनेक परिभाषाओं की रचना की गई है। मार्शल की परिभाषा में स्पष्टता तथा सरलता है, परन्तु यह परिभाषा बड़ी लम्बी है। दूसरे अर्थशास्त्रियों ने इसी आशय को लेकर छोटी और सरल परिभाषाएं बनाई हैं। प्रो० कैनन *(Cannan)* के अनुसार—*"अर्थशास्त्र का उद्देश्य उन सामान्य कारणों की व्याख्या करना है जिन पर मनुष्यों का भौतिक कल्याण निर्भर होता है।"*[3] इसी प्रकार सर विलियम बैविरिज

1. "Of all the relations which exist between human beings living in society, Political Economy deals with those alone which tend to the satisfaction of their material wants, with all that concerns their well being."—Gide.

2. "Economics is a study of mankind in the ordinary business of life ; it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of material requisites of well-being."—Marshall : *Principles of Economics*, p. 1.

3 "The aim of Political Economy is the explanation of the general causes on which the material welfare of human beings depends."—Cannan : *Wealth.*

(Sir William Beveridge) की परिभाषा इस प्रकार है—"*अर्थशास्त्र उन सामान्य विधियों का अध्ययन है, जिनके द्वारा मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहयोग करते हैं।*"[1] थोड़े से परिवर्तन के साथ प्रो० पीगू ने अर्थशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है—"*अर्थशास्त्र आर्थिक कल्याण का अध्ययन है. आर्थिक कल्याण से हमारा अभिप्राय सामाजिक कल्याण के उस भाग से है जिसे मुद्रा के माप-दण्ड से सम्बन्धित किया जा सकता है।*"[2] एक दूसरे स्थान पर पीगू (Pigou) ने लिखा है—"हमारी खोज का क्षेत्र सामाजिक कल्याण के उस भाग तक सीमित हो जाता है जिसे हम प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से मुद्रा के माप दण्ड से सम्बन्धित कर सकते हैं।"[3]

इस प्रकार की परिभाषाओं में केवल शब्दों की उलट-फेर है। प्रत्येक लेखक ने अपने दृष्टिकोण को अधिक सरल और स्पष्ट रीति से उल्लेखित करने का प्रयत्न किया है। यहाँ पर शायद मिलती-जुलती कुछ और भी परिभाषाओं को दे देना असगत न होगा। *सीगर (Seager) के अनुसार—"अर्थशास्त्र वह सामाजिक शास्त्र है जिसमें मानव क्रियाओं के उस भाग का अध्ययन किया जाता है जो जीविका उपार्जन से सम्बन्धित है।*"[4] सबसे छोटी और सरल परिभाषा पेन्सन ने की है। उनके अनुसार—"*अर्थशास्त्र भौतिक कल्याण का विज्ञान है।*"[5] प्रो० चैपमैन का विचार है कि "*अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्यों की धन कमाने और धन को व्यय करने की क्रियाओं का अध्ययन करता है।*"[6] डा० रिचार्डस् के अनुसार—"अर्थशास्त्र हमारी आवश्यकताओं, हमारे प्रयत्न और हमारे सन्तोष जीवन व्यवसाय मे हमारी क्रियाओं से सम्बन्धित है।"[7] *फेयरचाइल्ड का विचार है—"अर्थशास्त्र*

1. "Economics is the study of general methods by which men co-operate to meet their material needs."—Beveridge.

2. "Economics is the study of economics welfare, economic welfare meaning that part of social welfare which can be brought into relationship with the measuring rod of money."—Pigou.

3. "The range of our enquiry becomes restricted to that part of social welfare which can be brought directly or indirectly into relationship with the measuring rod of money."—Pigou: *Economics of Welfare.*

4. "Economics is the social science which treats of that portion of human activity which is concerned with making a living"—Seager: *Principles of Economics, p. 1.*

5. "Economics is the science of material welfare."—Penson: *Economics of Everyday Life*, Vol. I, p. 3.

6. "Economics is the science which studies the wealth-earning and wealth-spending activities of human beings."—Chapman: *Elements of Economics*, p. 1.

7. "Economics deals with our wants, our efforts and our satisfactions-with our activities in the business of life."—Richards: *Groundwork of Economics*, p. 7.

*मनुष्य की आवश्यकताओं और उन साधनों का विज्ञान है जिससे मनुष्य उन वस्तुओं को प्राप्त करता है जो उसकी इच्छाओं को संतुष्ट करती हैं।"**

ऊपर दी हुई सारी परिभाषायें पूर्णतया एक सी नहीं हैं। इनमें परस्पर को सूक्ष्म अन्तर है। उदाहरण के लिए, मार्शल और रिचार्ड्स् ने अर्थशास्त्र को जीवन व्यवसाय का विज्ञान बताया है, जबकि सीजर और फेयरचाइल्ड ने इसे जीविका उपार्जन का अध्ययन कहा है। अधिकांश लेखकों ने आय के उपार्जन और व्यय दोनों से सम्बन्धित मानव क्रियाओं को अर्थशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित किया है। कैनन और बेवरिज के दृष्टिकोणों में भी अन्तर है। कैनन का विचार है कि अर्थशास्त्र उन कारणों की खोज करता है जिन पर मनुष्य का भौतिक सुख निर्भर होता है, जबकि बेवरिज के अनुसार वह उन विधियों का अध्ययन करता है जिनके द्वारा मनुष्य मिल-जुलकर अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। मार्शल और कुछ दूसरे विद्वानों ने मनुष्य की व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार की क्रियाओं को अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित किया है, परन्तु सभी लेखकों ने स्पष्टतापूर्वक ऐसा नहीं कहा है। सीजर ने तो इसे एकदम सामाजिक विज्ञान (Social Science) ही कह डाला है। पीगू का दृष्टिकोण दूसरे सभी अर्थशास्त्रियों से थोड़ा भिन्न है। पीगू के अनुसार अर्थशास्त्र भौतिक कल्याण के स्थान पर आर्थिक कल्याण का अध्ययन करता है और आर्थिक कल्याण से उनका अभिप्राय सामाजिक कल्याण के उस भाग से है जिसकी मुद्रा में माप की जा सकती है। निस्सन्देह पीगू का दृष्टिकोण दूसरे अर्थशास्त्रियों की तुलना में अधिक संकुचित है। परन्तु इन अन्तरों के रहते हुए भी विभिन्न परिभाषाओं में कोई मौलिक भेद दृष्टिगोचर नहीं होता है।

आलोचनाएँ—

इन सब परिभाषाओं को ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि इनमें भिन्नता होते हुए भी एक बड़ी भारी समानता है। वह समानता यह है कि ऊपर दिये हुए प्रत्येक विद्वान ने मनुष्य की आवश्यकताओं को दो प्रकार का माना है—भौतिक और अभौतिक (Material and Non-material) और यह बताया है कि *अर्थशास्त्र केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अध्ययन करता है*। अभौतिक आवश्यकताओं तथा उनकी पूर्ति से अर्थशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार गायक, देशभक्त या राजनीतिज्ञ इत्यादि की क्रियायें अर्थशास्त्र के क्षेत्र से बाहर पड़ती हैं, किन्तु खाना, कपड़ा तथा मकान इत्यादि की आवश्यकतायें तथा उनकी पूर्ति अर्थशास्त्र के अध्ययन का एक अंग हैं। सच पूछिये तो लगभग सभी प्राचीन लेखकों ने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है और एक बड़े अंश तक भारतवर्ष के कुछ आर्थिक लेखकों में तो यह विचारधारा अब

---

* "Economics is the science of human wants and of the means by which men *obtain* the things that satisfy them."—Fairchild : *Essentials of Economics*, p. 14.

भी प्रचलित है, किन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिए कि भौतिक और अभौतिक क्रियाओं के बीच जो अन्तर है उसका स्पष्टीकरण कठिन है। कोई ऐसी रेखा जो इन दोनो को अलग-अलग भागो में बांट सके, खीची नही जा सकती है। आवश्यकता पूर्ति में गायक का काम उतना ही महत्त्व रखता है जितना कि बढ़ई का और दोनो ही कार्यों से मनुष्य के सुख मे वृद्धि की जा सकती है, इसलिये दोनो का अध्ययन अर्थशास्त्र मे होना आवश्यक है। कैनन ने मनुष्य की भौतिक और अभौतिक क्रियाओं का अन्तर एक बडे सुन्दर उदाहरण द्वारा किया है। उन्होने इस सम्बन्ध में रोबिनसन क्रूसो का दृष्टान्त दिया है। रोबिनसन क्रूसो उस अकेले द्वीप मे जहाँ जहाज के टूटने के कारण वह जा फंसा था, दो प्रकार के काम करता था:— एक तो वे जिनका सम्बन्ध उसकी शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति से था, जैसे–खाने के लिए फल तथा जडें इत्यादि एकत्रित करना और दूसरा वह जिनका सम्बन्ध इस प्रकार की आवश्यकताओ से नही था, जैसे कि तोते के साथ बात करना। इन दोनों क्रियाओ मे से दूसरी अभौतिक है। इस प्रकार कैनन (Cannan) ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य की भौतिक और अभौतिक क्रियाओ मे भेद किया जा सकता है और भौतिक क्रियाओ को अर्थशास्त्र मे अध्ययन के लिये छांटा जा सकता है।

यदि यह मान भी लिया जाय कि इस प्रकार का भेद सम्भव है तथा यह भेद सही है तो भी एक बडी कठिनाई का सामना करना पडता है, वह यह कि इस प्रकार विभाजित की हुई भौतिक और अभौतिक क्रियाओं का एक दूसरे से इतना घनिष्ट सम्बन्ध देखने मे आता है कि एक को दूसरे से पृथक करना ठीक न होगा। यह निश्चय है कि रोबिनसन क्रूसो के पास समय और शक्ति सीमित होगे और इस प्रकार यदि वह तोते से बात करने मे अधिक समय लगा दे तो उसकी दूसरी क्रियाओं में बाधा पड़ जायेगी। इसी प्रकार पहले प्रकार की क्रियाओ पर अधिक समय लगाने का अर्थ यह होगा कि दूसरे प्रकार की क्रियाओ के लिये समय का अभाव हो जाय। इस प्रकार हम देखते है कि कैनन द्वारा निर्धारित भौतिक और अभौतिक क्रियायें एक दूसरे पर निर्भर (Dependent) है तथा किसी एक के स्वभाव और महत्त्व को जानने के लिए दूसरे का अध्ययन करना आवश्यक है। दोनो मे भेद करने से किसी उद्देश्य की पूर्ति नही होती, वरन् भौतिक और अभौतिक क्रियाओ के बीच भी निर्णय (Choice) की समस्या ज्यो की त्यो बनी रहती है। मनुष्य की क्रियाओ का उसकी आवश्यकता पूर्ति तथा सुख पर प्रभाव जानने के लिये दोनो ही प्रकार की क्रियाओ का अध्ययन करना आवश्यक है। ऐसा किये बिना अर्थशास्त्र अधूरा रहेगा और आवश्यकता की पूर्ति के सभी पक्षो तथा उनकी समस्तता (Totality) का समझना कठिन होगा।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रकार के भेद पर ध्यान न दिया जाय। अर्थशास्त्र का अध्ययन इस भेद के बिना अधिक सच्चा एवं अधिक लाभदायक होगा।

प्रो॰ रोबिन्स का विचार है कि आर्थिक सिद्धान्तो के अध्ययन में भौतिक और अभौतिक दोनों का मिश्रण है। "मजदूरी का कोई भी ऐसा सिद्धान्त जो उन सब भुगतानो पर ध्यान नहीं देता है, जो अभौतिक सेवाओ के लिये दिये जाते हैं अथवा अभौतिक उद्देश्यों पर व्यय किये जाते हैं, सहनीय नही हो सकता है।"[1] इसी प्रकार के उन्होने और भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये है। अन्त मे वे यहां तक कहते हैं—"अर्थशास्त्र का सम्बन्ध चाहे किसी भी चीज से क्यों न हो, इतना निश्चय है कि इसका सम्बन्ध भौतिक कल्याण के कार्यों से नहीं है।"[2]

दूसरे, रोबिन्स ने केवल भौतिक शब्द पर ही आक्षेप नहीं किया है, वे तो ऐसा समझते हैं कि अर्थशास्त्र का कल्याण (Welfare) से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। अर्थशास्त्र को कल्याण के दृष्टिकोण से अध्ययन करने में कुछ विशेष कठिनाइयां उत्पन्न होती है। उदाहरणस्वरूप, मादक पदार्थों को सभी ने धन कहा है, परन्तु यह कोई नहीं कह सकता है कि उनसे किसी भी प्रकार मानव कल्याण में वृद्धि होती है। ऐसे पदार्थ भी माँग की तुलना मे दुर्लभ है, इसलिए उनका भी मूल्य होता है और अर्थशास्त्र मे उनका भी अध्ययन होना चाहिए, परन्तु उनका कल्याण से तो कोई सम्बन्ध नहीं है। साथ ही साथ स्वयं कल्याण का विचार भी कोई निश्चित विचार नहीं है। समय, व्यक्ति, देश और परिस्थितियो के अनुसार कल्याण सम्बन्धी विचारो मे अन्तर होता है। कल्याण का विचार इतना अस्पष्ट और अनिश्चित है कि उसको लेकर किसी विज्ञान का निर्माण नही किया जा सकता है।

तीसरे, यदि हम आर्थिक कल्याण को अर्थशास्त्र का विषय समझते हैं तो हमें यह भी निर्णय देना पड़ेगा कि मानव कल्याण किन-किन बातों से उन्नत होता है और किन-किन बातो से नहीं। दूसरे शब्दो मे, हमे नैतिकता के आधार पर निर्णय देना होगा, जबकि वास्तव मे अर्थशास्त्र तो एक तटस्थ विज्ञान (Ethically Neutral Science) है, जो अच्छे और बुरे का निर्णय नहीं करता है। अर्थशास्त्री के लिए नैतिक विषयो पर निर्णय देना उतना ही असगत तथा अनुपयुक्त है जितना कि एक संगीतज्ञ के लिए आर्थिक मामलों पर निर्णय देना।

चौथे, इन अर्थशास्त्रियो ने मनुष्य की आर्थिक (Economic) और अनार्थिक (Non-economic) क्रियाओं मे जो भेद किया है वह भी मान्य नहीं हो सकता है। सबसे पहिले तो मानव क्रियाओ का इस प्रकार विभाजन हो ही नहीं सकता है, क्योंकि किसी भी कार्य को सदा के लिए आर्थिक अथवा अनार्थिक नहीं कहा जा सकता है। एक व्यक्ति जब अपने मनोरंजन के लिए गाना गाता है तो वह अनार्थिक क्रिया

1. "A theory of wages which ignored all those sums which were paid for immaterial services or were spent on immaterial ends would be intolerable."—Robbins : *An Essay on the Nature and Significance of Economic Science*, p. 6.

2. "Whatever Economics is concerned with it is not concerned with the causes of material welfare as such."—*Ibid*, p. 7.

प्रत्येक साधन को एक से अधिक उपयोग मे लाया जा सकता है। कहने का अर्थ यह है कि प्रत्येक साधन एक से अधिक आवश्यकताओ को पूरा कर सकता है। ऐसा नही है कि एक साधन विशेष केवल एक ही आवश्यकता को पूरा करेगा। वह साधन किसी दूसरी आवश्यकता को पूरा करने मे भी काम आ सकता है। उदाहरणार्थ, एक विद्यार्थी अपनी जेब के पैसों को जरूरत की किताबें खरीदने पर भी व्यय कर सकता है और सिनेमा देखने पर भी। एक विद्यार्थी पुस्तक को पढ़ भी सकता है, चाहे तो पढने के अतिरिक्त किसी दूसरे काम में भी लगा सकता है। यह बात अवश्य है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के लिए और भिन्न-भिन्न कालों में साधनों के अलग अलग उपयोग अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, परन्तु यह बात स्पष्ट है कि साधनों में से प्रत्येक के कई उपयोग होते हैं और हो सकते है। व्यकल्पित उपयोग साधनों का आवश्यक गुण है।

ऊपर दी गई विवेचना से पता चलता है कि सारी आवश्यकतायें पूरी नही हो सकती हैं, कुछ ही पूरी होती हैं और साधनो मे से प्रत्येक साधन के एक से अधिक उपयोग हो सकते हैं। अतः मनुष्य के जीवन में सदैव एक गम्भीर समस्या उठती है और यह समस्या निर्णय करने की समस्या है। एक तो यह निर्णय करना पड़ता है कि कौनसी आवश्यकता को पूरा किया जाए। दूसरा यह है कि किस साधन को किस आवश्यकता की पूर्ति के लिए काम में लाया जाये। इस प्रकार मनुष्य की समस्या निर्णय करने (Choice-Making) की समस्या है। यदि सभी आवश्यकतायें पूरी हो सकती तो आवश्यकताओं को चुनने का प्रश्न ही न उठता। इसी प्रकार यदि एक साधन का केवल एक ही उपयोग सम्भव होता तो भी चुनने का प्रश्न ही न था, किन्तु आवश्यकताओं और साधनों की प्रकृति ही ऐसी है कि निर्णय करने की समस्या बराबर उठती रहती है। अर्थशास्त्र इसी समस्या का अध्ययन करता है। प्रोफेसर रोबिन्स (*Robbins*) का मत है कि *"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन सीमित साधनों, जिनके वैकल्पिक उपयोग (Alternative uses) हो सकते है, तथा लक्ष्यों के सम्बन्ध के रूप में करता है।"** दूसरे शब्दो मे, अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के व्यवहार का इस दृष्टिकोण से अध्ययन करता है कि वह किस प्रकार ऐसे सीमित साधनों द्वारा, जिनमे से प्रत्येक के एक से अधिक उपयोग हो सकते हैं, अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने का प्रयत्न करता है। इस सम्बन्ध मे हमे एक बात याद रखनी चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि जो कुछ भी उसके पास है उसका उपयोग करके अधिक से अधिक सन्तोष प्राप्त करे। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर यह निर्णय किया जाता है कि कौन-कौन सी आवश्यकताओ को पूरा किया जाये और किस साधन को किस आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिए उपयोग किया जाये।

---

* "Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses."—Rabbins : *An Essay on the Nature and Significance of Economic Science.*

पक्ष (Economic Aspect) उत्पन्न हो जाता है ।"* इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र चुनाव का विज्ञान है। चुनाव के साथ ही साथ मूल्यांकन (Valuation) की भी समस्या उठती है। किसी भी वस्तु का मूल्य इसी कारण होता है कि अपनी मांग की तुलना में वह सीमित होती है।

इस प्रकार देखने से स्पष्ट होता है कि रोबिन्स का विचार सबसे अधिक सही है, क्योंकि उनकी परिभाषा पर पहले बताये हुये आक्षेप नहीं उठाये जा सकते हैं। इसके साथ ही साथ उन्होंने अर्थशास्त्र के क्षेत्र तथा उसके विषय को ठीक रूप से निश्चित कर दिया है, किन्तु रोबिन्स की परिभाषा पर आक्षेप न लगाये गये हों, ऐसी बात नहीं है। आलोचकों से इसका बचाव भी नहीं हुआ है। आलोचनायें दो प्रकार की हुई हैं—कुछ लोगों का विचार है कि इस परिभाषा में कुछ और सुधार हो सकता है। उदाहरणस्वरूप, यह कहा जाता है कि रोबिन्स की परिभाषा में साधनों के साथ जो सीमित शब्द जुड़ा हुआ है उसको आवश्यकता नहीं है, क्योंकि साधनों का सीमित होना एक स्वयसिद्धि है, जिसका उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। सीमित होना साधन का एक स्वाभाविक गुण है, इसलिए यदि सीमित शब्द साधनों के साथ न लगाया जाय तो कोई हानि न होगी। उपरोक्त कथन के सत्य होने में सन्देह नहीं है और सीमित शब्द के प्रयोग करने की कोई आवश्यकता भी नहीं है, फिर भी इस शब्द का बना रहना बुरा नहीं है, क्योंकि इसके रहने से हमारा ध्यान साधनों के इस गुण पर विशेष रूप से जम जाता है। इसी प्रकार यह कहा जाता है कि यह वाक्य "जिनमें से प्रत्येक एक से अधिक काम में लाया जा सकता है" भी अनावश्यक है, क्योंकि यह भी एक ऐसी साधारण बात है, जिसको सभी जानते हैं और यह भी साधन का स्वाभाविक गुण है। यहाँ पर भी यह कहना अनुचित न होगा कि डर इस बात का है कि कहीं अर्थशास्त्र का अध्ययन करते समय हम इस साधारण, किन्तु आवश्यक बात को भूल न जायँ और इसीलिए इस वाक्य का बना रहना भी आवश्यक है।

इसके विपरीत कुछ आलोचक ऐसे भी हैं जिनके विचार में रोबिन्स का विचार सही नहीं है। उनका विचार है कि *अर्थशास्त्र को केवल विज्ञान कहना भूल होगी*, क्योंकि अर्थशास्त्र कला भी है, जिसका दैनिक जीवन से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। विज्ञान और कला के विषय में विस्तारपूर्वक विवेचना आगे दी जायगी। यहां पर केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि अर्थशास्त्र के कला होने में सन्देह नहीं है और न इससे किसी को इन्कार है। बात केवल इतनी है कि जिस अर्थशास्त्र का हम अध्ययन करते हैं वह केवल विज्ञान है, क्योंकि इसका सम्बन्ध जानने से है, करने से नहीं।

* "But when time and means for achieving ends are limited and capable of alternative application, and the ends are capable of being distinguished in order of importance, then behaviour necessarily assumes the form of choice, i.e., it has an economic aspect."—Robbins: *An Essay on the Nature and Significance of Economic Science*, p. 6.

अर्थशास्त्र कला के रूप में वाणिज्यशास्त्र (Commerce) बन कर हमारे सामने आता है। अर्थशास्त्र और वाणिज्यशास्त्र के बीच भेद करने के लिए अर्थशास्त्र को विज्ञान मानना आवश्यक है।

इसी प्रकार यह कहा जाता है कि यदि रोबिन्स के मत को मान लिया जाय तो सारा अर्थशास्त्र सिमट कर अर्थशास्त्र के एक नियम के भीतर आ जाता है, जिसका नाम है अधिकतम् सन्तोष नियम (Law of Maximum Satisfaction)। इस प्रकार अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है। ऐसे आलोचकों से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र का आधार बिना सन्देह यह नियम ही है। यह आधार होते हुए भी क्षेत्र के सीमित हो जाने का डर निर्मूल है, क्योंकि इसके बावजूद भी अर्थशास्त्र का विषय काफी विस्तृत है।

रोबिन्स की आलोचनायें—

ऊपर रोबिन्स की परिभाषा की कुछ आलोचनायें दी जा चुकी हैं। रोबिन्स के विचारों का सबसे अधिक महत्त्व यह है कि उन्होंने अर्थशास्त्र को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है और वर्गीकरण प्रणाली (Classificatory Method) के स्थान पर विवेचनात्मक प्रणाली (Analytical Method) का उपयोग किया है। इन सब बातों के रहते हुये भी रोबिन्स की परिभाषा की कुछ महत्त्वपूर्ण आलोचनायें की जा सकती है। प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) रोबिन्स लक्ष्यों के चुनने में पूर्णतया तटस्थ हैं। उन्होंने अर्थशास्त्र की विवेचना एक वैज्ञानिक की भाँति की है। उनके दृष्टिकोण में न तो मानवता का अंश है और न नैतिकता का और न वे मानव कल्याण को ही कोई महत्त्व देते हैं। ऐसे दृष्टिकोण में व्यावहारिकता नहीं हो सकती है। यह तो कोरा सैद्धान्तिक विश्लेषण मात्र है। इसका अर्थ यह निकलता है कि रोबिन्स अर्थशास्त्र को फिर उस अव्यावहारिकता की ओर ले जाते हैं, जिससे मार्शल ने उसे निकालने का प्रयत्न किया था। पीगू इस मत से कभी भी सहमत नहीं हो सकते हैं। वास्तव में ऐसे अर्थशास्त्र के अध्ययन से लाभ ही क्या है जो वास्तविक जीवन में हमारे किसी काम न आ सके। बारबरा ऊटन ने कहा है कि "अर्थशास्त्रियों के लिए यह बहुत ही कठिन है कि वे अपनी विवेचना में नैतिकता की पुट बिल्कुल भी न रहने दें।"[1] फरेजर ने भी लिखा है कि वास्तव में "अर्थशास्त्र केवल मूल्य का सिद्धान्त अथवा संतुलन की विवेचना मात्र नहीं है।"[2] रोबिन्स का विचार कितना ही वैज्ञानिक क्यों न हो, वह रसहीन और अव्यक्तिगत (Impersonal) है।

---

1. "It is very difficult for economists to divest their discussions completely of all normative significance."—Barbara Wootton.
2. "Economics is more than a value theory or equilibrium analysis."—Fraser.

(२) *रोबिन्स ने लक्ष्य और साधन का जो भेद किया है वह भी स्पष्ट नहीं है,* क्योंकि लक्ष्यों और साधनों के बीच कोई स्पष्ट भेद सम्भव नहीं है। रोबिन्स ने सन्तोष को अधिकतम बनाना ही लक्ष्य समझा है, परन्तु वास्तव में यह भी प्रसन्नता (Happiness) प्राप्त करने का एक साधन मात्र है। प्रो० मेहता के अनुसार तो इस रीति से प्रसन्नता मिलेगी ही नहीं। लक्ष्य तो केवल एक ही है, अर्थात् प्रसन्नता को *प्राप्त करना, यद्यपि इस लक्ष्य को पूरा करने के अनेक साधन* हो सकते हैं। यदि लक्ष्य एक ही है तो रोबिन्स की बताई हुई आर्थिक समस्या उत्पन्न न होगी। प्रो० मेयर (Meyer) ने कहा है कि "जब एक लक्ष्य होता है और अनेक साधन होते हैं तो रीति (Technique) की समस्या उठती है। आर्थिक समस्या तो तब उठती है, जबकि लक्ष्य और साधन दोनों ही बहु-मात्रा मे हों।"* फिर ऐसी दशा में रोबिन्स का यह कहना कि आर्थिक समस्या सदा ही हमारे सामने बनी रहती है, सारहीन ही प्रतीत होता है।

(३) कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि *रोबिन्स ने अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत बना दिया है।* पीगू ने आर्थिक विवेचन में निश्चितता और व्यावहारिकता लाने के लिए मुद्रा के मापदण्ड का उपयोग किया है, परन्तु रोबिन्स ने ऐसी किसी विधि का उपयोग नहीं किया है। यह निश्चय है कि मुद्रा की माप की सीमा के बिना अर्थशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र शायद इतना विस्तृत हो जाय कि इस विज्ञान को सही विवेचना मे कठिनाई हो।

(४) *रोबिन्स ने मनुष्य के व्यवहार को बहुत ही विवेकशील (Rationalised) माना है,* क्योंकि वे ऐसा समझते हैं कि प्रत्येक मनुष्य सदा ही अपनी क्रियाओं को इस प्रकार निर्देशित करता है कि अधिकतम् सन्तोष प्राप्त करने का *लक्ष्य पूरा हो जाए, परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा बहुधा कम ही होता है।* अधिकांश मानवीय आवश्यकतायें या तो आदत पर निर्भर होती हैं या कृत्रिम होती हैं। कोई व्यक्ति उपभोग के लिए व्यय करते समय किंचित ही इस बात की चिंता करता हो कि उसके व्यय के फलस्वरूप उसे अधिकतम सन्तोष मिलता है या नहीं। अधिकांश *दशाओं में हमारा व्यय बिना बहुत सोच-समझ के ही हो जाता है।*

(५) रोबिन्स की परिभाषा से पता चलता है कि उन्होंने आर्थिक निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए *निगमन प्रणाली (Deductive Method) का उपयोग किया* है। जैसा कि हम एक आगे के अध्याय में देखेंगे, इससे हमारा काम नहीं चल सकता है। वास्तविकता लाने के लिए व्याप्ति-मूलक प्रणाली (Inductive Method) का उपयोग भी आवश्यक है।

---

* "The problem of technique arises when there is one end and a multiplicity of means, the problem of economy when both the ends and the means are multiple."—Meyer.

(६) रोबिन्स ने अर्थशास्त्र के नियमों को उतना ही अटल, निश्चित और सही मान लिया है जितना कि भौतिक विज्ञानों (Physical Sciences) के नियम हुआ करते हैं। इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिये कि अर्थशास्त्र के नियम मनुष्य के विषय में हैं और मनुष्य की प्रकृति को देखते हुए इन नियमों में कुछ न कुछ अनिश्चितता अवश्य रहेगी।

(७) ऐसा प्रतीत होता है कि *रोबिन्स ने मनुष्य की क्रियाओं के उद्देश्य को ही गलत समझा है।* आर्थिक क्रियायें स्वयं अपना उद्देश्य नहीं होती हैं। उनका उद्देश्य मानव कल्याण (Human welfare) को उन्नत करना होता है। परोक्ष रूप में रोबिन्स ने स्वयं भी इस बात को स्वीकार किया है। ऐसी दशा में अर्थशास्त्र को मानव कल्याण का शास्त्र कहने में क्या आपत्ति हो सकती है ?।

(८) बहुत सी समस्याएँ ऐसी भी हैं जिन्हें किसी भी प्रकार आर्थिक समस्याएँ नहीं कहा जा सकता है, परन्तु रोबिन्स की परिभाषा के आधार पर उन्हें भी अर्थशास्त्र के विषय-क्षेत्र में सम्मिलित करना होगा। जब एक व्यक्ति अपने समय को काम और आराम में विभाजित करता है तो आर्थिक समस्या उठती है, परन्तु जब आराम के समय को पढ़ने, सोने, सैर करने आदि में बांटा जाता है तो आर्थिक समस्या नहीं उठती है। यद्यपि यहां भी एक सीमित साधन का वैकल्पिक उपयोगों में वितरण किया जाता है।

(९) अर्थशास्त्र में कुछ ऐसी समस्याओं को भी सम्मिलित किया जाता है जो सीमितता की समस्या नहीं होती हैं, बल्कि उल्टी प्रचुरता की समस्याएं होती हैं। उदाहरण के लिए, बेरोजगारी की समस्या। रोबिन्स की परिभाषा इस बात को स्वीकार नहीं करती है।

(१०) रोबिन्स की परिभाषा केवल ऐसी अर्थव्यवस्था (Economy) से सम्बन्धित है जहां *विनिमय प्रणाली* का प्रचलन होता है। परन्तु ऐसा समाज भी सम्भव है जहां विनिमय वर्जित हो, वहां रोबिन्स का अर्थशास्त्र अर्थहीन हो जायगा, क्योंकि दुर्लभता (Scarcity) और निर्णय की समस्याएं नहीं होंगी।

इस प्रकार स्वयं रोबिन्स की परिभाषा भी आलोचनाओं से नहीं बच सकती है। वास्तविकता यह है कि रोबिन्स और मार्शल की परिभाषाओं में काफी समानता है।

रोबिन्स और मार्शल की परिभाषाओं में समानता—

रोबिन्स ने मार्शल तथा अन्य पुराने अर्थशास्त्रियों की बहुत ही कड़ी आलोचना की है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता है कि दोनों के दृष्टिकोण में किसी भी प्रकार की समानता नहीं है। दो दिशाओं में मार्शल और रोबिन्स की परिभाषाओं में समानता है :—

(१) दोनों ही ने अर्थशास्त्र को मनुष्य और उसकी क्रियाओं का अध्ययन

बताया है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने धन को महत्त्व दिया था, परन्तु मार्शल और रोबिन्स दोनों ही मनुष्य पर जोर देते हैं।

(२) बहुत से अर्थशास्त्रियो का विचार है कि रोबिन्स और मार्शल में दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे भी कोई भेद नही है। मार्शल ने अपनी परिभाषा में 'सुख के भौतिक साधनो' (Material requisites of well-being) शब्द का उपयोग किया है। पुराने अर्थशास्त्रियो ने 'धन' शब्द का उपयोग किया था, जबकि रोबिन्स ने 'सीमित साधनो' वाक्य का उपयोग किया है। ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि तीनो यथार्थ मे एक ही वस्तु के अलग-अलग नाम हैं। धन से सम्बन्धित कार्यों का अर्थ सीमित साधनो के मितव्ययितापूर्ण उपयोग से लिया जा सकता है। वास्तव में रोबिन्स की परिभाषा का आशय भी यही है। मार्शल और रोबिन्स दोनो का उद्देश्य एक ही है, अर्थात् मानव सुख को अधिकतम करना। अन्तर केवल इतना है कि मार्शल ने आवश्यकता पूर्ति के साधनो की प्राप्ति और उपयोग पर जोर दिया है, जबकि रोबिन्स ने इन साधनो की सीमितता अथवा दुर्लभता (Scarcity) पर जोर दिया है। इससे दोनों के दृष्टिकोण एक दूसरे से बिल्कुल अलग नही हो जाते हैं। इसी कारण यह कहना गलत होगा कि मार्शल को रोबिन्स ने गद्दी से बिल्कुल नीचे उतार दिया है।

मार्शल और रोबिन्स की परिभाषाओं का अन्तर—

उपरोक्त समानताओ के आधार पर यह समझ लेना भूल होगी कि रोबिन्स और मार्शल की परिभाषाओ में कोई भी अन्तर नही है, कुछ अन्तर ऐसे भी हैं जो आधारभूत हैं:—

(१) मार्शल का विचार है कि अर्थशास्त्र में मनुष्य की केवल उन्ही क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जिनका धन से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उन्होने मनुष्य की क्रियाओ को दो बिल्कुल अलग भागो मे बाँट दिया है और अर्थशास्त्र मे केवल आर्थिक क्रियाओं के अध्ययन को सम्मिलित किया है। इसके विपरीत रोबिन्स के अनुसार मनुष्य की सभी क्रियाओं का अध्ययन अर्थशास्त्र में होता है, यद्यपि हम इन क्रियाओं के केवल आर्थिक पक्ष को लेते हैं। रोबिन्स मनुष्य की सभी क्रियाओ का अध्ययन करते हैं, किन्तु एक विशेष दृष्टिकोण से। ऐसा प्रतीत होता है कि मार्शल ने अर्थशास्त्र मे निश्चितता लाने के लिये अनार्थिक क्रियाओ के अध्ययन को छोड़ दिया था। पीगू ने इसी कारण मनुष्य की केवल उन्ही क्रियाओ के अध्ययन को अर्थशास्त्र मे सम्मिलित किया है जिनको मुद्रा मे नापा जा सकता है। इसके विपरीत रोबिन्स का विचार है कि अब हमारे अध्ययन की रीतियों की इतनी उन्नति हो चुकी है कि इस प्रकार की सीमितता की आवश्यकता नहीं रह गई है।

(२) मार्शल की परिभाषा भौतिकता पर आधारित है। उन्होने केवल भौतिक क्रियाओ और वस्तुओं को अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित किया है। इसके

विपरीत रोबिन्स ने भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार की क्रियाओं और वस्तुओं तथा सेवाओं दोनों के अध्ययन को अर्थशास्त्र में सम्मिलित किया है।

(३) मार्शल ने मानवीय क्रियाओं का अध्ययन इस उद्देश्य से किया है कि मानव कल्याण को उन्नत किया जा सके। इसके विपरीत रोबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र का कल्याण के अध्ययन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। उनका दृष्टिकोण वास्तविक (Positive) है, आदर्शवादी (Normative) नहीं है। इस कारण रोबिन्स के अर्थशास्त्र का क्षेत्र मार्शल के अर्थशास्त्र के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है। रोबिन्स के विचार में अर्थशास्त्री को निर्णय देने की आवश्यकता नहीं है। उसे तो एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति केवल विवेचना ही करनी चाहिए।

(४) मार्शल ने साधारण (Normal), वास्तविक (Real) और समाज में रहने वाले (Social) मनुष्यों की क्रियाओं के अध्ययन को ही अर्थशास्त्र में सम्मिलित किया है। समाज से दूर रहने वाले व्यक्तियों और पागलों आदि का अध्ययन इस शास्त्र के क्षेत्र से बाहर है। इसके विपरीत रोबिन्स ने सभी मनुष्यों की क्रियाओं के अध्ययन को भी अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित किया है। उनके अनुसार साधु-महात्माओं और पागलों की क्रियाओं का भी आर्थिक महत्त्व होता है। रोबिन्स ने कहा है कि जहाँ कहीं भी सीमितता है, आर्थिक समस्या भी विद्यमान है। इस प्रकार मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र केवल एक सामाजिक शास्त्र है, परन्तु रोबिन्स के अनुसार यह इससे भी ऊपर मनुष्य का विज्ञान (Science of man) है।

(४) अन्य परिभाषायें—

अर्थशास्त्र की परिभाषाओं के इस वर्ग में हम उन परिभाषाओं को सम्मिलित करते हैं जिन्हें ऊपर के तीनों वर्गों में नहीं रखा जा सकता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि अर्थशास्त्र केवल मूल्य निर्धारण का अध्ययन है (Economics is simply an explanation of price)। इस परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र में केवल मूल्य निर्धारण की समस्या का अध्ययन होता है। आर्थिक जगत की सबसे महत्वपूर्ण समस्या मूल्य का निर्धारण ही है और संसार की सारी समस्याएँ अन्तिम अवस्था में इसी समस्या पर आकर केन्द्रित हो जाती है। निस्सन्देह आज के संसार में, विशेषकर पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में, आर्थिक जीवन की प्रत्येक घटना कीमत यन्त्र (Price Mechanism) और उसके व्यवहार पर निर्भर होती है। सभी प्रकार के आर्थिक निर्णय कीमत को ध्यान में रखकर ही किये जाते हैं। हमारी चुनने या निर्णय करने (Choice-Making) की समस्या भी इसी कीमत यन्त्र के व्यवहार पर निर्भर होती है। कीमत को ध्यान में रखकर ही हम यह निर्णय करते हैं कि हमें किस वस्तु का उपभोग करना है, कौनसी आवश्यकता पूरी करनी है, किस वस्तु की उत्पत्ति करनी है अथवा किस वस्तु का और उसका कितनी मात्रा में विनिमय करना है?

यह परिभाषा भी बहुत कुछ रोबिन्स की परिभाषा से ही मिलती-जुलती है। वास्तव में मूल्य निर्धारण की समस्या उठती ही इसलिए है कि माँग की तुलना में

कि मनुष्य अपनी जीविका कैसे प्राप्त करता है; मानव समाज के भीतर वह जीवन की भौतिक आवश्यकता की वस्तुओं—भोजन, कपड़ा, मकान, यातायात आदि—के उत्पादन और वितरण का अध्ययन करता है।"[1] लेनिन (*Lenin*) के शब्दों में—"*अर्थशास्त्र सामाजिक उत्पादन के ऐतिहासिक क्रम के विकास से सम्बन्धित विज्ञान है।"*[2] और इसका उद्देश्य मानव समाज की प्रगति के नियम का पता लगाना है।[3] *यथार्थ में अर्थशास्त्र का उद्देश्य मानव कल्याण की उन्नति ही होना चाहिए।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्थशास्त्र की अनेक प्रकार की परिभाषाएं की गई हैं और इन परिभाषाओं में दृष्टिकोण के विशाल अन्तर हैं। यह निर्णय वास्तव में कठिन है कि अर्थशास्त्र की कौन सी परिभाषा को ग्रहण किया जाय। अधिकांश आधुनिक अर्थशास्त्री रोबिन्स की परिभाषा को अधिक पसन्द करते हैं और यही आजकल की सबसे महत्त्वपूर्ण परिभाषा है। व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से पीगू की परिभाषा अधिक उपयुक्त है। यह परिभाषा समाजवादी दृष्टिकोण के भी अधिक अनुकूल है।

QUESTIONS

1. "Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses." Comment.
   (Bihar, B. Com., 1959, Delhi, B. A. 1951; Agra, B. Com., 1955 S, Sagar, B. Com, 1954; Alld., B. A., 1951; Vikram, B. A., 1959)
2. Discuss critically the definition of economics as given by Prof. Robbins. Give a suitable definition of economics in your own words. *(Raj. B. A., 1958)*
3. *प्रो० रोबिन्स के इस मत से आप कहाँ तक सहमत हैं कि अर्थशास्त्र साधनों का अध्ययन है, न कि साध्य का। इनके इस मत को ध्यान में रखते हुए उनकी परिभाषा की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।* (आगरा, बी० ए०, १९५९)

---

1. "Political Economy explains how men get their living; it deals with the production and distribution, within human societies, of the material needs of life—food, clothing, shelter, transport, etc."—John Eaton : *Political Economy—a Marxist Text-book*, p 1.

2. "..........the science dealing with the development of historical system of production."—Lenin.

3. "........our object is to find out the law of motion of human society."—Karl Marx : *Capital*, Vol. I, p. XIX.

4. "Economics is a study of mankind in the ordinary business of life ; it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of material requisites of well-being." Discuss.
(Agra, B. A., 1952 ; Gorakhpur, B. A., 1958)
5. Is the definition of economics as given by Robbins an improvement over that of Marshall ? Explain fully.
(Alld., B. Com., 1955, 1950, Raj, B. A., 1957 ; Agra, B. Com., 1958 S ; Agra, B. A., 1948)
6. मार्शल तथा रोबिन्स की अर्थशास्त्र की परिभाषा की समता तथा भिन्नता स्पष्ट कीजिए।
(इलाहाबाद, बी० ए०, १९५७ ; आगरा, बी० ए०, १९५७ S)
7. Is Economics negative or positive science ? Discuss with particular reference to Robbins definition of economics.
(Agra, B. A., 1956)
8. कल्याण सम्बन्धी अर्थशास्त्र क्या है ? अर्थशास्त्र विज्ञान तथा कल्याण सम्बन्धी अर्थशास्त्र में क्या कोई विशेष अन्तर है ? कारण बताइये।
(सागर, बी० ए०, १९५७)
9. "Economics is the science of natural welfare." Explain and discuss the above statement. (Agra, B. Com, 1956)
10. Examine the following definitions of economics :—
    (a) Economics is the science of wealth.
    (b) Economics is the science of price.
    (c) Economics is the study of principles according to which limited means are used for the satisfaction of unlimited wants. Which of these definition appears to you as correct and why ? (Agra, B. Com., 1953, 51)
11. रोबिन्स की अर्थशास्त्र की परिभाषा की समीक्षा कीजिए और बतलाइये कि उनकी परिभाषा अन्य परिभाषाओं से क्यों उत्तम है ?
(इलाहाबाद, बी० ए०, १९५६, ५४)
12. "Whatever economics is concerned with, it is not concerned with the course of natural welfare." (Robbins) Discuss.
(Sagar, B. Com., 1955)

अध्याय २

अर्थशास्त्र की प्रकृति, उसका क्षेत्र और उसका विषय

(The Nature, Scope and Subject-matter of Economics)

अर्थशास्त्र की परिभाषा से ही उसकी प्रकृति, उसका क्षेत्र और उसका विषय स्पष्ट होते हैं, परन्तु क्योंकि परिभाषा के सम्बन्ध में विभिन्न अर्थशास्त्रियों के बीच भारी मत-भेद है, इसलिए वे अर्थशास्त्र की प्रकृति, उसके क्षेत्र और उसके विषय के सम्बन्ध में भी सहमत नहीं हैं। कीन्स (Dr. J. N. Keynes) ने कहा है कि अध्ययन के किसी विभाग के क्षेत्र में दो बातें सम्मिलित होती हैं :—

(१) उस वस्तु की प्रमुख विशेषतायें, जिसका इसमें अध्ययन किया जाता है और उस ज्ञान का स्वभाव जो वस्तु विशेष के विषय में कराया जाता है।

(२) अध्ययन विशेष और सम्बन्धित विषयों का पारस्परिक सम्बन्ध।

इन बातों को ध्यान में रखकर ही हमें अर्थशास्त्र के क्षेत्र को निश्चित करना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में हमें मुख्यतया चार प्रश्नों का उत्तर देना पड़ेगा :—(१) अर्थशास्त्र का विषय क्या है ? (२) अर्थशास्त्र कला है या विज्ञान ? (३) यदि अर्थशास्त्र विज्ञान है तो वह वास्तविक विज्ञान (Positive Science) है या आदर्श विज्ञान (Normative Science) ? (४) अर्थशास्त्र व्यक्तिगत व्यवहार का अध्ययन है अथवा सामाजिक व्यवहार का ?

अर्थशास्त्र का विषय—

अर्थशास्त्र की परिभाषा की भाँति उसके विषय के सम्बन्ध में भी भारी मत-भेद है। एडम स्मिथ और दूसरे पुराने अर्थशास्त्रियों ने इस शास्त्र का विषय धन बताया है। आगे चलकर अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य की उन क्रियाओं को बताया गया जिनका कि धन से सम्बन्ध है। तत्पश्चात् इसमें भी सुधार किया गया है और अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य की भौतिक अथवा आर्थिक क्रियायें, अर्थात् वे क्रियायें बताया गया जो भौतिक (Material) आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित हैं। मार्शल और उनके साथियों ने यही दृष्टिकोण अपनाया था। उन्होंने मानवीय क्रियाओं को दो भागों में बाँटा था, अर्थात् भौतिक और अभौतिक तथा केवल भौतिक क्रियाओं को अर्थशास्त्र की विषय सामग्री बनाया था। इस प्रकार यह तो निश्चित ही हो गया है कि मनुष्य और उसका व्यवहार अर्थशास्त्र के अध्ययन के विषय हैं। मतभेद केवल इस दिशा में रह जाता है कि क्या सभी मानव क्रियाओं और सभी मनुष्यों की क्रियाओं का अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाता है अथवा इनमें से कुछ को छोड़ दिया जाता है। मार्शल और

उनके साथियो के अनुसार साधारण और सामाजिक मनुष्यों की केवल भौतिक क्रियाओं का ही अर्थशास्त्र मे अध्ययन किया जाता है। इसके विपरीत रोबिन्स के अनुसार सभी मनुष्यो की समस्त क्रियायें अर्थशास्त्र के विषय मे सम्मिलित हैं। पीगू का मत है कि मनुष्य की केवल उन्हीं क्रियाओं का अर्थशास्त्र मे अध्ययन किया जाता है जो मुद्रा मे नापी जा सकती हैं।

इस सम्बन्ध में मार्शल के दृष्टिकोण की कमी का विस्तृत अध्ययन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। भौतिक और अभौतिक क्रियाओ का भेद लगभग असम्भव है और यदि इस प्रकार का भेद किया भी जाता है तो उससे कोई लाभदायक परिणाम नही निकल सकता है। जहां तक पीगू के दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, यह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इससे अर्थशास्त्र मे निश्चितता और व्यावहारिकता आ जाती है, परन्तु पीगू के दृष्टिकोण को अपनाने से भी तीन कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं— (१) पीगू ने आर्थिक कल्याण को अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय माना है, किन्तु उस कल्याण को जो आर्थिक है और उस कल्याण को जो आर्थिक नही है, एक दूसरे से पूर्णतया अलग करना सम्भव नही है। दोनों में परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध है। (२) यदि केवल उन्ही क्रियाओ को अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे सम्मिलित किया जाता है जो कि मुद्रा मे नापी जा सकती हैं तो विभिन्न परिस्थितियो मे एक ही क्रिया आर्थिक अथवा अनार्थिक (Non-economic) हो जायगी। उदाहरण के लिए, एक कलाकार जब दान हेतु अपनी कला का प्रदर्शन करता है तो उसकी यह क्रिया अनार्थिक होगी, परन्तु वही कलाकार जब पैसे कमाने के लिए ऐसा करता है तो उसकी यही क्रिया आर्थिक हो जायगी। (३) रोबिन्स का विचार है और यह सही भी है कि पीगू का दृष्टिकोण भी भौतिकतावादी (Materialistic) ही है।

सब कुछ देखते हुये रोबिन्स का विचार ही अधिक सही प्रतीत होता है। यह ऊपर बताया जा चुका है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य और उसके व्यवहार से है। हमारे अध्ययन का विषय मनुष्य है और अपने एक निश्चित दृष्टिकोण से हम मनुष्य के व्यवहार की विवेचना करते हैं। अर्थशास्त्र में इस प्रकार हम उन सभी घटनाओ, विचारो, क्रियाओ और तत्वों का अध्ययन करते है जिनका मनुष्य से सम्बन्ध है। अब क्योंकि मनुष्य समाज का अङ्ग है, अतः उसकी क्रियाओ और विचारों का समाज पर गहरा प्रभाव पड़ता है, अतएव मनुष्य के व्यवहार के साथ-साथ इस व्यवहार का सामाजिक जीवन पर प्रभाव भी अर्थशास्त्र के विषय मे आ जाता है। आजकल के युग में मनुष्य और समाज को एक दूसरे से अलग करके अध्ययन करना सम्भव नही है, क्योकि यह दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं।

यह बात जानने योग्य है कि अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य के समस्त व्यवहारो तक विस्तृत है। प्राचीन लेखकों ने आर्थिक क्रियाओं और अनार्थिक क्रियाओ मे जो भेद किया है उसकी आलोचना पहले की जा चुकी है। इस प्रकार का भेद न तो वैज्ञा-

दे देते हैं, जो एक कल्पना मात्र है।[1] एक दूसरे स्थान पर उन्होने लिखा है कि अर्थशास्त्री जो सूचियाँ और तालिकाएँ बनाते हैं वे सारी की सारी अवास्तविक होती हैं और उनकी सहायता से भविष्य का कोई भी विश्वासजनक अनुमान नही लगाया जा सकता है।[2] इसके अतिरिक्त बहुत बार यह भी कहा जाता है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य से है, जिसे व्यवहार की पूरी स्वतन्त्रता होती है और जो स्वयं अपनी इच्छा का स्वामी होता है। इसी कारण अर्थशास्त्र से सम्बन्धित घटनायें बडी जटिल और परिवर्तनशील होती हैं। ऐसे बलहीन आधार पर अर्थशास्त्र के विज्ञान का निर्माण लगभग असम्भव है। इससे तो यही पता चलता है कि अर्थशास्त्र को विज्ञान कहना बहुत उचित नही है।

हमे याद रखना चाहिए कि इन आलोचनाओ से बहुत कुछ सिद्ध नही होता है। उटन (Wootton) ने वास्तव मे एक साधारण व्यक्ति के विचारो को प्रकट किया है। पुराने समय से अर्थशास्त्र को नीची दृष्टि से देखने की परम्परा सी चली आ रही है जिसका कोई वैज्ञानिक आधार नही है। यदि सम्बद्ध ज्ञान का ही नाम विज्ञान है तो फिर अर्थशास्त्र को विज्ञान कहने में संकोच क्यो किया जाता है। जो लोग अर्थशास्त्र को कला समझते हैं उन्हे याद रखना चाहिए कि अर्थशास्त्र केवल कला का आधार है, वह स्वय कला नही है। "जिस विज्ञान के विकास का अर्थशास्त्री प्रयत्न कर रहे हैं वह ऐसा होना चाहिए कि उसे कला का आधार बनाया जा सके। यह स्वयं तो कला नही होगी, यह तो एक विज्ञान है, जो सैद्धान्तिक (Pure) भी है और व्यावहारिक (Applied) भी, यह विज्ञान और कला दोनो एक साथ नही है।"[3] विज्ञान के रूप मे भी अर्थशास्त्र का व्यावहारिक महत्त्व हो सकता है और इसे एक फलदायक (Fruit-bearing) विज्ञान कहा जा सकता है। प्रो० पीगू ने कहा है कि अर्थशास्त्र वैसे तो एक विज्ञान है, परन्तु इसका अध्ययन एक दार्शनिक के दृष्टिकोण से केवल ज्ञान प्राप्त करने के लिये नही किया जाता है, बल्कि इस शास्त्र का अध्ययन हम एक डाक्टर के दृष्टिकोण से करते है, जिससे कि प्राप्त ज्ञान को रोगियों की चिकित्सा के लिये उपयोग किया जा सके, अतएव अर्थशास्त्र को विज्ञान कहना ही उपयुक्त होगा।

६

---

1. "Economists are under the suspicion of being charlatans and they cannot afford to arrogate honourable titles to themselves........In the increasingly common application by theoretical economists of the term science to their studies there is an element of wishfulness."—Barbara Wootton *Lament for Economics*, p. 14.

2. *Ibid*, pp. 115-18.

3. "The type of science that the economist will endeavour to develop must be one adapted to form the basis of an art. It is a science pure and applied, rather than a science and an art."—Marshall : *Principles of Economics*, p 43.

अर्थशास्त्र कैसा विज्ञान है—

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है तो यह कैसा विज्ञान है ? विज्ञान दो प्रकार के होते हैं—वास्तविक विज्ञान और आदर्श विज्ञान (Positive Science and Normative Science)। अर्थशास्त्र के विषय में अधिकांश विद्वानों का कहना है कि यह केवल एक वास्तविक विज्ञान है, परन्तु वाद-विवाद बहुधा इस प्रश्न को लेकर चलता है कि क्या अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान भी कहा जा सकता है। वास्तविक विज्ञान अपने आपको वास्तविकता तक ही सीमित रखता है। वह किसी भी विषय का अध्ययन उसके वास्तविक रूप या दशा में करता है, अर्थात् जैसी बात वास्तव में है उसका उल्लेख करता है। उसकी अच्छाई या बुराई पर कोई प्रकाश नहीं डालता और न इस विषय में बताता है कि वह कैसी होनी चाहिए ? दूसरे प्रकार का विज्ञान कोई उद्देश्य लेकर चलता है। जो कुछ भी नियम बनाये जाते हैं या जो कुछ भी निष्कर्ष निकाले जाते हैं वे किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए किये जाते हैं। इस प्रकार का विज्ञान आदेश देता है और 'कैसा है' के विपरीत 'कैसा होना चाहिए' का बोध कराता है। इस प्रकार वास्तविक विज्ञान यह बताता है कि 'कैसा है' और आदर्श विज्ञान यह बताता है कि 'कैसा होना चाहिए।'

अर्थशास्त्र में लम्बे काल से यह वाद-विवाद चला आ रहा है कि अर्थशास्त्र वास्तविक है अथवा आदर्शवादी। दोनों मतों के समर्थक काफी संख्या में पाये जाते हैं। आधुनिक काल के आर्थिक पण्डितों में रोबिन्स और पीगू इन दो अलग-अलग मतों के प्रमुख समर्थक हैं। रोबिन्स का विचार है, अर्थशास्त्र वास्तविक है, अतः अर्थशास्त्र के लेखकों को निर्णय (Judgement) नहीं देना चाहिए, वरन् जो बात जैसी हो वैसी बता देना चाहिए। पीगू ने इस बात की कड़ी आलोचना की है। उनका (पीगू का) कथन है कि इस प्रकार का अर्थशास्त्र मनुष्य के लिए बेकार होगा, क्योंकि अर्थशास्त्र के द्वारा हमें जीवन की विभिन्न समस्याओं को हल करना होता है और यह निर्णय करना पड़ता है कि हमें क्या करना चाहिए। उनके विचार में अर्थशास्त्र प्रकाश डालने वाला (Light Bearing) विज्ञान न होकर फलदायक (Fruit Bearing) विज्ञान है और इसी कारण यह शास्त्र बड़ा लाभदायक और महत्त्वपूर्ण है।

यह समझ लेना कठिन नहीं है कि रोबिन्स तथा पीगू दोनों के विचार सही हैं। अर्थशास्त्र दोनों ही प्रकार का विज्ञान हो सकता है। एक वैज्ञानिक की दृष्टि से रोबिन्स का मत अधिक ठीक है और इसी प्रकार एक अर्थ-मन्त्री की दृष्टि से पीगू का मत अधिक सही है। एक वैज्ञानिक का काम होता है कि वह किसी दिये हुये विषय की सभी पक्षों को देखते हुए पूरी विवेचना करे। उसके लिए यही मार्ग ठीक होगा कि वह उस विषय पर अपनी व्यक्तिगत सम्मति न दे और पाठक या श्रोता को उस पर स्वयं निर्णय करने दे। किन्तु कोई भी मनुष्य, जिसे व्यावहारिक (Practical) समस्याओं को हल करना पड़ता है, ऐसा नहीं कर सकता है। उदाहरणार्थ, एक निश्चित

स्थान (व) तक पहुँचने के लिए दो प्रकार का ज्ञान दिया जा सकता है—एक तो यह कि उस स्थान तक पहुँचने के सभी साधनों की उनके गुण और दोषों सहित पूरी विवेचना कर दी जाय, दूसरा यह कि सबसे सुगम तथा अच्छा साधन बता दिया जाय। पहली रीति वास्तविक वैज्ञानिक अपनायेगा और दूसरी आदर्शवादी वैज्ञानिक।

इस सम्बन्ध में यह जानना बड़ा सहायक होगा कि यद्यपि रोबिन्स अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान मानते हैं, किन्तु अपने सभी आर्थिक लेखो मे वे इस विचार को नही निभा पाये हैं। उदाहरणार्थ, जब वे लडाई की अर्थव्यवस्था के विषय में लिखते हैं तो वास्तविक विज्ञान की सीमा को पार करके सलाह देने लगते हैं। इसी प्रकार पीगू का मत है कि अर्थशास्त्र केवल आदर्श विज्ञान है, परन्तु जब वे मुद्रा-प्रसार (Inflation) अथवा राष्ट्रीय आय (National Income) के विषय मे लिखते है तो एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति विषय की विवेचना करके रुक जाते हैं और वास्तविकता की सीमा के बाहर पैर नही रखते हैं। ऊपर दी हुई बातो से यह सिद्ध होता है कि यह कह देना कि अर्थशास्त्र केवल वास्तविक विज्ञान है या केवल आदर्श विज्ञान है, भूल होगी। यह दोनों है, परन्तु किस रूप मे इसका अध्ययन किया जाय, यह उस उद्देश्य के रूप और प्रकृति पर निर्भर है जिसके लिए अर्थशास्त्र का उपयोग किया जा रहा है।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र (The Scope of Economics)—

अर्थशास्त्र के विषय और उसकी प्रकृति को निश्चित कर देने के पश्चात् अर्थशास्त्र के क्षेत्र को निश्चित कर देना सरल हो जाता है। पुराने अर्थशास्त्रियो के अनुसार अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य की केवल उन क्रियाओं से था जो धन को कमाने और धन को व्यय करने से सम्बन्धित थी। इन अर्थशास्त्रियों ने मनुष्य की भौतिक और अभौतिक अथवा आर्थिक और अनार्थिक क्रियाओ के बीच भेद किया था और केवल पहली प्रकार की मानव क्रियाओ को अर्थशास्त्र मे सम्मिलित किया था। रोबिन्स और उनके समर्थको का विचार है कि मानव क्रियाओं का इस प्रकार वर्गीकरण नही हो सकता है। उनके अनुसार मनुष्य की सभी क्रियाओ का अध्ययन अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे आ जाता है। मनुष्य की भौतिक और अभौतिक दोनो ही प्रकार की क्रियायें अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय हैं। पीगू ने मानव क्रियाओ का एक दूसरी रीति से वर्गीकरण किया है—वे क्रियाएँ जिनका मौद्रिक मूल्य होता है और वे क्रियायें जिनका मौद्रिक मूल्य नही होता है। पीगू ने केवल प्रथम प्रकार की मानव क्रियाओं को अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित किया है और इस प्रकार उन्होने अर्थशास्त्र के क्षेत्र की सीमा निश्चित कर दी है।

इन सब दृष्टिकोणों में सैद्धान्तिक रूप मे रोबिन्स का विचार अधिक सही है, परन्तु व्यावहारिक रूप मे पीगू का विचार सही है। फिर भी आजकल मनुष्य की सभी क्रियाओ को अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे सम्मिलित करने की प्रथा है, परन्तु मानव

व्यवहार के अनेक पक्ष होते हैं और इनमे से केवल एक ही पक्ष, अर्थात् निर्णय विधायक पक्ष (Choice-making Aspect) का ही हम अर्थशास्त्र में अध्ययन करते हैं। मानव व्यवहार के अन्य पक्षों का अध्ययन राजनीति, इतिहास, मनोविज्ञान आदि दूसरे सामाजिक विज्ञानों (Social Sciences) में किया जाता है।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र के विषय में एक बात और भी जानने योग्य है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन में सभी मनुष्यों के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि असाधारण मनुष्यो अथवा उन व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन अर्थशास्त्र में सम्मिलित नही है जो समाज से दूर रहते हैं, परन्तु आधुनिक विचारधारा ऐसी नही है। आर्थिक समस्या (निर्णय करने की समस्या) सभी मनुष्यों के लिए रहती है और सभी की क्रियाओं का आर्थिक महत्व होता है, इसलिए सभी मनुष्यों की क्रियाओं का अर्थशास्त्र में अध्ययन होना चाहिए। इतनी बात अवश्य है कि पागलों और अन्य असाधारण व्यक्तियों के व्यवहार पर अर्थशास्त्र के सामान्य नियम लागू नहीं होते हैं।

यह प्रश्न भी लगभग तय सा हो गया है कि अर्थशास्त्र को कला कहा जाय या विज्ञान। अधिकतर अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को विज्ञान ही समझते हैं, यद्यपि यह वास्तविक और आदर्शवादी दोनो ही प्रकार का विज्ञान है। फिर भी चैपमैन जैसे कुछ अर्थशास्त्री ऐसे अवश्य हैं जो अर्थशास्त्र को वास्तविक और आदर्श विज्ञान तथा कला सब कुछ एक ही साथ समझते हैं। उनके अनुसार—*"अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान के रूप में आर्थिक विषयों का उनके वास्तविक रूप में अध्ययन करता है, एक आदर्श विज्ञान के रूप में यह ऐसा पता लगाता है कि आर्थिक विषय किस प्रकार के होने चाहिए और कला के रूप में यह उन उपायों की खोज करता है जिनके द्वारा आवश्यक लक्ष्य पूरे किये जा सकते हैं।"**

अर्थशास्त्र के विभाग (Department of Economics)—

प्राचीन काल के आर्थिक लेखकों, ने केवल आर्थिक समस्याओं का अध्ययन किया है। उस समय अर्थ-विज्ञान का विकास नही हुआ था। बहुधा प्राचीन लेखकों के विचार फुटकर आर्थिक विषयों पर टिप्पणी मात्र ही थे। आरम्भ मे न्यायोचित मूल्य (Just price) तथा व्यापार और उचित ब्याज पर अधिक जोर दिया गया था। उस समय तक आर्थिक जीवन की समस्यायें इतनी जटिल न थी जितनी कि वे आधुनिक काल में बन गई हैं, अतः उत्पादन तथा वितरण की समस्यायें बहुत महत्त्व-पूर्ण न थीं। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के पश्चात् संसार के आर्थिक संगठनों का ढांचा बिल्कुल बदल गया और आर्थिक सम्बन्धों की, विशेष

---

* "Economics is a positive science dealing with economic facts as they are, a normative science inquiring facts as they ought to be, and an art finding out the ways and means by which the desired end can be reached."—Chapman.

रूप से मजदूरों और मिल-मालिकों के बीच की समस्याओं की, संख्या और भी गम्भीरता से बढ गई। औद्योगिक-क्रान्ति के पश्चात् उत्पादन और वितरण ने विशेष महत्त्व प्राप्त किया, क्योंकि इस क्रान्ति ने मनुष्य की प्रकृति पर विजय पाने की शक्ति को बहुत बढ़ा दिया था तथा उत्पादन की बहुत सी नई और आश्चर्यजनक रीतियों का पता लगा लिया था। इसी काल में एक बड़ा सामाजिक संघर्ष भी उत्पन्न हो गया। उत्पत्ति में पूँजी का स्थान बहुत ऊँचा हो गया तथा उत्पत्ति के साधनों और रोजगार के साधनों पर एक विशेष वर्ग का अधिकार हो गया। समाज का एक बहुत बड़ा अंग ऐसा बन गया जिसे अपने जीवन निर्वाह तथा रोजगार के लिए पूँजीपतियों पर निर्भर रहना पड़ता था। मजदूर और पूँजीपतियों के दो अलग और प्रति-विरोधी दल पैदा हो गये। उत्पादन का अधिकतर भाग समाज के थोड़े से व्यक्तियों के पास जाने लगा, जिसके कारण जन-संख्या की वृद्धि को रोकने का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। इस काल के आर्थिक लेखक इन परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना न रह सके और इसलिए उन्होंने उत्पादन तथा वितरण की समस्याओं के अध्ययन को अधिक महत्त्व दिया। आगे चलकर जैसे-जैसे आर्थिक जीवन की कठिनाइयाँ बढ़ती गईं तथा अर्थशास्त्र का आर्थिक विषयों के रूप में न रह कर अर्थ-विज्ञान के रूप में अध्ययन आरम्भ हुआ तो और भी अनेक प्रकार की समस्याओं का अध्ययन इस विज्ञान के अन्तर्गत होने लगा।

अध्ययन की सुविधा के लिये अर्थशास्त्रियों ने इस विज्ञान के विषय को चार भागों में विभाजित कर लिया है। ये चार विभाग—उपभोग (Consumption), उत्पत्ति (Production), विनिमय (Exchange) और वितरण (Distribution) हैं। इन चारों विभागों से सम्बन्धित नियमों का अलग-अलग अध्ययन किया जाता है, किन्तु इस विभाजन का अर्थ यह नहीं होता है कि कुछ ऐसे विभाग बन जाते हों जिनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध ही न हो। अर्थशास्त्र के विषय की एकता को तो सभी स्वीकार करते हैं। एक विभाग को दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता, अतः जो विभाजन किया गया वह केवल इस प्रकार है कि एक जैसी कुछ समस्याओं का अध्ययन एक साथ कर लिया जाय। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार कहिये कि आर्थिक ज्ञान को समबद्ध (Systematic) बनाने के लिए ऐसा करना आवश्यक था। कुछ विद्वानों ने अर्थशास्त्र का एक पाँचवाँ विभाग भी बताया है, जिसे राजस्व (Public Finance) का नाम दिया गया है। स्मरण रहे कि राजस्व अर्थ-विज्ञान का एक आवश्यक अंग है, किन्तु यह उसी प्रकार का एक अंग है जैसा कि बैंक प्रथा तथा मुद्रा का अध्ययन अर्थशास्त्र का अंग है। वर्तमान दृष्टिकोण यह है कि राजस्व का अध्ययन एक पृथक शास्त्र के रूप में किया जाता है।

अर्थशास्त्र के विषय का विभाजन करने की प्रथा अर्थशास्त्र में बहुत पुरानी नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसका प्रयास सर्व प्रथम फ्रान्स के प्रसिद्ध आर्थिक लेखक जे० बी० से (J. B. Say) ने किया था। उन्होंने अर्थशास्त्र को तीन विभागों में बाँटा था, अर्थात् उत्पत्ति, विनिमय तथा वितरण। इससे सिद्ध होता है कि उपभोग के

अध्ययन का महत्त्व उस समय तक नहीं समझा गया था। उपभोग को छोड़े रखने की प्रथा बहुत समय तक चलती रही। सर्व प्रथम एक इटली के अर्थशास्त्री कौनडीलैक (Condillac) ने उपयोगिता के विचार का अर्थशास्त्र से परिचय कराया। इसके पश्चात् आस्ट्रियन मत-पक्ष (Austrian School of Thought) के लेखकों ने उपभोग का सही रूप में अध्ययन आरम्भ किया। आधुनिक काल के अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक रूप पर अधिक जोर दिया है, जिसके कारण उपभोग का अध्ययन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो गया है। प्रोफेसर रोबिन्स द्वारा दी हुई अर्थशास्त्र की परिभाषा मे हम देख चुके हैं कि किस प्रकार अर्थशास्त्र का आधार उपभोग ही है तथा सारा अर्थ-विज्ञान उपभोग के एक महत्त्वपूर्ण नियम पर अवलम्बित है, इसलिए इस विभाजन में उपभोग को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है।

परिभाषाएँ—

उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण और राजस्व के अर्थों की विस्तारपूर्वक व्याख्या आगे चलकर की जायेगी। इस स्थान पर केवल इतना बता देना पर्याप्त होगा कि ये यथार्थ मे है क्या? *उपभोग आवश्यकता पूर्ति हेतु किसी वस्तु की उपयोगिता को कम करने की क्रिया का नाम है।* उपयोगिता में यह कमी विभिन्न रीतियों से हो सकती है। कपड़े का उपभोग पहनने के रूप में होता है। भोजन का खाने के रूप में तथा गाने का सुनने के रूप मे। *उत्पादन से हमारा अभिप्राय मानव आवश्यकता की तृप्ति हेतु किसी वस्तु की उपयोगिता में वृद्धि करने के कार्य से होता है।* यह भी विभिन्न रीतियो से किया जा सकता है, जैसे कि किसी वस्तु का रूप, स्थान, उपभोग का समय, इत्यादि बदल कर। एक दुकानदार उसी प्रकार उत्पादक है जैसे कि एक किसान। *विनिमय का अर्थ वस्तुओं की अदला-बदली से है, यदि यह अदला-बदली स्वतन्त्रता तथा स्वेच्छा से हो।* जब दो मनुष्य अपनी इच्छा से एक वस्तु दूसरी वस्तु से बदलते है तो उनका यह कार्य विनिमय का कार्य होता है। वितरण उस कार्य का नाम है जिसके द्वारा कुल उत्पत्ति मे से उत्पत्ति के सहायक साधनो के हिस्से निकाले जाते हैं। स्पष्ट है कि उत्पत्ति के लिए कई साधनों का सहयोग आवश्यक होता है। *वितरण में इस बात का अध्ययन किया जाता है कि इस सहयोग से जो उत्पत्ति हुई है उसमें से किस साधन को किस प्रकार तथा कितना हिस्सा मिलता है?* राजस्व का अध्ययन बहुधा एक पृथक विज्ञान के रूप में किया जाता है। *यह वह विज्ञान है जिसमें राज्यों की आय और व्यय का अध्ययन किया जाता है।* व्यक्तियों और राज्यों द्वारा आय प्राप्त करने के सम्बन्ध में कुछ ऐसे आधारभूत अन्तर होते हैं जिनके कारण राजस्व का एक पृथक विज्ञान के रूप में अध्ययन करना ही अधिक उपयुक्त होता है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, अर्थशास्त्र के ये विभाग एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। विभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए ही किया गया है।

अध्याय ३

अर्थ-विज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

(Relation of Economics with other Sciences)

प्रारम्भिक—

मनुष्य की प्रकृति का विभाजन सम्भव नही है, इसीलिए मानवीय समस्याओं के आर्थिक पक्ष को राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक पक्षों से पृथक नही किया जा सकता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र का उन सब विज्ञानों से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है जो मानवीय जीवन की समस्याओं को हल करने में सहायक होते हैं, इसीलिये अर्थशास्त्र सभी शास्त्रो से कुछ न कुछ लेता है। किन्तु जैसा कि ज्ञात है, विज्ञान दो प्रकार के होते हैं–प्राकृतिक या भौतिक विज्ञान (Natural or Physical Sciences) और मानवीय विज्ञान। इन दोनो ही प्रकार के विज्ञानो से अर्थशास्त्र का सम्बन्ध है, किन्तु भौतिक विज्ञानों से इसका सम्बन्ध केवल इतना ही है कि उन विज्ञानो के नियम यह अपने नियमों के आधार स्वरूप उपयोग में लाता है, उनके स्पष्टीकरण अथवा निर्धारण करने का प्रयत्न नही करता है। इसके विपरीत मानवीय विज्ञानो से अर्थशास्त्र का सबंध बड़ा घनिष्ट है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है। उसका सम्बन्ध मनुष्य से समाज के एक सदस्य और अङ्ग के रूप में है, व्यक्तिगत रूप मे नही है। आजकल की अध्ययन प्रवृत्ति विशेषज्ञता तथा भेदकरण (Specialisation and Differentiation) की ओर है और प्रत्येक वैज्ञानिक अपने अध्ययन क्षेत्र की सीमाएं निश्चित कर लेता है। तथापि भिन्न-भिन्न सामाजिक शास्त्रों की एकता बढ़ती हुई दिखाई पड़ती है। इस अध्याय मे हम विशेष रूप से अर्थशास्त्र तथा दूसरे सामाजिक शास्त्रो की घनिष्ठता का ही अध्ययन करेंगे।

अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र (Economics and Sociology)—

समाजशास्त्र समाज सम्बन्धी सर्वव्यापी विज्ञान है। उसमें सामाजिक जीवन के सभी अङ्गो का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य के व्यवहार तथा उसकी प्रकृति से सम्बन्धित सभी प्रवृत्तियां उसके क्षेत्र मे आ जाती हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान इत्यादि सभी समाजशास्त्र से सम्बन्धित हैं, अतः अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनो का विषय एक ही है, अर्थात् मनुष्य और उसका व्यवहार, जिसके कारण दोनो मे एक घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, किन्तु दोनो विज्ञान एक नही हैं। कुल और भाग मे जो अन्तर है वही इन दोनो मे भी है। समाजशास्त्र मानव व्यवहार के सभी पक्षों का अध्ययन करता है, परन्तु अर्थशास्त्र केवल एक ही पक्ष को

लेता है, इसीलिये जबकि समाजशास्त्र मनुष्य के व्यवहार सम्बन्धी सामान्य (General) नियम बनाता है, अर्थशास्त्र के नियम इस अर्थ में विशिष्ट होते हैं कि वे उसके एक विशेष अङ्ग से ही सम्बन्धित होते हैं।

अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र का सम्बन्ध यही पर समाप्त नही हो जाता है। समाजशास्त्र के सामान्य नियम अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा अन्य सामाजिक शास्त्रों के नियमों पर आधारित होते है। इस प्रकार समाजशास्त्र को अपने निष्कर्षों तथा तथ्यों को निश्चित करने के लिये अन्य सामाजिक शास्त्रों पर निर्भर रहना पड़ता है और अर्थशास्त्र इन शास्त्रों मे से एक है। इसके साथ-साथ अर्थशास्त्र का काम भी समाजशास्त्र के बिना चल नही सकता है। आर्थिक समस्याओं को सामाजिक (Sociological) समस्याओं से पृथक नही किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, आर्थिक नियोजन (Economic Planning) तथा जन-संख्या जैसी आर्थिक समस्याओं का सामाजिक समस्याओं के साथ ही अध्ययन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त समाजशास्त्र अर्थशास्त्र के उपयोग के लिये बहुत ही लाभदायक सामग्री जुटाता है।

अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र (Economics and Political Science)—

राजनीतिशास्त्र भी सामाजिक शास्त्रों मे से एक है। इसका भी समाजशास्त्र से अर्थशास्त्र की ही भाँति सम्बन्ध है, अतएव राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र इन दोनों शास्त्रों में घनिष्ट सम्बन्ध होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इन दोनों शास्त्रों का विषय मनुष्य और उसका व्यवहार है तथा इस प्रकार दोनो एक ही विषय का अध्ययन करते हैं, किन्तु स्मरण रहे कि ये दोनों शास्त्र मनुष्य के व्यवहार के विभिन्न अङ्गो का अध्ययन करते हैं, जबकि अर्थशास्त्र निर्णय विधायक पक्ष (Choice making Aspect) का अध्ययन करता है, राजनीतिशास्त्र संघ विधायक पक्ष (Association-making Aspect) को लेता है। इस प्रकार विषय की एकता होते हुये भी दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं।

अर्थशास्त्र तथा राजनीति का गहरा सम्बन्ध इस बात से भी सिद्ध होता है कि प्राचीन लेखकों ने अर्थशास्त्र को राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) का नाम दिया है। अरस्तू (Aristotle) से लेकर मार्शल के काल तक यही नाम चला आया है। आरम्भ में अर्थ विज्ञान का उद्देश्य केवल किसी राज्य या राष्ट्र के आर्थिक प्रयोजनों तथा समस्याओं का अध्ययन ही समझा गया था। इस समय भी इस प्रकार का अध्ययन अर्थशास्त्र का एक आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण अङ्ग समझा जाता है। सभी आर्थिक लेखकों ने राजस्व (Public Finance) को अर्थ विज्ञान के अध्ययन क्रम में सम्मिलित किया है। यह एक ऐसा विषय है जिसका अध्ययन हम अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र दोनों ही मे करते हैं। इस प्रकार इस स्थान पर आकर ये विज्ञान एक दूसरे की सीमाओं का उल्लंघन करने लगते हैं। ऐसे ही विषय

कई और भी हैं, जैसे कि समाजवाद (Socialism), साम्यवाद (Communism), एक राजनैतिकवाद (Fascism), आर्थिक नियोजन (Economic Planning), इत्यादि। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन सब विषयों का अध्ययन अर्थशास्त्र के लिये उतना ही आवश्यक है जितना कि राजनीति शास्त्र के लिये और ऐसी ही बात श्रम सम्बन्धी नियमों के विषय में भी कही जा सकती है।

इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में और भी घनिष्ट सम्बन्ध है। एक बडे अंश तक अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र पर निर्भर है, क्योंकि किसी देश की आर्थिक संस्थाओं का रूप और आकार वहाँ के राजनीतिक संगठन द्वारा भी निश्चित होता है। मजदूर और पूँजीपति-सम्बन्ध, आयात-निर्यात, व्यापार नीति, कर, बेकारी तथा औद्योगिक और व्यावसायिक रीतियाँ बहुधा शासन द्वारा निर्धारित की जाती हैं तथा भिन्न-भिन्न शासन प्रणालियों के साथ-साथ इनमें भी भिन्नता रहती है। देश के भीतर आर्थिक कार्य राज्य के शासन द्वारा बनाए हुए नियमों के अनुसार ही होते हैं। स्पष्ट है कि समाजवाद के आधीन अर्थव्यवस्था तथा आर्थिक नीति का जो ढाँचा होता है वह पूँजीवादी शासन के आधीन नहीं होता है। यह भी स्पष्ट है कि भिन्न भिन्न प्रकार के शासन संगठनों के अनुसार देश में सर्वसाधारण के बीच आर्थिक सम्बन्धों (Economic Relations) में भी अन्तर होता है। शासन की नीति के अनुसार आर्थिक जीवन का रूप बदलता रहता है।

इसके साथ-साथ राजनीतिशास्त्र स्वयं भी अर्थशास्त्र पर निर्भर रहता है। आजकल के युग में किसी को यह समझने में देर न लगेगी कि दीर्घकालीन दृष्टिकोण से आर्थिक परिस्थितियों से ही सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के कलेवर का निर्माण होता है। कोई भी शासन जो देश की आर्थिक परिस्थितियों पर विचार किये बिना नीति बनाता है, न तो टिकाऊ हो सकता है और न अपनी नीतियों को क्रियात्मक रूप दे सकता है। विदेशों से सम्बन्ध तथा लड़ाई या समझौतों की नीति देश की आर्थिक परिस्थितियों पर ही निर्भर होती है।

इसी प्रकार कितनी सेना रखी जाय तथा विभिन्न कार्यों के लिए कितना व्यय किया जाय, ये निर्णय भी आर्थिक साधनों के ही आधार पर होते हैं। समाजवाद का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि सभी प्रकार की संस्थाओं का रूप अन्त में आर्थिक कारणों से निश्चित होता है। आर्थिक समस्याओं पर विजय न पा सकने के कारण शासनों को गिरते देखने का संसार को अनुभव कम नहीं है। चीन में च्याग काई-शेक सरकार की हार का कारण साम्यवादी सेनाओं की शक्ति इतनी नहीं थी जितनी कि देश में फैला हुआ भयंकर मुद्रा-प्रसार (Inflation)। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि अमरीकन सरकार की विदेशी नीति (मार्शल-सहायता-योजना, कोरिया की लड़ाई, इत्यादि) एक बडे अंश तक उस देश की भीतरी आर्थिक कमजोरी के आधार पर बनाई गई है। निश्चय है कि बढ़ती हुई बेकारी तथा गिरती हुई माँग की समस्याओं को संसार में लड़ाई का आतंक फैला कर हल करने का प्रयत्न किया जा

रहा है। उपरोक्त बातो से सिद्ध होता है कि अर्थ-विज्ञान तथा राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध बड़ा घनिष्ट है और अर्थशास्त्रियों ने इस घनिष्टता को स्वीकार करके अच्छा ही किया है।

अर्थशास्त्र तथा इतिहास (Economics and History)—

राजनीतिशास्त्र की भाँति इतिहास भी समाजशास्त्र से सम्बन्धित है। इस प्रकार यह और अर्थशास्त्र भी एक-दूसरे से सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त दोनो का विषय भी एक ही है, अर्थात् मनुष्य और उसका व्यवहार, अतः इन दोनो मे घनिष्ट सम्बन्ध का होना आवश्यक है। दोनो मे अन्तर केवल इतना है कि इनमे से प्रत्येक ने मनुष्य के व्यवहार का एक अलग अंग चुन लिया है। अर्थशास्त्र अपने आपको इस व्यवहार के निर्णय करने के पक्ष तक सीमित रखता है और इतिहास प्रगति करने के पक्ष (Progrees making Aspect) तक। इस प्रकार विषय की एकता होते हुए भी दोनो के क्षेत्र अलग-अलग हैं।

ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि कुछ विषय ऐसे भी हैं जिनका अध्ययन इतिहास तथा अर्थ-विज्ञान दोनो मे किया जाता है। आर्थिक इतिहास (Economic History) एक ऐसा ही विषय है। इसमें किसी देश की अर्थव्यवस्था तथा आर्थिक जीवन और उसके विकास का अध्ययन होता है। एक इतिहास के विद्यार्थी के लिए इस विषय का अध्ययन आवश्यक है, क्योकि उसे तो सामाजिक जीवन के सभी अगों को प्रगति विधायक दृष्टिकोण से परखना होता है। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए भी इसका इतना ही महत्त्व है, क्योंकि आर्थिक जीवन का रूप धीरे-धीरे बनता है और इसके बनने के सम्बन्ध मे इतिहास स महत्त्वपूर्ण तथा लाभदायक अनुभव प्राप्त किये जा सकते हैं।

अर्थ-विज्ञान और इतिहास का सम्बन्ध यही पर समाप्त नही हो जाता है, वरन् इससे भी आगे बढ़ता है। बहुत सी बातो के लिए अर्थशास्त्र को इतिहास पर निर्भर रहना पड़ता है। इतिहास भूतकाल के आर्थिक जीवन, आर्थिक प्रणालियो और आर्थिक सम्बन्धों के विषय मे बड़ी लाभदायक सूचना देता है, जिनके आधार पर अर्थशास्त्र मे वर्तमान तथा भविष्य के बारे मे निष्कर्ष निकाले जाते हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का एक तरीका ऐतिहासिक पद्धति भी है, जिसके अनुसार भूतकालीन परिस्थितियो तथा प्रयोगो के आधार पर आगे के नियम बनाये जाते हैं। इस प्रणाली के लिए इतिहास का बड़ा महत्त्व है। विशेष रूप से आर्थिक नियोजन का काम तो ऐतिहासिक अध्ययन के बिना चल ही नही सकता। अर्थशास्त्र मे आधुनिक प्रवृत्ति यह है कि प्रत्येक विषय का ऐतिहासिक ढङ्ग से अध्ययन किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, आर्थिक नियमो के विकास का अध्ययन भी अब हम इसी प्रकार करते हैं। इस प्रकार इतिहास पर निर्भरता बहुत अधिक है।

परन्तु इतिहास अर्थशास्त्र पर निर्भर न हो, ऐसी बात नही है। सत्य तो यह है

कि अर्थशास्त्र की सहायता के बिना इतिहास तथा ऐतिहासिक घटनाओं का समझना तथा उनकी व्याख्या करना कठिन है। कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के अनुसार इतिहास की व्याख्या केवल आर्थिक अध्ययन के अनुसार ही की जा सकती है। आर्थिक समस्याओं और परिस्थितियों का रूप ही किसी देश के इतिहास का निर्माण करता है। अमुक समय में अमुक शासन प्रणाली या राजनीतिक नीति ऐसी क्यों थी, यह समझने के लिए उस समय की अर्थ-व्यवस्था का समझना आवश्यक होता है। इसके बिना ऐतिहासिक घटनायें ठीक प्रकार से समझ में नही आ सकती है। उदाहरणस्वरूप, युद्ध को एक मुख्य ऐतिहासिक घटना सभी मानते है, किन्तु किसी भी युद्ध के कारण तथा उद्देश्य जानने के लिए हमे अर्थशास्त्र से सहायता लेनी पड़ती है। आधुनिक काल के युद्ध आर्थिक कारणों से उत्पन्न होते हैं और आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति या आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए लड़े जाते हैं। इस बात को सभी जानते है कि बीसवीं शताब्दी के दोनों महायुद्धों के कारण आर्थिक थे, अतः यदि सम्पूर्ण आर्थिक पृष्ठभूमि को समझने का प्रयत्न न किया जाय तो इन महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं के समझने में हम असफल ही रहेंगे।

इस प्रकार हम देखते है कि इतिहास और अर्थशास्त्र का सम्बन्ध भी बड़ा घनिष्ट है। सर जोन सिले ने ठीक ही कहा है कि इतिहास अर्थशास्त्र के बिना निराधार है और अर्थशास्त्र बिना इतिहास के फल-विहीन है।* दोनों के बीच इतना महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है कि एक के बिना दूसरे का काम नही चल सकता है तथा एक को दूसरे से बड़ी सहायता मिलती है।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र (Economics and Ethics)—

नीतिशास्त्र (Ethics) भी समाजशास्त्र से सम्बन्धित है और वह भी मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन करता है। इस प्रकार उसका अर्थशास्त्र से घनिष्ट सम्बन्ध होना आवश्यक है, किन्तु दूसरे सामाजिक शास्त्रों की भाँति इस विज्ञान में भी मनुष्य के व्यवहार के केवल एक ही पक्ष का अध्ययन किया जाता है, अर्थात् नैतिक पक्ष का। इस प्रकार इसका क्षेत्र अर्थशास्त्र से भिन्न है। प्राचीन आर्थिक लेखकों ने इन दोनों में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध माना है। आरम्भ में तो अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र का ही एक अङ्ग माना जाता था और आर्थिक नियमों का धर्मशास्त्र तथा न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार निर्माण किया जाता था। प्रत्येक आर्थिक नियम, तथ्य और विचार की सत्यता नैतिक दृष्टिकोण से देखी जाती थी। आगे चलकर अर्थशास्त्र के विषय को नीतिशास्त्र के विषय से अलग करने का प्रयत्न किया गया और इसमें सफलता भी मिली, किन्तु दोनों शास्त्रों का निकट सम्बन्ध फिर भी ज्यों का त्यों ही बना रहा है।

जैसा कि ज्ञात है, नीतिशास्त्र एक आदर्श रखता है और उस आदर्श के अनुसार

---

* "Economics without history has no root,
History without economics has no fruit."

मानवीय आचार-विचार को बनाने की प्रेरणा देता है। आर्थिक उद्देश्य भी इसी आदर्श की छत्रछाया मे निश्चित किये जाते है, अर्थात् हमारा ध्येय यह रहता है कि आर्थिक निर्णय नैतिकता की कसौटी पर पूरे उतरें। उदाहरणस्वरूप, अर्थशास्त्र में न्यायसंगत मूल्य का जो विचार है उसका आधार नीतिशास्त्र ही है। यह हम पहले ही बता चुके है कि अर्थ विज्ञान को बहुत से लेखको ने आदर्श विज्ञान (Normitive Science) माना है। उन्होने इस बात को भी साथ ही साथ स्पष्ट किया है कि अर्थ-शास्त्र को यह आदर्श नीतिशास्त्र से प्राप्त होता है। जिन विद्वानो ने अर्थ-विज्ञान को आदर्शवादी मानने पर आक्षेप किये है उन्होने भी इस बात को मानने से इन्कार नही किया है कि आर्थिक उद्देश्यो की अन्तिम कसौटी नैतिकता ही है।

इसके विपरीत नीतिशास्त्र भी अर्थशास्त्र का ऋणी है। अर्थशास्त्र के नियम तथा गवेषणायें नीतिशास्त्र के अध्ययन की सामग्री होते हैं और उनकी सहायता से नीतिशास्त्र अपने नियमो की जाँच करता है। किसी देश की अर्थ व्यवस्था तथा आर्थिक संस्थाओं के अन्तर्गत ही नैतिक सिद्धान्तो का निर्माण होता है। आर्थिक जीवन के ढाचे के अनुसार नैतिक विचार बनते हैं। साम्यवाद में नैतिकता का जो रूप है वह पूँजीवाद में नही। इसी प्रकार यूरोप के देशो के नैतिक आदर्श भारत से भिन्न है। इसका कारण मूलतः आर्थिक परिस्थितियो की भिन्नता ही है। अपने बहुत से नियमो का नीतिशास्त्र अर्थ-विज्ञान के निष्कर्षों द्वारा निरूपण करता है। उदाहरणस्वरूप, अर्थशास्त्र हमें यह बताता है कि प्रत्येक दशा मे बिना विचार किये भिक्षा देना या दान करना समाज के लिए हितकारी नही है। कभी-कभी इससे आलस्य बढता है और मनुष्य अपनी आत्म-निर्भरता को खो देता है। देश में ऐसे मनुष्यो की संख्या बढ जाती है जो स्वय काम न करके दूसरो पर निर्भर रहे। स्पष्ट है कि यह अन्त में नैतिक पतन का कारण बन जाता है, अतः नीतिशास्त्र बिना सोचे-विचारे दान देने के विरुद्ध है। सैलिगमैन (Seligman) ने ठीक कहा है कि सच्चा आर्थिक कार्य अन्त मे नैतिक कार्य होता है* और इस प्रकार अर्थ और नीति विज्ञान दोनो एक ही ध्येय की पूर्ति करते है।

अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान (Economics and Psychology)—

मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो मानवी व्यवहार से मानसिक पक्ष का अध्ययन करता है। यह तो सभी जानते हैं कि प्रत्येक क्रिया की उत्पत्ति मस्तिष्क से होती है, अर्थात् सबसे प्रथम विचार उत्पन्न होता है और तत्पश्चात् शारीरिक अंग उसे कार्य रूप मे परिवर्तित करते हैं। क्रियाओं का रूप मानसिक परिस्थितियो पर निर्भर रहता है। मनोविज्ञान उन मानसिक परिस्थितियों की विवेचना करता है जिन पर मनुष्य का व्यवहार आधारित होता है। मनोविज्ञान का विषय भी इस प्रकार मनुष्य है, किन्तु अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान मे अन्तर है। मनोविज्ञान मनुष्य के व्यवहार के व्यक्तिगत

* Seligman : *Principles of Economics*, p. 35.

तथा सामाजिक दोनों रूपों का अध्ययन करता है। इस प्रकार इसका क्षेत्र सामाजिक शास्त्र की सीमाओं से बाहर निकल जाता है, जबकि अर्थशास्त्र अपने आपको सामाजिक रूप तक ही सीमित रखता है। इसी प्रकार अर्थ-विज्ञान में मानसिक पक्ष के स्थान पर दूसरे ही पक्ष की विवेचना की जाती है।

हम यह पहले ही देख चुके हैं कि प्रत्येक क्रिया के पीछे कुछ मानसिक विचार होते हैं। आर्थिक क्रियाओं के पीछे भी इन विचारों का होना आवश्यक है, अतः इन क्रियाओं को पूर्णतः समझने के लिए मानसिक विचारों को समझना बड़ा लाभदायक होता है और इसके बिना अर्थशास्त्री का काम नहीं चल सकता है। एक दृष्टिकोण से तो सारा अर्थशास्त्र मनोविज्ञान पर ही आधारित है, क्योंकि अर्थशास्त्र का निर्माण अधिकाधिक तुष्टि (Maximum Satisfaction) के नियम पर किया जाता है, जो मनोविज्ञान का एक माना हुआ नियम है। इसके अतिरिक्त, अर्थशास्त्र के बहुत सारे नियम मनोविज्ञान के नियमों से निकाले गये हैं। उपभोग (Consumption) के लगभग सभी नियम इसी प्रकार के हैं। अर्थशास्त्र में मूल्य के निर्णय पर भी मनोविज्ञान के नियमों का गहरा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक विवेचना में पग-पग पर हमें मनोविज्ञान की शरण लेनी पड़ती है।

ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि मनोविज्ञान के अध्ययन में भी अर्थशास्त्र से बहुत सहायता मिलती है। विचारों का स्वरूप जीवन की भौतिक अथवा आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर होता है। आर्थिक सन्तुष्टि के कारण उत्पन्न होने वाले विचार इस प्रकार की असन्तुष्टि द्वारा जन्म दिए हुये विचारों से भिन्न होते हैं। मनुष्य के विचार उसके चारों ओर के वातावरण से बड़े अंश तक प्रभावित होते हैं तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ आर्थिक परिस्थितियों की दास होती हैं। आर्थिक दशाओं के परिवर्तन से मानसिक विचारों और प्रवृत्तियों में भी परिवर्तन किए जा सकते हैं, अतः एक मनोवैज्ञानिक अर्थशास्त्र के अध्ययन के महत्त्व को भूल नहीं सकता है। आर्थिक जीवन की मूल बातों को समझे बिना मानसिक दशाओं को समझने का प्रयास निष्फल ही रहता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान की घनिष्ठता बहुत अधिक होती है।

अर्थशास्त्र और भूगोल (Economics and Geography)—

भूगोल को हम वह शास्त्र कह सकते हैं जो मनुष्य और प्रकृति (Nature) के सम्बन्ध को दिखाता है। मानव जीवन का इतिहास प्रकृति से निरन्तर संघर्ष का इतिहास है और भूगोल इसी ऐतिहासिक क्रम का समबद्ध अध्ययन करता है कि प्राकृतिक परिस्थितियों से मनुष्य किस प्रकार अपने जीवन का समायोजन (Adjustment) करता है। मनुष्य के जीवन पर प्राकृतिक कारणों के प्रभाव का अध्ययन भी भूगोल में किया जाता है। अर्थशास्त्र का भूगोल से कई प्रकार से सम्बन्ध है :—(१) दोनों ही शास्त्रों के अध्ययन का विषय मनुष्य है। (२) अर्थशास्त्र बड़े अंश तक भूगोल पर निर्भर है, क्योंकि भूगोल की सहायता से ही हमें किसी भी देश के प्राकृतिक

साधनों, उद्योगो और दूसरे आर्थिक तथ्यों का पता चलता है। साथ ही, किसी भी देश की आर्थिक परिस्थितियों का रूप वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर होता है। स्वयं देश के आर्थिक जीवन का स्वरूप भौगोलिक परिस्थितियाँ ही निर्धारित करती हैं। (३) बहुत से विषय ऐसे है जो अर्थशास्त्र और भूगोल दोनों ही के अध्ययन-क्षेत्र मे सम्मिलित हैं, जैसे—औद्योगिक विकास, यातायात और सम्वादवाहन, जन-सख्या, इत्यादि। (४) भूगोल स्वय भी अर्थशास्त्र पर निर्भर है। भौगोलिक परिस्थितियो का रूप आर्थिक कारणों द्वारा बदला जा सकता है। मनुष्य और प्रकृति के सघर्ष में आर्थिक घटनाओ का भारी महत्त्व है।

अर्थशास्त्र और नियम-विज्ञान (Economics and Jurisprudence)—

नियम विज्ञान पर भी अर्थशास्त्र की काफी निर्भरता है। सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाएँ एक वैधानिक ढाँचे के भीतर कार्यरोपित होती हैं। नियम द्वारा वर्जित व्यवसाय अथवा कार्य किसी भी देश मे नही किए जा सकते हैं, चाहे वे कितने ही लाभदायक क्यो न हों। किसी भी देश की वैधानिक प्रणाली इस प्रकार हमारी आर्थिक क्रियाओ को सीमित कर देती है। इसके अतिरिक्त नियम विज्ञान नियमो के बनाने के सम्बन्ध मे हमे लाभदायक ज्ञान प्रदान करता है।

अर्थशास्त्र और गणित (Economics and Arithmetic)—

अर्थशास्त्र और गणित का सम्बन्ध बहुत ही पुराना है। वाणिज्यवादी अर्थ-शास्त्रियो ने राजनीतिक गणित (Political Arithmetic) का उपयोग करके अर्थशास्त्र और गणित के सम्बन्ध को दिखाया था। आज भी सांख्यिकी (Statistics), जो अर्थशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है, पूर्णतया गणित पर निर्भर है। संसार का शायद ही कोई शास्त्र ऐसा होगा जो किसी न किसी अंश तक गणित पर आश्रित न हो। ऐतिहासिक अर्थशास्त्रियों (Historical Economists) ने तो अर्थशास्त्र मे गणित के उपयोग को बहुत ही आवश्यक बताया है। काफी लम्बे समय तक यह वाद-विवाद चलता रहा है कि अर्थशास्त्र मे गणित का उपयोग किस अंश तक होना चाहिए। जेवन्स (Jevons), करनो (Cournot), एजवर्थ (Edgeworth), एवन्स् (Evans) आदि अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र में गणित के विस्तृत उपयोग के पक्ष में हैं, जब कि मिल (Mill), लसाले (Lassalle) आदि अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र को गणित से दूर रखने की कोशिश की है। आधुनिक विचारधारा गणित का अत्यधिक उपयोग करने के पक्ष मे है। गणित अर्थशास्त्र (Mathematical Economics) और इकनोमैट्रिक्स (Econometrics) के विकास ने तो इस प्रवृत्ति को और भी बढा दिया है।

QUESTIONS

1. अर्थशास्त्र को समाज-विज्ञान कहाँ तक कहा जा सकता है ? अन्य समाज विज्ञानों से इसका सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए। (आगरा, बी० ए०, १९५७)
2. How is economics related to (a) Geography, (b) Ethics, (c) Mathematics, (d) Sociology ? (Agra, B. A., 1950)
3. अर्थशास्त्र का नीति-शास्त्र और वाणिज्य-शास्त्र से क्या सम्बन्ध है ? (सागर, बी० कॉम०, १९५६)
4. Explain the scope of economics and discuss its relation with ethics. (Alld., B. A., 1952)
5. Discuss the relation of economics with ethics ? (Raj., B. A., 1959)

अध्याय ४

आर्थिक नियमों की प्रकृति

(The Nature of Economic Laws)

नियम शब्द का अर्थ—

नियम शब्द के कई अर्थ होते हैं—(१) कुछ नियम समाज द्वारा बनाए जाते हैं, जो यह बताते है कि मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिये ? इस प्रकार के नियम पुरानी प्रथाओ, रीति-रिवाज, नैतिकता, तथा धर्म के आधार पर बनाए जाते है और इनका सम्बन्ध मनुष्य के आचरण से होता है। इङ्गलैंड का कॉमन लॉ (Common Law) इसी प्रकार का नियम है। हमारे देश में धर्म के आधार पर अलग-अलग जातियो के लिये इस प्रकार के नियम है जो उस जाति या धर्म के अनुयाइयों को कुछ करने की प्रेरणा करते है या कुछ कार्य करने से वर्जित करते हैं। (२) दूसरी प्रकार के नियम वे होते हैं जो किसी काम को चलाने का नियम बताते हैं, जैसे कि प्रत्येक सभा और समिति के नियम होते है, जिनके द्वारा इन सभाओ के सदस्य सभा का कार्य चलाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक खेल के नियम होते हैं, जिनके द्वारा वह खेल खेला जाता है, जैसे फुटबाल के नियम यह बताते हैं कि वह किस प्रकार खेला जाता है। (३) तीसरे, नियम का अर्थ सरकारी कानून से होता है। देश के

शासन को चलाने के लिये तथा शान्ति आदि की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए कुछ नियम बना दिये जाते है, जिनका पालन करना बहुधा अनिवार्य होता है तथा जिनका उलङ्घन करने पर दण्ड मिलता है। ऐसे नियम प्रायः देश की संसद (Parliament) द्वारा बनाये जाते हैं और इनका पालन कराया जाता है। हमारे देश मे नित्य ही सरकार इस प्रकार के नियम बनाती है। उदाहरणस्वरूप, हाल ही मे सरकार ने एक नियम बनाया है, जिसके अन्तर्गत कुछ मिलमालिकों को उनकी मिलों में काम करने वाले श्रमिकों के रहने के लिए मकान बनवाना अनिवार्य है। (४) चौथे, कुछ नियम ऐसे होते हैं जो 'कारण' (Cause) और 'परिणाम' (Effect) के पारस्परिक सम्बन्ध को बताते हैं। ये उस सम्बन्ध का उल्लेख करते है जो दो परिस्थितियों या घटनाओं के बीच कार्य-कारण के आधार पर उत्पन्न होता है। भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इत्यादि के नियम इसी प्रकार के होते हैं। रसायनशास्त्र का यह नियम कि यदि आक्सीजन और हाइड्रोजन का मिश्रण दो और एक के अनुपात में किया जाय तो पानी बन जाता है, इसी प्रकार का नियम है, जो इन दोनों गैसों का मिश्रण (कारण) और पानी (परिणाम) का पारस्परिक सम्बन्ध बताता है।

अर्थशास्त्र के नियम केवल अन्तिम अर्थ में ही नियम कहलाते हैं। वे भी 'कारण' और 'परिणाम' का सम्बन्ध बताते हैं, जैसे कि यह कथन कि किसी वस्तु के दाम गिरने से उसके खरीदने वालों की संख्या बढ जाती है, अर्थशास्त्र का एक नियम है। इस प्रकार अर्थशास्त्र के नियमों और प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों में कोई अन्तर नही है, किन्तु प्रायः ऐसा देखने में आता है कि अर्थशास्त्र के नियम उतने निश्चित नही होते हैं जितने कि भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, इत्यादि प्राकृतिक विज्ञानों के नियम होते हैं। प्राकृतिक विज्ञानो के नियमों की सत्यता प्रयोगशालाओं मे जाँची जा सकती हैं, जहाँ ये नियम सही उतरते हैं, परन्तु समाज की विस्तृत प्रयोगशाला में जब अर्थशास्त्र के नियमो की जाँच की जाती है तो वे सदैव सत्य नही होते। बहुत सी दशाओं में उनकी सत्यता पर सन्देह होने लगता है। अधिकतर इन नियमों के साथ यह वाक्य जुड़ा रहता है—'यदि अन्य वस्तुएं यथास्थित रहें' (Other things being equal)। अब क्योंकि अन्य वस्तुओं में परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिए अर्थशास्त्र के नियम गलत हो जाते हैं। किन्तु अर्थशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों की तुलना करना उचित नही है, क्योंकि अर्थशास्त्र के विद्वान अपने नियमों की अटलता का दावा नहीं करते। वे जानते हैं कि *अर्थशास्त्र के नियम केवल कुछ प्रवृत्तियाँ (Tendencies) ही दिखाते है। वे सापेक्षिक हैं।* उनका सदैव सत्य होना आवश्यक नहीं है। ये नियम केवल यह बताते हैं कि अमुक कारण के रहते हुए कार्य या परिणाम का रूप क्या होगा, अर्थात् इन नियमों से हमें केवल इतना पता चलता है कि दी हुई परिस्थितियों में मनुष्य या मनुष्यों के समूह के व्यवहार किस प्रकार के होने की सम्भावना अथवा आशा है। इस प्रकार ये नियम केवल अनुमान ही लगाते हैं, निश्चय नही करते हैं।

मार्शल की भाषा में आर्थिक नियम अथवा आर्थिक प्रवृत्तियों के वर्णन (Statement) वे सामाजिक नियम हैं जो कि व्यवहार की उन शाखाओं से सम्बन्धित हैं जिनमें किसी दिए हुए उद्देश्य की शक्ति मुद्रा में नापी जा सकती है।[1] रोबिन्स के शब्दो मे *आर्थिक नियम उन समानताओ को दिखाते हैं जिन पर* सीमित साधनो द्वारा असीमित आवश्यकताओं को पूरा करने से सम्बन्धित मानव व्यवहार निर्भर होता है। एक दूसरे प्रसिद्ध लेखक के शब्दों में—"एक आर्थिक नियम इस दृष्टिकोण से तो प्राकृतिक नियम है कि वह इस बात को बताता है कि कुछ दिये हुए कारणों का एक निश्चित परिणाम होगा। इस दृष्टिकोण से एक आर्थिक नियम प्राकृतिक नियम नहीं है कि यह इस बात को दिखाता कि मानव व्यवहार का उन दशाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, जो परिणाम को निश्चित करती हैं।"[2]

आर्थिक नियमों की आलोचना—

ऊपर दी हुई बातो को लेकर कुछ विद्वानो ने अर्थशास्त्र तथा उसके नियमों की कड़ी आलोचना की है और अर्थशास्त्र के अध्ययन पर गम्भीर आक्षेप लगाए हैं। आलोचको का कहना है कि अर्थशास्त्र के नियम अनिश्चित हैं और इसी कारण गलत हैं। *वे प्राकृतिक विज्ञानों के नियमो की भांति प्रत्येक समय, प्रत्येक स्थान तथा प्रत्येक* परिस्थिति मे लागू नहीं होते है। इन नियमो की सत्यता अन्य बातो के यथास्थित होने पर निर्भर है और इसीलिए ये कल्पित (Hypothetical) मात्र हैं। इस कारण इन नियमो का अध्ययन व्यर्थ है, क्योकि ये हमारे दैनिक जीवन की किसी भी *क्रियात्मक समस्या को हल नहीं कर सकते हैं।* ऐसे *विज्ञान और उसके नियमो के* अध्ययन से क्या लाभ जिनकी सत्यता पर कोई विश्वास न किया जा सके तथा जिससे मनुष्य के जीवन की किसी भी समस्या का हल न हो सके ? आरोप गम्भीर हैं और इसी कारण इनका अध्ययन ध्यानपूर्वक करने की आवश्यकता है। निस्सन्देह यदि अर्थशास्त्र के नियम इस प्रकार के हैं तो उनके अध्ययन पर समय और शक्ति का व्यय निष्फल होगा।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि सभी आलोचक जब अर्थशास्त्र के नियमो को अनिश्चित और कल्पित बतलाते हैं तो वे इन नियमो की तुलना भौतिकशास्त्र (Physics) तथा रसायनशास्त्र (Chemistry) जैसे प्राकृतिक विज्ञानो के नियमों से करने के पश्चात् ऐसा कहते हैं और उन्हे इन विज्ञानों के नियमों की तुलना

---

1. "*Economic laws, or statement of economic tendencies are* those social laws which relate to those branches of conduct in which the strength of the motives briefly concerned can be measured by money price."—Marshall.

2. "An economic law is a natural law so far as it states that given conditions will lead to given results. An economic law is not a natural law so far as it implies that human effort is impotent to modify the conditions which lead to the results."

में अर्थशास्त्र के नियम इस प्रकार के दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार की तुलना कहाँ तक ठीक है तथा इस तुलना में किन-किन बातों का ध्यान नहीं रखा जाता, इसके विषय में आगे चलकर लिखा जायगा। आरम्भ में इतना कहना पर्याप्त होगा कि अर्थशास्त्र के कुछ नियम ऐसे हैं जिनके विषय में ऊपर दिये हुए आरोप नहीं लगाये जा सकते हैं। अर्थशास्त्र के सभी नियम अनिश्चित और कल्पित नहीं हैं। कुछ नियम तो ऐसे हैं जो स्वयंसिद्ध (Axioms) होते हैं, अर्थात् उन्हें सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। ये नियम प्रत्येक मनुष्य के लिए, प्रत्येक स्थान, प्रत्येक परिस्थिति तथा प्रत्येक समय सही होते हैं और इनकी सत्यता पर सन्देह नहीं हो सकता, जैसे कि यह नियम कि बचत, आय और व्यय के अन्तर के बराबर है। पूँजी बचत से होती है और समाज के रहन-सहन का स्तर उसकी उत्पादन शक्ति पर निर्भर है। ये स्वयंसिद्धियाँ हैं। इसके साथ-साथ कुछ नियम ऐसे होते हैं जो स्वयंसिद्ध न होते हुए भी प्रत्येक परिस्थिति में सही होते हैं और सत्यता के दृष्टिकोण से किसी भी विज्ञान के नियमों से टक्कर ले सकते हैं। क्रमागत उत्पत्ति का ह्रास-नियम (Law of Diminishing Returns) इसी प्रकार का एक नियम है। इसलिए बिना सोचे-समझे अर्थशास्त्र के नियमों को गलत बता देना ठीक नहीं है।

क्या अर्थशास्त्र के नियम कल्पित हैं ?—

अब हमें देखना है कि अर्थशास्त्र के नियमों का कल्पित (Hypothetical) होने का आरोप कहाँ तक ठीक है। यह सच है कि अर्थशास्त्र के लगभग सभी नियमों के साथ यह वाक्य "यदि अन्य बातें यथास्थित रहें" जुड़ा रहता है। इसी आधार पर सैलिगमैन ने यह स्वीकार किया है कि "निस्सन्देह ही अर्थशास्त्र के नियम कल्पित (Hypothetical) हैं।"* हमें पता इस बात का लगाना है कि क्या यह वाक्य अर्थशास्त्र के नियमों से ही सम्बन्धित है अथवा दूसरे विज्ञानों के नियमों से भी इसका कोई सम्बन्ध है। ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि यह केवल अर्थशास्त्र के नियमों की ही विशेषता नहीं है, वरन् सभी विज्ञानों के नियमों में ऐसी बात है। अन्तर केवल इतना है कि अर्थशास्त्र में इस महत्वपूर्ण सत्य का उल्लेख कर दिया जाता है, जबकि दूसरे विज्ञानों में ऐसा नहीं किया जाता है। उदाहरण के लिये, रसायनशास्त्र के ही इस नियम को लीजिये कि ऑक्सीजन और हाइड्रोजन को १ और २ के अनुपात में मिला देने से पानी बन जाता है। इस नियम की सत्यता सन्देह से परे बताई जाती है, परन्तु अधिकांश व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि इस मिश्रण से पानी एक निश्चित तापमान तथा एक निश्चित दबाव पर ही बनेगा। नियम की सत्यता तापमान, दबाव, इत्यादि महत्वपूर्ण दशाओं के यथास्थित होने पर निर्भर है। इसी प्रकार भौतिकशास्त्र के प्रसिद्ध भू-आकर्षण नियम (Law of Gravitation) को देखने से पता चलता है

---

* "Economic laws are essentially hypothetical."—Seligman : *Principles of Economics*, p. 32.

कि इसकी सत्यता भी कुछ मान्यताओं (Assumptions) पर निर्भर है। पृथ्वी का किसी वस्तु को अपनी ओर खींचना इस बात पर निर्भर है कि वह वस्तु पृथ्वी से एक निश्चित दूरी से अधिक न हो, कोई दूसरी शक्ति किसी और दिशा मे खींचने वाली न हो, वायु का कोई प्रभाव न हो, इत्यादि। इन बातो से पता चलता है कि भौतिक-शास्त्र तथा रसायनशास्त्रो के नियमो का कल्पित होने से उतना ही सम्बन्ध है जितना कि अर्थशास्त्र के नियमो का। यथार्थ मे अर्थशास्त्र और इन प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों के बीच इस विषय में कोई अन्तर दिखाई नही देता है। इस दशा मे यदि कल्पित होना दोष है तो यह दोष केवल अर्थशास्त्र के नियमो मे ही नही है, वरन् सभी विज्ञानो के नियमो में है। इसलिये इस दोष के कारण आर्थिक नियमो की आलोचना करना ठीक नही है। दोष देना ही है तो सभी विज्ञानो के नियमो को दिया जाना चाहिए।

क्या अर्थशास्त्र के नियम अनिश्चित हैं ?—

अब हमें यह देखना है कि अर्थशास्त्र की तुलना प्राकृतिक विज्ञानो से करना कहाँ तक ठीक है ? क्या दोनो की तुलना हो सकती है अथवा दोनो में कुछ ऐसी *भिन्नतायें हैं, जिनके कारण दोनो की तुलना करना उचित नही है।* यह बात होते हुए भी कि अर्थशास्त्र के सभी नियम अनिश्चित नही है तथा कल्पित होना केवल आर्थिक नियमो की ही विशेषता नही है, यह मानना पडेगा कि प्राकृतिक विज्ञानो के *नियमो की अपेक्षा अर्थशास्त्र के नियम अधिक अनिश्चित हैं* और उनके गलत होने की सम्भावना अधिक है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या अर्थशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञानो की तुलना करना ठीक है ? बात ऐसी है कि अर्थशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञानों के विषयो (Subject-Matters) मे इतना भेद है कि दोनों की तुलना करना उचित नही है। प्राकृतिक विज्ञानो का विषय जड पदार्थ है, जो बेजान है अथवा जिसमें स्वयं अपनी प्रकृति मे परिवर्तन कर लेने की शक्ति नही है। स्पष्ट है कि ऐसे पदार्थों के सम्बन्ध मे जो नियम बनाये जायेंगे उनकी सत्यता मे सन्देह नही होगा, क्योकि इन पदार्थों की प्रकृति तथा गुण अपरिवर्तनशील हैं। इसके विपरीत अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य है, जो एक जीता-जागता प्राणी ही नही है वरन् वह सोचने-समझने और तर्क करने की शक्ति भी रखता है। मनुष्य के भीतर यह गुण है कि वह एक बड़े अंश तक अपने स्वभाव, प्रकृति तथा व्यवहार को स्वयं बदल सकता है।

निश्चय है कि मनुष्य के व्यवहार के सम्बन्ध मे जो नियम बनाये जायेंगे वे अटल तथा अपरिवर्तनशील न होगे। समय और परिस्थितियो के अनुसार मनुष्य की प्रकृति तथा व्यवहार में परिवर्तन हो जाने के कारण हो सकता है कि वे नियम सही न रहें। एक छोटे से उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये कि लोहे के बारे मे यह नियम बनाया जाता है कि पानी और हवा से उसमें मोरचा (Rust) लग जाता है तो पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि यह नियम सदैव सही होगा। कही भी और किसी भी समय प्रयोग द्वारा सिद्ध किया जा सकता है कि नियम सही

है। किन्तु इसी प्रकार का नियम यदि मनुष्य के सम्बन्ध में बनाया जाय कि पानी तथा वायु मे रहने से उसे जुकाम हो जायगा तो इस नियम का उतने अंश तक सही होना सम्भव नही है जितना कि लोहे से सम्बन्धित नियम का। साधारणतया यह नियम मनुष्य के विषय में सही हो सकता है, किन्तु सब मनुष्यों के लिए सब स्थानों पर व प्रत्येक समय इसका सही होना आवश्यक नही है। कारण यह है कि लोहे के भीतर परिस्थितियों पर विजय पा लेने का गुण नही है। वह हवा और पानी से अपनी रक्षा नही कर सकता है और न इन चीजो से प्रभावित होने वाली अपनी प्रकृति को ही बदल सकता है। दूसरी ओर मनुष्य पानी और हवा से अपनी रक्षा कर सकता है तथा इनसे प्रभावित होने वाली अपनी प्रकृति को भी बदल सकता है। यह जान लेना कठिन नही है कि मनुष्य किसी औषधि आदि के सेवन के पश्चात् हवा और पानी के प्रभाव से विमुक्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त बार-बार पानी और वायु के प्रभाव को सहन करके वह इनसे प्रभावित होने वाली अपनी प्रकृति या स्वभाव को भी बदल सकता है।

ऊपर दी हुई बातो से सिद्ध होता है कि यदि अर्थशास्त्र के नियमो में अनिश्चितता है तो दोष अर्थशास्त्र का नहीं है, क्योंकि अर्थशास्त्र का विषय ही ऐसा है, जिसके सम्बन्ध में निश्चित नियम बनाये ही नही जा सकते है। विषयो की इतनी बड़ी भिन्नता के कारण अर्थशास्त्र तथा उसके नियमो की तुलना प्राकृतिक विज्ञानों और उनके नियमों से करना अनुचित है। मनुष्य के व्यवहार सम्बन्धी जितने भी नियम हैं, चाहे वे राजनीति शास्त्र के हों, इतिहास के हों, मनोविज्ञान के हों अथवा अर्थशास्त्र के हों, अनिश्चित ही रहेंगे और उन्हें ऐसा रहना भी चाहिये, क्योंकि मनुष्य संसार की सारी वस्तुओं में सबसे अधिक परिवर्तनशील एवं प्रगतिशील है।

क्या हमारे नियम बेकार हैं ?—

यह तो अब हमने जान ही लिया है कि अर्थशास्त्र के नियमों में अनिश्चितता रहती है और वे सदैव सही नही रहते। अब देखना यह है कि क्या अनिश्चितता के कारण ये नियम व्यर्थ हो जाते है ? क्या इनसे हमारे व्यावहारिक जीवन मे कोई लाभ नही है ? इस सम्बन्ध में यह बात महत्त्वपूर्ण है कि अनिश्चित होना एक बात है और बेकार होना दूसरी। दोनों के मध्य कोई गहरा या अटूट सम्बन्ध नही है। निश्चित न होते हुए भी कोई बात लाभदायक हो सकती है तथा मनुष्य के दैनिक जीवन में सहायक हो सकती है। सब जानते हैं कि ज्वार भाटे का नियम बड़ा अनिश्चित है। इस बात का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है कि एक ज्वार के पश्चात् दूसरा कब आएगा। साधारणतया इसमे २५ घण्टे का समय लगता है, किन्तु समुद्र मे उठने वाले तूफानो तथा समुद्र पर चलने वाली आँधियों के कारण यह समय बदलता रहता है। यदि वायु अनुकूल है तो समय से बहुत पहले ज्वार आ सकता है और यदि वायु प्रतिकूल है तो इसमें विलम्ब हो सकता है और यह भी सम्भव है कि ज्वार आए ही नही। परन्तु किसी

बन्दरगाह के निकट समुद्र के किनारे पर खडे हुए जहाजों को देखकर कोई भी अनुमान लगा सकता है, कि ज्वार का नियम व्यावहारिक जीवन में बेकार नही है, क्योंकि वे जहाज इस प्रतीक्षा मे रहते है कि कब ज्वार आए, ताकि वे बन्दरगाह मे भीतर जा सकें। इस बात से पता चलता है कि ज्वार का नियम यथार्थ मे बेकार नही है। इसी प्रकार की बात आर्थिक नियमों के विषय मे भी कही जा सकती है। यह समझने में कठिनाई न होगी कि अर्थशास्त्र के नियम हमारे प्रति दिन के काम मे न केवल सहायक ही होते हैं, वरन् लाभ भी पहुँचाते हैं।

अर्थशास्त्र के नियमो पर लगाए गए आरोपों का उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। इन नियमो का इतना ही महत्त्व है जितना और किसी विज्ञान के नियमो का हो सकता है। अनिश्चित या कल्पित होने से इस महत्त्व मे कोई कमी नही पड़ती। *आर्थिक नियमों का अध्ययन करते समय मार्शल का यह कथन कि अर्थशास्त्र के नियमों की तुलना भू-आकर्षण के सीधे तथा निश्चित नियम के स्थान पर ज्वार भाटे के नियमों से करनी चाहिए, सदैव याद रखना चाहिए।** इसके साथ-साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि आर्थिक नियम मनुष्य के व्यवहार की केवल साधारण प्रवृत्तियो का उल्लेख करते हैं। रोबिन्स के अनुसार वे उन प्रवृत्तियों को बताते हैं जो सीमित साधनों से असीमित आवश्यक्ताओं को पूरा करने में मनुष्य के व्यवहार को निश्चित करती हैं।

क्या अर्थशास्त्र के नियम प्रयोग सिद्ध हैं (Are the Laws of Economics Empircal)—

अर्थशास्त्र मे हमें दो प्रकार के नियम देखने को मिलते हैं—(१) वे नियम जो सभी दशाओ मे सही होते हैं और वे नियम जो सापेक्षिक (Relative) हैं। साधारणतया उपभोग और माँग तथा पूर्ति से सम्बन्धित नियम सर्वव्यापी (Universal) होते हैं और सभी मनुष्यों के व्यवहार पर लागू होते हैं, परन्तु चलन (Currency) और बैंकिंग तथा व्यापार से सम्बन्धित नियम सापेक्षिक होते हैं। अर्थशास्त्र के अधिकतर नियम इसी प्रकार के हैं और वे कुछ विशेष व्यक्तियो पर अथवा कुछ विशेष परिस्थितियों में ही लागू होते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि अर्थशास्त्र के अधिकाँश नियम व्याप्तिमूलक अथवा अनुभव प्रणाली (Inductive Method) की सहायता से बनाए जाते हैं और बहुधा अनुभव तथा प्रयोगो पर आधारित होते है, जिसके कारण उनका सभी पर लागू होना आवश्यक नही है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता है कि अर्थशास्त्र के नियम हमारे लिए बेकार हैं। बात केवल इतनी है कि उनके उपयोग में सावधानी की आवश्यकता बढ जाती है।

निष्कर्ष—

सभी बातो को देखने के पश्चात् अन्त मे हम, इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि

* "The laws of economics are to be compared with the laws of tides rather than with the simple and exact law of gravitation".
—Marshall.

मनुष्य के व्यवहार से सम्बन्धित होने के कारण अर्थशास्त्र के नियमों में कुछ अनिश्चितता अवश्य रहती है। ये नियम एक अंश तक कल्पित भी हैं, परन्तु इन नियमों के अध्ययन के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता है। प्राकृतिक नियमों की तुलना में अर्थशास्त्र के नियम कुछ नीचे दिखाई पड़ते हैं, परन्तु प्राकृतिक नियमों से इनकी तुलना करना ठीक नहीं है। हमें देखना तो यह चाहिए कि अन्य सामाजिक शास्त्रों के नियमों की तुलना में अर्थशास्त्र के नियम कैसे हैं। निस्सन्देह इनकी तुलना में आर्थिक नियम अधिक निश्चित और स्पष्ट हैं। कारण यह है कि अर्थशास्त्र में सभी बातों और घटनाओं को नापने के लिए मुद्रा का माप-दण्ड रहता है, जिससे निश्चितता और व्यावहारिकता दोनों प्राप्त हो जाती है, परन्तु अन्य सामाजिक विज्ञानों के पास ऐसा कोई माप-दण्ड नहीं है।

QUESTIONS

1. "The laws of economics are to be compared with the laws of tides rather than with the simple and exact law of gravitation." Discuss. (Bihar, B. A., 1959 ; Vikram, B. A., 1959)
2. Discuss the nature of economics laws.
(Raj., B. A., 1959 ; Alld., B. A., 1959 ; Agra. B. A., 1957, 58)
3. आर्थिक नियम अनिवार्य रूप से कल्पित होते हैं। इस कथन की विवेचना कीजिए।
(आगरा, बी० कॉम०, १९५६)
4. आर्थिक नियमों की परिभाषा कीजिए। क्या आर्थिक नियम प्राकृतिक नियम हैं? वे भौतिक विज्ञान के नियमों से कम क्यों हैं?
(आगरा, बी० ए०, १९५८ ; बी० कॉम०, १९४८)
5. "The science of man is complex and its laws are inexact ..... The theory of economics does not furnish a body of settled conclusions immediately applicable to policy. It is a method rather than a doctrine, an apparatus of the mind and technique of thinking which helps its possessor to draw correct conclusions." Discuss. (Agra, B. A., 1955)

अध्याय ५

अर्थशास्त्र के अध्ययन की रीतियाँ

(The Method of Economic Science)

अध्ययन की तीन रीतियाँ—

प्रत्येक विज्ञान के अध्ययन के दो मुख्य उद्देश्य होते हैं। सबसे पहले तो कारण और परिणाम के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है, इसके पश्चात् इस अध्ययन की सहायता से कुछ नियम बनाये जाते हैं अथवा कुछ निष्कर्ष (Conclusions) निकाले जाते हैं। यही निष्कर्ष हमें उस विज्ञान के मूल तथ्यों का ज्ञान दिलाते हैं। उस रीति या प्रणाली को जिसके द्वारा किसी अमुक विज्ञान मे किसी निष्कर्ष या सत्य पर पहुँचा जाता है उस विज्ञान के अध्ययन की रीति कहते हैं। अन्य विज्ञानों की भाँति अर्थशास्त्र के अध्ययन की भी रीतियाँ होती हैं, अर्थात् इस शास्त्र के विद्वानों ने भी कुछ विधियो को अपनाया है, जिनके द्वारा आर्थिक तथ्यो की खोज की जाती है, अर्थशास्त्र के अध्ययन की रीतियो से हमारा अभिप्राय उन रीतियों या प्रणालियो से है जिनकी सहायता से आर्थिक निष्कर्ष निकाले जाते है। इन रीतियो के उपयोग की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि हम इस बात का प्रयत्न करते हैं कि जो अनुमान लगाये जायें अथवा जो निष्कर्ष निकाले जाएँ वे ठीक हों और तर्क के दृष्टिकोण से उनमें कोई त्रुटि न रहे।

तर्कशास्त्र हमे बताता है कि किसी भी विज्ञान के अध्ययन की तीन मुख्य रीतियाँ हैं, अर्थात् तीन विधियो से विज्ञान मे निष्कर्षों का निर्माण किया जाता है। ये तीन रीतियाँ (१) समता प्रणाली (Method of Analogy), (२) निगमन प्रणाली (Deductive Method) और (३) व्याप्ति-मूलक प्रणाली (Inductive Method) के नाम से प्रसिद्ध हैं। अलग-अलग विज्ञानो में इन प्रणालियो का अलग-अलग महत्त्व होता है। कहीं कहीं पर समता प्रणाली सबसे अच्छी रहती है और कहीं-कहीं पर दूसरी प्रणालियाँ। जब हम अर्थशास्त्र के अध्ययन की रीतियों का अध्ययन करते हैं तो हमे देखना पड़ता है कि अर्थशास्त्रियो ने इनमें से कौनसी रीति अपनाई है और हमारे आर्थिक तथ्यो की खोज में कौनसी सबसे अच्छी है अथवा अधिक लाभदायक है।

समता प्रणाली (Method of Analogy)—

अब हमें यह देखना है कि अलग-अलग प्रणाली मे क्या-क्या विशेषतायें हैं और उनमे से प्रत्येक किस अंश तक आर्थिक अध्ययन में सहायक हो सकती है? सबसे

पहले समता प्रणाली को लीजिये । ऊपर दी हुई तीन प्रणालियों में से यह सबसे अधिक सरल है । कोई भी व्यक्ति बिना किसी कठिनाई के इसका उपयोग कर सकता है । समता प्रणाली में समानता (*Similarity*) के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं । जैसे कि यदि हम एक फल को देखें, जिसका कि रंग हरा है और उसके विषय में हमें यह ज्ञात हो कि वह कच्चा है तो इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल लें कि कोई दूसरा फल, जिसका रंग हरा है, कच्चा होगा । अथवा इस प्रकार समझिये कि यदि हम बाजार में किसी एक ग्राहक के व्यवहार को देखें कि वह सबसे कम दाम माँगने वाले दुकानदार से माल खरीदता है और इससे किसी दूसरे ग्राहक के विषय में निष्कर्ष निकालें कि वह भी सबसे सस्ता बेचने वाले दुकानदार से माल खरीदेगा । स्मरण रहे कि ऊपर के दोनों निष्कर्ष समानता के आधार पर स्थित हैं और ऐसे निष्कर्ष निकालने के लिए हमें समानता का ठीक तरह से अध्ययन करना पड़ता है । यदि समानता का आधार ही गलत हो तो निष्कर्ष की सत्यता पर विश्वास नहीं किया जा सकता है ।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, समता प्रणाली में यह बहुत बड़ा गुण है कि वह सरल है और इसे थोड़ी सावधानी के साथ काम में लाने से सही निष्कर्ष निकाल लेना सम्भव है, किन्तु यह देखने में आता है कि समानता के आधार पर बनाये हुए निष्कर्ष बहुधा गलत होते हैं । इस प्रकार के निष्कर्ष अधिकतर एक ही गुण या प्रकृति की समानता पर आधारित होते हैं । यह सम्भव है कि एक दिशा की समानता दूसरी दिशा की असमानता के कारण अर्थहीन हो जाय और इसीलिए असमानता को देखे बिना जो निर्णय किया जायगा उसका सही होना आवश्यक नहीं है । इस त्रुटि के कारण इस प्रणाली का उपयोग बड़ा सीमित रहा है । इस प्रणाली को काम में ही न लाया गया हो, ऐसी बात नहीं है, परन्तु इसका उपयोग कम हुआ है । जहाँ कहीं भी निष्कर्ष की सत्यता महत्त्व रखती है, इसका उपयोग कम ही रहेगा । अर्थशास्त्र में भी और विज्ञानों की तरह इस प्रणाली को काम में लाया गया है, परन्तु इसका उपयोग इतना कम हुआ है कि हम इसकी गणना आर्थिक अध्ययन की प्रणालियों में नहीं करते हैं ।

निगमन प्रणाली अथवा अनुमान प्रणाली (Deductive Method)—

इस प्रणाली में हम सामान्य (*General*) सत्य के आधार पर विशिष्ट (*Particular*) सत्य का पता लगाते हैं । इस प्रकार तर्क का मार्ग सामान्यता से विशिष्टता की ओर है । यदि हमें कोई सामान्य सत्य ज्ञात हो तो हम किसी विशेष सत्य के विषय में निश्चित कर सकते हैं । कभी-कभी सामान्य सत्य स्वयंसिद्धि के रूप में होता है तथा उसकी सचाई स्वयं ही प्रत्यक्ष होती है और कभी-कभी वह अनुभव पर आधारित होता है । निगमन प्रणाली द्वारा इस प्रकार के दिये हुए आधार पर नये सत्य की खोज कर ली जाती है । अनुभव

से हमें यह ज्ञात है कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। अब यदि हमें यह भी ज्ञात हो कि श्याम एक मनुष्य है तो हम सुगमता से कह देंगे कि श्याम भी मरणशील है या यदि यह ज्ञात हो कि सभी मनुष्य सामाजिक प्राणी हैं तो यह कहने में कठिनाई न होगी कि अमुक ५० आदमी भी सामाजिक प्राणी हैं। इसी प्रकार यदि हमारा अनुभव हमे यह बताता है कि सभी मनुष्य अधिकतम् तृप्ति की खोज मे लगे रहते है तो यह कहने मे देर न लगेगी कि राम भी, जो एक मनुष्य है, अधिकतम् तृप्ति की खोज में लगा होगा। इस प्रकार की तर्क प्रणाली को निगमन प्रणाली कहते है। यह प्रणाली किसी समय में अर्थशास्त्र के अध्ययन मे बहुत प्रचलित थी और आज भी इसका महत्त्व अधिक है। इस प्रणाली को हम कभी-कभी अनुमान प्रणाली (Abstract Method) भी कहते है।

इस प्रणाली मे कुछ विशेष गुण हैं, जिनके कारण अर्थशास्त्र मे इसका उपयोग बहुत अधिक हुआ है :—(१) पहला गुण तो यह है कि इस प्रणाली द्वारा निकाले हुये निष्कर्ष तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों के अधिक अनुकूल होते है। उनमे त्रुटियाँ (Fallacies) कम होती है तथा जो भी त्रुटियाँ होती है उनका तर्कशास्त्र के नियमो के अनुसार पता लगाया जा सकता है और समाधान किया जा सकता है। अतः निष्कर्षों की सत्यता के विश्वसनीय होने के कारण यह प्रणाली बड़ी महत्त्वपूर्ण और लाभदायक है। पहले ही हम देख चुके हैं कि अर्थशास्त्र को बहुत से व्यक्ति एक अनिश्चित विज्ञान बताते हैं, इसीलिये किसी भी ऐसी प्रणाली का, जिसके द्वारा निकाले हुये निष्कर्ष अधिक विश्वसनीय हो, अर्थशास्त्र में बड़ा ऊँचा स्थान रहेगा। कैरनीज का विचार है कि "यदि समुचित सावधानी से काम लिया जाता है तो निगमन प्रणाली अतुल्य है, मनुष्य की बुद्धि के लिये यह खोज का सबसे शक्तिशाली यन्त्र है।*" (२) दूसरा गुण यह है कि यह प्रणाली सर्व साधारण के लिये बडी उपयोगी है। प्रत्येक मनुष्य के पास इतनी शक्ति, साधन तथा बुद्धि नही होती कि वह स्वयं मनुष्य के व्यवहार का निरीक्षण कर सके तथा इन निरीक्षणो द्वारा प्राप्त की हुई सूचना के आधार पर अपने आर्थिक निष्कर्ष बना सके। कुछ थोड़े से मनुष्यों को छोड दीजिये, अधिकांश मनुष्य किसी ऐसी प्रणाली को अपनाने मे असमर्थ रहेंगे जिसमे निरीक्षण, प्रयोग तथा बहुत सा शारीरिक और मानसिक परिश्रम करके सूचना प्राप्त की जाय और फिर इस सूचना के आधार पर निष्कर्ष निकाले जायें। निगमन प्रणाली मे इस प्रकार सूचना एकत्रित करने की आवश्यकता नही है। कुछ स्वयंसिद्धियो तथा मोटे-मोटे अनुभवो के आधार पर घर मे बैठ कर निष्कर्ष निकाले जा सकते है। इस प्रणाली का यही गुण यथार्थ मे इसकी लोकप्रियता का कारण है। (३) यह प्रणाली अनुमान लगाने और भविष्यवाणी (Forecasting) करने के लिये भी बहुत उपयुक्त है।

* "The method of Deduction is incomparable when conducted under proper checks, the most powerful instrument of discovery ever wielded by human intelligence."—Cairnes.

L ``

(४) यह प्रणाली आर्थिक घटनाओं के सही और वैज्ञानिक विश्लेषण के लिये भी लाभदायक है।

इन गुणों के साथ साथ इस प्रणाली में कुछ अवगुण भी हैं, जिनके कारण कुछ विद्वानों ने इस प्रणाली को छोड़ कर दूसरी प्रणालियाँ अपनाई हैं :—(१) पहला दोष तो यह है कि इस प्रणाली में दिये हुये सामान्य सत्य की वास्तविकता या यथार्थता को आँकने का कोई उपाय नहीं है। इसका पता लगाना कठिन है कि जिस सत्य के आधार पर हम चल रहे हैं वह स्वयं कहाँ तक विश्वसनीय है। यह निश्चय है कि यदि सामान्य वाक्य ही असत्य है तो फिर निष्कर्ष की सत्यता का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसीलिए इस प्रणाली द्वारा निर्धारित निष्कर्ष की सत्यता पूर्ण रूप से सन्देहमुक्त नहीं हो सकती है। यह तो ठीक है कि दी हुई सामान्यता के आधार पर निष्कर्ष सही हैं, पर उस सामान्यता का ही क्या ठिकाना है? (२) दूसरा दोष जो अर्थशास्त्र के लिए इस प्रणाली के महत्व को बड़े अंश तक नष्ट कर देता है वह यह है कि इस प्रणाली का वास्तविकता (Reality) से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रणाली में निरीक्षण अथवा प्रयोगों के आधार पर सूचनाएँ एकत्रित नहीं की गई हैं, इसलिए यह सम्भव है कि सामान्य सत्य तथा उससे उत्पन्न होने वाले निष्कर्ष वास्तविकता से दूर हों।

यह तो हो सकता है कि जो निष्कर्ष हमने निकाले हैं वे तर्क की कसौटी पर सच्चे उतरें, पर क्या वे व्यावहारिक जगत में सत्य होंगे, इसकी कोई गारन्टी नहीं है। अर्थशास्त्र को मनुष्य के दैनिक जीवन की विभिन्न प्रकार की समस्याओं को सुलझाना पड़ता है, अर्थात् उसका जीवन के व्यावहारिक पक्ष से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। अब यदि इस प्रणाली द्वारा प्राप्त निष्कर्ष व्यावहारिक जीवन में काम नहीं आ सकते हैं तो अर्थशास्त्र के लिए उसकी उपयोगिता बहुत कम रह जायगी। यदि हम यह चाहते हैं कि अर्थशास्त्र एक कृत्रिम तथा अनुमानजनक (Formal and Abstract) विज्ञान न बन कर मनुष्य के जीवन में सहायक बने और उसके जीवन की दिन प्रति दिन की समस्याओं को सुलझाये तो निगमन प्रणाली से हमारा काम नहीं चलेगा।

यहाँ पर यह बताना असंगत न होगा कि ये दोनों दोष वास्तव में इस प्रणाली के दोष नहीं हैं, बल्कि इसके उपयोग करने की रीति के दोष हैं। कठिनाई तभी होती है जबकि इस प्रणाली को गलत रीति से उपयोग किया जाता है। प्रो० जाइड (Gide) ने ठीक ही कहा है कि "प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की गलती यह नहीं थी कि उन्होंने निगमन रीति का उपयोग करके अभौतिक (Abstract) निष्कर्ष निकाले थे, बल्कि यह थी कि उन्होंने अभौतिकता को ही वास्तविकता (Reality) समझ लिया था।"* निगमन प्रणाली के उपयोग में सावधानी का सुझाव देते हुए प्रो० निकलसन

* "The mistake of the classical school did not consist in too frequent use of the deductive method, but in having too often mistaken the abstraction for the reality."—Gide.

ने कहा है—"निगमन प्रणाली का सबसे बडा दोष यह है कि कोई भी सत्यता की परख करने का अरुचिकर कार्य नही करना चाहता है।"† यह निश्चय है कि यदि सावधानी से काम लिया जाय और सत्यता की पग-पग पर जांच कर ली जाय तो निष्कर्ष सही भी होगा और वास्तविक (Real) भी।

व्याप्ति मूलक प्रणाली अथवा अनुभव प्रणाली (Inductive Method)—

तीसरे प्रकार की प्रणाली व्याप्ति-मूलक प्रणाली कहलाती है। इसमें तर्क की विधि *निगमन प्रणाली की विपरीत होती है, अर्थात् हम सामान्यता से विशिष्टता की ओर न जाकर विशिष्टता से सामान्यता की ओर चलते हैं।* हमारी तर्क विधि यह होती है कि व्यक्तिगत निरीक्षणो तथा प्रयोगों के आधार पर हम सर्वव्यापी या सामान्य नियम बना लेते है। इस प्रणाली के अनुसार तर्क जिस प्रकार से चलता है वह नीचे दिये हुए उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिए, हम लोहा, ताँबा, सीसा, इत्यादि धातुओं को पानी मे डालते है और उनके व्यवहार को इस प्रकार पाते हैं :—

पानी से डालने पर लोहा डूब जाता है।
तांबा भी डूब जाता है।
सीसा भी डूब जाता है।
सोना भी डूब जाता है।
चाँदी भी डूब जाती है।

और हम यह जानते है कि लोहा, तावा, सीसा, सोना और चाँदी ये सब धातुएँ हैं। अब यदि हम इस निष्कर्ष पर पहुँचें कि सभी धातुएँ पानी मे डालने पर डूब जाती हैं तो हमने तर्क की जिस रीति को अपनाया है वह व्याप्ति-मूलक प्रणाली है, क्योकि हमने व्यक्तिगत निरीक्षणो के आधार पर सामान्य नियम बनाया है। इसी प्रकार बाजार मे २० ग्राहको को, दाम गिर जाने पर, किसी वस्तु को अधिक मात्रा मे खरीदते देख कर यदि हम यह निष्कर्ष निकालें कि दाम घट जाने से किसी वस्तु की माँग बढ जाती है तो यह निर्णय भी हम इसी प्रणाली द्वारा करते हैं। प्राकृतिक विज्ञानो के नियम बहुधा इसी रीति से बनाये जाते है, क्योंकि इन शास्त्रो मे प्रयोग और निरीक्षण की काफी सुविधा रहती है। अर्थशास्त्र मे भी इस प्रणाली से काफी काम लिया गया है और इसके आधार पर अनेक नियम बनाये गये है। इसी प्रणाली का एक दूसरा नाम ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method) भी है। कभी-कभी इसे आगमन प्रणाली अथवा अनुभव प्रणाली भी कहा जाता है।

निगमन पद्धति की भाँति इस प्रणाली मे भी कुछ विशेष गुण है, जिनके कारण अर्थशास्त्र ने इस पद्धति को अपनाया है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने तो यहाँ तक

† "The great danger of Deductive Method lies in the natural aversion to the labour of verification."—Nicholson : *Principles of Political Economy*, Vol. I.

कहा है कि अर्थशास्त्र में केवल इसी प्रणाली के द्वारा निष्कर्ष निकालने चाहिए। तीन गुण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं:—(१) इस पद्धति के अपनाने से हमारा तर्क और हमारे निष्कर्ष वास्तविकता से अलग नहीं होने पाते हैं। हमारा तर्क जीवन की वास्तविक घटनाओं और सत्यों के सहारे आगे बढ़ता है, इसलिए जो निष्कर्ष हम निकालते हैं उनके वास्तविक जीवन में सही होने की सम्भावना बहुत रहती हैं। अब यदि हमें व्यावहारिक समस्याओं का हल करना है तो यह पद्धति हमारे बड़े काम की है। (२) दूसरा गुण यह है कि इस प्रणाली की किसी भी मान्यता या किसी भी निष्कर्ष को वास्तविक प्रयोगों द्वारा जांचा जा सकता है। अतः किसी भी बात की सत्यता के विषय में शङ्कित रहने की आवश्यकता नहीं रहती। सन्देह को मिटाने के उपाय पर्याप्त रहते हैं। (३) तीसरे, निगमन प्रणाली को सहायक के रूप में इस इस प्रणाली का बहुत महत्त्व है, क्योंकि इसकी सहायता से किसी भी निष्कर्ष की सत्यता (Truth) और वास्तविकता की जाँच की जा सकती है।

फिर भी और प्रणालियों की भाँति इस पद्धति में भी कुछ दोष हैं:—(१) प्रथम दोष तो यह है कि थोड़े से निरीक्षणों और प्रयोगों के आधार पर सामान्य नियम बना लेने में इस बात का भय रहता है कि हमारे निरीक्षणों और प्रयोगों के सीमित होने के कारण सामान्य नियम गलत न हो जायँ। जितना ही हमारा निरीक्षण विस्तृत होगा उतना ही निष्कर्ष के अधिक सही होने की सम्भावना बढ़ जायगी। खोज और निरीक्षण के साधनों की कमी के कारण हमारी खोज का क्षेत्र सीमित रहता है और इसीलिए बहुत थोड़े आँकड़ों के आधार पर बहुधा सामान्यताएँ बना ली जाती हैं, जिनकी सत्यता सन्देह-जनक रहती है। (२) दूसरा दोष यह है कि यह प्रणाली ऐसी है कि सर्वसाधारण के उपयोग में नहीं आ सकती है। आँकड़ों और सूचनाओं को पर्याप्त मात्रा में संचय करना हर किसी के वश की बात नहीं है। फिर इन आँकड़ों और सूचनाओं की व्याख्या तथा विवेचना करना तो और भी कठिन है। यह कथन कि आँकड़ों द्वारा कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है, बड़ा महत्त्वपूर्ण तथा बड़ा सच्चा है।* सांख्यिकी के समुचित ज्ञान के बिना उपयोगी और बिना उपयोगी आँकड़ों में भेद करना कठिन है तथा फिर इन आँकड़ों से सही अर्थ निकालना तो और भी कठिन है। इससे सिद्ध होता है कि इस प्रणाली के उपयोग के लिए निपुणता तथा विशेषज्ञता की आवश्यकता पड़ती है और प्रत्येक मनुष्य ऐसा नहीं हो सकता है। (३) तीसरे, अर्थशास्त्र में तो इसका उपयोग और भी कठिन है, क्योंकि मनुष्यों पर प्रयोग (Experiments) करना कठिन है। वैसे भी मानव जाति की स्वतन्त्रता इसकी आज्ञा नहीं देती है।

अर्थशास्त्र तथा उसकी पद्धतियाँ—

तीनों अध्ययन प्रणालियों के गुण और दोषों का अध्ययन करने के पश्चात्

* "Statistics can prove anything."

के समर्थकों ने उठाया था, यद्यपि इसमें सन्देह नही कि ऐतिहासिक मत-पक्ष के जन्म से पहले भी व्याप्ति मूलक पद्धति का उपयोग हो चुका था। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने इस प्रणाली को कई स्थानो पर अपनाया है। जन-संख्या के सिद्धान्त के प्रसिद्ध लेखक माल्थस (Malthus) ने अपना जन-संख्या का सिद्धान्त इसी पद्धति पर आधारित किया है, किन्तु इस प्रणाली को महत्त्व देने तथा अकेले इसी के उपयोग का श्रेय ऐतिहासिक मत-पक्ष के अर्थशास्त्रियों को ही है। इन अर्थशास्त्रियों ने निगमन प्रणाली की बडी कड़ी आलोचना की और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि इन पद्धति के अपनाने से अर्थशास्त्र का अध्ययन सर्वथा व्यर्थ हो जायगा। दो बातों ने व्याप्ति-मूलक पद्धति को विशेष रूप से प्रोत्साहन दिया है :—एक तो, सांख्यिकी का विकास और दूसरे, अर्थशास्त्रियों की व्यावहारिक प्रश्नों को हल करने की आवश्यकता, जो नवीन काल मे बहुत महत्त्व धारण कर चुकी है। Mohan Roy

नवीन युग मे आर्थिक समस्याओं की संख्या बहुत बढ गई है और सरकार के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन मे हस्तक्षेप करने के सिद्धान्त को मान लेने के बाद तो यह समस्या और भी कठिन तथा गम्भीर बन गई है।

अर्थशास्त्र के इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि कुछ समय के लिए निगमन प्रणाली का उपयोग लगभग लोप सा हो गया था, किन्तु आधुनिक काल में इस पद्धति को अपनाने पर जोर दिया गया है। एक नवीन मत-पक्ष ने, जिसको गणित पक्ष (Mathematical School) का नाम दिया जाता है, फिर से इस प्रणाली का उपयोग किया है। इस पक्ष के जन्मदाता प्रोफेसर जेवन्स (Jevons) का विचार है कि अर्थशास्त्र प्रकृति मे गणित के समान है, क्योंकि गणित की भाँति यह भी परिमाण-वाचक सम्बन्धों (Quantitative Relations) का अध्ययन करता है। कुछ ऐसे तथ्यों का अध्ययन इस शास्त्र मे किया जाता है, जिनके परिमाणवाचक स्वरूप का विशेष महत्त्व है। ऐसे तथ्यो के अध्ययन मे निगमन प्रणाली अधिक लाभदायक होती है। इस मत के अनुयाइयो का विचार है कि गणित का अर्थशास्त्र मे अधिक से अधिक उपयोग होना चाहिये, क्योंकि सब विज्ञानों में गणित के परिणाम सबसे अधिक निश्चित हैं। यदि अर्थशास्त्र मे गणित का समावेश कर दिया जाय तो अर्थशास्त्र की निश्चितता (Precision) बढ जायेगी।

आधुनिक अर्थशास्त्र में गणित का उपयोग निरन्तर बढ रहा है। यहाँ तक कि कभी कभी इस बात की भी शंका की जाती है कि भविष्य में अर्थशास्त्र इतना गणित-जटित न हो जाय कि साधारण मनुष्य उसे समझ ही न सके। इस समय भी गणित अर्थशास्त्र (Mathematical Economics) अधिकांश अर्थशास्त्रियो की समझ से बाहर की बात है, किन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने ऐतिहासिक पद्धति का पूर्णतया परित्याग कर दिया है। वास्तविकता यह है कि यह प्रणाली भी उतना ही महत्त्व रखती है जितना कि निगमन प्रणाली।

दोनों पद्धतियाँ एक दूसरे की सहयोगी और पूरक हैं—

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही पद्धतियां अर्थशास्त्र में उपयोग मे लाई गई हैं तथा लाई जा रही हैं। यह बात दूसरी है कि किसी विशेष समय में या किसी विशेष मतपक्ष मे एक प्रणाली का अधिक चलन रहा है। अब यह प्रश्न उठता है कि इन दोनो में से कौनसी प्रणाली अधिक अच्छी और उपयोगी है। यह प्रश्न सच पूछा जाय तो उठाया ही नही जाना चाहिये। दोनों पद्धतियों के गुणों और दोषो तथा उपयोगो को देखने से पता चलता है कि दोनो सहयोगी हैं, प्रतियोगी नही हैं। अर्थशास्त्र का ध्येय अधिक एकतार्गों को खोजना है और जिस प्रणाली से भी इस उद्देश्य की पूर्ति होती हो उसी का उपयोग करना चाहिये। बात ऐसी है कि एक प्रणाली दूसरे के दोषों का नाश करती है। एक के गुण दूसरे के अवगुण हैं।

इसलिये दोनो प्रणालियों को एक साथ काम में लाया जाय तो अधिक अच्छा होगा। उदाहरणस्वरूप, यदि सामान्य सत्यो की जाँच व्याप्तिमूलक प्रणाली द्वारा कर ली जाय तो गलती की आकांक्षा बडी हद तक मिट जाती है। अतः आजकल के अर्थशास्त्र मे दोनों प्रणालियों का समान महत्त्व है और दोनो का ही उपयोग किया जाता है। *वाकर ने ठीक ही कहा है कि "जिस प्रकार चलने के लिये दाहिने और बायें दोनो पैरों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अर्थ-विज्ञान के अध्ययन के लिये अनुमान और अनुभव दोनों पद्धतियों की आवश्यकता है।"*[1] एक दूसरे स्थान पर मार्शल ने लिखा है—"खोज की कोई भी एक रीति ऐसी नही है जिसे हम अर्थशास्त्र की रीति कह सकें, बल्कि समुचित स्थान पर व्यक्तिगत रूप मे अथवा दूसरी रीतियों के साथ मिलाकर प्रत्येक रीति का उपयोग होना चाहिये।"[2] जिन उद्देश्यो के लिये और जिन परिस्थितियो मे जो प्रणाली अधिक उपयोगी हो उसी का उपयोग करना चाहिये, अतः निगमन प्रणाली या व्याप्ति-मूलक प्रणाली होनी चाहिये, के स्थान पर निगमन प्रणाली और व्याप्ति-मूलक प्रणाली होनी चाहिये, कहना अधिक उपयुक्त होगा। *वैगनर (Wagner) ने ठीक ही कहा है—"निगमन और आगमन प्रणालियो में से किसको चुना जाय, इस प्रश्न का उपयुक्त उत्तर यही हो सकता है कि दोनों को ग्रहण किया जाय।"*[3]

---

1. "Induction and Deduction are both needed for scientific thought as the right and left foot are both needed for walking" *Quoted by* Marshall.

2. "There is not any one method of investigation which can properly be called, the Method of Economics; but every method must be made serviceable in its proper place either singly or in combination with others. *Quoted by* Marshall : *Principles of Economics*, p. 34.

3. "The true solution of the contest about methods is not be found in the selection of deduction or induction, but in the acceptance of deduction and induction."—Wagner.

QUESTIONS

1. "जिस प्रकार चलने के लिए मनुष्य को दोनों पैरों की आवश्यकता होती प्रकार सैद्धान्तिक विचारों के अध्ययन के लिए 'आगमन' और 'निगमन' दोनों रीतियों की आवश्यकता है।" उपर्युक्त कथन पर आलोचनात्मक विचार प्रकट कीजिए।
(आगरा, बी० ए० पार्ट १, १९५१ ; आगरा, बी० ए०, १९४५, १९४० ; राज०, बी० कॉम०, १९५८ ; राज०, बी० ए०, १९५२)
2. आर्थिक विश्लेषण (Economic Analysis) के लिए निगमन तथा व्याप्तिमूलक प्रणालियों के पारस्परिक महत्त्व पर पूर्ण रूप से विचार कीजिए।
(आगरा, बी० ए० पार्ट १, १९५७)
3. What are deductive and inductive methods? Illustrate their application in Economics. (Agra, B. A. Part I, 1957)
4. Explain and illustrate the use of the Deductive and Inductive methods (निगमन और आगमन प्रणालियाँ) in the study of Economics (अर्थशास्त्र) and show how 'the difference between them is often one rather of emphasis than of principle, and sometimes the one and sometimes the other will be more effective."—(Dearle) (Raj., B. A., 1955)
5. Discuss the importance of Deductive and Inductive methods in economic analysis. Do you agree with the statement that both the methods are essential for the correct economic study? (Raj., B. A., 1950)
6. "There is not only one method of investigation which can properly be called the method of Economics, but every method must be made serviceable in its proper place." (Marshall). Explain and illustrate. (Raj., B. Com., 1957)
7. "जाँच करने की ऐसी एक भी प्रणाली नहीं है जिसे हम निश्चित रूप से अर्थशास्त्र की प्रणाली कह सकें, किन्तु प्रत्येक प्रणाली का अकेला अथवा अन्य प्रणालियों के साथ उचित स्थान पर अवश्य ही प्रयोग होना चाहिए।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
(इलाहाबाद, बी० ए० पार्ट १, १९५६)

अध्याय ६

कुछ फुटकर परिभाषाएँ

(Some Miscellaneous Definitions)

वस्तु (Commodity)—

साधारणतया कोई भी भौतिक या अभौतिक पदार्थ, जो मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करता है, वस्तु कहलाता है, किन्तु अर्थशास्त्र में इस शब्द का अर्थ थोड़ा संकुचित होता है। आवश्यकता की पूर्ति के साथ-साथ एक और गुण होने पर ही कोई चीज वस्तु कहलाती है। वह गुण है उस वस्तु का विनिमय साध्य (Exchangeable) होना, अर्थात् उस वस्तु में उपयोगिता होने के साथ हस्तान्तरणता (Transferability) भी होनी चाहिए। कुछ लेखकों ने दो प्रकार की वस्तुएँ बताई हैं :— स्वतन्त्र (Free) और आर्थिक। स्वतन्त्र वस्तुयें वे हैं जिनकी माँग से उनकी पूर्ति अधिक होती है, जैसे—वायु, धूप, समुद्र का पानी, इत्यादि। इसके विपरीत आर्थिक वस्तुयें वे बताई जाती हैं जिनकी माँग की अपेक्षा उनकी पूर्ति कम होती है, जैसे—भोजन, वस्त्र, मकान, इत्यादि। किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि यह भेद सही नहीं है। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसकी पूर्ति हर समय, हर स्थान पर तथा हर मनुष्य के लिए माँग से अधिक हो और इसी प्रकार विशेष परिस्थितियों में किसी भी वस्तु की पूर्ति उसकी माँग से अधिक हो सकती है। वायु और धूप की पूर्ति एक पनडुब्बी नाव में माँग की अपेक्षा कितनी कम होती है, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। इसी प्रकार कुछ मनुष्यों के लिए भोजन की पूर्ति उसकी माँग से उतनी ही अधिक हो सकती है जितनी कि खुले मैदानों में धूप की। इस प्रकार इन दो प्रकार की वस्तुओं के बीच कोई स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता है।

कुछ लेखकों ने मूल्य (Value) के आधार पर आर्थिक और स्वतन्त्र वस्तुओं में भेद किया है। उनका विचार है कि केवल ऐसी वस्तुएँ जिनका मूल्य होता है, आर्थिक वस्तुएँ हैं, किन्तु इस प्रकार का भेद भी गलत प्रतीत होता है। इस संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसके विषय में हम निश्चय के साथ यह कह सकें कि उसका मूल्य नहीं है, अतः सभी वस्तुएँ आर्थिक अर्थ में वस्तुएँ हैं। आर्थिक और स्वतन्त्र वस्तुओं के बीच भेद करना ठीक नहीं है। प्रत्येक ऐसी वस्तु, जो हमारी किसी भी आवश्यकता को पूरी करती है, साधन है और आर्थिक वस्तु है, चाहे उसकी माँग और पूर्ति का सम्बन्ध कुछ भी क्यों न हो। कुछ लेखकों ने उन वस्तुओं को आर्थिक वस्तुएँ बताया है, जिनका हस्तान्तरण हो सकता है, अर्थात् जो मनुष्य से बाह्य हैं। इस प्रकार मनुष्य का आन्तरिक गुण आर्थिक वस्तु नहीं होगा।

उपयोगिता (Utility)—

किसी वस्तु में मनुष्य की आवश्यकता पूरी करने का जो गुण होता है उसे हम उस वस्तु की उपयोगिता कहते है । उदाहरणार्थ, भोजन में हमारी भूख को मिटाने का जो गुण है वही उसकी उपयोगिता है । बहुत से अर्थशास्त्री उपयोगिता और सन्तोष (Satisfaction) में भेद नही करते हैं । दोनो शब्द एक ही अर्थ में उपयोग करते हैं, किन्तु ऐसा करना भूल है । सन्तोष वह मानसिक दशा है जो आवश्यकता की पूर्ति के पश्चात् अनुभव की जाती है, जबकि उपयोगिता केवल वस्तु का एक गुण है । इसमे कोई सन्देह नही है कि दोनों विचार अमूर्त है तथा दोनो का एक-दूसरे से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योकि उपयोगिता की माप सदैव सन्तोष मे ही की जाती है । जितना ही अधिक सन्तोष किसी वस्तु के उपभोग से प्राप्त होता है उतनी ही उसकी उपयोगिता भी अधिक होती है । फिर भी ये दोनो विचार अलग-अलग हैं । उपयोगिता का निवास स्थान वस्तु है और तृप्ति का निवास-स्थान मनुष्य का मस्तिष्क है । स्मरण रहे कि उपयोगिता का विचार सदा ही सापेक्षिक (Relative) होता है । एक वस्तु एक मनुष्य के लिए बहुत उपयोगी हो सकती है, परन्तु दूसरे के लिए बहुत ही कम उपयोगी ।

सेवाएँ (Services)—

ये मनुष्य की क्रियाओं के वे अमूर्त फल है जिनसे मनुष्य की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं । उदाहरणस्वरूप, गायक, डाक्टर और वकील के काम सेवाएँ हैं । सेवाओं का भी क्रय-विक्रय और हस्तान्तरण हो सकता है ।

सम्पत्ति अथवा धन (Wealth)—

घन शब्द के अर्थो में बड़ा मतभेद पाया जाता है । अर्थशास्त्र की परिभाषा के अध्याय में हम देख चुके हैं कि इस शब्द के उपयोग मे कितनी कठिनाइयां हैं । बहुधा आर्थिक वस्तुएं और धन एक ही अर्थ में उपयोग किए गए हैं । *धन होने के लिए किसी वस्तु में चार गुण होने आवश्यक माने गये हैं :—(१) उपयोगिता, (२) दुर्लभता, (३) विनिमय साध्यता, और (४) हस्तान्तरणता* । प्राचीन काल में एक और भी गुण, अर्थात् भौतिकता इस शब्द से सम्बन्धित था, किन्तु आजकल के अर्थशास्त्र मे भौतिक (जमीन, मकान इत्यादि) तथा अभौतिक (कापीराइट, पेटेन्ट इत्यादि) दोनों प्रकार की वस्तुएँ धन में सम्मिलित की जाती हैं । थोड़ा ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि उपरोक्त चार गुण संसार की प्रत्येक वस्तु मे पाये जाते हैं और इस प्रकार संसार की सभी वस्तुएं धन है । सच बात तो यह है कि धन शब्द के पीछे अर्थशास्त्र में इतना विवाद रहा है और इसके विभिन्न अर्थों मे इतना अन्तर पाया जाता है कि इस शब्द को अर्थशास्त्र में उपयोग न करना ही अधिक लाभदायक होगा ।

कुछ लेखकों ने धन की कुछ और विशेषताओं का भी वर्णन किया है । कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि धन में संचय किये जाने का भी गुण होना

चाहिए। यथार्थ मे सभी प्रकार के धन में यह गुण नही पाया जाता है। सेवाओं को धन मे सम्मिलित किया जाता है, परन्तु उनका संचय सम्भव नही होता है। इसी प्रकार कुछ लेखको ने ऐसा कहा है कि धन मनुष्य के परिश्रम का फल होना चाहिए और इसके प्राप्त करने मे किसी न किसी प्रकार का त्याग अवश्य रहना चाहिये। यह गुण भी आवश्यक प्रतीत नही होता है। भूमि और हीरे दोनो ही धन हैं, परन्तु प्रारम्भ मे जिस व्यक्ति ने उन्हे प्राप्त किया था उसे कोई विशेष त्याग नही करना पड़ा था। इस कारण धन के ऊपर दिये गये चार गुण ही यथार्थ में महत्त्वपूर्ण हैं। कीन्ज के शब्दों मे—"धन में मानव आवश्यकताओं की पूर्ति के वे सब साधन सम्मिलित होते हैं जो विनिमय साध्य हैं। जिस वस्तु का भी मूल्य होता है वह धन है।"[1]

यहाँ पर यह बता देना उपयुक्त होगा कि धन भी एक सापेक्षिक शब्द है। कोई वस्तु किसी व्यक्ति विशेष के ही दृष्टिकोण से धन होती है। जिन वस्तुओं का मनुष्य के लिए कोई उपयोग नही है वे धन नही हो सकती हैं। अभी तक भी कुछ उद्योगो की कुछ अवशिष्ट उपज (By-products) ऐसी हैं जिनका मनुष्य ने कोई उपयोग नही ढूँढ़ पाया है और उन्हे कूड़े की भाँति फेंक दिया जाता है। कालिदास के नाटक असभ्य जातियो के लिए धन नही हैं। इस सम्बन्ध मे रोबिन्स ने ठीक ही लिखा है कि "अपने पदार्थ सम्बन्धी गुणो के कारण कोई वस्तु धन नही होती है। यह धन इस कारण होती है कि यह दुर्लभ है।"[2]

इस प्रकार धन में उन सभी भौतिक और अभौतिक वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है, जिनका कि मूल्य होता है, परन्तु प्रेम, मित्रता, चरित्र आदि वस्तुओं को धन मे सम्मिलित नही किया जाता है, क्योंकि ये विनिमय साध्य नही हैं। अब हम कुछ प्रकार की वस्तुओं के विषय मे यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि उन्हे धन कहा जा सकता है या नही।

(१) व्यक्तिगत गुण अथवा योग्यता (Personal Qualities)—ऐसे गुणो मे एक डाक्टर, वकील अथवा शिल्पकार की योग्यता को सम्मिलित किया जाता है। इन गुणो की सहायता से धन का उत्पादन किया जाता है, क्योंकि इन गुणों से उत्पन्न होने वाली सेवाओं का मूल्य होता है, किन्तु यद्यपि इन्हे प्राप्त करने पर बहुत व्यय किया जाता है, किन्तु इन्हे धन नही कहा जा सकता है, क्योंकि इनका हस्तान्तरण अथवा विनिमय नही हो सकता है। किन्तु कभी-कभी इन्हे व्यक्तिगत धन के नाम से पुकारा जाता है।

---

1. "Wealth consists of all potentially exchangeable means of satisfying human needs. Anything which possesses value is wealth."—J. N. Keynes.

2. "Wealth is not wealth because of its substantial qualities. It is wealth because it is scarce."—Robbins.

(२) व्यक्तिक सेवायें (Personal Services)—ऐसी सेवाओं में अध्यापक, वकील और डाक्टर की सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है। ये धन हैं, क्योंकि इनका हस्तान्तरण भी हो सकता है और ये विनिमय साध्य भी हैं।

(३) मुद्रा (Money)—मुद्रा को सभी दृष्टिकोणों से धन कहा जा सकता है। धातु-मुद्रा में तो धन के अन्य गुणों के अतिरिक्त आन्तरिक मूल्य (Intrinsic Value) का भी गुण होता है। पत्र-मुद्रा भी धन है, क्योंकि उसमें भी क्रय-शक्ति होती है। अन्य वस्तुओं की भाँति मुद्रा का भी विनिमय मूल्य होता है, इसलिए उसे धन कहना ही उपयुक्त होगा।

(४) व्यावसायिक ख्याति (Goodwill)—यह एक अभौतिक वस्तु है, परन्तु फिर भी इसमे धन के सभी गुण पाये जाते हैं। इसका सरलता से हस्तान्तरण हो सकता है और इसे बेचा भी जा सकता है।

(५) माल के अधिकार-पत्र (Documents of Title)—ऐसे अधिकार-पत्रो मे विनिमय बिल (Exchange Bills), चैक (Cheque), सरकारी बांड (Government Bonds) आदि को सम्मिलित किया जाता है। इनमे से अधिकाश का विनिमय हो सकता है और इनका मूल्य भी होता है, इसलिए इन्हे धन कहा जा सकता है, परन्तु वास्तव में ये स्वयं धन नही होते हैं, बल्कि केवल उस धन के अधिकार को सूचित करते है जो कही दूसरी जगह रखा है, इसलिए इन्हे प्रतिनिधि धन (Representative Wealth) कहा जाता है।

धन का वर्गीकरण (Classification of Wealth)—

धन को विभिन्न रीतियों से वर्गीकृत किया जाता है। प्रमुख वर्गीकरण निम्न प्रकार हैं:—

(क) व्यक्तिगत अथवा निजी धन (Individual or Private Wealth)—इस प्रकार के धन में एक व्यक्ति के निजी धन संचय को सम्मिलित किया जाता है, जैसे—उसका नकदी, भूमि, मकान, फर्नीचर आदि का संग्रह। दूसरी व्यक्तिगत जोड़, जैसे—व्यक्तिगत संचय, सम्पत्ति के अधिकार पत्र, अंश (Shares), स्कन्ध (Stocks) तथा सरकारी बांड भी इसी में सम्मिलित किये जाते हैं। व्यवसाय की ख्याति जैसे अभौतिक धन भी इसी प्रकार के होते हैं, परन्तु इसमे व्यक्तिगत गुणों को सम्मिलित नही किया जाता है।

(ख) सामाजिक अथवा सामुदायिक धन (Social or Communal Wealth)—ऐसे धन मे उन सब वस्तुओं को गिना जाता है जिन पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार नही होता है, बल्कि सामूहिक रूप में सारे समाज का अधिकार होता है, जैसे—सार्वजनिक बगीचे, सड़कें, पुल, पुस्तकालय, इत्यादि। सरकारी उद्योग और उपक्रम (Enterprises) भी सामाजिक धन हैं।

(ग) राष्ट्रीय धन (National Wealth)—देश के सभी नागरिकों के धन का योग राष्ट्रीय धन में सम्मिलित होता है। इसमे व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो ही प्रकार के धन को शामिल किया जाता है। विस्तृत अर्थ मे किसी देश की राष्ट्रीय आय मे उस देश के प्राकृतिक साधनो, जैसे—खानो, वनो और पहाड़ो को भी सम्मिलित किया जाता है।

(घ) पूंजी धन और आय धन (Capital Wealth and Income Wealth)—पूंजी धन एक कोष अथवा स्टॉक की ओर संकेत करता है, जबकि आय धन एक धारा प्रवाह को दिखाता है। मान लीजिये कि एक मनुष्य के पास ५ लाख रुपये की सम्पत्ति है, जिससे उसे २५,००० रुपया वार्षिक आय प्राप्त होती है। सारी की सारी ५ लाख की सम्पत्ति पूंजी धन है, जबकि २५,००० रु० आय धन है।

धन और कल्याण (Relation Between Wealth and Welfare)—

आर्थिक अध्ययन का उद्देश्य मानव कल्याण मे वृद्धि करना होता है। धन का अध्ययन इसलिए किया जाता है कि उसका मानव कल्याण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि मानव कल्याण हमारा लक्ष्य है तो इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए धन एक साधन है। धन का अध्ययन स्वयं अपना उद्देश्य नही हो सकता है। इसका अध्ययन इसलिए किया जाता है कि मानव उद्देश्यो की तीव्रता को नापने का यह सबसे सुविधाजनक साधन है। साधारणतया ऐसा देखने मे आता है कि सम्पन्नता (धन की वृद्धि) और कल्याण (Welfare) दोनो मे एक ही दिशा मे परिवर्तन होते हैं। धनवान व्यक्ति अपने जीवन-स्तर को ऊँचा उठा सकता है और अपने तथा अपने परिवार के जीवन को अधिक सुखमय बना सकता है। यदि चाहे तो वह समाज के निर्धन व्यक्तियो के कल्याण की भी उन्नति कर सकता है। यह सम्भव है कि अत्यधिक धन किसी मनुष्य को बिगाड दे, परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि धन का अच्छा उपयोग हो सकता है और हुआ भी है।

साधारण परिस्थितियो मे धन और मानव कल्याण दोनो मे एक ही दिशा मे परिवर्तन होते हैं, परन्तु कुछ ऐसी भी दशायें हो सकती हैं जिनमे धन की वृद्धि कल्याण मे वृद्धि न करे। निम्न दशायें विचारणीय हैं :—

(१) प्रेम, मित्रता, स्वास्थ्य, सांस्कृतिक विकास इत्यादि, जिनका कि मानव जीवन मे भारी महत्त्व है, धन मे सम्मिलित नही होते हैं। इन दिशाओं मे प्रगति होने से मानव कल्याण में तो वृद्धि होती है, परन्तु धन की मात्रा मे वृद्धि नही होती।

(२) धन की वृद्धि बहुत सी दशाओं मे मानव कल्याण को उल्टा घटा सकती है। यदि किसी देश मे गोला बारूद और हथियारो का उत्पादन बढता है अथवा मादक वस्तुएं अधिक मात्रा मे उत्पन्न की जाती हैं तो

इससे धन की मात्रा में तो वृद्धि होती है, परन्तु मानव कल्याण उल्टा घट जाता है।

(३) एक धनी समाज का सच्चे अर्थ मे ऊँचा समाज होना आवश्यक नही है। धन की वृद्धि भ्रष्टाचार और अनेक बुराइयो को उत्पन्न करती है।

मूल्य (Value)—

अर्थशास्त्र में मूल्य शब्द के अर्थ मे भी काफी मतभेद रहा है। एडम स्मिथ के अनुसार—"मूल्य शब्द के दो अलग-अलग अर्थ होते हैं। कभी-कभी तो यह किसी वस्तु की उपयोगिता को सूचित करता है और कभी कभी यह वस्तु विशेष के बदले मे अन्य वस्तुएँ खरीदने की शक्ति को दिखाता है।"* इस प्रकार एडम स्मिथ के अनुसार मूल्य दो प्रकार का होता है—उपयोग का मूल्य (Value-in-use) और विनिमय का मूल्य (Value-in-exchange)। उपयोग के मूल्य को आधुनिक अर्थशास्त्र में उपयोगिता के नाम से पुकारा जाता है और विनिमय के मूल्य को ही मूल्य कहा जाता है। किसी वस्तु के मूल्य से हमारा अभिप्राय अन्य वस्तुओं और सेवाओं की उस मात्रा से होता है जो वस्तु विशेष के बदले मे प्राप्त की जा सकती हैं। यदि एक मेज के बदले में चार कुर्सियाँ आ सकती है तो एक मेज का मूल्य चार कुर्सी ही होगा। मूल्य को बहुधा मुद्रा मे नापा जा सकता है। जब किसी वस्तु का मूल्य मुद्रा में सूचित किया जाता है तो वह कीमत (Price) कहलाती है।

वैयक्तिक पद्धति अर्थशास्त्र एवं सामूहिक पद्धति अर्थशास्त्र (Micro-economics and Macro-economics)—

आर्थिक घटनाओं का अध्ययन करते समय तथा साम्य की दशाओं का पता लगाते समय हम दो प्रकार के दृष्टिकोणों मे से किसी भी एक को ग्रहण कर सकते हैं, अर्थात् या तो हम वैयक्तिक पद्धति (Micro-approach) का उपयोग कर सकते हैं या सामूहिक पद्धति (Macro-approach) का। वैयक्तिक पद्धति अर्थशास्त्र में इकाई का अध्ययन किया जाता है, जबकि सामूहिक पद्धति मे समूह अथवा कुल का अध्ययन होता है। किसी देश की आर्थिक प्रणाली का अध्ययन करते समय हमें विभिन्न प्रकार की इकाइयों का अध्ययन करना पड़ता है। देश मे व्यक्तिगत उपभोक्ता, फर्में तथा वस्तुएँ होती है। इन व्यक्तिगत इकाइयो से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन वैयक्तिक पद्धति अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार के अध्ययन मे उन सभी कारणों का विवेचन सम्मिलित होता है जिन पर किसी विशेष फर्म अथवा उद्योग का उत्पादन व्यय, उसकी क्षमता तथा उसका सन्तुलन निर्भर होता है। इसी प्रकार किसी वस्तु

* "The word value has two different meanings and sometimes expresses the utility of some particular object and sometimes the power of purchasing other goods which the possession of the object conveys."—Adam Smith.

विशेष की कीमत का निर्धारण तथा किसी विशेष श्रमिक वर्ग की मजदूरी का अध्ययन भी वैयक्तिक पद्धति अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री है। बोलडिंग (Boulding) के शब्दो में—"*वैयक्तिक पद्धति अर्थशास्त्र विशिष्ट आर्थिक तथा उनके पारस्परिक प्रभाव का अध्ययन है और इसमें विशिष्ट आर्थिक मात्राएँ तथा उनका निर्धारण भी सम्मिलित है।*"[1] वैयक्तिक पद्धति अर्थशास्त्र का आरम्भ एडम स्मिथ से होता है, यद्यपि वे पूर्णतया इसी दृष्टिकोण पर निर्भर नही रहे है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की आगे की पीढियो ने इस दृष्टिकोण को अधिक स्पष्ट रूप मे ग्रहण किया था, मुख्यतया मार्शल तथा उनके समर्थको ने। इस समय एक बार फिर इस प्रकार के अध्ययन को कम महत्त्व दिया जा रहा है, यद्यपि उपयोग इसका भी अवश्य होता है।

इस प्रकार वैयक्तिक पद्धति मे हमारा अध्ययन व्यक्तिगत समस्याओ के अध्ययन से सम्बन्धित होता है, परन्तु इसके विपरीत जब हम सामूहिक पद्धति अर्थशास्त्र का अध्ययन करते है तो हम देश से सम्बन्धित सामूहिक समस्याओ का अवलोकन करते हैं। यहां पर हम सामान्य कीमत-स्तर, सामूहिक माँग, कुल वस्तुओ का सामूहिक उत्पादन, कुल आय, कुल बचत, कुल रोजगार आदि समस्याओ का अध्ययन करते हैं। हम इन समूहो का स्पष्टीकरण करते हैं, उनके पारस्परिक सम्बन्धो को समझने की चेष्टा करते है और उनके एक दूसरे पर पड़ने वाले प्रभाव को जानने का प्रयत्न करते है। "सामूहिक पद्धति अर्थशास्त्र मे व्यक्तिगत मात्राओ का अध्ययन नही किया जाता है, वरन् इन मात्राओ के समूहो का अध्ययन होता है—इसका सम्बन्ध व्यक्तिगत आय से नही होता बल्कि राष्ट्रीय आय से होता है, व्यक्तिगत कीमतो से नही होता बल्कि कीमत स्तर से होता है और व्यक्तिगत उत्पादन से नही होता बल्कि राष्ट्रीय उत्पादन से होता है।"[2] इस प्रकार के अध्ययन के आरम्भ का श्रेय माल्थस (Malthus) को दिया जा सकता है, परन्तु यह अध्ययन सन् १६२६ के महान अवसाद (Great Depression) के पश्चात् अधिक लोकप्रिय हुआ है। इसके वर्तमान महत्त्व का प्रमुख श्रेय कीन्ज (Keynes) को है।

दोनों प्रकार के अर्थशास्त्रों का पारस्परिक सम्बन्ध—

ध्यानपूर्वक देखा जाय तो दोनों प्रकार के अध्ययनो का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। उदाहरणस्वरूप, उन सब कारणो के अध्ययन द्वारा जिन पर एक व्यक्ति-

1. "Micro economics is the study of particular economic organisms and their interaction, and of particular economic quantities and their determination."-K. E. Boulding : *A Reconstruction of Economics*, p. 3.

2. 'Macro economics deals not with individual quantities as such but with aggregates of these quantities—not with individual incomes but with national income, not with individual prices but with price-level, not with individual output but with national output."—*Ibid*, p. 3.

गत फर्म की कुशलता निर्भर होती है, हम ऐसे उपायों को निकाल सकते है जिनसे समस्त आर्थिक प्रणाली की कुशलता बढाई जा सकती है। परन्तु जब हम वैयक्तिक पद्धति अर्थशास्त्र के निष्कर्षों का उपयोग सामूहिक अध्ययन के लिए करते है तो हमें थोड़ी सावधानी रखनी चाहिए, क्योंकि जो बात किसी एक के विषय मे सही होती है उसका सभी के विषय मे सही होना आवश्यक नही होता है। एक निश्चित काल में एक व्यक्ति अपनी कुल आय से कम या अधिक का व्यय कर सकता है, परन्तु सबका व्यय मिलकर सबकी आय से अधिक नही हो सकता है। फिर भी सामूहिक पद्धति अर्थशास्त्र के निष्कर्षों की वैयक्तिक अध्ययन द्वारा जाँच की जा सकती है। ठीक इसी प्रकार सामूहिक अध्ययन भी व्यक्तिगत अध्ययन के लिए उपयोग होता है। व्यक्तिगत निर्णय बहुत सी दशाओं मे सामूहिक निर्णयों का ही परिणाम होते है। उदाहरण-स्वरूप, एक व्यक्ति अपनी आय का किस प्रकार व्यय करता है, यह इस बात पर निर्भर होता है कि विभिन्न वस्तुओं की कीमतें किस प्रकार हैं और ये कीमतें इस बात पर निर्भर होती हैं कि अन्य व्यक्ति अपनी आय का किस प्रकार व्यय करते हैं।

इस सम्बन्ध मे यह कहना असंगत न होगा कि दोनों प्रकार के अध्ययन एक दूसरे के प्रतिविरोधी न होकर पूरक हैं। वैयक्तिक पद्धति अध्ययन इसलिए आवश्यक है कि एक से सामूहिक परिवर्तन का दो व्यक्तिगत क्षेत्रो मे अलग-अलग प्रभाव पड सकता है। उदाहरणस्वरूप, सामान्य रूप मे समाज की आय बढने से कार की माँग बढ़ती है, परन्तु घोडो की माँग घटती है। अतः सामूहिक पद्धति का निष्कर्ष विशिष्ट दशाओं मे गलत हो सकता है। इसी प्रकार केवल वैयक्तिक पद्धति भी पर्याप्त नही है, क्योंकि व्यक्तिगत लक्षण सामूहिक लक्षणों के सूचक सभी दशाओं में नहीं हो सकते है। दोनों प्रकार के अध्ययनो मे अन्तर केवल दृष्टिकोण का है, क्योंकि एक मे इकाई का अध्ययन होता है और दूसरे में समूह का। उद्देश्य के दृष्टिकोण से दोनो मे कोई अन्तर नही होता है।

इन अध्ययनों की सीमायें—

वैयक्तिक पद्धति अर्थशास्त्र लाभदायक तथा आवश्यक है। कीन्ज के अनुसार, यह आर्थिक अध्ययन की रीतियो का एक आवश्यक अंग है। परन्तु इस प्रकार के अध्ययन की दो सीमाये है : (१) यह समस्त अर्थ-व्यवस्था का सही अनुमान प्रस्तुत नही करता है, क्योंकि व्यक्तिगत निर्णयो का जोड सामूहिक निर्णय के अनुकूल होना आवश्यक नही है। (२) इस प्रकार की विवेचना केवल उसी अर्थ-व्यवस्था मे सम्भव है जो पूर्ण वृत्ति के अन्तर्गत है और ऐसी अर्थ-व्यवस्था का होना आवश्यक नहीं है। वास्तव मे पूर्ण वृत्ति की मान्यता पर निष्कर्षों को आधारित करने का अर्थ यह होता है कि हम कठिनाइयों को हल करना नही चाहते हैं, बल्कि उनसे दूर भागने का प्रयत्न कर रहे है।

ठीक इसी प्रकार सामूहिक पद्धति अर्थशास्त्र को भी अपनी सीमायें हैं। इसका एक कारण तो यही है कि ऐसा अध्ययन भी बहुधा वैयक्तिक पद्धति अध्ययन पर आधारित

होता है। इस प्रकार के अध्ययन की प्रमुख कठिनाइयाँ इस प्रकार है : (१) कठिनाई यह है कि व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर बनाये गये सामूहिक निष्कर्ष सदा सही नहीं होते है। (२) सामूहिक निष्कर्षों को व्यक्तिगत दशाओ पर लागू करना भी उचित नहीं है, क्योकि इसका अर्थ यह हो जाता है कि हम समूह से सम्बन्धित तथ्यो के पारस्परिक अन्तरों को भुला रहे है। उदाहरणस्वरूप, सामान्य कीमत-स्तर की वृद्धि की दशा मे भी कुछ वस्तुओ की कीमतें उल्टी नीचे गिर सकती हैं। (३) तीसरी कठिनाई यह है कि किसी प्रणाली से सम्बन्धित समूह महत्वहीन हो सकता है। यह समूह परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो का ऐसा मिश्रण हो सकता है, जिसका वास्तविकता से किसी प्रकार का सम्बन्ध होना आवश्यक नही है। जब प्रतिभूतियो तथा लगान की दरो को जोडकर सामान्य कीमत-स्तर निकाला जाता है तो उसका लगभग किसी भी दृष्टिकोण से कोई भी महत्त्व शेष नही रह जाता है। (४) यह बात ध्यान देने की है कि समूह की तुलना में समूह को बनावट का ज्ञान अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। कोई भी अर्थशास्त्री यदि समूह में सम्मिलित तथ्यो पर ध्यान दिये बिना सामूहिक आधार पर भविष्यवाणी करता है, तो उसकी यह भविष्यवाणी विश्वसनीय नहीं होगी। (५) अन्त मे, समूह की माप मे कठिनाई होती है। समूह प्रतिविरोधी तथ्यो और प्रवृत्तियो का एक ऐसा मिश्रण बन जाता है कि उसकी कोई निश्चित माप सम्भव नही हो सकती है।

स्थैतिक एवं प्रवैगिक अर्थशास्त्र (Static and Dynamic Economics)–

अर्थशास्त्र मे स्थैतिक और प्रवैगिक शब्द भौतिक शास्त्र से लिए गये हैं, किन्तु यहां पर इनके अर्थ दूसरे ही हैं। भौतिक शास्त्र मे स्थैतिक दशा वह होती है, जिसमें कोई गति (Movement) न हो। इसके विपरीत *अर्थशास्त्र में स्थैतिक दशा वह है जिसमें गति तो हो परन्तु परिवर्तन न हो।* ऐसी दशाओ मे उत्पादन का क्रम चलता रहता है। प्रति दिन ही वस्तुओ का उत्पादन होता रहता है, किन्तु किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता, क्योकि आधारभूत दशाएँ यथास्थित रहती है। अब हमे यह देखना है कि आधारभूत दशाएँ कौनसी है, जो यथास्थित रहती हैं। प्राचीन अर्थशास्त्रियो के अनुसार, जन-संख्या तथा पूँजी यथास्थित रहते हैं और ऐसी दशा मे मजदूरी और लाभ के परिवर्तनो का भी प्रश्न नहीं उठता है। क्लार्क (J. B. Clark) ने पाँच बातो, अर्थात् जन-सख्या, पूँजी, उत्पादन विधियाँ, व्यक्तिगत कारखानो के रूप तथा जन-सख्या की आवश्यकताओ को यथास्थित माना है। अधिक निश्चित भाषा मे हम इन शर्तों को तीन भागो में बाँट सकते है :—(१) उत्पादन के साधन, अर्थात् जन-सख्या तथा पूँजी और इनके अतिरिक्त प्राकृतिक साधन तथा श्रमिको के गुण, (२) ज्ञान तथा कला, अर्थात् उत्पादन विधियाँ तथा व्यक्तिगत कारखानो के रूप, और (३) उपभोक्ताओ की रुचियाँ, जो इस बात को निश्चित करती है कि किस प्रकार की वस्तुओ की माँग होगी।

वे समस्याएँ जो निरन्तर परिवर्तनो के कारण उत्पन्न होती है, प्रवैगिक अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आती है। हम सभी जानते हैं कि इस ससार का प्रमुख नियम परि-

वर्तन ही है। जनसंख्या तथा उसकी रुचियो मे बराबर परिवर्तन होते रहते है। इसी प्रकार पूँजी की मात्रा, उत्पादन विधियाँ तथा कारखानों के रूप भी बदलते रहते हैं। प्रवैगिक अर्थशास्त्र मे हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि ये परिवर्तन उत्पादन की मात्रा, कीमतो तथा मजदूरियों पर किस प्रकार प्रभाव डालते हैं। यहाँ पर आधारभूत दशाएँ ही बदलती रहती है। इन आधारभूत दशाओं के परिवर्तन के प्रभाव का अध्ययन ही प्रवैगिक अर्थशास्त्र की प्रमुख समस्या है। इसमें आधारभूत दशाओ के परिवर्तन की दर तथा दिशा का भी अध्ययन किया जाता है। इस सम्बन्ध मे हम दो उदाहरण ले सकते हैं। एक तो हम बचत को लेते है। बचत एक प्रवैगिक कारक है। बचत के बढ़ने के साथ-साथ विनियोग (Investment) भी बढता है, जिसके फलस्वरूप उत्पादन और रोजगार दोनो मे भी वृद्धि होती है। इनके फलस्वरूप आय बढ़ती है, जिससे आगे चलकर स्वय बचत भी बढ़ जाती है। इस प्रकार बचत एक प्रवैगिक क्रिया को जन्म दे देती है। दूसरे उदाहरण मे हम आर्थिक प्रगति का धन के वितरण पर प्रभाव ले सकते है। यदि दो प्रवैगिक कारकों, अर्थात् जनसंख्या तथा पूँजी की वृद्धि होती है तो लाभ घटते है और लगान बढ जाते है। अन्त मे एक ऐसी दशा आ जाती है जहाँ लाभ शून्य के बराबर हो जाता है और मजदूरियाँ यथास्थित हो जाती हैं। ऐसी दशा में नई पूँजी का निर्माण नही होगा और जन-संख्या भी नही बढ़ेगी अर्थात् स्थैतिक दशा आ जायेगी।

अभी तक प्रवैगिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो का विकास नही हो पाया है। बहुत सी दशाओ मे जहाँ कुछ लेखको ने अपने अध्ययन को प्रवैगिक बताया है, अधिक से अधिक तुलनात्मक स्थैतिक दशा (Comparative Statics) तक ही अध्ययन हो पाया है। उदाहरणस्वरूप, मार्शल के विषय मे यही कहा जा सकता है कि विगत वर्षों मे कुछ लेखको ने इस दिशा मे प्रयत्न अवश्य किए हैं, जैसे कैलेकी (Kalacki), टिनबरजेन (Tinbergen) तथा श्रीमती जोन रोबिन्सन (Mrs. Joan Robinson), किन्तु फिर भी यह तो सत्य ही है कि यह अध्ययन अभी आरम्भिक अवस्था मे ही है।

तुलनात्मक स्थैतिक दशा (Comparative Statics)—

स्थैतिक दशा की मान्यता यह थी कि आधारभूत दशाओ मे परिवर्तन नही होगा, परन्तु यदि उत्पत्ति के साधनो का उत्पादन सम्बन्धी आवश्यकताओं के साथ समायोजन नही हुआ है तो समायोजन की दिशा मे साधनो की गति होगी। इस प्रकार की गति का अध्ययन तो स्थैतिक अर्थशास्त्र मे ही हो जायेगा। परन्तु गति परिवर्तन एक दूसरी प्रकार का भी हो सकता है। यह सम्भव है कि आधारभूत दशाएँ ही बदले जायें। इस दशा मे सभी सूचनाएँ ही बदल जायेंगी। अब साम्य की एक अलग ही स्थिति होगी और उत्पादन की मात्रा तथा कीमत-स्तर भी पहले से पृथक होगे। इस प्रकार हमारे सम्मुख साम्य की दो दशाएँ होंगी—एक, जो पहली दशा पर आधारित थी और दूसरी, वह जो आधारभूत दशाओं के परिवर्तन के पश्चात् उत्पन्न हुई है।

इन दोनों दशाओं की तुलना करना बहुत लाभदायक हो सकता है। इन दो स्थितियों की तुलना के लिए भी हम स्थैतिक अध्ययन प्रणाली का उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार का अध्ययन तुलनात्मक स्थैतिक अर्थशास्त्र कहलायेगा।

दोनों प्रणालियों का महत्व—

अध्ययन की निगमन तथा आगमन प्रणालियों की भाँति अर्थशास्त्र में स्थैतिक और प्रावैगिक दोनों प्रणालियों का उपयोग भी आवश्यक है। कितनी ही समस्याएँ ऐसी हैं जिनका अध्ययन प्रावैगिक अर्थशास्त्र की सहायता से ही हो सकता है। उदाहरणस्वरूप, वे समस्याएँ जो मनोवैज्ञानिक कारणों पर निर्भर रहती हैं। इसके विपरीत बहुत सी समस्याएँ ऐसी भी हैं जिनका अधिक उपयुक्त अध्ययन स्थैतिक अर्थशास्त्र द्वारा ही सम्भव है, जैसे—स्वतन्त्र व्यापार, सीमान्त व्यय तथा उत्पादन कला की समस्याएँ। साथ ही साथ, कुछ समस्याएँ ऐसी भी हैं जिन्हें किसी भी एक की सहायता से नहीं सुलझाया जा सकता है, बल्कि जिनमें दोनों ही की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि अध्ययन की इन दोनों विधियों को भी वैकल्पिक रूप में न ले कर पूरक रूप में लेना ही अधिक उचित है। बात यह है कि अध्ययन की प्रत्येक रीति की अपनी उपयुक्तता है और अपनी सीमा है। दोनों रीतियों के उपयोग के लाभदायक क्षेत्र अलग अलग होते हुए भी एक से दूसरी को बल मिल जाता है।

QUESTIONS

1. "It appears to be a paradox but all the same it is true that more of things a community has in the form of wealth less prosperous it is." Explain the above statement.
   (Raj., B. A., 1951)
2. Examine the relation between Wealth and Welfare indicating the conditions under which Wealth may increase and Welfare decline (Agra, B. Com., 1952, 1948)
3. "Water is more useful than gold; yet gold has a greater market value than water." How would you explain this paradox? (Agra, B. A., 1955, Gorakhpur, B. A., 1958)
4. व्यक्तिगत अर्थशास्त्र (Micro Economics) तथा सामूहिक अर्थशास्त्र (Macro Economics) के अर्थ और उपयोग में क्या अन्तर है? स्पष्ट कीजिए।
   (सागर, बी० ए०, १९५६; सागर, बी० कॉम०, १९५८)
5. नोट लिखिए—
   वैयक्तिक पद्धति अर्थशास्त्र (Micro Economics) एवं सामूहिक पद्धति अर्थशास्त्र (Macro Economics) (जबलपुर, बी० ए०, १९५९)

दूसरा भाग

उपभोग

(CONSUMPTION)

अध्याय ७

आवश्यकताएँ

(Wants)

आवश्यकता की परिभाषा—

आरम्भ में ही हम यह देख चुके हैं कि मनुष्य की क्रियाओं की जन्मदाता आवश्यकतायें ही हैं। मनुष्य साधारणतया इसीलिए कार्यशील रहता है कि उसे कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है। इस कारण आवश्यकताओं के अध्ययन का अर्थशास्त्र मे बड़ा महत्त्व है। बहुधा ऐसा देखने मे आता है कि साधारण बोल-चाल मे लोग इच्छा, आवश्यकता और मांग इन तीनो शब्दो को एक ही अर्थ में उपयोग करते हैं। साधारण बोल-चाल मे ऐसा करने से कोई विशेष हानि भी नही होती, किन्तु यथार्थ में ये तीनो शब्द अलग-अलग हैं। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को इनके बीच का भेद समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि इस शास्त्र में ये तीनों शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में उपयोग किये जाते हैं। इन तीनों शब्दो मे से सबसे विस्तृत क्षेत्र इच्छा (Desire) शब्द का है। *किसी काम को करने के लिये अथवा किसी चीज को पाने के लिए मनुष्य के मस्तिष्क में उठने वाली कोई भी कामना (Craving) इच्छा कहलाती है।** इस प्रकार इच्छा केवल एक विचार है, जिसका तृप्ति अथवा सुख से कोई सम्बन्ध होना आवश्यक नही है। इच्छा किसी भी प्रकार की हो सकती है। एक भिखारी के मन मे राजा बनने का जो विचार उठता है वह एक इच्छा ही है। इसी प्रकार देश की सेवा, खाना खाने तथा हवा में उड़ने की भी इच्छायें हो सकती हैं। इच्छाओं के विषय में इतना जान लेना आवश्यक है कि उनकी पूर्ति सदा ही सम्भव नही होती है। प्रत्येक इच्छा ऐसी नही होती है कि उसको हम पूरा कर ही सकें। कुछ इच्छाएँ तो स्वभाव से ही ऐसी होती हैं कि उनका पूरा करना असम्भव होता है, क्योंकि वे केवल कोरी कल्पनाएँ होती हैं। एक बच्चे की चिड़ियों की भाँति हवा में उड़ने की लालसा इसी प्रकार की एक इच्छा है।

कुछ इच्छायें ऐसी भी होती हैं जिनका पूरा कर लेना सम्भव होता है। *साधारणतया यदि किसी भी इच्छा के साथ-साथ दो बातें प्रस्तुत हों तो वह पूरी की जा सकती हैं।* ये दो बातें हैं—इच्छा पूर्ति का सामर्थ्य (Capacity) और इच्छा पूर्ति के लिये तत्परता (Willingness)। अभिप्रायः यह है कि यदि इच्छुक के

---

* Any craving of the mind to do something or to possess something.

पास किसी इच्छा की पूर्ति के साधन उपलब्ध हो और वह उन साधनों का उपयोग करने के लिए भी तैयार हो तो उसकी वह आवश्यकता इच्छा कहलायेगी, अतः आवश्यकता वह इच्छा है जिसके साथ सामर्थ्य तथा तत्परता भी मौजूद हों। ऐसा होने से यह निश्चित हो जाता है कि आवश्यकता विशेष की पूर्ति सम्भव है। पॅन्सन (Penson) के शब्दों मे, "आवश्यकता किसी वस्तु के लिए सप्रभाविक इच्छा है, जो अपने को उस वस्तु के प्राप्त करने के प्रयत्न अथवा त्याग से सूचित करती है।"[1] उदाहरणस्वरूप, यदि एक मनुष्य की इच्छा एक कार खरीद लेने की है और उसके पास कार खरीद लेने के लिये पर्याप्त धन है तथा वह इस धन को इस काम में व्यय करने को भी तैयार है तो उसकी कार खरीदने की इच्छा आवश्यकता बन जायगी। स्मरण रहे कि साधन और तत्परता के होने से यह सिद्ध नहीं होता है कि वह मनुष्य कार खरीद ही लेता है, वरन् केवल इतना ही सिद्ध होता है कि वह कार खरीद सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आवश्यकता वह इच्छा है जो पूरी की जा सके।[2]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि साधनों के होते हुये भी यह आवश्यक नहीं है कि कोई आवश्यकता विशेष पूरी की जाय। मनुष्य की आवश्यकताएं अनन्त हैं। सामूहिक रूप से वे सब कभी भी पूरी नहीं हो सकती हैं, यद्यपि व्यक्तिगत रूप से उनमे से प्रत्येक पूरी की जा सकती है, अतः पता चला कि कुछ ही आवश्यकताओं की वास्तव मे पूर्ति होती है, सब की नहीं। उन आवश्यकताओं को, जिनकी पूर्ति की जाती है, हम माँग (Demand) कहते हैं।[3] इस प्रकार माँग वह आवश्यकता है जिसको पूरा किया गया हो। इस सम्बन्ध मे टामस ने माँग की जो परिभाषा दी है वह मान्य नहीं है। टामस का कहना है कि "उत्पादक कार्यों की दिशाओं पर नियन्त्रण रखने के लिये कोई ऐसी आवश्यकता होनी चाहिए जिसके लिए खरीदने के लिए क्रयः शक्ति और तत्परता भी मौजूद हों और इसे हम माँग कहेंगे।"[4] स्मरण रहे कि टामस की उपरोक्त परिभाषा केवल आवश्यकता की परिभाषा हो सकती है, माँग की नहीं। आवश्यकता के माँग बनने के लिये तो उसका पूरा होना आवश्यक है। एक छोटे से उदाहरण से इच्छा, आवश्यकता तथा माँग का भेद और भी स्पष्ट हो जायगा। एक बालक जब एक

---

1. "Effective desire for particular things which expresses itself in the effort or sacrifice necessary to obtain them."—Penson: *Economics of Everyday Life*, p. 74.

2. A desire that *can* be satisfied.

3. "Want that is *actually* satisfied.

4. "In order to control the direction of productive effort, therefore, there must be the presence of a want supported by ability and willingness and this we call demand."—Thomas: *Elements of Economics*, p. 42.

मिठाई की दुकान के सामने से निकलता है तो उसके मन में लालसा उठती है कि दुकान में रखी हुई सारी मिठाइयों को वह खा जाए, *किन्तु यह केवल एक इच्छा है,* क्योंकि बालक के पास मिठाई खरीदने को कुछ भी नहीं है। इस प्रकार दुकान में रखी हुई सारी मिठाई बालक की मिठाई प्राप्ति की इच्छा को बताती है। अब यदि वह बालक घर जा कर अपनी मां से मिठाई खरीदने के लिए ८ आने पैसे पा जाता है और उन ८ आनों को लेकर मिठाई खरीदने चल देता है तो उसकी आवश्यकता का माप आठ आने की मिठाई के बराबर है। अब यदि बालक बुद्धिमान है और दुकान पर पहुँच कर मिठाई का भाव पूछ कर केवल चार आने की मिठाई खरीदता है और यह अनुभव करता है कि उसकी मिठाई खाने की इच्छा पूरी हो गई तो चार आने की मिठाई बालक की मिठाई के लिए माँग कहलाएगी। स्मरण रहे कि इस प्रकार माँग सदैव किसी वस्तु के दाम (Price) से सम्बन्धित होती है। इस प्रकार "किसी वस्तु की माँग उन विभिन्न मात्राओं द्वारा सूचित होती है जो ग्राहकों द्वारा विभिन्न कीमतों पर खरीदी जाती हैं।" मिल के शब्दों में माँग से हमारा अभिप्राय खरीद की मात्रा है और हमें याद रखना रखना चाहिए कि यह कोई निश्चित मात्रा नहीं होती, बल्कि साधारणतया मूल्य के अनुसार बदलती रहती है।*

ऊपर दी हुई विवेचना से पता चलता है कि मनुष्य की इच्छाओं का क्षेत्र बहुत बड़ा होता है। आवश्यकताओं का क्षेत्र उनसे कम विस्तृत होता है और माँग का क्षेत्र और भी छोटा होता है। सारी इच्छाएँ आवश्यकताएँ नहीं होतीं हैं, यद्यपि सारी आवश्यकताएँ इच्छाएँ होती हैं। इसी प्रकार सभी आवश्यकताएँ माँग नहीं होतीं, *यद्यपि प्रत्येक माँग आवश्यकता होती है।* नीचे दिए हुए रेखा-चित्र से यह बात स्पष्ट हो जायगी। इस चित्र में सबसे बड़ा गोला इच्छाओं को दिखाता है, उसके भीतर का दूसरा छोटा गोला आवश्यकताओं को सूचित करता है और सबसे छोटा गोला माँग को दिखाता है।

६

* "The demand for a commodity will consist of a number of different amounts which buyers will purchase at different prices." —H. P. Shearman : *Practical Economics, p. 127.*

See also. "We must mean by the word demand the quantity demanded, and remember that this is not a fixed quantity but, in general, varies according to value."—J. S. Mill.

आवश्यकताओं के लक्षण (Characteristics of Wants)—

मनुष्य की आवश्यकतायें असंख्य हैं तथा वे अनेक प्रकार की होती हैं, किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से इन आवश्यकताओ मे कुछ सामान्य लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं। निम्नलिखित लक्षण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(१) मनुष्य की आवश्यकताएं अनन्त अथवा असीमित है। उनका चक्र कभी भी समाप्त नही होता है। एक आवश्यकता पूरी नही होती कि दूसरी उठ खड़ी होती है। इस प्रकार किसी भी मनुष्य के लिए यह सम्भव नही है कि वह अपनी सारी आवश्यकताओ को पूरी कर सके। यदि बहुत सारे मनुष्य मिल कर भी यह प्रयत्न करें कि सामूहिक रूप से सबकी आवश्यकताएं पूरी कर लें तो यह भी सम्भव नहीं है। आवश्यकताओं का यह गुण मनुष्य के लिए विशेष महत्त्व रखता है और मनुष्य को सदा कार्यशील रखता है, क्योकि हर समय कोई न कोई आवश्यकता उसे कार्य करने के लिए प्रेरित करती ही रहती है। इस प्रकार यह गुण मानव उन्नति का प्रतीक है। यदि समस्त मानव आवश्यकताओ की पूर्ति हो जाय तो किंचित मानव जीवन निस्वाद तथा अरोचक हो जाय और ससार के सारे कार्य रुक जाएं।

(२) यद्यपि समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव नही है, किन्तु किसी भी आवश्यकता विशेष की पूर्ति हो सकती है, अर्थात् सामूहिक रूप से आवश्यकताओं की पूर्ति असम्भव होते हुए भी व्यक्तिगत रूप से यह सम्भव है। जिस प्रकार कच्चे सूत के हजारों धागो को मिलाकर तो तोड़ा नही जा सकता है, परन्तु उनमें से प्रत्येक को एक-एक करके तोड़ना सम्भव होता है इसी प्रकार व्यक्तिगत रूप मे कोई भी आवश्यकता पूरी की जा सकती है। आवश्यकता की परिभाषा से ही यह सिद्ध हो जाता है कि पूर्ति की क्षमता के बिना इच्छा आवश्यकता नही बन सकती है। आवश्यकताओ के ऊपर दिए हुये दोनो लक्षण आवश्यकताओं के मौलिक गुण (Basic Characteristics) कहलाते हैं।

(३) आवश्यकतायें आपस मे प्रतियोगिता मूलक होती हैं। (Wants are Competitive), अर्थात् प्रत्येक आवश्यकता उसको सबसे पहले पूरा करने के लिए मनुष्य को प्रेरित करती है। मनुष्य को बहुधा यह निश्चय करने मे कठिनाई होती है कि वह पहले कौनसी आवश्यकता को पूरी करे, क्योकि प्रत्येक आवश्यकता अपनी पूर्ति के लिए उसे बाध्य करती है। साधारणतया ऐसी आवश्यकता जिसकी तीव्रता अधिक होती है अथवा जिसके पूरा न होने पर मनुष्य अधिक कष्ट का अनुभव करता है, पहले पूरी की जाती है।

(४) कुछ आवश्यकतायें पूरक (Complementary) होती हैं, अर्थात उनको अकेले मे पूरा नही किया जा सकता, वरन् उनकी पूर्ति कुछ दूसरी आवश्यकताओ की पूर्ति के साथ ही की जा सकती है। वैसे तो एक आवश्यकता स्वयं ही दूसरी आवश्यकता को जन्म देती है और इस प्रकार आवश्यकताओं का चक्र चलता रहता है, किन्तु कुछ आवश्यकताएं विशेष रूप से ऐसी होती हैं कि उनकी पूर्ति कुछ

दूसरी आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना हो ही नहीं सकती है। उदाहरणस्वरूप, कार की आवश्यकता और पैट्रोल की आवश्यकता दोनों एक साथ ही पूरी करनी पड़ती है। इसी प्रकार कपड़े और धोबी की आवश्यकताएं भी एक दूसरे की पूरक हैं।

(५) साधारणतया मनुष्य वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति को भावी आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक महत्त्व देता है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान आवश्यकताओं की तीव्रता भविष्य की आवश्यकताओं से अधिक होती है। इसी प्रकार भविष्य और वर्तमान की आवश्यकता-पूर्ति में वर्तमान का पलड़ा अधिक भारी रहता है।

(६) आवश्यकतायें धीरे-धीरे मनुष्य के मन में घर कर लेती हैं, अर्थात् उनकी प्रवृत्ति (Tendency) इस प्रकार की होती है कि वह मनुष्य की आदत बनती जाती है। जिन आवश्यकताओं की पूर्ति मनुष्य एक बार कर लेता है उनकी दूसरी बार पूर्ति न होने पर वह पहले से अधिक कष्ट अनुभव करता है। उदाहरणस्वरूप, जो मनुष्य साफ कपड़े पहनने लगता है, बाद में साफ कपड़ों के न होने से उसे विशेष कष्ट अनुभव होता है और उसकी कार्यक्षमता में कमी आ जाती है।

(७) आवश्यकताएं रीति-रिवाज पर निर्भर होती हैं। किसी समाज अथवा क्षेत्र में जिस प्रकार के रीति-रिवाज और फैशन होते हैं उन्हीं के अनुसार वहां की आवश्यकताएं भी होती हैं। उदाहरण के लिए, ग्रामवासियों की बहुत सी आवश्यकताएं नगर-निवासियों से भिन्न होती हैं। सभ्य जातियों की आवश्यकताएं असभ्य जातियों से अलग होती हैं।

(८) बुद्धि और विज्ञान के विकास के साथ-साथ आवश्यकताएं बढ़ती जाती हैं। जैसे-जैसे नई-नई वस्तुओं का आविष्कार होता जाता है, उनके लिए आवश्यकताएं भी उत्पन्न होती जाती हैं।

(९) आवश्यकताएं बार-बार उत्पन्न होती रहती हैं (Wants are recurrent)। यदि हम एक आवश्यकता को एक बार पूरा कर लेते हैं तो उससे हमें सदा के लिए छुट्टी नहीं मिल जाती है, क्योंकि कुछ समय पश्चात् वह फिर उत्पन्न हो सकती है। उदाहरण के लिए, भोजन की आवश्यकता बार-बार उत्पन्न होती रहती है।

(१०) एक आवश्यकता दूसरी आवश्यकता को जन्म देती है। इस प्रकार आवश्यकताओं का चक्र चलता ही रहता है। भोजन के उपरान्त आराम करने की आवश्यकता होती है। इसके लिए पलंग और बिस्तर चाहिए और इस प्रकार यह चक्कर चलता ही रहेगा।

(११) आवश्यकताएं वैकल्पिक होती हैं। (Wants are Alternative)। एक आवश्यकता को पूरा करने के अनेक उपाय अथवा साधन होते हैं। उदाहरणस्वरूप, मनोरंजन की आवश्यकता नाटक, सिनेमा अथवा गायन सम्मेलन से पूरी हो सकती है।

(१२) आवश्यकताएँ आविष्कार की जननी हैं। मानव जीवन की प्रगति ही आवश्यकताओं पर निर्भर है। जैसे-जैसे आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं, उनकी सन्तुष्टि के लिए नई-नई खोज और नये नये आविष्कार किये जाते हैं।

आवश्यकताओं का वर्गीकरण (Classification of Wants)—

भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की तीव्रता (Intensity) अलग-अलग होती है। कुछ आवश्यकताएँ अधिक आग्रह-पूर्ण (Urgent) होती हैं और कुछ कम। दूसरे शब्दों में, कुछ आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जिनके रहने से मनुष्य अधिक कष्ट का अनुभव करता है, अथवा जिनकी सन्तुष्टि से मनुष्य को अधिक सुख का अनुभव होता है। इसके विपरीत कुछ ऐसी भी आवश्यकताएँ हैं जिनके पूरा न होने से उतना अधिक दुःख नहीं होता और न उनकी तृप्ति ही उतना सुख देती है। आवश्यकता-पूर्ति से प्राप्त तृप्ति की मात्रा पर ही एक बड़े अंश तक मनुष्य की कार्यक्षमता (Efficiency) निर्भर रहती है। साधारणतया जिन आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक तृप्ति मिलती है अथवा जिनकी पूर्ति न होने से अधिक कष्ट अनुभव होता है, उनका कार्यक्षमता पर अधिक गहरा प्रभाव पड़ता है। आग्रह-पूर्णता (Urgency) अथवा कार्यक्षमता पर प्रभाव के अनुसार आवश्यकताओं को तीन प्रकार का माना गया है :—

(१) आवश्यक आवश्यकताएँ (Necessaries)।
(२) आराम सम्बन्धी आवश्यकताएँ (Comforts)।
(३) शौक अथवा विलासिता की आवश्यकताएँ (Luxuries)।

इन तीनों प्रकार की आवश्यकताओं के बीच भेद करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि इनके कार्यक्षमता पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया जाय।

*आवश्यक आवश्यकताएँ वे हैं जिनकी पूर्ति से मनुष्य की कार्यक्षमता बढ़ती है तथा जिनकी सन्तुष्टि न होने से कार्यक्षमता अथवा कार्य-शक्ति कम हो जाती है।** उदाहरणस्वरूप, भोजन की आवश्यकता, अर्थात् भूख एक ऐसी ही आवश्यकता है। खाना खा लेने से साधारणतया मनुष्य की कार्य-शक्ति बढ़ जाती है तथा खाना न मिलने से वह कम हो जाती है। यह सम्भव है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में ऐसा न होता हो, किन्तु अधिकांश दशाओं में ऐसा ही होता है। इसी प्रकार जाड़े के दिनों में पर्याप्त वस्त्रों की आवश्यकता पूर्ति काम करने की शक्ति को बढ़ाती है और उनका अभाव काम करने की शक्ति को कम कर देता है। उन सब वस्तुओं को जो किसी मनुष्य की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, हम आवश्यक वस्तुएँ (Articles of Necessity or Necessaries) कहते हैं।

इसी प्रकार आराम सम्बन्धी आवश्यकतायें (Comforts) वे हैं जिनकी पूर्ति से तो कार्य-शक्ति बढ़ती है, लेकिन पूर्ति न होने से कार्य-शक्ति घटती नहीं

* Necessaries are those wants the satisfaction of which increases efficiency and the non-satisfaction of which decreases efficiency or the ability to work.

है,[1] अर्थात् ये आवश्यकतायें ऐसी है कि इनके पूरा किये बिना भी हमारी काम करने की शक्ति ज्यो की त्यों बनी रहती है। निश्चय है कि इन आवश्यकताओं का कार्य-शक्ति पर प्रभाव तो पडता है पर यह प्रभाव उतना गहरा नहीं होता है, जितना कि आवश्यक आवश्यकताओं का होता है। दो-तीन घण्टे पढने के पश्चात् यदि एक विद्यार्थी एक प्याला चाय पीता है तो अवश्य ही उसकी अध्ययन शक्ति बढ जाती है, क्योंकि उसकी मानसिक थकावट कुछ कम हो जाती है, किन्तु चाय न पीने से उसकी शक्ति में कोई कमी न आवेगी। परन्तु यदि वह विद्यार्थी चाय पीने का आदी है तब बात दूसरी होगी। उस दशा मे चाय न पीने से उसकी कार्य-शक्ति में कमी पड सकती है, अतः बहुधा ऐसे विद्यार्थी के लिए जिसे चाय पीने की आदत नही है, अध्ययन कार्य के अन्तर्गत चाय पीना आराम देता है और इस प्रकार चाय उसकी आराम की आवश्यकता को पूरी करती है।

विलास की आवश्यकताओं का कार्यक्षमता पर प्रभाव और भी कम होता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति से कार्यक्षमता में कोई भी वृद्धि नहीं होती, वरन् कुछ दशाओं मे कार्यक्षमता उल्टी कम हो जाती है। इसके विपरीत पूर्ति न होने से कार्यक्षमता में कोई भी कमी नहीं पड़ती।[2] विलास की आवश्यकताओ को पूरा करने वाली वस्तुएँ जिन्हे हम विलास की वस्तुएँ (Luxuries) कहते है, दो प्रकार की होती है :—(१) हानिरहित और (२) हानिकारक। हानिरहित विलास की वस्तुओ का कार्यक्षमता पर कोई भी प्रभाव नही पड़ता है। उनके सेवन करने से उसमे वृद्धि नही होती तथा सेवन न करने से कमी नही पड़ती। हानिकारक विलास की वस्तुओ के सेवन से कार्य शक्ति उल्टी कम हो जाती है और सेवन न करने से वह यथास्थित रहती है। शानदार महल, विश्वविख्यात चित्रकारो के चित्र, इत्र, इत्यादि हानिरहित विलास की वस्तुएँ हैं, जिनका कार्य-शक्ति से कोई महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध नही है। शराब, भाँग, अफीम इत्यादि हानिकारक विलास की वस्तुयें हैं, जिनका सेवन करने से कार्यक्षमता उल्टी घट जाती है तथा जिनका सेवन न करने से कार्य-शक्ति में कमी नहीं आती है। प्रो० जाइड (Gide) ने इन्हे अनावश्यक आवश्यकताएँ (Superfluous Wants) कहा है और प्रो० ऐली (Ely) ने अत्यधिक व्यक्तिक उपभोग (Excessive Personal Consumption) कहा है। चैपमैन के अनुसार—"विलास की वस्तुयें वे वस्तुएँ हैं जिनका उपभोग कार्यक्षमता में कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि नही करता है, बल्कि कभी-कभी एक व्यक्ति की कार्यक्षमता को घटा देता

---

1. Comforts are those wants the satisfaction of which increases efficiency but the non-satisfaction of which does not decrease efficiency.

2. "Luxuries are wants the satisfaction of which does not increase efficiency but sometimes decreases it and the non satisfaction of which does not decrease efficiency.

है।"* नीचे दी हुई तालिका से आवश्यक, आराम और विलास की आवश्यकताओं का भेद और भी स्पष्ट हो जायेगा। इस तालिका में इन आवश्यकताओं की पूर्ति और अपूर्ति का कार्यक्षमता पर प्रभाव दिखाया गया है।

तालिका

आवश्यकता	कार्यक्षमता पर प्रभाव	
	पूर्ति से	अपूर्ति से
आवश्यक आवश्यकताएं	कार्यक्षमता बढ़ जाती है	कार्यक्षमता घट जाती है
आराम सम्बन्धी आवश्यकताएं	कार्यक्षमता बढ़ती है	कार्यक्षमता घटती नहीं है
विलास की आवश्यकताएं	कार्यक्षमता बढ़ती नहीं है वरन् कुछ दशाओं में कम हो जाती है	कार्यक्षमता घटती नहीं है

इस प्रकार हम देखते हैं कि आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति और अपूर्ति दोनों का कार्यक्षमता पर प्रभाव पड़ता है। आराम की आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रभाव तो पड़ता है, किन्तु अपूर्ति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हानिरहित विलास की आवश्यकताओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है, जबकि हानिकारक विलास की आवश्यकताओं की पूर्ति कार्यक्षमता को उल्टा घटा देती है।

कुछ विद्वानों ने आवश्यक आवश्यकताओं को भी तीन प्रकार का बताया है—(१) जीवन-रक्षक आवश्यकताएं (Necessaries for Existence), जिनका पूरा करना जीवित रहने के लिए आवश्यक होता है, जैसे—खाने या भोजन की आवश्यकता। (२) कार्यक्षमता रक्षक आवश्यकतायें (Necessaries for Efficiency), जिनकी सन्तुष्टि मनुष्य की कार्यक्षमता बनाये रखने के लिए आवश्यक होती है। इनकी पूर्ति मनुष्य को उसका कार्य करने योग्य बनाती है। पौष्टिक भोजन तथा पर्याप्त कपड़ों की आवश्यकतायें इसी प्रकार की आवश्यकतायें हैं और (३) प्रतिष्ठा-रक्षक आवश्यकताएं (Conventional Necessaries)। ये वे आवश्यकताएं हैं जिनका पूरा करना जीवन रक्षा तथा कार्यक्षमता के दृष्टिकोण से आवश्यक नहीं है, किन्तु कुछ कारणों से मनुष्य जीवन-रक्षक और कार्यक्षमता-रक्षक आवश्यकताओं को छोड़कर भी इन्हें पूरा करता है, क्योंकि इनकी पूर्ति के बिना वह विशेष कष्ट का अनुभव करता है। ऐसी आवश्यकताएं या तो आदत पर निर्भर होती हैं, जैसे—शराब, चाय या तम्बाकू की आवश्यकतायें अथवा वे मान, प्रतिष्ठा, रीति-रिवाज या फैशन से सम्ब-

* "Luxuries are things which when consumed do not appreciably add to and may even detract from a person's efficiency." Chapman : *Oulines of Political Economy*, p. 60.

न्धित होती हैं। अच्छे कपड़े, गहने इत्यादि की आवश्यकताएँ इसी प्रकार की हैं। इन्हें बहुत बार कृत्रिम अथवा बनावटी आवश्यकताएँ भी कहा जाता है।

स्मरण रहे कि ऊपर दिया हुआ आवश्यक आवश्यकताओं का वर्गीकरण हमारे लिए कोई नई समस्या उपस्थित नही करता है। इस प्रकार की तीनों आवश्यक आवश्यकताएँ पहले दी गई ऐसी आवश्यकताओं की परिभाषा के क्षेत्र मे आ जाती हैं। इस वर्गीकरण का महत्त्व केवल इतना ही है कि इससे हमारे आवश्यकता सम्बन्धी ज्ञान में थोड़ी और वृद्धि हो जाती है तथा आवश्यकता पूर्ति का क्रम और अधिक स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि यह निश्चय है कि आवश्यकताओं की पूर्ति उनकी व्यक्तिगत तीव्रता की अधिकता के अनुसार ही होती है।

आवश्यक, आरामदायक तथा विलास की वस्तुएँ समय, स्थान तथा व्यक्ति से सम्बन्धित हैं--

आवश्यक, आरामदायक और विलास की वस्तुओं मे जो भेद ऊपर दिया गया है वह ऐसा नही है कि हम किसी भी वस्तु के विषय मे निश्चय के साथ यह कह सकें कि वह केवल विलास की ही वस्तु है अथवा केवल आरामदायक या आवश्यक ही है। सत्य बात तो यह है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों मे कोई एक वस्तु इन तीनों में से किसी भी प्रकार की हो सकती है। निश्चय के साथ हम निर्णय तब ही कर सकते हैं जबकि हमें परिस्थिति विशेष का पूरा ज्ञान हो। समय, स्थान और व्यक्ति विशेष के अनुसार प्रत्येक वस्तु के गुण बदलते रहते हैं। जो वस्तु एक समय में आवश्यक है उसका किसी दूसरे समय मे ऐसा होना आवश्यक नही है। इसी प्रकार एक स्थान पर जो वस्तु आरामदायक है वह दूसरे स्थान पर विलास की वस्तु बन सकती है। ठीक इसी भाँति जिस वस्तु को एक व्यक्ति आवश्यक समझता है, दूसरा उसको आरामदायक समझ सकता है और तीसरा विलास की वस्तु।*

अब हम यह देखेंगे कि एक ही वस्तु अलग-अलग समय पर किस प्रकार आवश्यक, आरामदायक अथवा विलास की वस्तु हो सकती है। उदाहरण के लिये, गरम कोट को लीजिए। आगरा शहर मे दिसम्बर और जनवरी के महीने में गरम कोट आवश्यक है, क्योंकि जाड़ा इतना होता है कि यदि हम गरम कोट न पहनें तो हम ठीक तरह से काम नही कर सकते हैं, अर्थात् हमारी कार्य-शक्ति घट जाती है। और यदि हम गरम कोट पहन लेते है तो अधिक अच्छी तरह काम कर सकते है, अतः इन दिनों मे गरम कोट एक आवश्यक वस्तु है। यही कोट फरवरी और नवम्बर में आरामदायक बन जाता है। इन महीनों में जाडा इतना नही पडता है कि बिना कोट

* "The trem necessary and luxury are, however, relative terms. An article that was regarded as a luxury a hundred years ago, may as a result of the raising of the standard of li[illegible] now be deemed as necessary."—Dr. Richards : *Groundwork of E[illegible]* p. 129.

के काम करने मे कठिनाई हो, किन्तु यदि कोट पहन लिया जाये तो काम करने में अधिक आसानी हो जाती है और हम आराम का अनुभव करते हैं। इसमे पता चलता है कि इन दिनो मे गरम कोट पहनने से कार्य-क्षमता बढती है, किन्तु कोट न पहनने से उसमें कमी नहीं आती है। अप्रैल और मई के महीनो मे यही कोट एक हानिकारक विलास की वस्तु बन जाता है, क्योंकि इसके पहन लेने से कार्यक्षमता बढने के स्थान पर उल्टी घट जाती है तथा उसके न पहनने से कार्यक्षमता मे कोई कमी नहीं आती। इस प्रकार अलग अलग समय पर गरम कोट आवश्यक, आरामदायक अथवा विलास की वस्तु हो सकता है।

अलग-अलग स्थानो पर भी इसी प्रकार एक ही वस्तु विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है। यह सम्भव है कि एक वस्तु एक स्थान पर आवश्यक हो, दूसरे स्थान पर आरामदायक हो और तीसरे स्थान पर विलासपूर्ण हो। उदाहरणस्वरूप, ओवर कोट मंसूरी मे, जहां जाड़ा बहुत पडता है, आवश्यक है। उसके उपयोग से हमारी कार्य-शक्ति बढती है तथा उपयोग न करने से घट जाती है। इसके विपरीत अधिक जाडे के दिनो मे ओवर कोट मेरठ में अथवा आगरे मे, जहाँ उतनी अधिक सर्दी नहीं पडती है, आरामदायक है। बम्बई तथा मद्रास मे यही कोट एक विलास की वस्तु है, क्योंकि इसके पहनने से कार्यक्षमता मे कोई वृद्धि नहीं होती और न ही कार्यक्षमता मे कमी पड़ती है। वह केवल मान अथवा प्रतिष्ठा के लिए पहना जाता है।

ठीक इसी प्रकार जो वस्तु एक मनुष्य के लिए आवश्यक है वह दूसरे के लिए आरामदायक हो सकती है तथा तीसरे के लिए विलासिता मात्र। एक व्यस्त डाक्टर के लिए, जिसे बहुत सारे मरीजों को देखने जाना पडता है, मोटरकार आवश्यक हो सकती है। कार की सहायता से वह अधिक मरीजो को देख सकता है तथा किसी विशेष मरीज के पास शीघ्र पहुँच सकता है। इसके विपरीत कार के न होने से आने-जाने मे उसका बहुत समय नष्ट होता है और वह कुछ मरीजो को ठीक समय पर देख लेने में भी असमर्थ रहता है। अतः कार का उसकी कार्यक्षमता पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। एक व्यस्त वकील के लिए कार एक आरामदायक वस्तु हो सकती है, क्योंकि उससे उसकी प्रतिष्ठा बढती है और अधिक मात्रा मे मुवक्किल (Clients) मिलते हैं। इसके साथ-साथ न्यायालय जाने आने मे भी समय की बचत होती है। इस प्रकार कार्यक्षमता बढ जाती है, किन्तु कार न होने से उसकी कार्यक्षमता मे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है। एक सेठजी के लिए, जो कार केवल समाज में अपना मान रखने के लिए अथवा शाम-सवेरे सैर करने के लिए रखते हैं, कार एक विलास की वस्तु है। इसी प्रकार किसी और वस्तु के बारे मे भी कहा जा सकता है। फाउन्टेनपेन ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों के लिए साधारणतया आवश्यक होता है। ग्यारहवी तथा बारहवीं के कक्षाओं के विद्यार्थियो के लिये आरामदायक तथा सातवी और आठवीं कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए विलास की वस्तु।

ऊपर दिए हुए विवेचन से सिद्ध होता है कि किसी भी वस्तु विशेष के विषय में ऐसा कह देना सम्भव नहीं है कि वह किस प्रकार की आवश्यकता को पूरा करती है, जब तक कि हमें समय, स्थान तथा व्यक्ति का पूर्ण ज्ञान न हो। यदि हमे सारी परिस्थितियों का पता हो तो शायद हम इस प्रकार का निर्णय कर सकें। इसी से हम यह कहते है कि आवश्यक, आरामदायक तथा विलास निरपेक्ष (Absolute) शब्द नहीं हैं, वरन् सापेक्षिक (Relative) या तुलनात्मक शब्द है। ये समय, स्थान तथा व्यक्ति से सम्बन्धित हैं।

क्या विलासपूर्ण वस्तुओं का उपभोग उचित है?—

हम ऊपर देख चुके हे कि विलास की वस्तुएँ दो प्रकार की होती है:— हानिकारक और हानिरहित। जहाँ तक हानिकारक विलास की वस्तुओं का सम्बन्ध है उनके विषय में हमे यह कहने मे देर न लगेगी कि उनका उपभोग उचित नही है। उनके उपभोग के बिना ही हम अच्छे हैं, क्योकि उनके उपयोग न करने से हमारी कार्य शक्ति मे कोई कमी नही पडती। इसके विपरीत उनके उपयोग से उल्टी हमारी कार्यक्षमता घट जाती है। ऐसे पदार्थों के सेवन से हमे लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। यदि इनका उपभोग समाज द्वारा वर्जित कर दिया जाय तो कोई आपत्ति नही होगी। ऐसा करने से समाज की कार्य शक्ति क्षीण न होने पायेगी और उत्पत्ति बढ़ जाएगी। हानिरहित विलास की वस्तुओ के विषय में हम एक दम ऐसा नही कह सकते है। यह तो निश्चय है कि उनका उपभोग प्रत्यक्ष रूप मे हमारे जीवन मे सहायक नही है, क्योकि इससे हमारी कार्य-शक्ति बढती नहीं है और न उनका उपभोग न करने से हमारी कार्य-शक्ति कम ही होती है। इससे सिद्ध होता है कि उनका उपभोग हमारी कार्यक्षमता के लिए लेशमात्र भी महत्त्वपूर्ण नही है। तो क्या उनका उपभोग बेकार है? क्या समाज को उनका उपभोग भी वर्जित कर देना चाहिये? क्या ऐसा करने से समाज को कोई विशेष हानि होगी? क्या यह उचित है?

अनेक विद्वानो ने कुछ कारणों से हानिरहित विलास की वस्तुओं का उपभोग उचित बताया है, किन्तु जैसा कि हम अभी देखेंगे, उनके उपभोग के पक्ष मे बहुत सारी बातें इस प्रकार की कही गई हैं जो यथार्थ में उनके उपभोग के महत्त्व को सिद्ध नही करती हैं:—

(१) कुछ विद्वानों का विचार है कि इस प्रकार की वस्तुओ का उपभोग इसलिए उचित है कि उससे समाज में बेरोजगारी की समस्या एक अंश तक निबट जाती है। निश्चय है कि यदि ऐसी वस्तुओं का उपभोग बन्द कर दिया जायेगा तो उनकी उत्पत्ति भी नही की जायगी और इससे रोजगार (Employment) मे कमी पड़ जायगी, किन्तु इस कथन में शायद इस बात को मान लिया गया है कि विलास की वस्तुओ के स्थान पर दूसरे प्रकार की वस्तुओ की उत्पत्ति नहो की जायगी। यदि विलास की वस्तुओं के स्थान पर अधिक आवश्यक तथा आरामदायक वस्तुओं की उत्पत्ति की जाय तो रोजगार में कमी पड़ने का प्रश्न ही नही उठेगा। इस कारण इस तर्क में अधिक सार दिखाई नही पड़ता है।

(२) इसी प्रकार कुछ लोगो का मत है कि विलास की वस्तुएं कला को प्रोत्साहन देती है। अभिप्राय यह है कि अधिकांश विलास की वस्तुयें कला के नमूने होती हैं। सुन्दर चित्र, लकड़ी तथा पत्थर के अच्छे काम इसी प्रकार की वस्तुएं है। अब यदि इन चीजो की उत्पत्ति नही की जायगी तो कला की उन्नति नही हो पायेगी। इस विषय में केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्रथम तो सभी विलास की वस्तुएं कला को प्रोत्साहन नही देती हैं। दूसरे, यदि यह ठीक भी है कि ये वस्तुएं कला की उन्नति करती हैं तो इससे भी इनके उपभोग का औचित्य सिद्ध नही हो जाता है। कोई भी कला जो मानव जीवन को अधिक सुखी नही बना सकती, मनुष्य के लिए बेकार है। स्वयं कला का उचित होना इस बात पर निर्भर है कि वह मानव जीवन मे कहां तक सहायक है, अतः यदि विलास की वस्तुएं हमारे जीवन मे सहायक नही है तो उनके उपभोग को उचित सिद्ध करना कठिन है। ये केवल हमारी अनावश्यक आवश्यकताओं को ही पूरा करती हैं।

(३) इन वस्तुओ का उपभोग केवल एक ही दृष्टिकोण से उचित बताया जा सकता है और वह यह है कि ये मनुष्य के कार्य-उत्साह (Incentive to work) को बढाने और बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण काम करती हैं। दूसरे शब्दों मे, ये मनुष्य को अधिक कार्य करने, अपनी मानसिक और शारीरिक शक्तियो का अधिक उपयोग करने तथा अधिक सावधानी और जिम्मेदारी के साथ काम करने की ओर प्रेरित करती हैं। यह तो सभी जानते हैं कि विलास की वस्तुओ के उपभोग की सम्भावना मनुष्य को अधिक अच्छा कार्यकर्त्ता और अधिक सावधान उत्पादक बना देती है। यदि किसी मनुष्य की यह आशा हो कि अधिक शारीरिक और मानसिक परिश्रम के फलस्वरूप उसे अच्छा मकान, सुन्दर वस्त्र तथा बहुत सी और विलास की वस्तुएं प्राप्त होगी तो निश्चय ही वह अधिक परिश्रम करेगा। इसी प्रकार और केवल इसी अर्थ मे विलास की वस्तुएं हमारे जीवन में सहायक हैं। उत्साह बनाये रखने के लिए साम्यवाद ने भी समाज के भिन्न-भिन्न सदस्यो की आय के बीच अन्तर बनाये रखने के महत्त्व को मान लिया है।

यदि आय मे अन्तर न रहे तो काम करने के उत्साह मे बहुत कमी आ जायेगी और समाज की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति शिथिल हो जायेगी। आय के अन्तर का महत्त्व विशेष रूप से इसीलिये महत्त्वपूर्ण है कि इससे अधिक आय वाले लोग विलास की वस्तुओ का उपयोग कर सकते हैं। अतः विलास की वस्तुओ का भी मानव उपभोग मे महत्त्व है और इस उपभोग को पूर्णतया वर्जित कर देना उचित नहीं है, किन्तु समाज को कोई न कोई ऐसी नीति अवश्य अपनानी चाहिये, जिसके अन्तर्गत पहले इसके कि कोई विलास की वस्तुओ का उपभोग करे, सबको आवश्यक और आरामदायक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जानी चाहिए। ऐसी व्यवस्था जिसमे कुछ लोग विलासपूर्ण जीवन बिताते हो, जबकि अधिकांश लोग आवश्यक और आरामदायक वस्तुओं से भी वंचित रहते हैं, न तो उचित ही है और न समाज के लिए हितकर ही

है। समाजवाद इसी बात का प्रयत्न करता है कि विलास की वस्तुओं के उपभोग को बन्द न करे, किन्तु ऐसे उपभोग के पहले समाज के सभी सदस्यों की आवश्यक और आरामदायक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जानी चाहिये। यदि सबके लिए इस प्रकार की व्यवस्था हो जाती है तो इसके उपरान्त विलास की वस्तुओं का उपयोग उचित ही होगा।

आवश्यकताओं का संख्या-वर्द्धन (Multiplication of Wants)—

कभी-कभी यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या आवश्यकताओं का संख्या वर्द्धन वाञ्छनीय (Desirable) है, अर्थात् क्या हमे अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाना चाहिये अथवा उनको कम कर लेना अधिक उचित है? यह विषय विवादग्रस्त (Controversial) है। कुछ लोगों का विचार है कि हमें अधिक से अधिक आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिए, क्योंकि इसी से मानव सुख मे वृद्धि होगी। इसके विपरीत दूसरे मत के समर्थक यह कहते है कि वास्तविक सुख आवश्यकता-पूर्ति में नही है; वरन् आवश्यकता के अभाव में है।

आवश्यकताओं की संख्या-वर्द्धन के समर्थको का मत है कि प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति से हमें कुछ न कुछ सन्तुष्टि अथवा तृप्ति (Satisfaction) मिलती है, मनुष्य का ध्येय होता है अधिकतम् तृप्ति की प्राप्ति, अतः जितनी भी अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जायेगी उतनी ही कुल शुद्ध सन्तुष्टि (Total Net-Satisfaction) अधिक होगी। अब क्योंकि सन्तुष्टि पर ही मानव सुख निर्भर है, इसीलिये ऐसा करने से मानव सुख बढ़ जायेगा। इसके साथ साथ हमे यह भी जानना चाहिये कि सभ्यता और उन्नति का आवश्यकताओ की संख्या-वर्द्धन से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। जब तक आवश्यकतायें नही बढ़ती है, मनुष्य उन्नति की ओर अग्रसर नही होता है। आधुनिक युग मे सभ्य और असभ्य जातियों मे जो भेद है वह मुख्यतया आवश्यकताओं की संख्या पर ही निर्भर है। मानव सभ्यता का विकास इसी में है कि प्रकृति पर विजय पाकर अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाये। आवश्यकतायें ही मनुष्य की क्रियाओ को जन्म देती है। उनके कम हो जाने से मनुष्य आलसी हो जाता है और धीरे-धीरे अशक्त बन जाता है। उसकी कार्य-क्षमता घटती चली जाती है। यह तो सभी जानते है कि मनुष्य का जीवन-स्तर (Standard of Living) उसके समस्त उपभोग, जिसमे आवश्यक, आरामदायक तथा विलासपूर्ण तीनो ही प्रकार की वस्तुयें सम्मिलित हैं, पर निर्भर होता है। यह भी निश्चय है कि जीवन-स्तर का हमारी कार्य-कुशलता (Efficiency) पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। एक निश्चित स्थान से नीचा जीवन-स्तर हमारी कार्य-कुशलता के लिये घातक होता है और उसे बहुत कम कर देता है। इससे सिद्ध होता है कि आवश्यकताओ को कम करके हम अच्छे उत्पादक नही रह पायेंगे।

ऊपर दी हुई व्याख्या से पता चलता है कि आवश्यकता-वर्द्धन एक आवश्यक

कार्य है, किन्तु इसके विपक्ष में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। भारतवर्ष मे मनुष्य के जीवन का ध्येय आध्यात्मिक माना गया है। सच बात तो यह है कि भारतीय संस्कृति का आधार भी यही है। यहाँ सदैव से ही आवश्यकताओं को कम करने पर जोर दिया गया है। हाल में प्रोफेसर जे० के० महता ने आवश्यकता शून्यता (Wantlessness) का प्रचार करने का प्रयत्न किया है।* उन्होंने सुख (Pleasure), दुख (Pain) और आनन्द (Happiness) मे भेद किया है। आवश्यकता-पूर्ति से केवल सुख मिलता है। आवश्यकता के अतृप्त रहने से दु.ख होता है। दूसरे शब्दो में, दुःख वह मानसिक परिस्थिति है जो किसी आवश्यकता की उपस्थिति से उत्पन्न होती है। आवश्यकता पूर्ति के उपरान्त की मानसिक दशा सुख है। सुख और दुःख का चक्र चलता ही रहता है, एक आवश्यकता उत्पन्न होती है तो दुख होता है फिर उसकी पूर्ति की जाती है तो सुख मिलता है। एक आवश्यकता की पूर्ति दूसरी आवश्यकता को जन्म दे देती है और इसी प्रकार यह चक्र चलता रहता है।

सुख और दुख एक के बाद दूसरे क्रमशः चलते रहते हैं और इनका कभी भी अन्त नही होता है। सुख और आनन्द दोनो एक नही होते हैं। सुख दु.ख को जन्म देता है तो फिर आनन्द कहाँ मिल सकता है। आनन्द तो वह मानसिक दशा है जिसमे दुःख और सुख दोनो का चक्र ही न रहे, अर्थात् न सुख हो और न दुःख। यह दशा केवल आवश्यकता शून्यता से ही सम्भव है, अतः आनन्द अथवा वास्तविक सुख की प्राप्ति के लिये आवश्यकता रहित होना आवश्यक है। सुख और दुख का चक्र केवल उसी दशा मे समाप्त हो सकता है जबकि आवश्यकता ही न रहे। अब हमे यह भी जानना चाहिये कि समस्त आवश्यकताओ को समाप्त कर देना अधिकाश मनुष्यो के लिए सम्भव नही है, किन्तु कुछ आवश्यकताओ को निश्चय ही घटाया जा सकता है। जितना ही हम अपनी आवश्यकताओ को कम करेंगे उतनी ही आनन्द की प्राप्ति हमारे लिए अधिक सम्भव होती चली जायगी, अतः हमारा ध्येय होना चाहिये आवश्यकताओ को कम करना।

QUESTIONS

१. आवश्यकताओं को अनिवार्य आवश्यकताओं, सुविधाओं एवं विलासिताओं में किस प्रकार विभक्त किया जाता है? अपने निजी जीवन से उदाहरण देकर इसे स्पष्ट कीजिये। (आगरा, बी० ए० पार्ट १, १९५७)

2. Distinguish between 'Necessaries', 'Comforts' and 'Luxuries'. (Agra, B. A. Part I, 1955)

---

* J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory.*

3. "Thus the category into which a particular article can be classified into Necessaries, Comforts and Luxuries, is determined by four variable items *viz.*, the individual consumer, the particular unit of the article, the time and the place." —(Basu). Explain fully the above statement with special reference to Indian conditions. (Agra, B. A., 1942)

4. Write a short note on—"Defence of Luxury." (Agra, B. A. Part I, 1953)

5. "Man's wants have various characteristics, each of which is of great importance, for on each depends some great economic law." Amplify this statement. (Raj., B. A, 1952)

6. Explain the difference between Want and Demand. Give the main characteristics of Want. How do charges in income affect our Want? (Raj., B. Com., 1959)

7. You are told by a man in the street that a car is luxury, a cycle a comfort and wheat a necessity. Would you agree with this classification? If not, enunciate your principles for correct classification. (Agra, B. A., 1954, 1946; Raj, B. A, 1954; Raj, B. Com., 1956; Gorakhpur Pt I, 1958)

८. नोट लिखिये—अनिवार्यताएँ, आरामदायक वस्तुयें तथा विलासयुक्त वस्तुयें (आगरा, बी० ए० पार्ट १, १९५६)

9. Discuss the desirability of controlling economic wants deliberately. (Raj., B. A., 1957)

10. Distinguish articles of Luxury (विलासिता की वस्तुयें) from Necessaries. Give a list of your own articles of luxury which would become your necessaries. (Raj, B A., 1959)

11. How would you classify consumption into necessaries, comforts and luxuries? Explain your answer by taking examples of such goods in common use in India. (Agra, B. Com. Part I, 1956)

12. How would you classify Wants into Necessaries, Comforts and Luxuries? Illustrate by examples from the life of Indian agriculturist. (Agra, B. A., 1944)

अध्याय ८

माँग और उसकी लोच

(Demand and the Elasticity of Demand)

माँग किसे कहते हैं?—

अर्थशास्त्र के दूसरे शब्दो की भांति अर्थशास्त्र मे माँग शब्द के भी अलग अलग अर्थ लगाये गये हैं। कुछ अर्थशास्त्रियो ने तो इस शब्द को उसके मनोवैज्ञानिक अर्थ मे लिया है और कुछ ने भौतिक अर्थ में। प्रथम अर्थ मे माँग "*केवल एक सप्रभाविक इच्छा है।·······इसमें तीन बातें शामिल होती हैं—(१) किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा, (२) उस वस्तु को खरीदने की शक्ति और (३) खरीदने के लिए इस शक्ति के उपयोग की तत्परता।*"[1] इस अर्थ मे माँग और आवश्यकता दोनों के एक ही अर्थ लगाये गये हैं। यह हम पहले ही देख चुके है कि यह ठीक नही है। माँग हम उस आवश्यकता को कहते हैं जो पूरी की जाती है।

भौतिक अर्थ में माँग का अभिप्राय किसी वस्तु की उस मात्रा से होता है जो एक निश्चित कीमत पर खरीदी जाती है। इस अर्थ में माँग सदा कीमत से सम्बन्धित होती हैं।[2] किसी वस्तु की माँग इतनी है ऐसा कहने का लगभग कुछ भी अर्थ नही होता है, जब तक कि हम यह न कह दें कि इतनी माँग किस कीमत पर है और यह किस समय से सम्बन्धित है। कैरनीज के शब्दो मे—"कोयले की माँग का अर्थ कोयले की उस मात्रा से नही होता है जिसको कि लोगो को आवश्यकता है अथवा जो वे लेना चाहेंगे, यह तो सप्रभाविक माँग होती है और उस मात्रा द्वारा सूचित होती है जो एक दी हुई कीमत पर लोग खरीदने को तैयार रहते हैं।"[3] बेनहाम

---

1. "Demand is effective desire......Demand implies three things—(i) desire to possess a thing, (ii) means of purchasing it and (iii) willingness to use these means for purchasing it."—Penson: *Economics of Everyday Life*, p. 107.

2. "We must mean by the word demand the quantity demanded and remember that this is not a fixed quantity but, in general, varies according to value."—J. S. Mill: *Principles of Economy*, Vol III, p. 4.

3. Demand for coal does not mean the amount of coal which people need or would like to have but the effective demand, the amount which people are willing to buy at some specified price." — Cairnes: *Introduction to Economics*, p. 151.

(Benham) ने माँग की और भी स्पष्ट परिभाषा दी है। उनके अनुसार माँग का सम्बन्ध कीमत और समय दोनों से होता है। "*एक निश्चित कीमत पर किसी वस्तु की माँग उसकी वह मात्रा है जो उस कीमत पर एक निश्चित काल में खरीदी जाती है।*"* जिस निश्चित कीमत पर कोई ग्राहक किसी वस्तु विशेष को खरीदने के लिए तैयार रहता है वह उसकी माँग की कीमत (Demand Price) कहलाती है।

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि इन दोनों प्रकार की परिभाषाओं का अन्तर केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। जब माँग को केवल मानसिक विचार के दृष्टिकोण से देखा जाता है तो माँग मनोवैज्ञानिक रूप में हमारे सामने आती है। इसके विपरीत व्यावहारिक जीवन में माँग का भौतिक अर्थ ही अधिक सही होता है।

माँग का नियम (The Law of Demand)—

माँग शब्द की परिभाषा पहले की जा चुकी है। यह बात भी स्पष्ट कर दी गई है कि माँग का सम्बन्ध सदैव कीमत से होता है। किसी बाजार अथवा मण्डी में किसी समय विशेष में किसी वस्तु की कितनी माँग होगी, यह उसके दामों पर निर्भर होता है। बहुधा ऐसा देखने मे आता है कि जब किसी वस्तु के दाम गिर जाते हैं तो लोग उसे अधिक मात्रा मे खरीदने लगते हैं। इसी प्रकार यदि किसी वस्तु के दाम बढ जाते है, अर्थात् वह पहले से अधिक मँहगी हो जाती है तो उसको कम मात्रा मे खरीदा जाता है। किसी भी दूकानदार से इस सत्य की पुष्टि की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, इसी बात को हम इस प्रकार कह सकते है कि दाम के गिरने पर किसी वस्तु की माँग बढ जाती है तथा दाम बढने पर माँग कम हो जाती है। यह कथन साधारण अनुभव पर निर्भर है। ऐसा सम्भव है कि कुछ दशाओं मे ऐसा न होता हो। कुछ परिस्थितियों मे वास्तव मे ऐसा नही होगा तथा यह देखने मे आता है कि दाम बढ़ने पर माँग भी बढ जाती है। उदाहरणस्वरूप, यदि भविष्य मे किसी वस्तु के दाम बहुत चढ जाने की आशा है तो इस समय उसके दाम बढ जाने पर भी लोग उसे पहले से अधिक मात्रा मे खरीदेंगे। इसी प्रकार कुछ वस्तुओं के विषय में यह भी सम्भव है कि दाम गिर जाने के उपरान्त भी उनकी माँग कम हो जाये। यदि कोई नई निकाली हुई औषधि रोग नाश के लिये निष्फल सिद्ध होती है तो दाम घट जाने पर भी उसकी माँग कम हो जायेगी। इस प्रकार हम देखते है कि सब दशाओं मे ऐसा नही होता कि दाम गिरने पर माँग बढे, न सब दशाओं मे दाम बढ़ने पर माँग में कमी आती है, किन्तु अधिकांश वस्तुओं के विषय मे तथा अधिकांश परिस्थितियों मे उपरोक्त कथन सत्य होता है। *साधारणतया माँग का घटना-बढ़ना दाम की घटती-बढ़ती की विपरीत दिशा में होता है। माँग की प्रकृति अथवा प्रवृत्ति इस प्रकार की है कि उसमें*

* "The demand for anything t a given pr ce i the a unit of it which will be bought per unit of time at that price."—Benham: *Economics*, • 36.

*कीमत की विपरीत दिशाओं में परिवर्तन होते हैं।** माँग की इस प्रवृत्ति को अर्थशास्त्रियों ने माँग के नियम का नाम दिया है। अर्थशास्त्र के और बहुत से नियमो की भाँति यह नियम भी साधारणतया (In general) ही सही होता है। इसका हर दशा में सही होना आवश्यक नही है।
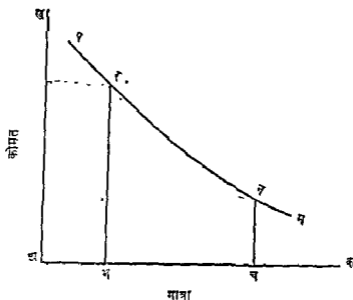
ऊपर दिये हुये रेखा-चित्र मे माँग के इस नियम का चित्रण किया गया है। प म रेखा माँग की वक्र रेखा है। अ ख रेखा पर द म की इकाइयाँ नापी गई है और अ क रेखा पर माँग की मात्रायें।

इस चित्र के देखने से पता चलता है कि र भ दाम पर माँग की मात्रा अ भ के बराबर है तथा न च दाम पर यह मात्रा बढ कर अ च के बराबर हो जाती है, अतः सिद्ध होता है कि दाम के घटने के साथ-साथ माँग की मात्रा बढ़ जाती है। इसके विपरीत हम यह भी कह सकते हैं कि दाम के बढने से माँग कम हो जाती है। इस प्रकार दाम के परिवर्तनो के साथ-साथ माँग में भी परिवर्तन होता है, किन्तु इन परिवर्तनो की दिशा दाम की प्रतिविरोधी (Opposite) होती है।

यहाँ पर माँग के नियम की कुछ परिभाषायें दे देना आवश्यक प्रतीत होता है। *मार्शल का कथन है कि "बिक्री के लिए जितनी ही अधिक मात्रा हो उतनी ही ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए कीमत भी नीची होनी चाहिए, ताकि ग्राहक मिल सकें। दूसरे शब्दों में, कीमत के गिरने से माँग बढ़ती है और कीमत*

* "Changes in demand are in the opposite direction to the changes in price.

के ऊपर उठने से माँग घटती है।''[1] इसी प्रकार टामस का विचार है कि ''एक निश्चित समय पर प्रचलित कीमत पर एक वस्तु अथवा सेवा की माँग उससे अधिक होगी जितनी कि उससे ऊँची कीमत पर होती है और उससे कम होगी जो उससे नीची कीमत पर होती है।''[2] इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ''किसी वस्तु की कीमत-वृद्धि के साथ-साथ उसकी माँग घटती है और कीमत की कमी के साथ उसकी माँग बढ़ती है, यदि माँग की दशाओं में कोई परिवर्तन नहीं होता है।''[3] सबसे छोटी परिभाषा बेनहाम ने की है। उनके अनुसार—''माँग की मात्रा कीमत से सम्बन्धित होती है।''[4] इन परिभाषाओं में मान्यता के रूप में यह स्वीकार कर लिया गया है कि माँग की यह प्रवृत्ति तभी दृष्टिगोचर होती है जबकि अन्य बातें यथास्थिर रहती हैं। कुछ परिभाषाओं में तो इस बात का स्पष्ट उल्लेख भी कर दिया गया है।

माँग में इस प्रकार परिवर्तन होने के कई कारण होते हैं, किन्तु विशेष रूप से हमें यह जानना चाहिए कि जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु अथवा सेवा को खरीदता है तो इससे उसे कुछ उपयोगिता की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार जो दाम वह इस वस्तु अथवा सेवा के बदले में देता है इसके रूप में कुछ उपयोगिता उसके पास से निकल जाती है। जब किसी वस्तु के दाम गिर जाते हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि किसी निश्चित कीमत पर उस वस्तु की प्राप्ति पहले से अधिक मात्रा में की जा सकती है अथवा इस प्रकार समझिये कि उस वस्तु विशेष की प्रत्येक इकाई (Unit) के बदले में पहले से कम कीमत देनी पड़ती है, अर्थात् पहले से कम उपयोगिता हमारे पास से जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि पहले से कम उपयोगिता देकर हम पहले से अधिक मात्रा में उपयोगिता प्राप्त कर लेते हैं। इसी कारण हम उस वस्तु की अधिक

---

1. "The grater the amount to be sold, the smaller must be the price at which it is offered in order that it may find purchaser or in other words, the amount demanded increases with a fall in price and diminishes with a rise in price."—Marshall : *Principles of Economics*, p. 99.

2. "At any given time, the demand for a commodity or service at the prevailing price is greater than it would be at a higher price and less than it would be at a lower price."—S. E. Thomas : *Elements of Economics*, pp. 52-53.

3. "A rise in the price of a commodity or service is followed by reduction in demand and a fall in price is followed by an increase in demand if conditions of demand remain constant."—K. K. Dewett : *Modern Economic Theory*, p. 66.

4. "......amount sold is the function of the price of the good."—Benham : *Economics*, p. 47.

इकाइयों को खरीदने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत कीमत बढ़ जाने पर हम उसी वस्तु की प्रत्येक इकाई के लिए पहले से अधिक दाम देते हैं, अर्थात् प्रत्येक इकाई की प्राप्ति में पहले से अधिक उपयोगिता मुद्रा के रूप में हमारे पास से निकल जाती है और इसीलिए हम उस वस्तु को पहले से कम मात्रा में खरीदने लगते हैं। यह तो सभी जानते हैं कि साधारणतया मनुष्य के पास धन सीमित मात्रा में होता है और इस धन का व्यय बहुत सारी वस्तुओं और सेवाओं की प्राप्ति पर किया जाता है। किसी वस्तु विशेष की कीमत बढ़ जाने से मुद्रा की प्रत्येक इकाई के बदले में दूसरी वस्तुओं तथा सेवाओं की अपेक्षा उसकी कम मात्रा मिलती है, अतः हम उस वस्तु विशेष पर व्यय कम करके दूसरी वस्तुओं पर अधिक व्यय करने लगते हैं और इस प्रकार उस वस्तु के लिए हमारी मांग कम हो जाती है।

मांग की सारिणी अथवा मांग की अनुसूची (The Demand Schedule)—

किसी बाजार में एक निश्चित काल में किसी वस्तु की मांग के सम्बन्ध में पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह जानना आवश्यक होता है कि *विभिन्न कीमतों पर उस वस्तु की कितनी-कितनी मात्राओं की मांग होती है। जब इस प्रकार के ब्यौरे को एक तालिका के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो उस तालिका को हम मांग की सारिणी कहते हैं।** ऐसी सारिणी एक ही वस्तु के लिए बनाई जाती है और इसमें यह दिखाया जाता है कि विभिन्न कीमतों पर वस्तु की कितनी-कितनी मात्राएं खरीदी जाती हैं?

इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि किसी वस्तु की मांग पर अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। उपभोक्ताओं की मांग उपभोक्ताओं की संख्या, उनकी मौद्रिक आय (Money Income) और वस्तु की कीमत पर निर्भर होती है। मांग की सारिणी बनाते समय यह मान लिया जाता है कि इन सब बातों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। इस प्रकार मांग की सारिणी केवल यह दिखाने का प्रयत्न करती है कि अन्य बातों के यथास्थिर रहने की दशा में कीमतों के परिवर्तनों का वस्तु की मांग की मात्रा पर क्या प्रभाव पड़ता है।

मांग की सारिणी दो प्रकार की हो सकती है—(१) व्यक्तिगत मांग की सारिणी (Individual Demand Schedule), जिसमें एक व्यक्ति द्वारा विभिन्न कीमतों पर वस्तु विशेष की खरीदी हुई मात्राएं दिखाई जाती हैं और (२) बाजार की मांग की सारिणी (Market Demand Schedule), जिसमें एक बाजार में वस्तु विशेष की विभिन्न कीमतों पर बिकने वाली मात्राएं दिखाई जाती हैं। निम्न तालिका बाजार के मांग की सारिणी को दिखाती है :—

---

* Benham : *Economics*, pp. 36 37.

चाय की मांग की सारिणी

कीमत प्रति पौण्ड	एक मास में माँग की मात्रा
३ रुपये	२,०००
३ रुपये १० नये पैसे	१,६५०
३ ,, २० ,,	१,६००
३ ,, ३० ,,	१,८००
३ ,, ४० ,,	१,७००
३ ,, ५० ,,	१,५५०
३ ,, ६० ,,	१,४००

माँग की सारिणी के सम्बन्ध मे दो बातों का ध्यान में रखना आवश्यक है—(१) माँग की सारिणी किसी विशेष स्थान, विशेष समय और विशेष वस्तु से सम्बन्धित होती है। यदि तीनो मे से किसी एक मे भी परिवर्तन होते हैं तो माँग की सारिणी मे भी परिवर्तन हो जायेंगे। (२) माँग की सारिणी पूर्णतया निश्चित नही होती है। यह बड़े अंश तक अनुमानित होती है; क्योंकि इस पर ग्राहक की मनोवृत्ति का भी प्रभाव पडता है। वैसे भी एक बाजार मे अमीर और गरीब दोनो ही प्रकार के गाहक आते हैं और दोनों के खरीदने के उत्साह में भारी अन्तर होता है। केवल अनुमान के आधार पर ही हम यह कह सकते हैं कि अमुक कीमत पर माँग की मात्रा इतनी होगी।

माँग की रेखा नीचे की ओर गिरती हुई रेखा क्यों होती है ? (Why does the Demand Curve Slop Downwards)—

जैसा कि मांग के नियम के रेखा चित्र में दिखाया गया है और माँग की सारिणी से भी स्पष्ट होता है कि माँग की रेखा ऊपर से नीचे की ओर जाती है। बात यह है कि किसी वस्तु की कीमत के गिरने से उसकी अधिक बिक्री होने लगती है और कीमत के बढने से बिक्री घट जाती है। इसी से माँग की रेखा ऊपर से नीचे की ओर जाती है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि ऐसा होता क्यो है ? कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आय को इस प्रकार व्यय करना चाहता है कि उसे अधिकतम् सन्तोष (Maximum Satisfaction) अथवा अधिकतम् कुल उपयोगिता प्राप्त हो। इसके लिये यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति अपनी आय को आवश्यकता की विभिन्न वस्तुओ पर इस प्रकार व्यय करे कि प्रत्येक वस्तु की अन्तिम इकाई से समान उपयोगिता मिले। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि व्यय की हुई मुद्रा की अन्तिम इकाई की उपयोगिता खरीदी जाने वाली वस्तु की अन्तिम इकाई की उपयोगिता से कम न हो। यही कारण है कि जब किसी वस्तु की कीमत बढती है तो उसकी माँग घट जाती है, क्योकि ऐसी दशा में पहले से अधिक मुद्रा उस वस्तु की अन्तिम इकाई

के बदले मे दी जाती है। दूसरे शब्दों मे, एक उपभोक्ता वस्तु की अन्तिम इकाई खरीद कर जितनी उपयोगिता प्राप्त करता है उससे अधिक उपयोगिता वह उस मुद्रा के रूप मे दे देता है जो उसने उस वस्तु की कीमत के रूप में दी है। ऐसी दशा मे वस्तु को कम मात्रा मे खरीदना ही लाभदायक होगा।

इसके विपरीत जब किसी वस्तु के दाम घट जाते है तो उसकी अन्तिम इकाई के बदले मे पहले से कम मुद्रा दी जाती है। ऐसी दशा मे वस्तु की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता व्यय की जाने वाली मुद्रा की उपयोगिता से अधिक होती है और उपभोक्ता को उपयोगिता का लाभ होता है, अत. वस्तु को अधिक मात्रा मे खरीदा जाता है। यही कारण है कि मांग की रेखा नीचे को गिरती हुई रेखा होती है।

साधारणतया तो माँग की रेखा का रूप यही होता है, परन्तु कुछ ऐसी भी दशाएं होती है, जिनमे माँग की रेखा ऊपर से नीचे की ओर जाने के स्थान पर नीचे से ऊपर की ओर जाती है। बेनहाम का विचार है कि ऐसा निम्न चार दशाओ में होता है :—

(१) यदि किसी वस्तु की कीमत बढती है और ग्राहकों को यह विश्वास हो जाता है कि भविष्य मे कीमत और भी बढेगी तो वे ऊँची कीमत पर भी वस्तु को पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे खरीदने लगेंगे। सट्टा बाजार में बहुधा ऐसा ही होता है।

(२) कुछ धनी ग्राहक कुछ वस्तुओ को केवल इसीलिए खरीद सकते है कि उनकी कीमते ऊँची हो गई हैं, ताकि वे अपने धन का प्रदर्शन कर सके। ऐसी दशा मे कीमतो के बढने के साथ-साथ माँग भी बढेगी।

(३) कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जब किसी वस्तु की कीमत बढ जाती है तो लोग उसे अधिक उपयोगी अथवा अधिक अच्छा समझने लगते हैं; ऐसी दशा मे कीमत की वृद्धि के साथ-साथ मांग भी बढ जाती है।

(४) भोजन की आवश्यक वस्तुओ, जैसे बाजरे की माँग कीमत बढने के साथ साथ बढ सकती है। यदि बाजरे के दाम बढते हैं तो निर्धन लोग बाजरे के उपभोग मे कमी नही कर सकेंगे। उन्हे दूसरी वस्तुओ के उपभोग में कमी करके बाजरा खरीदना पडेगा। ऐसी दशा में यह सम्भव है कि अधिक मँहगे खाद्य पदार्थों का उपभोग छोड दिया जाय और उनके स्थान पर और अधिक बाजरा खरीदा जाय, अतः बाजरा की कीमत के बढ जाने पर भी उसकी माँग घटने के स्थान पर उल्टी बढ़ जायगी।

स्मरण रहे कि उपरोक्त अपवाद कुछ थोड़ी सी दशाओं में सम्मुख आते हैं। साधारण परिस्थितियों में मांग का नियम सही होता है और मांग की मात्रा के परिवर्तन कीमतों की विपरीत दिशाओं में होते हैं।

माँग के घटने और बढ़ने का अर्थ (The Meaning of the Increase and Decrease in Demand)—

मांग के घटने और बढ़ने की बात तो बार-बार कही गई है, अब हम यह देखेंगे कि मांग के घटने और बढ़ने का अर्थ क्या होता है। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि मांग सदैव कीमत से सम्बन्धित होती है। माँग के बढ़ने के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) पहले की बराबर कीमत पर ही वस्तु की पहले से अधिक मात्रा खरीदी जाय और (२) पहले से ऊँची कीमत पर भी वस्तु की पहले की बराबर ही मात्रा खरीदी जाय। इसी प्रकार मांग के घटने के भी दो अर्थ हो सकते सकते हैं—प्रथम, पुरानी कीमत पर वस्तु की पहले से कम मात्रा खरीदी जाय और दूसरे, पहले से नीची कीमत पर वस्तु की पहले के बराबर ही मात्रा खरीदी जाय। नीचे के रेखा-चित्र में चाय की मांग की वृद्धि और कमी को दिखाया गया है—
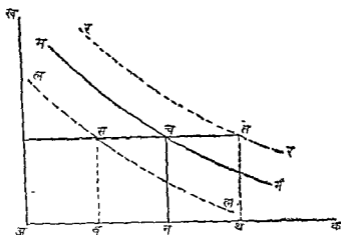
इस रेखा-चित्र में **म म** मांग की प्रारम्भिक रेखा है। **च न** कीमत पर मांग की मात्रा **अ न** के बराबर है। **र र** रेखा मांग की वृद्धि को दिखाती है, क्योंकि **त थ** कीमत पर (**त थ** भी **च न** के बराबर है) मांग की मात्रा **अ थ** के बराबर हो जाती है, जो **अ न** से अधिक है, जिससे पता चलता है कि मांग बढ़ गई है। **ल ल** रेखा मांग के घटने को दिखाती है। **स व** कीमत पर (**स व = च न**) मांग की मात्रा घट कर केवल **अ व** के बराबर रह जाती है, जो **अ न** से बहुत कम है, अतः मांग घट गई है।

माँग की लोच क्या है?—

मांग की प्रवृत्ति के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। हम यह देख चुके हैं

कि कीमत में परिवर्तन होने के साथ-साथ माँग में भी परिवर्तन होते हैं, किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि सभी वस्तुओ तथा सेवाओं की कीमतो में एक जैसा परिवर्तन होने पर मांग में समान परिवर्तन नही होते हैं। अनुभव से पता चलता है कि कुछ वस्तुएं और सेवाएं ऐसी हैं कि कीमत के थोडा सा बढ जाने पर उनकी माँग में बहुत अधिक कमी हो जाती है और कीमत मे थोड़ी सी कमी हो जाने पर उनकी मांग बहुत बढ जाती है। इसके विपरीत कुछ ऐसी वस्तुयें भी हैं जिनकी माँग पर उनकी कीमतो के घटने-बढने का कोई विशेष प्रभाव नही पड़ता है। उनकी मांग प्राय: ज्यो की त्यो बनी रहती है। दूसरे शब्दो में, हम इस प्रकार कहते है कि कुछ वस्तुओं की मांग मे परिवतन की गति अधिक होती है और कुछ में कम। कीमत के समान परिवर्तन का प्रभाव भिन्न-भिन्न वस्तुओ और सेवाओं की माँग पर अलग-अलग पडता है। उदाहरणस्वरूप, बहुत अच्छी किस्म के साबुन के दामो में २५% की वृद्धि होने से उसकी माँग में बहुत कमी हो जायेगी। इसके विपरीत नमक के दामों के २५% बढने पर नमक की माँग मे कोई विशेष अन्तर नही पडेगा। यह तो निश्चय है कि बढिया साबुन के दाम बढ जाने पर लोग उसे पहले से कम मात्रा मे खरीदेंगे, किन्तु नमक के विषय मे ऐसा नही कहा जा सकता। इससे पता चलता है कि समान कीमत परिवर्तन का प्रभाव विभिन्न वस्तुओ की माँग पर असमान होता है। *कीमत के परिवर्तन के कारण किसी वस्तु की माँग जिस वेग से बदलती है, उसे माँग की लोच कहते हैं।*[1] स्मरण रहे कि माँग की लोच केवल किसी वस्तु की माँग के परिवतन के वेग अथवा उसकी गति को सूचित करती है। यह हमे बताती है कि कीमत के घटने-बढने से माँग कितनी तेजी से बढती-घटती है। दूसरे शब्दो मे, माँग की लोच हमे कीमत और माँग के परिवर्तन की पारस्परिक घनिष्टता का आभास कराती है। यह कीमत और माँग के पारस्परिक सम्बन्ध (Co-relation) की माप है।

बेनहाम के अनुसार—"यह विचार (माँग की लोच) कीमत के एक छोटे से परिवर्तन के माग की मात्रा पर पड़ने वाले प्रभाव से सम्बन्धित है।"[2] "माग को लोच कीमत के थोडे से परिवर्तन के साथ माँग के बदल जाने की क्षमता है।"[3] इस प्रकार माँग की लोच कीमत और माँग की मात्रा के परिवर्तनो के सम्बन्ध को दिखाती है। कैरनक्रास (Cairncross) के अनुसार—"*किसी वस्तु की माँग*

---

1. Elasticity of demand is the rate at which the demand for a commodity changes in response to the changes in price.

2 "This concept relates to the effect of a small change in price upon the amount demanded"—Benham: *Economics*, p. 48.

3. "Elasticity of Demand is the capacity of demand to change with the least change in price."—J. K. Mehta and others: *Fundamentals of Economics* p. 64.

की लोच उस वेग को दिखाती है जिससे कि कीमतों के परिवर्तनों के साथ खरीदी जाने वाली मात्रा में परिवर्तन होते हैं।"[1]

मांग की लोच की माप—

कुछ लेखकों ने मांग की लोच के स्थान पर अभियाचन-प्रत्यास्थता शब्द का भी प्रयोग किया है। मार्शल के शब्दों में—"किसी बाजार में माग की लोच इस आधार पर कम या अधिक होती है कि कीमत की एक निश्चित कमी के साथ मांग की मात्रा कम या अधिक बढ़ती है और कीमत की एक निश्चित वृद्धि के साथ कम या अधिक घटती है।"[2] लोच के अनुसार माग पांच प्रकार की होती है :—लोचदार (Elastic) माग, बेलोच (Inelastic) माग, साधारण लोचदार (Moderately Elastic) मांग, पूर्णतया लोचदार माग (Perfectly Elastic Demand) तथा पूर्णतया बेलोच मांग (Perfectly Inelastic Demand)। इसी बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि मांग की लोच या तो बहुत अधिक होती है या औसत दर्जे की होती है। या बहुत कम होती है। यदि दाम या कीमत के थोड़ा सा बढ़ने पर मांग बहुत अधिक कम हो अथवा कीमत के थोड़ा सा गिरने पर मांग बहुत अधिक बढ़ जाए तो इस प्रकार की मांग को हम लोचदार मांग कहते हैं। इसके विपरीत यदि थोड़ा सा कीमत के घटने-बढ़ने पर मांग में भी थोड़ा सा परिवर्तन हो तो ऐसी मांग औसत या साधारण लोचदार कहलाती है। यदि दाम के थोड़ा सा घटने-बढ़ने का मांग पर लगभग कुछ भी प्रभाव न पड़े तो ऐसी मांग बेलोच कही जाती है। कुछ वस्तुएं, जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है, ऐसी होती हैं कि उनकी मांग पर कीमत के घटने-बढ़ने का कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता है। कुछ वस्तुओं की मांग पर इसका प्रभाव बहुत अधिक पडता है और कुछ पर बहुत साधारण सा। नीचे के चित्रों में तीन प्रकार की मांग दिखाई गई है :—
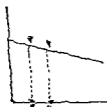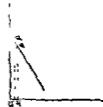
चित्र नं० १ चित्र नं० २ चित्र नं० ३

---

1. "The Elasticity of Demand for a commodity is the rate at which the quantity bought changes as the price changes."—Dr. A. Cairncross : *Introduction to Economics* p 156.

2 "The elasticity (or responsiveness) of demand in a market is great or small according as the amount demanded increases much or little for a given fall in price, and diminishes much or little for a given rise in price."—Marshall : *Principles of Economics*, p. 64.

चित्र १ में दामों के च म से घट कर प म पर आ जाने पर माँग में छ म की वृद्धि होती है। चित्र २ में छ म कम है और चित्र ३ मे बहुत ही कम।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से लोच के आधार पर दो और भी प्रकार की माँग हो सकती है :—(१) पूर्णतया बेलोच माँग (Perfectly Inelastic Demand) और (२) पूर्णतया लोचदार माँग (Perfectly Elastic Demand)। पूर्णतया बेलोच माँग उस दशा में होती है जबकि कीमत के परिवर्तनों के फलस्वरूप वस्तु की माँग की मात्रा मे कुछ भी परिवर्तन नही होता है। यदि कीमत बढ़ती है तो भी माँग उतनी ही रहती है और यदि कीमत घटती है तब भी उतनी ही। माँग कीमतों के परिवर्तनों के प्रभाव से पूर्णतया विमुक्त रहती है। वास्तविक जीवन में ऐसी माँग काल्पनिक (Hypothetical) ही रहती है, क्योंकि कीमत के परिवर्तनों का कुछ न कुछ प्रभाव माँग की मात्रा पर अवश्य पड़ता है।

पूर्णतया लोचदार माँग वह होती है जबकि कीमत के बिल्कुल थोड़े से परिवर्तन का माँग पर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है। कीमत मे जरा सा भी परिवर्तन होने ही माँग मे लगभग असीमित परिवर्तन हो जाते हैं। गणित की भाषा मे हम इस प्रकार कह सकते है कि पूर्णतया बेलोच माँग वह है जिसमें कीमत के असीमित परिवर्तनों के फलस्वरूप माँग के परिवर्तन का अंश (Degree) शून्य (Zero) के बराबर होता है। इसके विपरीत पूर्णतया लोचदार माँग वह है जिसमे कीमत के शून्य परिवर्तन के फलस्वरूप माँग मे असीमित (Infinite) परिवर्तन होते है। पहली दशा में माँग की लोच का अंश शून्य होता है और दूसरी मे असीमित। निम्न रेखा-चित्रो म माँग की लोच की इन दो स्थितियो को दिखाया गया है। पहले रेखा चित्र मे पूर्णतया बेलोच माँग दिखाई गई है और दूसरे मे पूर्णतया लोचदार माँग।
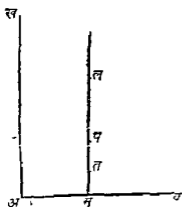
चित्र नं० १
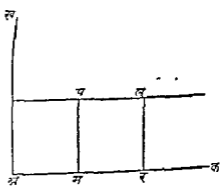
चित्र नं० २

चित्र नम्बर १ में प म कीमत पर माँग की मात्रा अ म के बराबर है, परन्तु जब कीमत बढ कर ल म के बराबर हो जाती है तब भी माँग की मात्रा अ म ही रहती है। इस प्रकार कीमत के बढने पर भी माँग घटी नही है। इसके विपरीत जब कीमत घट कर त म रह जाती है तो भी माँग अ म ही बनी रहती है, इसलिए माँग पूर्णतया बेलोच है। चित्र नम्बर २ में प म कीमत पर माँग अ म होती है। ल र कीमत पर माँग बढ़कर अ र हो जाती है, यद्यपि प म और ल र कीमतों का अन्तर शून्य के ही बराबर है। यह माग पूर्णतया लोचदार है।

मार्शल की माँग की लोच नापने की रीति—

'बहुत अधिक', 'औसत दर्जे की' तथा 'बहुत कम' केवल अनुमानजनक शब्द है। इनमें निश्चितता नही है, इसलिए ऊपर दी हुई रीति से हम केवल माँग की लोच का अनुमान ही लगा सकते हे, अर्थात् हम केवल यह पता लगा सकते हैं कि अमुक वस्तु की माँग किस प्रकार की लोचदार है। निश्चय के साथ हम यह नही कह सकते हैं कि उस वस्तु की माँग की लोच कितनी है। दूसरे शब्दों मे, हम यह तो जान सकते हैं कि माँग लोचदार है या नही, किन्तु यह पता नही लगा सकते कि माँग की लोच किस अंश (Degree) तक है। इस अनिश्चितता को दूर करने के लिए तथा यह दिखाने के लिये कि लोच का अंश क्या है, मार्शल ने लोच के नापने मे एक विशेष रीति को अपनाया है।

मार्शल ने बताया है कि माँग की लोच की अधिक सही माप करने के लिए अलग-अलग कीमतों पर उस वस्तु पर व्यय किए गए कुल धन की मात्रा का अध्ययन करना चाहिए। इस प्रकार के धन की मात्रा मांग को कीमत से गुणा करने पर मालूम हो जाती है। उनका मत है कि कीमत के घटने-बढने पर भी यदि इस प्रकार का गुणनफल एक सा ही रहता है तो माँग की लोच को सम (Unity) मान लेना चाहिए।* इसका अर्थ यह होता है कि दाम या कीमत में चाहे जो परिवर्तन हुआ हो, परन्तु वस्तु पर व्यय की गई कुल धन राशि उतनी ही रहती है। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। मान लीजिये कि किसी बाजार में चाय की कीमत ५ रुपया फी पौंड है और ४०० पौंड की माँग है तो इस दशा में चाय पर व्यय की हुई कुल राशि—

=४००×५=२,००० रुपया होगी।

यदि चाय की कीमत घट कर ४ रुपया पौंड हो जाती है तो ५०० पौंड की माँग होती है।

इस दशा मे चाय पर व्यय की हुई कुल राशि—

=५००×४=२,००० रुपया होगी।

---

* "Elasticity of Demand is Unity when the amount demanded at a price multiplied by the price remains constant."—Marshall.

इससे यह ज्ञात होता है कि कीमत के ५ रुपया पौंड से घट कर ४ रुपया पौंड हो जाने से चाय की माँग तो अवश्य बढ़ी, क्योंकि वह ४०० पौंड के स्थान पर ५०० पौंड हो गई, किन्तु चाय पर व्यय की गई कुल राशि में कोई अन्तर नहीं हुआ। इस दशा में चाय के माग की लोच सम (Unity) या १ के बराबर कही जायगी। माँग की लोच का अंश नीचे की कुल राशि को ऊपर की कुल राशि से भाग देने पर प्राप्त हो जाता है। यहा पर यह $\frac{२,०००}{२,०००} = १$ है।

अब हम एक दूसरे उदाहरण द्वारा यह देखेंगे कि लोचदार माँग कैसी होती है? यह निश्चय है कि यदि माँग की लोच का अंश १ से अधिक हो तो माँग लोचदार होगी, क्योंकि औसत दर्जे की लोचदार माँग की माप को हम सम (Unity) के बराबर मानते है। अब यदि कोई वस्तु ऐसी है कि—

जब इसके दाम ५ रुपया प्रति इकाई हैं तो माँग है ४००
तो उस पर कुल व्यय = २,००० रुपया है।
जब उसके दाम ४ रुपया प्रति इकाई हैं तो माँग है ६००
तो उस पर कुल व्यय = २,४०० रुपया है।

अर्थात् कीमत के घटने से इस दशा में केवल माँग की मात्रा ही नहीं बढ़ती, वरन् उस वस्तु पर व्यय की गई कुल राशि भी बढ़ जाती है। इस दशा मे माँग की लोच का अंश अधिक होगा।* इस उदाहरण मे माँग की लोच= $\frac{२,४००}{२,०००} = १.२$ है।

इस प्रकार यह १ से अधिक है अर्थात् माँग अधिक लोचदार है।

माँग की लोच का अंश १ से कम भी हो सकता है। इस प्रकार की माँग बेलोच माँग कहलाती है। इस प्रकार की माँग का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है। मान लीजिये कि कोई वस्तु ऐसी है कि—

जब उसकी कीमत ५ रुपया प्रति इकाई है, तो उसकी माँग है ४००
तो उस पर व्यय की गई कुल राशि = २,००० रुपया
जब उसकी कीमत ४ रुपया प्रति इकाई है तो माँग है ४२५
तो उस पर व्यय की गई कुल राशि = १,७०० रुपया

इस दशा मे हम देखते हैं कि यद्यपि कीमत के गिरने से इस वस्तु की माँग में वृद्धि तो हुई, किन्तु यह वृद्धि इतनी कम है कि व्यय की गई कुल राशि उलटी कम हो

---

* "The Elasticity of Demand will be greater than unity when a small fall in price will lead to a large increase in demand so that the total sum spent on the commodity increases and *vice versa*."—Marshall.

गई है। ऐसी माँग बेलोचदार होती है। यहाँ माँग की लोच की माप = $\frac{१,७००}{२,०००}$ = ·८५ है। दूसरे शब्दों मे, माँग की लोच का अंश १ से कम है।[1]

मार्शल के अनुसार माँग की लोच को नापने की यही रीति है। इस रीति से हमे यह पता चल जाता है कि माँग किस अंश तक लोचदार है ? इस रीति मे यह गुण सर्वप्रधान है कि यह बहुत सरल है और इसमे गणित के विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। कीमत के बढ़ने का उदाहरण लेकर भी माँग की लोच इसी रीति से नापी जा सकती है। अन्तर केवल इतना होता है कि दाम के घटने की दशा मे नीचे की कुल राशि को ऊपर की कुल व्यय की राशि से भाग देकर लोच का अंश निकलता है, जबकि कीमत बढ़ने की दशा में इसके विपरीत ऊपर के कुल व्यय की राशि को नीचे की कुल व्यय की राशि से भाग देना पड़ता है। थोड़े से शब्दो मे, मार्शल की रीति का आशय यह होता है कि यदि माँग में परिवर्तन दाम के परिवर्तन के अनुपातिक (Proportionate) हो तो माँग की लोच सम होगी। यदि माग का यह परिवर्तन अनुपात से अधिक हो तो माँग की लोच सम से अधिक होगी और यदि यह अनुपात से कम होगा तो माँग की लोच की माप १ से कम होगी, अर्थात् माँग बेलोच होगी।

दूसरी रीति—[2]

इस रीति के अनुसार हम कीमत के प्रतिशत परिवर्तन की माँग के प्रतिशत परिवर्तन से तुलना करते हैं। यदि किसी वस्तु के दाम २५% बढ़ते हैं और इससे उसकी माँग २५% कम हो जाती है तो इस दशा मे माँग की लोच सम के बराबर होगी, किन्तु यदि माग २५% से अधिक घट जाती है तो लोच सम से अधिक होती है। इसी प्रकार यदि माग २५% से कम घटती है तो लोच सम से कम होगी। इस बात को हम निम्नलिखित रीति से स्पष्ट कर सकते हैं :—

$$\text{लोच} = \frac{\%\ \text{माँग — परिवर्तन}}{\%\ \text{दाम — परिवतन}}$$

यह रीति प्रो० फ्लक्स (Flux) की रीति है। इसको उपयोग करते समय एक सावधानी की आवश्यकता है। माग और कीमत के परिवर्तन एक दूसरे की विरोधी दिशा में (Inverse) होते है, इसलिए जिस दिशा में कीमत के परिवर्तनों

1. "The Elasticity of Demand is less than unity when a small fall in price will lead to such a small increase in demand so that the total sum spent on the commodity decreases and *vice versa.*" —Marshall.

2. "If the price rises by 50% and the demand decreases by 50%, E is unity. If it decreases by more than 50%, it is greater than unty, if it increases by less than 50% if it is less than unity."—K. K Dewett ; *Modern Economics Theory*, p. 82.

को नापा जाता है उसकी विपरीत दिशा में माँग के परिवर्तनों को नापना चाहिए। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। निम्न उदाहरण को लीजिए :—

चाय की कीमत प्रति पौंड	चाय की माँग
↓ ४ रुपया	४०० ↑
३ ,,	६००

यहाँ पर कीमत में १ रुपया अथवा २५% की कमी हुई है। माँग की मात्रा के परिवर्तन विपरीत दिशा में निकाले जायेंगे। कीमत का परिवर्तन ऊपर से नीचे की ओर निकाला गया था, इसलिए माँग का परिवर्तन नीचे से ऊपर की ओर लिया जायगा। यह $\frac{२००}{६००} \times १०० = \frac{१००}{३}\%$ होगा, अत. माँग की लोच $\frac{\frac{१००}{३}}{२५} = \frac{१००}{२५ \times ३}$

$= \frac{४}{३}$ अथवा १·३३ होगी।

यहाँ पर यह याद रखना आवश्यक होगा कि यदि मार्शल की रीति द्वारा माँग की लोच का अंश निकाला जाय तो वह $\frac{३ \times ६००}{४ \times ४००}$ अर्थात् $\frac{१,८००}{१,६००}$ अर्थात् $\frac{९}{८}$ अथवा १·१२५ होगा। दोनों रीतियों से निकाले हुए माँग की लोच के अंश में थोड़ा अन्तर रहता है।

तीसरी रीति—

जब माँग की रेखा सरल रेखा (Straight line) न होकर वक्र होती है तो उस रेखा के भिन्न-भिन्न बिन्दुओं पर लोच भी भिन्न भिन्न होती है। उस दशा में किसी विशेष बिन्दु पर माँग की लोच उस बिन्दु को छूने वाली स्पर्श रेखा (Tangent) द्वारा सूचित की जाती है।* नीचे के चित्र में इसी प्रकार की माँग की रेखा दिखाई गई है।
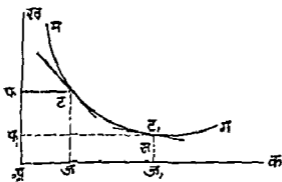
* For detailed study see Benham : *Economics*, pp. 48-51.

इस चित्र में ट बिन्दु पर माँग की लोच कम है और स बिन्दु पर उससे बहुत अधिक है। ट बिन्दु पर माँग की लोच की माप $\frac{\text{ट फ}}{\text{ट ज}}$ के बराबर होगी और ट, बिन्दु पर ट, फ, / ट, ज। यहां माँग की सही माप के लिये उच्च श्रेणी के गणित-ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है।

इस रीति से माँग की लोच निकाल कर एक निश्चित बिन्दु से सम्बन्धित माँग की लोच के अंश की किसी दूसरे बिन्दु से सम्बन्धित माँग की लोच के अंश से तुलना की जा सकती है। उदाहरणस्वरूप, नीचे के रेखा चित्र में ट और र बिन्दुओं पर माँग की लोच का अश अलग-अलग है।
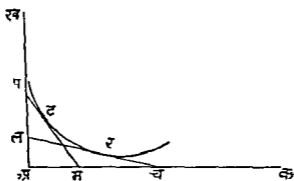
ट बिन्दु पर माँग की लोच का अश $\frac{\text{प ट}}{\text{म ट}}$ के बराबर है, जबकि र बिन्दु पर यह $\frac{\text{ल र}}{\text{च र}}$ के बराबर है। यह स्पष्ट है कि र बिन्दु पर माँग की लोच अधिक है, क्योंकि $\frac{\text{ल र}}{\text{च र}}$ का मूल्य $\frac{\text{प ट}}{\text{म ट}}$ से अधिक है।

माँग की लोच किन बातों पर निर्भर होती है ?—

माँग की लोच कुछ कारणों, परिस्थितियो अथवा वस्तु विशेष के कुछ गुणो पर निर्भर होती है। कुछ परिस्थितियो में माँग अधिक लोचदार हो जाती है और इसके विपरीत कुछ दूसरी दशाओं मे माग की लोच कम हो जाती है। मुख्यतया यह निम्न बातो पर निर्भर होती है :—

(१) वस्तु विशेष के गुण (Nature of the Commodity)—साधारणतया विलास की वस्तुओ की माँग लोचदार होती है। आरामदायक वस्तुओं की माँग औसत दर्जे की लोचदार होती है और आवश्यक वस्तुओ की माँग वेलोच होती है। आवश्यक वस्तुओं पर व्यय की राशि बहुधा निश्चित होती है। कीमत चाहे जो भी हो, ये वस्तुएं हमे खरीदनी ही पड़ती हैं। इन वस्तुओ मे से कुछ तो

ऐसी होती हैं जो हमारे जीवन की रक्षा करती हैं तथा कुछ ऐसी होती हैं जो हमारी कार्यक्षमता को बनाये रखती हैं। इनका उपभोग न करने से हमारी कार्य-शक्ति घट जाती है और हम अच्छे उत्पादक नही रहते हैं। इनकी कीमत के बढने पर भी हम इन्हे लगभग उन्ही मात्राओ मे खरीदते हैं जितना कि पहले। कीमत घट जाने पर भी हमारे उपयोग मे इनका महत्त्व पहले के बराबर ही रहता है। आरामदायक वस्तुओ का उपभोग, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, हमारी कार्यक्षमता को बढाता है, किन्तु उनके उपभोग न करने पर भी हमारी कार्य-शक्ति मे कमी नही पड़ती, इसीलिए उनकी माग आवश्यक वस्तुओ की तुलना में अधिक लोचदार होती है, किन्तु बहुत अधिक लोचदार नही। इनकी कीमत के घटने-बढ़ने से माँग की मात्रा मे अन्तर तो पड़ जाता है, किन्तु लोच प्रायः औसत दर्जे की रहती है विलास की वस्तुयें न तो हमारी कार्य-शक्ति को ही बढाती हैं और न उनके उपभोग न करने से हमारी कार्य-शक्ति घटती है। वे प्रायः अतिरिक्त (Surplus) आवश्यकताओ को पूरा करती हैं। यही कारण है कि इनकी कीमत मे थोड़ा सा परिवर्तन भी इनकी माँग को बहुत बदल देता है और इसी कारण ऐसी वस्तुओ की माँग अधिक लोचदार होती है। इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना चाहिए कि आवश्यक, आरामदायक तथा विलास सापेक्षिक (Relative) अथवा तुलनात्मक शब्द है। कोई भी वस्तु सभी के लिए आवश्यक नही होती। किसी व्यक्ति या कुछ व्यक्तियो के लिये जो विलास की वस्तु है, वह दूसरो के लिए आवश्यक हो सकती है, इसलिए प्रत्येक वस्तु की माँग की लोच समाज के विभिन्न वर्गों के लिए विभिन्न प्रकार की होती है।

(२) स्थानापन्न की संभावना (Possibilities of Substitutes)-यदि कोई वस्तु ऐसी है कि उसके बदले मे अन्य वस्तुओ का उपयोग हो सकता है अथवा उसके स्थानापन्न (Substitutes) मौजूद हैं तो उस वस्तु की माँग अधिक लोचदार होगी। कीमत के बढ जाने से अन्य स्थानापन्न वस्तुओ का उपयोग बढ जायेगा और उस वस्तु की माँग कम हो जायेगी। इसके विपरीत ऐसी वस्तु की कीमत घट जाने पर अन्य वस्तुओ की अपेक्षा इसके सस्ता हो जाने के कारण उन वस्तुओं के स्थान पर भी इसका उपयोग होने लगेगा और इसी कारण इसकी माँग बढ जायेगी। चीनी और गुड बहुधा एक दूसरे के स्थान पर काम में लाये जा सकते हैं। चीनी के दामो के बढने से गुड़ का उपयोग बढ जायेगा और चीनी की माँग मे कमी हो जायेगी। मोटर सवारी के किरायो मे कमी हो जाने पर रेल में सफर करने वालों की सख्या कम हो जाती है, क्योकि लोग मोटर में सफर करना अधिक पसन्द करने लगते हैं।

(३) विभिन्न उपयोगों का होना (Several Uses)—जिस वस्तु के बहुत से उपयोग हो सकते हैं, उसकी माँग अधिक लोचदार होती है।* यदि कोई

---

* "Generally speaking those things have the most elastic demand which are capable of being applied to many different uses."—Marshall.

वस्तु कई कामों में आ सकती है तो बहुधा उसके सारे उपयोग समान रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं होते। कुछ उपयोग अधिक महत्त्व रखते हैं और कुछ कम। जब ऐसी किसी वस्तु के दाम बढ जाते हैं तो उसके कम महत्त्वपूर्ण उपयोग छूट जाते हैं और इस प्रकार उसकी माँग में कमी हो जाती है। इसके विपरीत दाम घट जाने पर उपयोगों की संख्या में काफी वृद्धि हो जाती है और माँग तेजी के साथ बढ़ जाती है। उदाहरणस्वरूप, बिजली बहुत से कामों में लाई जा सकती है। इससे हम अपने कमरों में रोशनी करते हैं, अंगीठी जलाते हैं, पंखे चलाते हैं, कमरों को गर्म रखते हैं तथा रेफ़रीजिरेटर में खाने की चीजों को ठंडा करते हैं। इसी प्रकार के और भी बहुत सारे उपयोग बिजली के हो सकते हैं। यदि बिजली की प्रति इकाई की कीमत ऊँची होती हैं, तो बिजली का उपयोग मुख्यतया रोशनी के लिए ही होता है, किन्तु कीमत के घट जाने पर दूसरे उपयोग बढ़ जाते हैं और माँग भी बहुत बढ़ जाती है।

(४) कीमत की ऊँचाई (Height of the Price)—जब कीमत बहुत ऊँची होती है तो किसी वस्तु की माँग अधिक लोचदार होती है। औसत दर्जे की कीमत पर माँग साधारण लोचदार होती है और जब किसी वस्तु की कीमत बहुत नीची होती है तो उसकी माँग प्रायः बेलोच होती है।* अधिक ऊँची कीमत पर किसी वस्तु को प्रायः धनी वर्ग के लोग ही खरीदते हैं। कीमत में थोड़ी कमी हो जाने पर लोग पहले से बहुत अधिक मात्रा में उस वस्तु को खरीदेंगे। औसत दर्जे के दामों पर धनी तथा मध्यम वर्ग के लोग किसी वस्तु को खरीदते हैं। दामों के थोड़ा कम हो जाने पर ये लोग कुछ अधिक मात्रा में खरीदने लगते हैं तथा कीमत के थोड़ा बढ़ने पर माँग की मात्रा थोडी कम हो जाती है। जब किसी वस्तु के दाम पहले से ही बहुत कम होते हैं तो गरीब-अमीर सभी लोग उसे सुगमता से खरीद लेते हैं और दामों के थोड़ा-बहुत घटने-बढ़ने का माँग पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

(५) ग्राहकों के वर्ग पर (Type of Customers)—किसी वस्तु की माँग की लोच इस बात पर भी निर्भर होती है कि उसके अधिकांश ग्राहक किस वर्ग अथवा श्रेणी के हैं। जो वस्तुएँ साधारणतः केवल धनी वर्ग के लोगों के उपयोग में आती हैं उनकी माँग बेलोच होती है, क्योंकि कीमत का थोड़ा बहुत अन्तर इसके लिए कुछ भी महत्त्व नहीं रखता है। इसके विपरीत उन सब वस्तुओं की माँग लोचदार होती है जिन्हें प्रायः गरीब लोग खरीदते हैं। निश्चय है कि कीमत का थोडा घटना-बढ़ना भी इन लोगों के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है।

(६) यदि उपयोग टाला जा सकता है (Possibility of Postponing Consumption)—कुछ वस्तुएँ इस प्रकार की होती हैं कि उनकी

* "The elasticity of demand is great at high prices and great or at least considerable for medium prices, but it declines as the price falls, and gradually fades away if the fall goes so fast that satiety level is reached."—Marshall.

मांग कुछ समय के लिए टाली जा सकती है। वे ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं जो भविष्य के लिए उठाकर रखी जा सकती हैं। अतः यदि कीमत बढ़ जाती है तो हम इस आशा में कि शायद भविष्य में दाम गिर जायें अथवा इस कारण से कि इसी समय इस आवश्यकता को पूरा करना आवश्यक नहीं है, अपनी मांग को बहुत कम कर देते हैं। यदि ऊनी कपड़ा बहुत मँहगा है तो हम यह सोच लेते हैं कि इस साल कोट नहीं बनवायेंगे, वरन् पुराने कोट से ही काम चला लेंगे। जिन वस्तुओं की मांग इस प्रकार टाली नहीं जा सकती उनकी मांग बहुधा बेलोच होती है।

(७) व्यय की मात्रा (Amount of Expenditure)—जिन वस्तुओं पर हमारी आय का बहुत थोड़ा भाग व्यय होता है उनकी मांग हमारे लिए बेलोच होती है। इसी प्रकार यदि किसी वस्तु पर हमारी आय का बहुत बड़ा भाग व्यय होता है तो उसकी मांग हमारे लिए बहुत लोचदार होगी।

(८) संयुक्त मांग की दशा (Condition of Joint Demand)—कुछ वस्तुओं की मांग संयुक्त मांग (Joint Demand) होती है, अर्थात् उनकी मांग किसी दूसरी वस्तु की मांग से सम्बन्धित होती है। उदाहरणस्वरूप, स्याही की मांग कलम की मांग से सम्बन्धित है। ऐसी दशा में वस्तु विशेष की मांग की लोच दूसरी वस्तु की माग पर निर्भर होती है। यदि कलम की मांग बढ़ती है तो स्याही की मांग अपने आप ही बढ़ जायगी और लगभग उतनी ही तेजी के साथ जितनी तेजी के साथ कलम की मांग बढ़ी है।

(९) समय का प्रभाव (Influence of Time)—किसी वस्तु की मांग पर समय का भी प्रभाव पड़ता है। अल्पकाल में कीमतों के परिवर्तनों का वस्तु की मांग पर लगभग कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है, परन्तु यदि वस्तु की कीमत में परिवर्तन हो जाता है तो दीर्घकाल में उसके प्रतिस्थापन (Substitution) की सम्भावना बढ़ जाती है। ऐसी दशा में मांग में तेजी के साथ परिवर्तन हो सकते हैं।

(१०) सरकारी नियन्त्रण (Government Control)—बहुत बार सरकार आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करती है। मूल्य नियन्त्रण और विशेषकर राशनिंग (Rationing) के अन्तर्गत मांग के परिवर्तनों को रोका जा सकता है। यह सम्भव है कि उपभोक्ताओं को एक निश्चित मात्रा से अधिक खरीदने का अधिकार ही न दिया जाय। ऐसी दशा में बहुधा मांग बेलोच रहती है।

(११) कीमतों का भावी अनुमान (Future Estimate of Prices)—मांग की लोच इस बात पर निर्भर होती है कि भविष्य में कीमत के बढ़ने या घटने की सम्भावना कैसी है। यदि भविष्य में किसी वस्तु की कीमतों के बढ़ने की आशा है अथवा यदि अनुमान यह है कि भविष्य में वस्तु की पूर्ति घट जायगी तो कीमत की थोड़ी सी भी कमी वस्तु की मांग को बड़ी तेजी के साथ बढ़ा देगी। इसके

विपरीत यदि भावी अनुमान निराशाजनक है तो कीमत के घटने बढने का माँग पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ेगा ।

माँग की लोच का महत्त्व--

माँग की लोच का अध्ययन अर्थशास्त्र मे बहुत महत्त्वपूर्ण विषय है । माँग की लोच की विवेचना हमे बहुत सी आर्थिक समस्याओ को समझने मे सहायता देती है:—

(१) वित्त मन्त्री के लिए (For the Finance Minister)—या विशेष रूप से किसी देश के वित्त मन्त्री के लिए इसका अध्ययन बडा आवश्यक तथा बडा लाभदायक होता है । वस्तुओं पर कर लगाते समय उनकी माँग की लोच का ज्ञान बहुत आवश्यक है । वस्तुओ पर कर या तो उत्पादन-कर (Excise duty) के रूप मे लगाया जाता है या निरक्राम्य कर (Customs duty) के रूप मे, अर्थात् या तो देश मे उत्पन्न की हुई वस्तु पर कर लगता है या आयात और निर्यात पर । दोनों ही दशाओ मे कर लग जाने का अर्थ यह होता है कि जिस वस्तु पर कर लगाया जाता है उसके दाम बढ जाते हैं, क्योकि कर की मात्रा भी कीमत में सम्मिलित हो जाती है । अब यदि ऐसी किसी वस्तु की माँग बहुत लोचदार है तो कीमत बढ़ने पर उसकी माँग बहुत कम हो जायगी और कर के रूप मे प्राप्त धन बहुत कम रह जायेगा और यदि माँग बेलोच है तो माँग मे कोई विशेष अन्तर न होने के कारण कर की राशि अधिक रहेगी । ठीक यही बात आयात (Imports) और निर्यात (Exports) के विषय मे भी कही जा सकती है । किस वस्तु पर कर लगाना है तथा इस कर की मात्रा क्या होगी, इस बात का निर्णय माँग की लोच के अध्ययन के पश्चात् ही अधिक सही होता है ।

(२) मूल्य के निर्धारण में (Determination of Price)—मूल्य के निर्धारण मे भी माँग की लोच के अध्ययन का बडा महत्त्व है । यह अध्ययन हमे बताता है कि किसी वस्तु के दामो के घटने बढने का उसके उपयोग पर क्या प्रभाव पडता है ? हम यह जान लेते हैं कि दाम को थोडा घटा बढा कर हम कितनी पूर्ति की खपत कर सकते है । लोचदार माँग वाली वस्तु के दाम थोड़ा घटा कर हम उनको अधिक मात्रा मे वेच सकते है । इसके अतिरिक्त जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, माँग की वक्र रेखा का रूप तथा उसके गुण माँग की लोच द्वारा निश्चित किये जाते हैं ।

(३) एकाधिकारी के लिए (For the Monopolist)—किसी एकाधिकारी (Monopolist) के लिए भी इस अध्ययन का बडा महत्त्व है । एकाधिकारी का वस्तु विशेष की पूर्ति पर पूर्ण अधिकार होता है, किन्तु माँग पर उसका अधिकार नही होता है । माग की लोच के अनुसार ही वह कीमत को निर्धारित करता है । यदि माँग बेलोच है तो ऊँची कीमत रखना उसके लिए लाभप्रद होता है, क्योकि इसमे बिक्री में कोई विशेष कमी न होने के कारण कुल लाभ (Total Profits)

अधिक हो जाता है, किन्तु यदि माँग लोचदार है तो दाम घटा देने से बिक्री अधिक होती है और इस दशा मे नीचे दामों पर भी लाभ अधिक होता है।

५ मूल्य-विभेद या भेद पूर्ण एकाधिकार (Discriminating Monopoly) में तो इस अध्ययन का महत्त्व और भी अधिक है। मूल्य-विभेद (Price Discrimination) उन्ही दो मन्डियो अथवा वर्गों के बीच सम्भव होता है जिनमें वस्तु विशेष की माँग की लोच समान नही होती है। विवेचनात्मक एकाधिकारी भिन्न-भिन्न मण्डियो तथा वर्गों से भिन्न-भिन्न कीमत लेता है। इसी प्रकार राशिपातन (Dumping) भी माँग की लोच के अध्ययन के बिना सम्भव नही होता है। इसके अतिरिक्त लोच का अध्ययन हमे माग के गुणो के विषय मे लाभदायक सैद्धान्तिक ज्ञान प्रदान करता है। यह अध्ययन अर्थशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। कीन्ज का विचार है कि माँग की लोच के अध्ययन के बिना मूल्य और वितरण के सिद्धान्तो की विवेचना सम्भव ही नही हो सकती है।*

QUESTIONS

1. लोचदार माँग एक ऐसे लोच को जो माँग की लोच के सम से अधिक होता है (Greater than Unity) उपलक्षित (Implies) करती है, ठीक उसी प्रकार जैसे लोच रहित माँग उस लोच को उपलक्षित करती है जो माँग की लोच के सम से कम (Less than Unity) होता है। इसका आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचन कीजिये। (Agra, B. A. Part I, 1958)
2. What is meant by 'Elasticity of Demand'? An increase occurs in the supply of wheat, gold, tea and scientific books, while the conditions of demand remain unchanged. What would be the general effects upon the price of the respective articles? (Agra, B. A., 1955)
3. माँग की लोच का क्या अभिप्राय है? आप इसको कैसे नापेंगे, चित्रों का प्रयोग कीजिये। इसका व्यावहारिक जीवन में क्या महत्त्व है? (आगरा, बी० कॉम० पार्ट १, १९५९)
4. माँग की लोच का क्या अर्थ है? किसी वस्तु की माँग की लोच किन-किन बातों पर निर्भर होती है? (गोरखपुर, बी० ए० पार्ट १, १९५८)
5. Why do most demand curves slop downwards to the right? What are its exceptions? (Bihar, B. Com., 1959)

* J. M. Keynes: *Memorials to Alfred Marshall*, p. 45.

6. How is elasticity of demand measured ? Explain the role of elasticity of demand in determination of monopoly prices.
(Bihar, B. A., 1958)

7. अभियाचन प्रत्यास्थता (Elasticity of Demand) से आप क्या समझते हैं? प्रत्यास्थता का नाप किस तरह करते हैं? (Agra, B. Com. Pt. I, 1953, 55 ; Jabalpur, B. A., 1959 ; Agra, B. A., 1951, 46 ; Agra, B. A. Pt. I, 1955 S ; Agra, B. Com., 1953)

8. अभियाचन अनुसूची तथा उस पर आधारित अभियाचन वक्र की सहायता से अभियाचन नियम स्पष्ट समझाइये। किन कल्पनाओं के अन्तर्गत यह नियम सत्य सिद्ध होता है?
(Jabalpur, B. Com., 1958)

9. नोट लिखिये :—
(१) अप्रत्यास्थ अभियाचन (Jabal., B. Com., 1958)
(२) माँग की प्रत्यास्थता (Elasticity of Demand) (Jabal., B. A., 1958)
(३) उपभोग मूल्य वक्र (Price Consumption Curve)
(Sagar, B. Com., 1959)

10. व्याख्या कीजिये—"अधिकांश माँग के वक्रों का झुकाव नीचे की ओर होता है।"
(सागर, बी० कॉम०, १९५९)

11. माग की लोच का अर्थ बताइए और इसका महत्त्व बताइये।
(सागर, बी० ए०, १९५८)

12. माँग की लोच से क्या अभिप्राय है? आप इसे कैसे माप सकते हैं? इसका महत्त्व समझाइये। (इलाहाबाद, १९५७ प्रथम भाग ; राज०, बी० कॉम०, १९५७)

13. Define Elasticity of Demand (माँग की लोच). What would be the elasticity of demand for ghee when its price in the following example increases from Rs. 5 to Rs. 6 per seer :—

Price of Ghee per seer Rs.	Monthly Demand of a family for ghee Seer
5	6
6	5
8	3

(Raj., B. A., 1958)

14. Write short notes on :—
(a) Elasticity of Demand. (Agra, B. A., 1944 ; Agra, B. Com., 1947 ; Jabalpur, B. A., 1958)
(b) Cross Elasticity of Demand.
(Agra, B. A. Part I, 1956 ; Delhi, B. A., 1955)

15. What do you mean by Elasticity of Demand (माँग की लोच)? Explain the factors affecting the elasticity of demand.
(Raj., B. A., 1956)

16. Explain the Law of Demand. Why do most demand curves bend downwards ? (Raj, B. A., 1954)

17. What is meant by Elasticity of Demand ? Why is the Demand for some commodities more elastic than for other's ? Explain fully with help of diagrams.
(Agra, B. A., 1942 ; Agra, B A. Part I, 1956 S)

18. माँग की लोच से आप क्या समझते हैं ? किसी पदार्थ की लोच को कौनसी बातें निर्धारित करती हैं ? इस धारणा का व्यावहारिक महत्त्व क्या है ?
(सागर, बी० कॉम०, १९५६)

19. माँग की लोच और ह्रासी उपयोगिता नियम के पारस्परिक सम्बन्ध को समझाइये। माँग की लोच को कैसे नापा जाता है ? (सागर, बी० कॉम०, १९५७)

20. माँग की तीव्रता का क्या अर्थ है ? किसी वस्तु की माँग के तीव्र होने के कारणों का विवेचन कीजिये। (इलाहाबाद, १९५६)

21. माँग की लोच की परिभाषा कीजिये। माँग की लोच से आप क्या समझते हैं, जब कि वह (क) इकाई के बराबर हो, (ख) शून्य के बराबर हो और (ग) इकाई से अधिक अथवा कम हो। (इलाहाबाद, १९५६)

22. "अभियाचना प्रत्यास्थता" (Elasticity of Demand) के सिद्धान्त का वर्णन कीजिए। अर्थ के सिद्धान्त में इसकी क्या उपयोगिता है ?
(सागर, बी० कॉम०, १९५४)

23. Draw a straight line demand curve intercepted by the axes. Prove that (a) Elasticity of Demand to the left of the middle point of the demand curve is more than unity. (b) Elasticity of Demand to the right of the middle point of the demand curve is less than unity. (c) Elasticity of Demand at the middle point of the demand curve is equal to unity.
(Delhi. B. A., Pass 1954)

24. What is elasticity of demand ? How would you measure it ? Illustrate how elasticity of demand varies for different incomes and different ranges.
(Delhi. B. A., Pass 1953 ; P. U, 1955)

25. Define "Elasticity of Demand". How is it measured ? What factor's affect it ? (Alld., 1951)

26. What is meant by "an increase or decrease in demand ?" Discuss the factors that bring about an increase or decrease in the demand for any commodity. (Alld., 1949)

27. Prove that the richer the man, the lower other thing being the same, is the elasticity of his demand for a given commodity. (Alld., 1947)

28. Define "Elasticity of Demand' and give a formula for calculating it. With help of this formula find out the elasticity of demand at different prices in the following examples :—

Price per unit in rupees	Number of units purchased
10—8—0	300
11—4—0	275
12—4—0	130

अध्याय ६

उपभोग और उसका महत्त्व

(Consumption and its Importance)

उपभोग किसे कहते है ?—

अर्थशास्त्र के पाँच विभागों मे सर्वप्रथम उपभोग आता है। संक्षिप्त में उपभोग के विषय में पहले बताया जा चुका है। यह हम भली भाँति जानते हैं कि मनुष्य के जीवन मे आवश्यकताओं का बड़ा महत्त्व है। मानव जीवन की उथल-पुथल और मनुष्य की उधेड़-बुन आवश्यकताओं पर ही आधारित है। प्रायः सभी काम किसी न किसी प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही किए जाते हैं। मनुष्य की क्रियाओं का प्रारम्भ आवश्यकताओं से ही होता है। पहले कोई आवश्यकता उत्पन्न होती है और फिर उसकी पूर्ति के लिए मनुष्य प्रयत्नशील होता है। अन्त में उस आवश्यकता की पूर्ति करके मनुष्य सतुष्टि या संतोष का अनुभव करता है। इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक मानव व्यवहार अथवा मानव क्रियाओं पर आवश्यकताओं की छाप बनी रहती है। उपभोग मे हम मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का ही अध्ययन करते है। निश्चय है कि मनुष्य की आवश्यकता-पूर्ति का व्यवहार कुछ नियमों के अनुसार होता है। इस प्रकार के सभी नियम तथा उनसे सम्बन्धित दूसरी बातें उपभोग के अध्ययन-क्रम मे आ जाती हैं, इसलिए हम कहते हैं, कि *उपभोग मनुष्य की आवश्यकता-पूर्ति की क्रिया का नाम है।** प्रो० ऐली ने उपभोग की परिभाषा इस प्रकार की

---

* "Consumption is the process of the satisfaction of human wants."

है—*"विस्तृत अर्थ में, उपभोग का अर्थ आर्थिक वस्तुओं और व्यक्तिगत सेवाओं को मनुष्य की आवश्यकताओं के सन्तुष्ट करने के लिये उपभोग करने से होता है।"*[1] मेयर ने उपभोग की परिभाषा और भी सावधानी के साथ की है। उनके अनुसार—*"उपभोग स्वतन्त्र मनुष्यों की आवश्यकता पूर्ति हेतु वस्तुओं अथवा सेवाओं के प्रत्यक्ष और अन्तिम उपयोग को कहते हैं।"*[2] इस परिभाषा मे मनुष्यों के साथ स्वतन्त्र शब्द व्यर्थ मे ही जोड़ा गया है, परन्तु प्रत्यक्ष और अन्तिम शब्द सार्थक है। मेयर का अभिप्राय यह है कि वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग उत्पत्ति के लिये भी हो सकता है और उपभोग के लिए भी, परन्तु उत्पत्ति के लिये जो उपभोग होता है वह परोक्ष होता है और उद्देश्य किसी ऐसी वस्तु का उत्पादन करना होता है जिसका बाद मे उपभोग किया जा सके।

आवश्यकता पूर्ति के सम्बन्ध मे कुछ और बातो का जान लेना भी आवश्यक है। *अर्थशास्त्र के विद्वान बहुधा उपभोग* (Consumption) *तथा विनाश* (Destruction) मे भेद करते हैं तथा यह बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि उपभोग और विनाश *दोनों में बड़ा अन्तर है। साधारणतया जब हम किसी वस्तु को आवश्यकता पूर्ति के लिये* काम में लाते है तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमने उस वस्तु का नाश कर दिया है। उदाहरणार्थ, जब हम भूख मिटाने के लिए भोजन करते हैं तो भोजन की एक निश्चित मात्रा नष्ट हो जाती है। इसी से कुछ लोग यह अनुमान लगा लेते है कि आवश्यकता पूर्ति की क्रिया में साधन नष्ट हो जाता है और इस प्रकार उपभोग और विनाश दोनो एक जैसे दिखाई पड़ते है, परन्तु वास्तव मे ऐसी बात नही है। भौतिक शास्त्र (Physics) हमे बताता है कि पदार्थ (Matter) का कभी विनाश नहीं होता। हम केवल इतना कर सकते हैं कि किसी वस्तु के रूप, स्थान अथवा गुणों को बदल दें। वह भोजन जो हम खाते है, सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता है, वरन् उसका रूप बदल जाता है। हमारे खा लेने के पश्चात् वह शक्ति, रक्त, मांस, इत्यादि मे परिवर्तित हो जाता है, जिसका अर्थ यह होता है कि एक दूसरे रूप मे वह अब भी बना रहता है। ठीक इसी प्रकार किसी अन्य वस्तु को भी हम मिटा नही सकते है, केवल उसमें परिवर्तन कर सकते है। दूसरे शब्दों मे, विनाश हमारे लिये सम्भव ही नही है और इसीलिए उपभोग को विनाश कहना भूल होगी। यह तो एक परिवर्तन-क्रिया मात्र है। हमारे उपभोग के उपरान्त भी वह वस्तु बनी रहती है, केवल उसके रूप, गुण, इत्यादि बदल जाते है।

इसके विपरीत कुछ दूसरे अर्थशास्त्रियों का विचार है कि उपभोग एक विशेष प्रकार का विनाश है। प्रत्येक वस्तु मे मनुष्य की आवश्यकता पूर्ति का एक गुण होता है। अर्थशास्त्र मे इस गुण को हम उस वस्तु की उपयोगिता (Utility) कहते हैं।

---

1. "Consumption, in its broadest sense, means the use of economic goods and personal services in the satisfaction of human wants."—Ely.

2. "Consumption is the direct and final use of goods or services in satisfying the wants of free human beings.—Meyer.

किसी वस्तु की आवश्यकता पूरा करने की क्षमता इसी गुण पर निर्भर होती है। जितनी अधिक किसी वस्तु की हमारे लिये उपयोगिता होती है उतनी ही अधिक उसके उपयोग से हमें तृप्ति अथवा सन्तुष्टि मिलती है। उपभोग के अन्तर्गत भले ही हम वस्तु विशेष का विनाश न करते हो, किन्तु हम उसकी आवश्यकता पूर्ति की शक्ति को अवश्य नष्ट कर देते है। दूसरे शब्दो में, उपभोग मे वस्तु का विनाश तो नही होता, किन्तु उपयोगिता का विनाश हो जाता है। इस प्रकार उपभोग वास्तव में एक विशेष प्रकार का विनाश ही है, अर्थात् उपयोगिता का विनाश। मूलतया उपभोग और विनाश में कोई अन्तर नही है। इसी आधार पर मार्शल ने उपभोग को ऋणात्मक उत्पादन (Negative Production) कहा है। उत्पादन से उनका अभिप्राय किसी वस्तु मे उपयोगिता का सृजन करने से है। टामस (Thomas) ने उपभोग को मूल्य का विनाश (Destruction of Value) कहा है, क्योकि मूल्य उपयोगिता द्वारा ही उत्पन्न किया जाता है।

उपयोगिता को कम करना ही उपभोग है—

उपरोक्त कथन में एक बड़ी भारी भूल है। उपभोग की क्रिया मे उपयोगिता का महत्त्व सभी जानते है, परन्तु शायद यह कहना ठीक नही है कि उपभोग के अन्तर्गत उपयोगिता का विनाश हो जाता है। जिस प्रकार हम पदार्थ (Matter) का विनाश नही कर सकते, ठीक उसी प्रकार उपयोगिता का भी पूर्णतया विनाश सम्भव नही है। उपभोग की क्रिया मे केवल इतना होता है कि वस्तु विशेष की उपयोगिता हमारे लिए कम हो जाती है। पूर्ण रूप से उपयोगिता नष्ट नहीं होती, केवल वह कम ही होती है। इसके साथ-साथ यह भी सम्भव है कि उपभोग किये जाने के कारण जिस वस्तु की उपयोगिता किसी एक व्यक्ति के लिये कम हो गई है, किसी दूसरे व्यक्ति के लिए अथवा किसी दूसरी आवश्यकता की पूर्ति के लिये उसकी उपयोगिता बढ जाय। उदाहरणस्वरूप, जब हम एक कमीज को पहनते हैं या दूसरे शब्दों में उसका उपभोग करते हैं तो इस क्रिया के उपरान्त इस कमीज की उपयोगिता हमारे लिए कम हो जाती है, किन्तु स्मरण रहे कि एक फटे कपड़े बटोरने वाले व्यक्ति (Reg Picker) के लिये हमारी फटी हुई कमीज की उपयोगिता बढ जाती है। संसार की कोई भी वस्तु उपयोगिता-रहित नही होती है। हमारी फटी हुई कमीज की भी कुछ न कुछ उपयोगिता हमारे लिये अवश्य रहती है, परन्तु वह उतनी अधिक नही होती जितनी कि नई कमीज की थी। इसी प्रकार हम देख सकते हैं कि अन्य वस्तुओं की भी उपभोग के पश्चात् हमारे लिये उपयोगिता कम हो जाती है। एक मशीन तथा मोटर उपभोग के बाद कुछ समय पीछे हमारे लिए इतनी उपयोगी नही रहती जितनी कि वह पहले थी।

इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि जैसा कि कुछ लोगो का विचार है, किसी वस्तु की उपयोगिता कम करने की प्रत्येक क्रिया उपभोग नही है। यह तो ठीक है कि उपभोग द्वारा प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता कम हो जाती है, किन्तु

उपयोगिता कम हो जाने का अर्थ सदैव यह नही होता है कि उपभोग हुआ है। यदि हमारी नई कमीज चूहो या दीमक द्वारा खराब कर दी गई है, जिससे उसकी उपयोगिता हमारे लिए कम हो गई है तो यह उपभोग नही हुआ। यदि आवश्यकता पूर्ति के कार्य में उपयोगिता कम होती है तो उसी दशा में उपभोग होता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उपभोग केवल आवश्यकता पूर्ति की क्रिया है। उपयोगिता में कमी हो जाना उसका परिणाम है। यह स्वय उपभोग नही है। फिर भी साधारणतया उपयोगिता की कमी करने को उपभोग कहा जा सकता है।

उपभोग के अध्ययन का प्रारम्भ—

फ्रास के प्रमुख आर्थिक लेखक जे० बी० से (J. B. Say) सबसे पहले अर्थशास्त्री थे, जिन्होने अपनी राजनीतिक अर्थशास्त्र की पुस्तक को तीन भागो मे विभाजित किया था, अर्थात् उत्पत्ति (Production), वितरण (Distribution) तथा विनिमय (Exchange)। विनिमय के विषय की उन्होने अलग विवेचना नही की है, वरन् उसे उत्पत्ति का ही एक भाग माना है। से (Say) के बाद के लेखको ने *अर्थशास्त्र के विषय के विभाजन की प्रथा को बनाये रखा और अभी तक भी यह प्रथा* चली आ रही है। जैसा कि स्पष्ट है, जे० बी० से ने उपभोग को अर्थशास्त्र का एक अङ्ग नही माना है। उनकी पुस्तक मे इस विषय पर कुछ भी प्रकाश नही डाला गया है। सच बात तो यह है कि प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने उपभोग के अध्ययन की कोई *आवश्यकता नही समझी थी* और इसी कारण इसके नियमों की ओर कुछ भी ध्यान नही दिया था।

से (Say) के बाद के अर्थशास्त्रियो पर बैनथम (Bentham) नामक एक राजनीतिक लेखक के विचारो का अधिक प्रभाव पडा था। अर्थशास्त्र में उपयोगिता (Utility) शब्द उन्ही की देन है। बैनथम के अनुसार किसी भी प्रणाली (System) अथवा क्रिया की अच्छाई या बुराई उसकी उपयोगिता से सम्बन्धित होनी चाहिए। कोई वस्तु जितनी ही अधिक समाज के लिए उपयोगी होगी वह उतनी ही अधिक वाञ्छनीय या हितकर होगी। इस विचारधारा का आर्थिक विचारो पर गहरा प्रभाव पडा और आर्थिक प्रयोजनो तथा नियमो के अध्ययन में उपयोगिता-विवेचना (Utility Analysis) का उपयोग बढता ही गया। धीरे-धीरे उपयोगिता के आधार पर आर्थिक नियमो और निष्कर्षों का निर्माण अर्थशास्त्र का एक आवश्यक अङ्ग बन गया। इस सम्बन्ध मे इटली (Italy) के प्राचीन आर्थिक लेखक कौनडीलैक्स (Condillacs) का कार्य विशेष रूप से सराहनीय है। उन्होने सबसे पहिले अपने मूल्य के सिद्धान्त (Theory of Value) को उपयोगिता पर आधारित किया और इस नियम का निर्माण किया कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी दुर्लभता (Scarcity) तथा उपयोगिता (Utility) पर निर्भर होता है। उन्होने साथ-साथ यह भी बताया कि उपयोगिता का राशि माप (Quantitative Measurement) हो

सकता है। इस प्रकार कौनडीलैक्स का काम उसके युग को देखते हुए बहुत मौलिक तथा बहुत उच्च कोटि का था।

उपयोगिता शब्द तो अर्थशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान पा गया, किन्तु उपभोग का नियमिततापूर्वक अध्ययन इतना शीघ्र आरम्भ नही हुआ। एक लम्बे समय तक उपभोग का अध्ययन नही किया गया। इस अध्ययन को आरम्भ करने का श्रेय आस्ट्रियन मत-पक्ष के लेखकों को है। उन्होने न केवल उपभोग के अध्ययन को ही अपनाया वरन् इस अध्ययन को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया। उन्होने आर्थिक विज्ञान की विषय-विवेचना उपभोग से आरम्भ की और इस बात पर जोर दिया कि इस विज्ञान का आधार उपभोग ही है। इस सम्बन्ध में वीजर (Wieser), मैन्जर (Menger), वालरस (Walras), जेवन्स (Jevons) तथा बोहम बावर्क (Bohm-Bawerk) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस मत-पक्ष के लेखको ने उपभोग और उसके नियमो की भली भाँति विवेचना की और इस कार्य में उपयोगिता विवेचन को विशेष महत्त्व दिया तथा उसका विशेष उपयोग किया। इसके अतिरिक्त इन लोगो ने मूल्य और वितरण के सिद्धान्तों मे भी उपयोगिता विवेचन प्रणाली को ही अपनाया।

आधुनिक अर्थशास्त्र में उपभोग का महत्त्व बहुत ही बढ गया है, क्योकि उपभोग को ही अर्थशास्त्र का आधार मानकर इस विज्ञान की रचना की गई है। आधुनिक अर्थशास्त्र को बहुधा तीन युगो मे बाँटा जाता है। पहला युग गोसन (Gossen) से आरम्भ होता है। गोसन के मानव वाणिज्य (अर्थशास्त्र) की तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ है:—दृढ उपयोगितावाद (Utilitarianism), उपभोग दृष्टिकोण और गणित प्रणाली का उपयोग। गोसन अपनी पुस्तक इस वाक्य से आरम्भ करता है कि समस्त मानव व्यवहार का उद्देश्य सन्तोष अथवा सुख को अधिक से अधिक करना होता है। इसी एक मान्यता (Assumption) के आधार पर समस्त अर्थ-विज्ञान की रचना होती है। इसके उपरान्त गोसन उपभोग के उन दोनो नियमो की विवेचना करते है जिनके पालन करने से इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। उनका अभिप्राय यह है कि अर्थशास्त्र उपभोग पर ही आधारित है और इस शास्त्र को समझने के लिए सर्व प्रथम उपभोग और उसके नियमो का ही अध्ययन करना चाहिए।

आधुनिक अर्थशास्त्र के दूसरे युग मे मार्शल का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके हाथो उपभोग के अध्ययन पर विशेष प्रकाश पडा है। मार्शल की विशेषता यह है कि उन्होने बड़े सरल तथा रोचक ढग से उपभोग के नियमो की व्याख्या की है और उपभोक्ता की बचत का एक नया तथा मौलिक विचार अर्थशास्त्र को दिया है। तीसरे युग मे नवीन कालीन लेखको का नम्बर आता है, जिनमे रोबिन्स, श्रीमती जोन रोबिन्सन (Joan Robinson) तथा जे० आर० हिक्स (J. R. Hicks) के नाम अधिक प्रसिद्ध है। यह कहना व्यर्थ न होगा कि आधुनिक अर्थशास्त्र के ये सभी नवीन लेखक उपभोग को ही अर्थशास्त्र का आधार तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग मानते हैं।

रोबिन्स द्वारा की गई अर्थशास्त्र की परिभाषा पहले ही दी जा चुकी है। उसके अध्ययन के पश्चात् यह सन्देह रह जाना सम्भव नही है कि अर्थशास्त्र में उपभोग का स्थान कितना ऊँचा है। ऊपर दी गई सभी बातों से साराश यह निकलता है कि प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने उपभोग के महत्त्व को ठीक ठीक नही समझा था। अर्थशास्त्र के इस महत्त्वपूर्ण विभाग का अध्ययन बहुत देर मे आरम्भ हुआ, किन्तु उसके साथ-साथ हमे यह भी जान लेना चाहिए कि आधुनिक अर्थशास्त्र मे इस महत्त्व को पूर्ण रूप से समझ लिया गया है और स्वीकार कर लिया गया है।

उपभोग का महत्त्व—

यह बताते समय कि उपभोग के अध्ययन का आरम्भ किस प्रकार हुआ, उपभोग के महत्त्व के विषय मे भी थोड़ा बताया जा चुका है। आधुनिक अर्थशास्त्र मे उपभोग को सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता है। उपभोग ही मानवीय क्रियाओ को जन्म देता है और इस प्रकार उपभोग की विवेचना किये बिना मनुष्य की जीवन-क्रीड़ाओ को समझना कठिन होगा। उपभोग को मनुष्य की सभी क्रियाओ का आरम्भ (Beginning) और अन्त कहा जाता है। मनुष्य आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये ही काम करता है और मनुष्य के सभी कामो का अन्तिम परिणाम यही होता है कि वह अपनी आवश्यकता पूरी कर ले। इस प्रकार उपभोग ही मनुष्य की क्रियाओ का जन्मदाता है और इसी पर जाकर मनुष्य की क्रियाओं का अन्त होता है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, अर्थशास्त्र के चार विभाग हैं, जिनका परस्पर बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, परन्तु उत्पत्ति, विनिमय और वितरण का रूप उपभोग द्वारा निश्चित होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि उत्पत्ति का ध्येय आवश्यकताओ की पूर्ति होता है। उन्ही वस्तुओ की उत्पत्ति की जाती है जिनका कि उपभोग होता है। ऐसी किसी वस्तु की उत्पत्ति करना जो उपभोग मे न लाई जा सके, व्यर्थ होगा। गुणात्मक दृष्टिकोण से भी उत्पत्ति का रूप उपभोग पर आधारित होता है। जैसे जैसे हमारी आवश्यकताओ का रूप बदलता जाता है वैसे ही उत्पत्ति का रूप भी बदलता है। कुछ समय पहले जिन वस्तुओ की उत्पत्ति की जाती थी या जिन वस्तुओ की उत्पत्ति बड़ी महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी, आजकल या तो उनकी उत्पत्ति होती ही नही है या इस प्रकार की उत्पत्ति का महत्त्व घट गया है। इसका मुख्य कारण यही है कि इन वस्तुओ का उपभोग अब इतना महत्त्वपूर्ण नही रह गया है जितना कि पहले था। इसी प्रकार उत्पत्ति की नई-नई रीतियाँ तथा नये-नये आविष्कार भी उपभोग पर ही आधारित हैं। एक साधारण सी कहावत है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। अभिप्राय यह है कि उत्पत्ति सम्बन्धी नई नई बातो की खोज हम इसी कारण से करते हैं कि अपनी आवश्यकताओ की अधिक से अधिक तृप्ति कर सकें।

विनिमय का भी मुख्य उद्देश्य अधिकतम् तृप्ति की प्राप्ति होता है। विनिमय का एक साधारण सत्य यह है कि विनिमय से विनिमय करने वाले दोनो पक्षो को लाभ

होता है। विनिमय हम केवल उसी दशा में करते है जबकि बदले में मिलने वाली वस्तु से हमे अधिक उपयोगिता की आशा होती है। बात यह है कि हम अपनी आय के सीमित साधनों को विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार व्यय करने का प्रयत्न करते है कि हमे प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता अधिक से अधिक हो जाये।

वितरण की समस्या भी उपभोग से सम्बन्धित है। उत्पत्ति के सभी साधन, जो उत्पत्ति मे सहायक होते हैं, आवश्यकताओं के कारण से ही कार्य के लिए प्रेरित होते हैं और कुल उत्पादन मे से इसलिए हिस्सा बँटाते हैं कि उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। यदि किसी उत्पत्ति के साधन को उपभोग के लिए पर्याप्त हिस्सा नहीं मिलेगा तो वह उत्पत्ति मे कोई भी रुचि नही लेगा। इसके साथ-साथ श्रम इत्यादि उत्पत्ति के साधनों की कार्यक्षमता उपभोग द्वारा निश्चित होती है। कार्यक्षमता एक बडे अंश तक जीवन-स्तर (Standard of Living) पर निर्भर होती है और जीवन-स्तर उपभोग द्वारा ही निश्चित होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि हमारे जीवन मे उपभोग का बड़ा महत्त्व है। अर्थशास्त्र के कुछ आलोचक, जिनके विचार मे सारा अर्थशास्त्र उपभोग के एक महत्त्वपूर्ण नियम, अर्थात् अधिकतम् तृप्ति नियम, पर आधारित है, एक बड़े सत्य का उल्लेख करते है। यथार्थ मे उपभोग से अलग करके अर्थशास्त्र को समझना कठिन होगा।

अध्याय १०

उपयोगिता ह्रास नियम

(The Law of Diminishing Utility)

उपयोगिता की माप (The Measurement of Utility)—

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि किसी वस्तु में मनुष्य की आवश्यकता को पूरा करने का जो गुण होता है उसी को उसकी उपयोगिता कहते हैं। इस प्रकार देखने से पता चलता है कि उपयोगिता किसी वस्तु का भीतरी गुण (Inherent Quality) नहीं है, वरन् वह मनुष्य की आवश्यकता द्वारा उत्पन्न होती है। उपयोगिता का सम्बन्ध वस्तु से न होकर मनुष्य की मनोवृत्ति (Psychology) से है। किसी वस्तु विशेष से एक मनुष्य को कितनी उपयोगिता प्राप्त होगी, यह उस मनुष्य की आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर होती है। विशेष परिस्थितियों में एक ही वस्तु की उपयोगिता कम या अधिक हो सकती है और भिन्न-भिन्न वस्तुओं की उपयोगिता तो प्रायः समान नहीं होती है।

उपयोगिता एक अमूर्त (Abstract) गुण है, इसलिए प्रत्यक्ष रूप से इसकी माप नहीं हो सकती। अधिकांशतः उपयोगिता को परोक्ष (Indirect) रीति से नापने का प्रयत्न किया गया है। सच बात तो यह है कि उपयोगिता, भावना, इच्छा, इत्यादि अभौतिक वस्तुओं की माप केवल मन में ही की जा सकती है। हम यह तो पता लगा सकते हैं कि दो वस्तुओं में से कौनसी वस्तु में हमें अधिक उपयोगिता मिल रही है, परन्तु यह कहना कठिन होगा कि इनमें से प्रत्येक की उपयोगिता कितनी है। उपयोगिता एक तुलनात्मक (Relative) शब्द है। उपयोगिता की माप करते समय बहुत से लेखक उपयोगिता और सन्तोष (Satisfaction) के बीच के भेद को भुला देते हैं। प्रायः ऐसा समझा जाता है कि उपयोगिता की माप सन्तोष के बराबर होती है। एक प्रकार से यह बात सच भी है, क्योंकि जितनी अधिक सन्तुष्टि किसी वस्तु के उपभोग से मिलती है उतनी ही अधिक उसकी उपयोगिता होती है, परन्तु उपयोगिता और सन्तोष दोनों एक नहीं हैं। सन्तोष आवश्यकता पूर्ति के कारण उत्पन्न होने वाली मानसिक दशा का नाम है, जिसका वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, बल्कि उपभोक्ता की मानसिक स्थिति से होता है।

परोक्ष रीति से उपयोगिता की माप इस प्रकार की जाती है कि हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि एक मनुष्य एक वस्तु से मिलने वाली उपयोगिता के बदले में कितना मूल्य देने को तैयार है। दूसरे शब्दों में, वह मनुष्य उस वस्तु को प्राप्त करने के

लिए कितना त्याग या प्रयत्न करने के लिए प्रस्तुत है। यह त्याग या प्रयत्न उस वस्तु की उपयोगिता की माप का सूचक होता है। उदाहरणार्थ, यदि एक मनुष्य बीस रुपये प्राप्त करने के लिए चार दिन काम करने को तैयार है तो बीस रुपये की उपयोगिता की माप चार दिन के काम के बराबर होगी। किसी वस्तु विशेष की उपयोगिता की माप मुद्रा (Money) में भी की जा सकती है। पीगू (Pigou) का मत है कि अर्थ-विज्ञान में मुद्रा के माप-दण्ड (Measuring rod of Money) का अधिक महत्त्व है और इसी के द्वारा मूल्य और इस प्रकार के दूसरे तथ्यों को मापा जाता है। उपयोगिता की माप उतनी मुद्रा के बराबर होती है जितना कि एक मनुष्य किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए व्यय करने को तैयार होता है। यदि हम एक किताब के लिए दस रुपये देने को तैयार हैं तो हमारे लिए उस किताब की उपयोगिता की माप दस रुपये के बराबर होगी।

सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता (Marginal Utility and Total Utility)—

जब कोई मनुष्य किसी वस्तु की एक इकाई के बाद दूसरी इकाई, तीसरी इकाई, इत्यादि निरन्तर उपभोग करता जाता है तो उपभोग की *अन्तिम इकाई को उपभोग की सीमान्त इकाई (Marginal Unit) कहते हैं। इस इकाई से जो कुछ भी उपयोगिता मिलती है उसे सीमांत उपयोगिता (Marginal Utility) कहा जाता है*, जैसे—यदि एक मनुष्य एक के बाद दूसरा करके पाँच सन्तरे खाता है तो पाँचवा सन्तरा उपभोग की अन्तिम या सीमान्त इकाई हुआ और उससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता होगी।

किसी वस्तु की जितनी इकाइयों का उपभोग किया जाता है उन सबसे मिल कर जो उपयोगिता प्राप्त होती है उसे हम पूर्ण या कुल उपयोगिता कहते हैं। ऊपर के उदाहरण मे सन्तरो की पाँचो इकाइयो की उपयोगिता का योग कुल उपयोगिता (Total Utility) होगा। कुछ लेखको ने एक तीसरे प्रकार की भी उपयोगिता बताई है, जिसको औसत उपयोगिता (Average Utility) कहते हैं। कुल उपयोगिता को इकाइयो की सख्या से भाग देने पर औसत उपयोगिता निकल आती है। यदि पाँचो सन्तरो से ४० के बराबर उपयोगिता मिले तो औसत उपयोगिता ४०÷५=८ होगी। निम्न तालिका मे सन्तरो से प्राप्त होने वाली सीमान्त और कुल उपयोगिता को दिखाया गया है। हमने यह मान लिया है कि सभी सन्तरो से समान उपयोगिता नही मिलती है :—

सन्तरे	सीमान्त उपयोगिता	कुल उपयोगिता
१	१२	१२
२	१०	२२
३	८	३०
४	६	३६
५	४	४०

इस तालिका से पता चलता है कि जबकि, प्रत्येक अगले सन्तरे की सीमान्त उपयोगिता घटती जा रही है, किन्तु कुल उपयोगिता बढ़ती जा रही है, परन्तु यह सम्भव है कि एक ऐसा बिन्दु भी आ जाय कि जिसके पश्चात् सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता दोनों ही एक साथ घटने लगें। ऐसी स्थिति तब आती है जबकि किसी वस्तु के लिए मनुष्य की आवश्यकता पूर्णतया पूरी हो जाती है अथवा जब वह सन्तुष्टि-स्तर (Satiety Level) तक पहुँच जाता है।

अर्थशास्त्र में सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता के बीच भेद करने की प्रथा बहुत पुरानी नहीं है। इस प्रकार का भेद सबसे पहले शायद जेवन्स (Jevons) ने किया है। उन्होंने सीमान्त उपयोगिता के स्थान पर 'उपयोगिता का अन्तिम अंश' (Final degree of utility) शब्द का उपयोग किया है। उन्होंने उपयोगिता सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण नियम अर्थात् उपयोगिता ह्रास-नियम (Law of Diminishing Utility) की व्याख्या करने के पश्चात् ऐसा किया है। इस नियम का अध्ययन आगे चलकर किया जायगा। इस सम्बन्ध में एक बात और जान लेना बहुत आवश्यक है कि उपयोगिता की सही माप सम्भव नहीं है। जो भी माप हम करते हैं वह अनुमानजनक (Arbitrary) होती है, जिस पर पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता है। इस दोष के कारण आधुनिक अर्थशास्त्री उपयोगिता-विवेचना (Utility Analysis) की रीति का विरोध करते हैं। उपयोगिता की माप में अनिश्चितता होने के कारण एक दूसरी रीति अपनाई जाती है, जिसमें उपयोगिता की माप की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। इसमें उदासीनता वक्र (Indifference Curves) की सहायता से काम लिया जाता है।

उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility)—

किसी वस्तु से जो उपयोगिता प्राप्त होती है वह एक महत्त्वपूर्ण नियम का विषय है, जो हमारे प्रति दिन के जीवन में लागू होता है। मनोविज्ञान का एक नियम है, जिसका नाम उसका रचयिता के नाम पर वैबर-फैक्नर नियम (Weber-Fechner Law) रखा गया है। यह नियम प्रयोग (Experiment) पर आधारित है। यदि कोई बहुत तेज रोशनी हमारी आँखों के सामने से गुजरती जाय तो एक दम हमारी आँखें चकाचौंध हो उठती हैं, किन्तु यदि उतनी ही तेज रोशनी बार-बार हमारी आँखों के सामने से गुजरे तो धीरे-धीरे उस रोशनी का चमकीलापन हमें कम

ज्ञात होने लगता है। अभिप्राय: यह है कि मनुष्य की चेतना या अनुभव (Sensation) पर ह्रास नियम लागू होता है, अर्थात् बार-बार दोहराने पर उस अनुभव की तीव्रता कम होती हुई प्रतीत होती है।

इसी नियम के आधार पर अर्थशास्त्रियों ने उपयोगिता-ह्रास नियम का निर्माण किया है। ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि हमारे पास किसी वस्तु की मात्रा जितनी बढ़ती जाती है, उतनी ही उसकी अगली इकाइयों के लिए हमारी आवश्यकताओं की तीव्रता या आग्रहपूर्णता (Urgency) क्रमशः कम होती जाती है। दूसरे शब्दों में, अगली इकाइयों की उपयोगिता धीरे-धीरे घटती जाती है। यह विचार साधारण अनुभव पर आधारित है। कोई भी मनुष्य अपने प्रति दिन के जीवन में इस नियम को लागू होते हुये देख सकता है। उदाहरणस्वरूप, जब हमें बहुत प्यास लगी होती है तो पानी के पहले गिलास से हमे बड़ी सन्तुष्टि मिलती है, अर्थात् उसकी उपयोगिता हमारे लिये बहुत अधिक होती है। दूसरे गिलास से हमे कम सन्तुष्टि प्राप्त होती है और तीसरे से और भी कम। इस प्रकार हर अगले गिलास की उपयोगिता धीरे-धीरे घटती जाती है और यदि पानी का उपभोग बराबर चालू रहे तो यह भी सम्भव है कि कुछ समय बाद हमे पानी के गिलास से कुछ भी सन्तुष्टि न मिले।

परिभाषा—

यह प्रवृत्ति (Tendency) सर्वव्यापी है और साधारणतया प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध मे लागू होती है। इसी प्रवृत्ति को अर्थशास्त्र मे एक नियम का नाम दे दिया गया है, जिसको कि हम उपयोगिता ह्रास नियम कहते हैं। मार्शल ने इस नियम का इस प्रकार उल्लेख किया है—*"किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु की मात्रा मे वृद्धि होने से जो अधिक लाभ उसको प्राप्त होता है, अन्य वस्तुओं के यथास्थित रहने पर, उस वस्तु की मात्रा की प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ घटता जाता है।"*[1]

एक दूसरे स्थान पर उपयोगिता की मुद्रा में माप करते हुए मार्शल ने इसी विचार को इस प्रकार व्यक्त किया है—*"जितनी ही किसी व्यक्ति के पास किसी वस्तु की मात्रा अधिक होती है, अन्य बातों के यथास्थिर रहते हुए, वह उसे थोड़ी सी और अधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए नीची कीमत देने को तैयार रहेगा।"*[2] प्रो० चैपमैन ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—*"जितनी ही कोई वस्तु हमारे पास अधिक मात्रा में होती है उतना ही हम उसकी और अधिक वृद्धि कम अंश तक चाहते हैं अथवा उतना ही अधिक हम उसकी अधिक वृद्धि नहीं चाहते*

1. "The additional benefit which a person derives from a given increase of a stock of a thing diminishes, other things being equal, with every increase in the stock that he already has." —Marshall: *Principles of Economics.*

2. "The larger the amount of a thing that a person has, the less, other things being equal, will be the price which he will pay for a little more of it."—*Ibid.*

हैं।"[1] टामस का कथन है—"किसी वस्तु की और अधिक पूर्ति की उपयोगिता उस वस्तु के प्रस्तुत स्टॉक की प्रत्येक वृद्धि के साथ घटती है। इसके अतिरिक्त कुल उपयोगिता बढती है, किन्तु एक घटते हुये अनुपात में। यहाँ तक कि अन्त में वस्तु की और अधिक मात्रा से उल्टी अनुपयोगिता उत्पन्न हो सकती है।"[2]

साधारण भाषा मे इसी नियम की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यदि अन्य बातें यथास्थित रहे (Other thing remaining the same) तो किसी भी वस्तु की प्रत्येक इकाई अपने से पहले वाली इकाई से कम उपयोगिता प्रदान करती है। उदाहरणस्वरूप, हम इस प्रकार कह सकते है कि यदि किसी मनुष्य को सन्तरे की पहली इकाई से १० के बराबर उपयोगिता मिलती है तो दूसरे सन्तरे से १० से कम अर्थात् ९, तीसरे से ८, चौथे से ७, इत्यादि घटती हुई मात्रा मे उपयोगिता प्राप्त होगी। इस प्रकार उपयोगिता प्राप्ति का क्रम निम्न प्रकार होगा:—

सन्तरे की इकाइयाँ	उपयोगिता
पहली	१०
दूसरी	९
तीसरी	८
चौथी	७
इत्यादि	
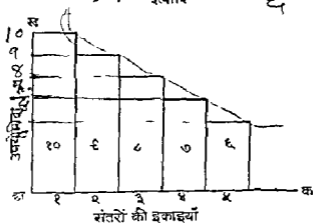
1. "The more we have of a thing, the less we want additional increments of it, or the more we want not to have additional increments of it."—Chapman.

2. ".........the utility of additional supplies of a commodity diminishes with every increase in the available stock of it, moreover, total utility increases but at a diminishing rate, until eventually, any further increments of the commodity may even have disutility."—Thomas: *Elements of Economics*, p. 43.

इसी बात को रेखा-चित्र द्वारा भी अंकित किया जा सकता है। ऊपर के चित्र में प्रत्येक आयत (Rectangle) एक-एक सन्तरे से प्राप्त होने वाली उपयोगिता की माप दिखाता है।

इस नियम की वक्र रेखा भी आगे के चित्र में दिखाई गई है :—
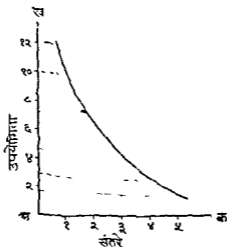
इन दोनों चित्रों के देखने से पता चलता है कि सन्तरों की इकाइयों की वृद्धि के साथ-साथ प्रत्येक अगली इकाई की उपयोगिता घटती चली जाती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह नियम लागू ही क्यों होता है? क्या इसका लागू होना आवश्यक है? अनुभव हमें बताता है कि जिस प्रकार मनुष्य के पास साधन सीमित मात्रा में होते हैं इसी प्रकार उसका आनन्द प्राप्त करने का सामर्थ्य भी सीमित ही है। आरम्भ में प्रत्येक आवश्यकता बहुत तीव्रता के साथ अनुभव होती है, किन्तु कुछ अंश तक सन्तुष्टि के बाद इस तीव्रता में कमी होने लगती है। मनुष्य की आवश्यकता का स्वरूप ही ऐसा है कि धीरे-धीरे उसकी आग्रहपूर्णता (Urgency) कम होती चली जाती है। यही कारण है कि जैसे-जैसे किसी वस्तु का स्टॉक हमारे पास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे इस बढ़ते हुए स्टॉक से हमें क्रमशः कम उपयोगिता मिलती है।

इस नियम के विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि ह्रास केवल सीमान्त उपयोगिता पर ही लागू होता है। उपभोग की अगली इकाइयों की उपयोगिता कम होने का अर्थ यह होता है कि सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) क्रमशः कम होती जाती है। कुल उपयोगिता (Total Utility) का कम होना आवश्यक नहीं है। ऊपर दिये हुए उदाहरण में यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। जब केवल एक ही सन्तरे का उपभोग किया जाता है तो पहले सन्तरे से प्राप्त होने वाली उपयोगिता ही सीमान्त उपयोगिता होगी, क्योंकि पहला सन्तरा ही उपभोग की अन्तिम इकाई है। जब दूसरे सन्तरे का भी उपभोग किया जाता है तो दूसरे सन्तरे से मिलने वाली उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता हो जायगी, जो कि पहले

सन्तरे की उपयोगिता से कम है। इस दशा में सीमान्त उपयोगिता १० से घटकर ६ हो जाती है, जबकि कुल उपयोगिता १०+६=१६ होती है। इसी प्रकार तीसरे सन्तरे की उपयोगिता केवल ८ है और उसके उपभोग से सीमान्त उपयोगिता और भी कम हो जाती है, जबकि इसके विपरीत कुल उपयोगिता बढ़कर १०+६+८=२७ हो जाती है। अतः उपयोगिता ह्रास नियम का अधिक सही नाम सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Marginal Utility) होना चाहिए। कुछ विशेष परिस्थितियों में यह भी सम्भव हो सकता है कि सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता दोनों साथ-साथ कम हो जायें। यदि किसी वस्तु का उपभोग बराबर जारी रखा जाये तो एक समय ऐसा भी आ सकता है जबकि उस वस्तु के लिए हमारी आवश्यकता पूर्णतया सन्तुष्ट हो जायगी, अर्थात् हम सन्तोष-स्तर (Satiety Level) तक पहुँच जायेंगे। इस स्थान पर सीमान्त उपयोगिता घटकर शून्य (Zero) हो जाती है, जिसका अर्थ यह होता है कि यहाँ पर उस वस्तु के उपयोग की अन्तिम इकाई से कुछ भी उपयोगिता नहीं मिलती है। ऐसा हो जाने के पश्चात् भी यदि उपभोग चालू ही रहता है तो अगली इकाइयों से 'ऋणात्मक उपयोगिता' (Negative Utility) या 'अनुपयोगिता' (Disutility) प्राप्त होगी। ऐसी दशा में अधिक इकाइयों का उपयोग करने से सीमान्त और कुल उपयोगिता दोनों साथ-साथ घटेंगी, किन्तु सन्तोष विन्दु (Satiety Point) से पहले ऐसा नहीं होगा।

उपयोगिता ह्रास नियम की मान्यताएँ (Assumptions)—

उपयोगिता ह्रास नियम की परिभाषा करते समय यह बात स्पष्ट कर दी गई थी कि यह नियम उसी दशा में लागू होता है, जबकि अन्य बातें यथास्थित रहें, अर्थात् उनमें परिवर्तन न हो। अब हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि ये अन्य बातें क्या हैं? सच बात तो यह है कि इस नियम की सत्यता कुछ विशेष मान्यताओं (Assumptions) पर निर्भर है। ये मान्यताएँ निम्न प्रकार हैं:—

(१) यह नियम केवल सुखमय आर्थिक दशा (Pleasure Economy) में ही लागू होता है। मनुष्य के उपभोग के क्रम को हम दो भागों में बाँट सकते हैं:— प्रथम, दुखमय आर्थिक दशा (Pain Economy) का उपभोग और दूसरे, सुखमय आर्थिक दशा (Pleasure Economy) का उपभोग। इन दोनों दशाओं के बीच भेद करना कठिन है। कोई ऐसी रेखा नहीं खींची जा सकती है जो एक को दूसरे से पूर्णतया अलग कर दे, किन्तु फिर भी इतना कहा जा सकता है कि बहुधा उपभोग का प्रारम्भ दुखमय दशा से होता है। एक अंश तक आवश्यकता पूर्ति के उपरान्त सुखमय दशा आरम्भ होती है। जब तक दुखमय दशा चलती है, उपयोगिता ह्रास नियम लागू नहीं होता, वरन् उपयोगिता वृद्धि नियम लागू होता है। उपभोग की प्रत्येक अगली इकाई से पहली की अपेक्षा अधिक उपयोगिता मिलती है। दुखमय दशा से हमारा अभिप्राय उस दशा से है जबकि आवश्यकता की आग्रहपूर्णता या उसकी तीव्रता

इतनी अधिक होती है कि आवश्यकता की पूर्ति न होने के कारण मनुष्य दुख का अनुभव करता है। यदि एक मनुष्य बहुत भूखा है और वह भूख मिटाने के साधनों के अभाव के कारण पीड़ित है तो उस समय का उसका भूख मिटाने से सम्बन्धित उपभोग दुखमय दशा का उपभोग होगा। ऐसे किसी मनुष्य को यदि एक रोटी खाने को दी जाय तो उसको खा कर उसकी भूख और भी प्रचण्ड हो जायगी, जिसका परिणाम यह होगा कि दूसरी रोटी खा कर वह पहली रोटी से भी अधिक अंश तक दुख का निवारण अनुभव करेगा, अर्थात् दूसरी रोटी से उसे पहली रोटी की अपेक्षा और भी अधिक उपयोगिता मिलेगी। यह दशा उस समय तक बनी रहेगी जब तक कि एक निश्चित सीमा तक भूख नही मिट जायगी। जब भूख की तीव्रता इतनी कम हो जायगी कि उसकी उपस्थिति किसी विशेष कष्ट का कारण न रहेगी तो प्रत्येक अगली रोटी से पहली की अपेक्षा कम उपयोगिता मिलेगी। यही से सुखमय दशा का प्रारम्भ होता है। इस दशा मे जैसे जैसे रोटी का और अधिक उपयोग किया जाता है, प्रत्येक अगली इकाई से पहली से कम उपयोगिता मिलेगी। अतः उपयोगिता ह्रास नियम केवल सुखमय दशा (Pleasure Economy) का नियम है।

(२) उपभोग का क्रम निरन्तर चालू रहना चाहिए। यदि उपभोग क्रमशः नही होता रहेगा तो यह आवश्यक नही है कि यह नियम लागू हो। आवश्यकताओं के लक्षण में ही यह बताया जा चुका है कि आवश्यकताएं बार-बार उत्पन्न होती रहती हैं। यदि एक आवश्यकता एक बार पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर दी गई हैं तो इसका यह अर्थ नही होता कि उसको फिर दूसरी बार सन्तुष्ट करने की आवश्यकता नहीं पडेगी। भोजन की आवश्यकता हम प्रति दिन ही दिन में दो-तीन बार पूरी कर लेते हैं, किन्तु फिर भी यह आवश्यकता बनी ही रहती है, इसलिये यदि उपभोग का क्रम टूट जाय तो पहली आवश्यकता दूसरी बार फिर पहले जैसी तीव्रता के साथ हमारे सम्मुख आ खडी हो सकती है। उस दशा में उपभोग की अगली इकाइयाँ कम उपयोगिता प्रदान नही करेंगी, किन्तु यदि उपभोग बराबर चलता रहे तो अगली इकाइयों से कम उपयोगिता मिलेगी, क्योकि प्रत्येक आवश्यकता की तीव्रता उपभोग के साथ साथ धीरे-धीरे कम होती चली जाती है। इस प्रकार उपभोग के क्रम का न टूटना इस नियम की कार्यशीलता के लिये आवश्यक है।

(३) उपभोक्ताओं की मानसिक तथा आर्थिक दशा में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये। यह नियम एक साधारण तथा स्वच्छ मस्तिष्क के मनुष्य पर ही लागू होता है। यदि शराब इत्यादि नशे के प्रभाव से या किसी दूसरे कारण से कोई मनुष्य साधारण (Normal) दशा में नही है तो उसके व्यवहार पर किसी भी सामान्य (General) नियम का लागू होना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार आर्थिक परिस्थितियो मे अकस्मात् परिवर्तन हो जाने पर भी यह नियम लागू नही होगा। यदि एक मनुष्य के पास चार कुर्सियाँ हैं और वह अकस्मात् ही अमीर हो जाता है तो उस

दशा में पाँचवीं कुर्सी की उपयोगिता उसके लिए चौथी कुर्सी की उपयोगिता से कम नहीं होगी, वरन् अधिक हो सकती है।

(४) उपभोग की सब इकाइयाँ गुण और परिमाण में समान होनी चाहिए। जिस वस्तु का उपभोग किया जा रहा है उसकी प्रत्येक इकाई पहली इकाई के सब प्रकार समान होनी चाहिए, तभी यह नियम लागू होगा। यदि कोई मनुष्य संतरे खा रहा है और दूसरा संतरा पहले से अधिक मीठा है तो यह आवश्यक नहीं है कि दूसरे संतरे से पहले की अपेक्षा कम उपयोगिता मिले। इसी प्रकार यदि दूसरा संतरा पहले से आकार (Size) में बड़ा है तब भी ऐसा आवश्यक नहीं है। ह्रास नियम केवल उपभोग की समान इकाइयों से ही सम्बन्धित है।

(५) वस्तु और इसके स्थानापन्नों (Substitutes) की कीमतों में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। यदि वस्तु की कीमत में परिवर्तन होते हैं तो इसके फलस्वरूप उसकी माँग में भी परिवर्तन हो जायेंगे और हो सकता है कि उपभोक्ता उसे पहले से अधिक मात्रा में खरीदना अधिक पसन्द करने लगें। इसी प्रकार यदि कोई वस्तु ऐसी है कि उसके स्थानापन्न मौजूद हैं, अर्थात् कुछ दूसरी वस्तुएँ इस वस्तु के स्थान पर उपयोग की जा सकती हैं तो इन स्थानापन्नों की कीमत में भी परिवर्तन नहीं होने चाहिए। यदि स्थानापन्नों की कीमत घट जाती है तो मुख्य वस्तु के स्थान पर उनका उपभोग बढ़ जायगा और यदि स्थानापन्नों की कीमत बढ़ जाती है तो इनके स्थान पर मुख्य वस्तु का उपयोग होने लगेगा। दोनों ही दशाओं में उपयोगिता ह्रास नियम लागू न होगा।

(६) यदि वस्तु विशेष का उपभोग लम्बे समय तक होता है तो इस काल में उपभोक्ता की आय, उसके स्वभाव, उसकी आदतों और समाज में फैशन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होना चाहिये। इन सब बातों के परिवर्तनों से माँग में भी परिवर्तन हो जायेंगे और उपभोक्ता के स्वभाव में परिवर्तन हो जाने के कारण उसके उपयोगिता अथवा सन्तोष प्राप्त करने के सामर्थ्य में भी परिवर्तन हो जायगा। ऐसी दशा में उपयोगिता ह्रास नियम का लागू होना आवश्यक नहीं है।

(७) वस्तु के उपभोग की इकाइयाँ समुचित (Proper) होनी चाहिये। वे बहुत ही बड़ी अथवा बहुत ही छोटी नहीं होनी चाहिए। यदि एक प्यासे आदमी को एक-एक चम्मच करके पानी पिलाया जाता है तो प्रत्येक अगले चम्मच के पानी की उपयोगिता का पहले से कम होना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार यदि रोटी के छोटे-छोटे टुकड़ों को उपभोग की इकाई मान लिया जाता है तो भी यह नियम लागू नहीं होगा।

नियम के अपवाद (Exceptions or Limitations)—

सीमान्त उपयोगिता के घटने का नियम सर्वव्यापी (Universal) नियम है। यदि अन्य वस्तुएँ यथास्थित रहें, अर्थात् यदि ऊपर दी हुई मान्यतायें ध्यान में रखी जाएँ तो इस नियम के अपवाद बताना कठिन होगा। प्रोफेसर टॉजिग (Taussig)

का कथन है कि "यह प्रवृत्ति इतने विस्तृत रूप मे और इतने कम अपवादो के साथ प्रकट होती है कि इसे सर्वव्यापी कहने में कोई त्रुटि न होगी।[1] फिर भी इस नियम के कुछ अपवाद बताये जाते हैं। ये अपवाद वास्तव मे ठीक नही हैं, क्योंकि इनमें से अधिकतर मान्यताओं को ठीक प्रकार से न समझ सकने के कारण उत्पन्न हुये हैं। इसीलिए ये वास्तविक न होकर बनावटी (Apparent) अपवाद हैं। निम्नलिखित अपवाद विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं :—

(१) शौक पर—कहा जाता है कि कुछ वस्तुओ के विषय मे यह नियम लागू नही होता है। मान लीजिये कि किसी व्यक्ति को भिन्न-भिन्न देशो के टिकट जमा करने का शौक है। यदि उस व्यक्ति के पास पचास देशों के टिकट जमा हो गये हैं तो इक्यावनवें देश के टिकट की उपयोगिता उसके लिए कम न होगी। ऐसी दशा मे जितनी भी अधिक टिकटों के स्टॉकों में वृद्धि होगी वह व्यक्ति उतनी ही अधिक सन्तुष्टि अनुभव करेगा। इसी कारण यह कहा जाता है कि शौक (Hobby) पर यह नियम लागू नही होता है। स्मरण रहे कि इस अपवाद मे ह्रास नियम की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता पर ध्यान नही दिया गया है। यहाँ पर उपभोग की इकाइयाँ गुण और परिमाण मे समान नही हैं, क्योंकि सब टिकट एक जैसे नही हैं। जब दो टिकट दो अलग-अलग देशों के हैं तो नियम के लागू होने का प्रश्न ही नही उठता है। हाँ, यदि एक ही देश का दूसरा टिकट मिले तो उसकी उपयोगिता पहले से कम होगी। इसी प्रकार यदि उपभोग की इकाइयाँ बहुत ही छोटी हो तब भी कदाचित् यह नियम लागू न होगा। प्रोफेसर चैपमैन (Chapman) ने इस सम्बन्ध मे एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण लिया है जिसे चाय बनाने के लिये कोयले की आवश्यकता है। ऐसे व्यक्ति को यदि बहुत थोड़ी-थोडी मात्राओ मे कोयला मिलता है, जिसकी कि पहली इकाइयाँ इतनी छोटी है कि उसका काम नही चल सकता तो जैसे-जैसे उसके पास कोयले का स्टॉक बढता चला जायगा, प्रत्येक अगली इकाई की उपयोगिता उसके लिए बढती चली जायगी, जब तक कि कोयले की कुल मात्रा पर्याप्त मात्रा के समीप न पहुँच जाय।[2] इस उदाहरण के ठीक होने मे सन्देह नही है, किन्तु प्रोफेसर चैपमैन इस बात को भूल गये हैं कि वे दुखमय दशा (Pain Economy) का उदाहरण ले रहे हैं। सुखमय दशा

---

1. "The tendency shows itself so widely and with so few exceptions that there is no significant inaccuracy in speaking of it as universal."—Taussig : *Principles, of Economics*, Vol. I, Chap 9

2. If we take the increments of the commodity small enough, marginal utility will generally mount at first. Consider the value of ounces of coal per day. An ounce of coal is no good to anybody, it has little utility. Coal would not yield any value worth speaking of, until we have a large number of ounces, so here utility increases for a time with every additional ounce : and only after a very large number of ounces, additional utility of an ounce will diminish with each successive ounce."—Chapman : *Outlines of Economics*.

तभी आरम्भ होगी जबकि कोयले का स्टॉक काम चलाऊ मात्रा के निकट पहुँच जावेगा। इसके अतिरिक्त इस उदाहरण मे उपभोग की इकाइयाँ भी समुचित नही हैं।

(२) शराबी पर—कुछ लोगो का कथन है कि एक शराबी को शराब के प्रत्येक प्याले से पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगिता मिलती है। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि शराब पी लेने के पश्चात् शराबी एक साधारण या औसत (Normal) व्यक्ति नही रह जाता है। उसकी मानसिक अवस्था बदल जाती है और इसी से उसके व्यवहार पर यह नियम लागू नही होता है। ठीक ऐसी ही बात दूसरी नशीली वस्तुओ के उपभोग के विषय मे भी कही जा सकती है।

(३) दूसरो के स्टॉक का प्रभाव—यह कहा जाता है कि किसी वस्तु से हमे जितनी उपयोगिता मिलती है वह केवल इस बात पर निर्भर नही होती कि उस वस्तु का हमारे पास कितना स्टॉक है, वरन् इस बात पर भी निर्भर होती है कि समाज के दूसरे व्यक्तियो के पास उस वस्तु का स्टॉक कितना है। टेलीफोन कनैक्शन का उदाहरण इस विषय मे बहुधा दिया जाता है। यदि टेलीफोन कनैक्शनो (Telephone Connections) की सख्या बढ जाय, अर्थात् अधिक व्यक्तियों के घर में टेलीफोन हो जायें तो अपने कनैक्शन की उपयोगिता हमारे लिए बढ जायगी। इस उदाहरण मे एक बडी त्रुटि है। उपयोगिता ह्रास नियम केवल उस दशा मे लागू होता है जबकि हमारे स्टॉक मे वृद्धि हो। दूसरो के स्टॉक के घटने-बढने से इस नियम का कोई सम्बन्ध होना आवश्यक नही है।

(४) फैशन पर—दिखावटी चीजों, फैशन की वस्तुओं, शक्ति तथा धन के मोह पर यह नियम लागू नही होता है। कहा जाता है कि इस प्रकार का मोह असन्तोषनीय है, जिसकी सन्तुष्टि करने वाली वस्तु की प्रत्येक अगली इकाई से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। किन्तु ऐसे मनुष्य असाधारण तथा विरले ही होते हैं। नियम तो एक सामान्य नियम है। अर्थशास्त्र के अधिकाश नियम सभी मनुष्यो तथा सभी परिस्थितियो मे लागू नही होते। ये नियम साधारणतया (In general) ही सत्य होते हैं।

(५) दुर्लभ वस्तुएँ—दुर्लभ (Rare) वस्तुओं पर भी यह नियम लागू नही होता है। कुछ विशेष परिस्थितियो में अगली इकाइयो से पहली इकाइयो की अपेक्षा अधिक उपयोगिता मिलती है। यदि किसी शहर मे दस व्यक्ति ऐसे है जिनके पास दो-दो कारें हैं तो इनमे से यदि एक के पास तीसरी कार भी हो जाय तो इस तीसरी कार की उपयोगिता उसके लिए और भी अधिक हो जायगी, क्योंकि यह उसके लिए श्रेष्ठता (Distinction) की वस्तु हो जायगी। इस विषय मे भी इतना ही कहना काफी होगा कि यह भी कोई सामान्य दशा (General Case) नही है, वरन् विशिष्ट परिस्थिति है।

(६) अच्छी वस्तुएँ—प्रोफेसर टाजिग (Taussig) का मत है कि किसी

अच्छी पुस्तक को दुबारा पढ़ने से या किसी कविता अथवा गाने को दुबारा सुनने पर पहली बार की अपेक्षा अधिक उपयोगिता मिलती है।[1] इस कथन के सत्य होने में सन्देह नही है, किन्तु यह दशा थोड़े समय तक ही रहती है। दीर्घकाल मे यहाँ भी उपयोगिता का क्रमशः ह्रास होने लगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस नियम के अपवाद बहुत महत्त्वपूर्ण नही हैं और न ही वे मौलिक है। प्रो० टाजिग (Taussig) ने ठीक ही कहा है कि यह इसी नियम का प्रताप है कि हमे उपभोग और उत्पत्ति मे निरन्तर परिवर्तन करने पडते हैं, क्योंकि जैसे ही किसी वस्तु का उत्पादन बढ़ता जाता है, हमें उसकी अगली इकाइयों से निरन्तर घटती हुई उपयोगिता मिलती है।[2] फिर भी इतना जान लेना चाहिए कि मुद्रा अथवा धन पर यह नियम एक विशेष प्रकार से लागू होता है। कोई मनुष्य कितना ही अमीर क्यों न हो जाय, फिर भी धन की अन्तिम इकाई की उसके लिए कुछ न कुछ उपयोगिता अवश्य रहती है। धन की आवश्यकता पूर्ण रूप से कभी भी सन्तुष्ट नही होती है, इसलिए धन की सीमान्त उपयोगिता कभी शून्य के बराबर नही होती है। नीचे के चित्र मे धन की सीमान्त उपयोगिता का वक्र दिखाया गया है।
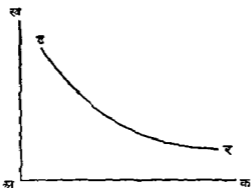
ट र धन की सीमान्त उपयोगिता का वक्र है। इसमे विशेषता यह है कि यह कही भी अ क रेखा से स्पर्श नही करता है। यह वक्र धीरे-धीरे नीचे को गिरता है, जिसका अर्थ यह है कि धन की सीमान्त उपयोगिता बहुत धीरे धीरे घटती है। किन्तु इस नियम की भी आलोचना सम्भव है, क्योंकि मुद्रा को हम साधन के रूप में लेते हैं, जिसके द्वारा उपभोग की वस्तुएं और सेवाएं खरीदी जा सकती हैं। वास्तविक जीवन में मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता भी उसकी मात्रा की वृद्धि के साथ साथ घटती जाती है।

---

1. Taussig : *Principles of Economics*, Vol. I.
2. "It is this fact of Diminishing Utility that explains the growing variety in the articles produced and the growing complexity of consumption and production."—Taussig.

उपयोगिता ह्रास नियम का महत्त्व (The Importance of the Law of Diminishing Utility)—

अर्थशास्त्र के दूसरे नियमों की भाँति उपयोगिता ह्रास नियम का अध्ययन भी अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण विषय है। इस नियम का सैद्धान्तिक (Theoretical) और व्यावहारिक (Practical) दोनों ही प्रकार का महत्व है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इसका उपयोग मूल्य के सिद्धान्त में होता है। माँग के नियम का अध्ययन हम पीछे कर चुके हैं। ध्यानपूर्वक देखने से पता चलेगा कि उपयोगिता ह्रास नियम और माँग के नियम की वक्र रेखाएँ रूप और गुण में एक जैसी ही होती हैं। माँग का नियम यथार्थ में उपयोगिता ह्रास नियम पर ही आधारित है। किसी भी वस्तु की माँग की कीमत (Demand Price) उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता द्वारा निश्चित की जाती है। अगली इकाइयों के लिए हम कम कीमत देने को इसीलिए तैयार रहते हैं कि हमारे लिए अगली इकाइयों की उपयोगिता (सीमान्त उपयोगिता) घटती चली जाता है।

व्यावहारिक (Practical) दृष्टिकोण से भी इस नियम का बहुत महत्त्व है। प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) कर प्रणाली का आधार बहुधा यह नियम ही होता है। आधुनिक प्रवृत्ति प्रगामी दरों (Progressive Rates) पर कर लगाने की है, जिसके अनुसार धनी व्यक्तियों को कम धनी व्यक्तियों की तुलना में अपनी आय का अधिक बड़ा भाग कर के रूप में देना पड़ता है। ऐसा इसी आधार पर उचित होता है कि एक धनी व्यक्ति की आय अधिक होने के कारण उसके लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता निर्धन व्यक्ति की तुलना में कम होती है। अपनी आय का अधिक बड़ा भाग कर के रूप में देकर ही वह निर्धन व्यक्ति के बराबर त्याग करता है। न्यायशीलता इसी में है कि सभी करदाता कर चुकाने में समान त्याग करें। अतएव उपयोगिता ह्रास नियम को ध्यान में रखते हुए अमीरों पर गरीबों की अपेक्षा अधिक ऊँची दर पर कर लगाना ही उचित होगा।

(२) यह नियम हमें यह समझाता है कि जीवन-स्तर (Standard of Living) को एक निश्चित सीमा से परे ले जाने से कार्यक्षमता की वृद्धि की गति धीमी क्यों हो जाती है। बात यह है कि उपभोग की अगली इकाइयों से पहली इकाइयों की तुलना में कम उपयोगिता प्राप्त होती है।

(३) जैसा कि टॉजिग ने कहा है, इसी नियम की सहायता से हम इस बात को समझ पाते हैं कि उपभोक्ता अपने उपभोग में क्यों परिवर्तन करता रहता है और उत्पादक उत्पत्ति का रूप क्यों बदलता रहता है।

सीमान्त उपयोगिता के विचार का महत्त्व (Importance of the Concept of Marginal Utility)—

सीमांत विवेचना (Marginal Analysis) ने आर्थिक समस्याओं के विश्लेषण मे एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। निम्न लाभ उल्लेखनीय हैं:—

(१) प्रत्येक व्यक्ति अपने सन्तोष को अधिकतम करना चाहता है। इसके लिए आय को उपभोग के विभिन्न शीर्षकों पर इस प्रकार फैलाना आवश्यक होता है कि प्रत्येक से समान सीमांत उपयोगिता प्राप्त हो। सीमान्त उपयोगिता के विचार के बिना व्यय को इस प्रकार फैलाने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(२) सीमान्त उपयोगिता ही उत्पत्ति मे सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) का रूप धारण कर लेती है और जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, वितरण मे यह सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है।

(३) उपभोग के दूसरे महत्त्वपूर्ण नियम, अर्थात् सम सीमान्त उपयोगिता नियम का आधार भी उपयोगिता ह्रास नियम ही है।

(४) करारोपण के सम्बन्ध मे इस नियम का महत्त्व हम पहले ही देख चुके है। प्रगामी करारोपण का आधार यही नियम है।

QUESTIONS

१. मार्शल की "घटती हुई सीमान्त उपयोगिता" के नियम की व्याख्या कीजिए।
(आगरा, बी० ए० पार्ट १, १६५६)

2. Define Marginal Utility (सीमान्त उपयोगिता). Show the relation of Marginal Utility and Total Utility. Give an example and diagram. (Raj., B. A., 1959)

3. (a) When the Marginal Utility is zero the Total Utility is the maximum. Explain the statement with the help of a table of figures. (b) Explain Demand Schedule and Demand Curve. (Raj., B Com., 1958)

4. Prove that the total utility of a quantity of a commodity is maximum only when its marginal utility is zero. Use a diagram to explain it. (Agra, B. Com. Part I, 1958)

५. उन मान्यताओं का विश्लेषण कीजिए जिन पर उपयोगिता के क्रमागत ह्रास का नियम आधारित है। (आगरा, बी० ए० पार्ट १ सप्लीमेन्टरी, १६५८)

6. Discuss the relationship between (a) The Law of Diminishing Utility and the Law of Demand and (b) Individual Demand and Market Demand. Give diagram to explain your answer. (Agra, B. Com. Part I, 1958, 1957 S)

७. उपयोगिता के क्रमागत ह्रास के नियम की व्याख्या कीजिये। सम्पूर्ण उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता में भेद समझाइये।

(आगरा, बी० ए० पार्ट १ सप्लीमेन्टरी, १९५७)

८. उपयोगिता के क्रमागत-ह्रास-नियम की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए। क्या इस नियम का कोई प्रत्यक्ष या वास्तविक अपवाद है ? समझाइये।

(इलाहाबाद, बी० कॉम पार्ट १, १९५७)

९. व्याख्या कीजिये—(क) "जब सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है, कुल उपयोगिता अधिकतम होती है।" (ख) "जितनी अधिक मात्रा में कोई वस्तु आपके पास उपलब्ध हो, उतनी उसकी आवश्यकता कम होती जाती है।" (सागर, बी० कॉम०, १९५६)

१०. घटते सीमान्त संतुष्टि गुण के नियम की परिभाषा दीजिए और उसकी विवेचना कीजिये तथा बतलाइये कि अपनी सीमित आय का वितरण करने में तर्कशील उपभोक्ता के व्यवहार पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है ? (विक्रम, बी० ए०, १९५६)

११. आधुनिक आर्थिक विश्लेषण में "सीमान्त धारणा" के महत्त्व की विवेचना कीजिये।

(विक्रम, बी० ए०, १९५६)

12. What is meant by 'Utility' ? State briefly the Law of Diminishing Utility ? Point out the significance of the phrase "Other things being equal." What are these other things ? Are there any real or apparent exceptions to the law ?

(Agra, B. Com. Part I, 1955)

13. "The tendency (Diminishing Marginal Utility) (सीमान्त उपयोगिता ह्रास) shows itself so widely and with so few exceptions that there is no significant inaccuracy in speaking of it as universal." (Taussig) Discuss. (Raj., B. A , 1955)

14. Write a short note on the following so as to bring out clearly the distinction between them :—
Marginal and Total Utility (सीमान्त और कुल उपयोगिता)

(Raj., B. A., 1955)

15. Clearly explain the Law of Diminishing Utility. Can you deduce from it any law for the guidance of people's expenditure. (Raj., B. A., 1953)

16. Discuss critically the principles of Diminishing Marginal Utility. Are there any exceptions to the principles ?

(Alld., B. Com Part I, 1953)

17. Explain the following (a) The Law of Indifference, (b) The Law of Diminishing Utility and (c) Marginal Utility.

(Agra, B. Com., 1946)

अध्याय ११

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम

(The Law of Equi-marginal Utilities)

परिभाषा—

सम-सीमात उपयोगिता नियम उपभोग का एक महत्वपूर्ण नियम है। इस नियम के कई नाम हैं। कुछ लेखक इसे सम-सीमान्त प्रत्याय नियम (Law of Equi-marginal Returns) के नाम से पुकारते है। इसी प्रकार यह नियम अधिकतम् सन्तोष सिद्धान्त (Doctrine of Maximum Satisfaction), प्रतिस्थापना नियम (Law of Substitution) और उदासीनता नियम (Law of Indifference) भी कहलाता है। प्रोफेसर मार्शल ने इस नियम की परिभाषा इस प्रकार की है—*"यदि किसी मनुष्य के पास एक ऐसी वस्तु हो जिसे वह कई उपयोगों (Uses) में ला सकता है, तो वह उस वस्तु को उन उपयोगों में इस प्रकार बाँटेगा कि प्रत्येक उपयोग में उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता समान ही रहे।"**

मान लीजिए कि कोई उपभोक्ता अपनी आय को विविध वस्तुओं पर खर्च करना चाहता है। यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक मनुष्य इस बात का प्रयत्न करता है कि अपने पास के सीमित साधनो से अधिक से अधिक लाभ उठाये। इसी कारण प्रत्येक उपभोक्ता अपनी आय का विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार वितरण करेगा कि उसको प्रत्येक वस्तु पर व्यय किये गये अन्तिम रुपये से यथासम्भव समान उपयोगिता प्राप्त हो। कारण यह है कि इसी प्रकार व्यय करने से अधिकतम् सन्तोष अथवा उपयोगिता प्राप्त की जा सकती है। जब आय का व्यय विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के ऊपर इस प्रकार किया जाता है कि प्रत्येक से असमान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होती है तो यह देखने मे आता है कि व्यय में इस प्रकार का परिवर्तन कर देने से कि सीमान्त उपयोगिताएं समान हो जाएं, कुल उपयोगिता मे वृद्धि हो जाती है और आय का अधिक लाभदायक व्यय दृष्टिगोचर होता है। इससे पता चलता है कि *अधिकतम्-उपयोगिता अथवा सन्तोष की प्राप्ति के लिए द्रव्य अथवा आय को विभिन्न उपयोगों पर इस प्रकार विभाजित किया जाय कि प्रत्येक दशा में सीमान्त उपयोगिता*

---

* "If a person has a thing which he can put to several uses he will distribute it among these uses in a way that it has the same marginal utility in all."—Marshall : *Principles of Economics*, p. 119.

*समान ही रहे ।** इसी से यह नियम सम-सीमान्त उपयोगिता नियम कहलाता है। इस नियम को प्रतिस्थापना नियम इसलिए कहा जाता है कि जिस वस्तु के उपभोग से कम उपयोगिता प्राप्त होने की सम्भावना होती है उसके स्थान पर हम ऐसी वस्तु का उपभोग करते है जिससे अधिक उपयोगिता मिलने की आशा है। अभिप्राय यह है कि अपने सन्तोष को अधिकतम् बनाने के लिए मनुष्य अधिक और कम उपयोगी वस्तुओ के बीच प्रतिस्थापन करता रहता है। इस नियम के अनुसार व्यय करने पर अधिकतम् उपयोगिता मिल जाती है और अन्त में विभिन्न उपयोगो पर व्यय इस प्रकार हो जाता है कि उपभोक्ता इस विषय मे उदासीन अथवा तटस्थ (Indifferent) हो जाता है कि इन विभिन्न वस्तुओ मे से कौनसी को चुने ?

उदाहरण—

एक छोटे से उदाहरण से यह नियम और भी स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिए कि एक व्यक्ति के पास महीने के प्रारम्भ मे १७ रुपये हैं, जिन्हे वह गेहूँ, कपड़ा, चावल और चीनी चार वस्तुओ पर व्यय करना चाहता है। नीचे की दी हुई तालिका में यह दिखाया गया है कि गेहूँ, कपड़ा, चावल और चीनी पर रुपए की इकाइयाँ व्यय करने से किस प्रकार उपयोगिता मिलती है। इन चारो वस्तुओ की इकाइयाँ इस प्रकार चुनी गई हैं कि प्रत्येक की १ इकाई १ रुपए मे प्राप्त की जा सकती है :—

तालिका

व्यय किए हुए धन की इकाइयाँ	वस्तुओं से मिलने वाली सीमांत उपयोगिता का क्रम			
	गेहूँ	कपड़ा	चावल	चीनी
पहला रुपया	१००	९०	८०	६०
दूसरा ,,	८०	७०	६०	४०
तीसरा ,,	६०	५०	४०	३०
चौथा ,,	५०	३०	३०	२०
पाँचवाँ ,,	४०	२०	१५	१५
छटवाँ ,,	३०	१५	१०	१०
सातवाँ ,,	२०	१०	५	५
आठवाँ ,,	१०	५	०	२
नौवाँ ,,	०	०	—५	०

अब यदि वह व्यक्ति अपने रुपयो के व्यय से अधिकतम् उपयोगिता प्राप्त करना चाहता है तो प्रत्येक रुपये को उस वस्तु की इकाई खरीदने पर व्यय करेगा, जिससे

* "For the total utility to be maximum, a given income must be so divided between different articles of consumption as to yield equal marginal satisfaction along each line of satisfactoin."

कि उसे सबसे अधिक उपयोगिता मिलती है। निश्चय है कि सबसे पहला रुपया गेहूँ की प्रथम इकाई खरीदने पर व्यय किया जावेगा, क्योंकि इससे उसे १०० उपयोगिता मिलती है। व्यय का क्रम इस प्रकार होगा :—

गेहूँ	कपड़ा	चावल	चीनी
१००[१]	९०[२]	८०[३]	६०[६]
८०[४]			
६०[८]	७०[५]	६०[७]	
५०[१०]	५०[९]	४०[११]	४०[१२]
४०[१३]			
३०[१७]	३०[१६]	३०[१५]	३०[१४]
२०	२०	१५	२०
	१५	१०	१५
१०	१०	५	१०
	५	०	५
०	०	५	२
			०

नोटः—तालिका में उपयोगिता के ऊपर लिखी हुई छोटी सख्या व्यय किये जाने वाले रुपयों की इकाइयों को सूचित करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूरे १७ रुपये खर्च हो जाने पर प्रत्येक वस्तु से ३० के बराबर सीमान्त उपयोगिता मिलती है। यह जानने में कठिनाई न होगी कि यदि किसी दूसरी रीति से रुपयों का व्यय किया जाय तो कुल प्राप्त उपयोगिता अधिकतम् नहीं होगी। उदाहरणस्वरूप, यदि १७ वां रुपया गेहूँ पर व्यय न किया जाकर कपड़े या चीनी पर व्यय किया जाय तो ३० के स्थान पर केवल २० ही उपयोगिता मिलेगी, जिससे १० इकाई उपयोगिता की हानि होगी और इसलिए कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति ऐसा नहीं करेगा। इसी नियम को रेखा-चित्र द्वारा भी दिखाया जा सकता है। नीचे का चित्र इसे दिखाता है:—
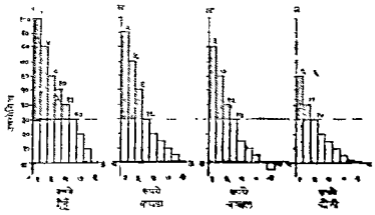
इस चित्र में प्रत्येक आयत एक रुपये के बदले में मिलने वाली उपयोगिता को दिखाता है। आयतों के ऊपर लिखे हुए अंक यह बताते हैं कि रुपये की कौनसी इकाई किसी वस्तु की इकाई विशेष पर व्यय की गई है। बिन्दुदार रेखा समान सीमान्त उपयोगिताओं को दिखाती है।

इसी प्रकार इस नियम की वक्र रेखा भी खींची जा सकती है, जो नीचे का चित्र दिखाता है:—
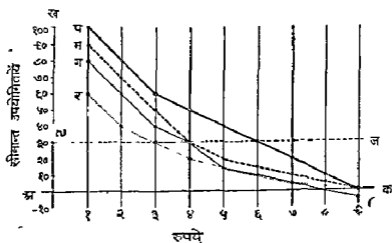
इस चित्र मे प गेहूँ की सीमान्त उपयोगिताओं का वक्र है, म कपड़े की, ग चावल की और र चीनी की। मोटी ट ज रेखा सम सीमान्त उपयोगिताओं को सूचित करती है।

नियम की मान्यतायें—

यह नियम उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है और उस नियम की सभी मान्यतायें यहाँ पर भी लागू होती हैं। एक वस्तु के स्थान पर दूसरी का प्रतिस्थापन (Substitution) इसीलिए करना पड़ता है कि जैसे-जैसे किसी वस्तु की मात्रा हमारे पास बढ़ती जाती है वैसे ही उसकी अगली इकाइयों की उपयोगिता हमारे लिए क्रमशः कम होती चली जाती है। यदि सीमान्त उपयोगिता का ह्रास न हो तो कदाचित् हम अपनी सारी आय एक ही वस्तु पर व्यय कर दें। सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की भाँति इस नियम की भी कुछ मान्यतायें हैं, जो इस प्रकार हैं:—

(१) उपयोगिता ह्रास नियम की मान्यतायें—यह नियम भी सुखमय आर्थिक दशा (Pleasure Economy) से ही सम्बन्धित है। दूसरे, यह नियम साधारण (Normal) व्यक्ति के ही व्यवहार पर लागू होता है। तीसरे, इस नियम की सत्यता के लिए भी यह आवश्यक है कि एक वस्तु की सभी इकाइयाँ परिमाण और गुण मे समान ही हो। अन्त मे उपयोगिता ह्रास नियम की और भी दूसरी मान्य-

ताएँ इस नियम पर लागू होती हैं, क्योंकि यह नियम वास्तव में उपयोगिता ह्रास नियम पर ही आधारित है।

(२) धन अथवा द्रव्य (Money) की उपयोगिता का यथास्थित (Constant) रहना—यह इस नियम की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता है। किसी भी वस्तु की एक इकाई को प्राप्त करने में हम जो रुपया व्यय करते है इसकी भी प्रत्येक इकाई की हमारे लिए उपयोगिता होती है। साधारणतया उपयोगिता ह्रास नियम सभी वस्तुओं पर लागू होता है। मुद्रा अथवा धन पर भी यह नियम अवश्य लागू होता है, यद्यपि जैसा कि हम पहले देख चुके है, मुद्रा की उपयोगिता प्रायः कभी भी शून्य के बराबर नही होती है। जब हम किसी वस्तु को खरीदते है तो मुद्रा के रूप मे कुछ उपयोगिता हमारे पास से निकल जाती है। जैसे-जैसे हम वस्तुओ को इकाइयाँ और अधिक खरीदते जाते है, हमारे पास रुपयो का स्टॉक कम होता चला जाता है। इस दशा में उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार रुपये की प्रत्येक अगली इकाई की उपयोगिता बढती चली जायेगी। एक ओर तो रुपये की अगली इकाइयों की उपयोगिता बढती जाती है और दूसरी ओर खरीदी जाने वाली वस्तुओ की अगली इकाइयो की उपयोगिता घटती जाती है। हो सकता है कि शीघ्र ही ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाय कि रुपये के रूप में जाने वाली उपयोगिता वस्तु के रूप में प्राप्त होने वाली उपयोगिता के समान हो जाय। ऐसी दशा मे रुपये का व्यय आगे नही बढ़ेगा। इस कारण इस नियम की सत्यता के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा की उपयोगिता पर ह्रास नियम लागू न हो।

(३) उपभोक्ता को विवेकशील (Rational) होना चाहिए—उसमे निर्णय करने या परखने का गुण होना चाहिए। यदि उपभोक्ता समझ से काम नही लेता है या कुछ ऐसी बातो से प्रभावित हो जाता है जिनसे उसकी रुचि या आदत मे परिवर्तन हो जाता है तो उसका व्यवहार इस नियम के अनुसार नही होगा। इस नियम की सत्यता के लिए यह आवश्यक है कि उपभोक्ता अपनी आय का बिना सोचे-समझे व्यय न करे। वह व्यय करते समय यह भली भाँति देख ले कि व्यय केवल उसी वस्तु पर किया जाय, जिससे सबसे अधिक उपयोगिता मिलने की आशा है।

नियम के अपवाद अथवा उसकी परिसीमायें (Exceptions or Limitations of the Law)—

इस नियम के अनेक अपवाद बताये जाते है, जिनमे से प्रमुख निम्न प्रकार है—

प्रथम, यह नियम उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है, जिसके स्वयं कुछ अपवाद हैं।

दूसरे, इस नियम मे हम यह मान लेते है कि उपयोगिता को ठीक-ठीक माप की जा सकती है। उपयोगिता अथवा सन्तोष (Satisfaction) मानसिक दशाएँ है, जिनकी कोई मूर्त (Concrete) माप सम्भव नहीं है। ऐसी माप केवल अनुमान-

जनक (Arbitrary) ही होती है, जिसके कारण यह नियम भी अनुमानजनक रहता है। आधुनिक अर्थशास्त्र में उदासीनता वक्र (Indifference Curves) की सहायता से इस अपवाद को निर्मूल कर दिया गया है। उसमे एक ऐसी प्रणाली अपनाई गई है जिसमे कि उपयोगिता को नापने की आवश्यकता ही नही पड़ती है। उदासीनता वक्र का अध्ययन हम एक अगले अध्याय मे करेंगे।

तीसरे, इस नियम की यह मान्यता कि मुद्रा की उपयोगिता यथास्थित रहती है, वास्तविक (Real) नही है। हमारा प्रति दिन का अनुभव हमे बताता है कि दूसरी वस्तुओं की भाँति मुद्रा पर भी उपयोगिता ह्रास नियम अवश्य लागू होता है। जब हमारे पास मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है तो हम रुपये की अगली इकाइयो को उतना महत्त्व नही देते हैं जितना कि पहली इकाइयो को देते थे। साधारण अनुभव यही बताता है कि एक धनी व्यक्ति के लिए रुपये का महत्त्व इतना नही होता है जितना कि एक निर्धन व्यक्ति के लिए होता है। इस प्रकार मुद्रा के स्टॉक में वृद्धि होने से उसकी भी सीमान्त उपयोगिता घटती चली जाती है। इससे पता चलता है कि यह नियम एक गलत और अवास्तविक मान्यता पर आधारित है।

चौथे, यह कहा जाता है कि इस नियम मे मनुष्य के व्यवहार को बहुत अधिक विचारयुक्त (Rational) माना गया है, जैसा कि यथार्थ मे वह नही है। आय या व्यय करने मे मनुष्य इतनी सावधानी नही अपनाता है जितना कि इस नियम मे मान लिया गया है। व्यय करते समय बहुत बार तो हम यह सोचते भी नही है कि इस व्यय का क्या परिणाम होगा ? इस अपवाद के विरोध मे प्रो० चैपमैन ने बहुत ही सुन्दर कहा है। उनका विचार है कि इसमे तो सन्देह नहीं है कि हम अपने व्यय को प्रतिस्थापना नियम अथवा सम-सीमान्त व्यय नियम के अनुसार करने के लिए बाध्य नही है, किन्तु जिस प्रकार हवा मे फेंका हुआ एक पत्थर एक प्रकार पृथ्वी पर गिरने के लिए बाध्य है, इसी प्रकार यदि हम तर्कशील है तो हमे भी अपना व्यय इसी नियम के अनुसार करना ही पड़ता है।*

इस नियम का महत्त्व—

प्रतिस्थापना नियम (Law of Substitution) उपभोग और उत्पत्ति दोनो मे क्रियाशील दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार किसी वस्तु की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता को उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता कहते हैं इसी प्रकार किसी भी उत्पत्ति के साधन (Factor of Production) की अन्तिम इकाई के

---

* "We are not, of course, compelled to distribute our income according to the Laws of Substitution or Equi-marginal Expenditure, as a stone thrown in air is compelled, in a sense, to fall back to the earth, but as a matter of fact, we do in a certain rough fashion because we are reasonable."—Chapman : *Outlines of Political Economy*, p. 48.

उपयोग से कुल उपज (Total Product) में जो वृद्धि होती है उसे हम उस साधन की सीमान्त उपज (Marginal Product) कहते हैं। उपभोग में हम कम सीमान्त उपयोगिता वाली वस्तु के स्थान पर अधिक सीमान्त उपयोगिता वाली वस्तु का उपयोग करते है और उत्पत्ति मे ठीक इसी प्रकार उस उत्पत्ति के साधन के स्थान पर, जिससे कि कम सीमान्त उपज मिलती है, हम ऐसे साधन को चुनते हैं, जिसकी सीमान्त उपज अधिक होती है। उपभोग में ऐसा करने से हमारा कुल सन्तोष अधिकतम् हो जाता है और उत्पत्ति में हमारी कुल उपज। इसी कारण हमारे क्रियात्मक जीवन में इस नियम का बहुत महत्त्व है।

यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि समस्त अर्थ-विज्ञान इसी नियम पर आधारित है। आवश्यकताओं तथा आवश्यकता पूर्ति के साधनों के बीच निर्णय करने (Choice making) का उद्देश्य यही होता है कि हम अधिकतम् सन्तोष प्राप्त कर सकें। कुछ लेखकों ने तो यहाँ तक कहा है कि समस्त अर्थशास्त्र केवल इसी एक नियम का विस्तृत रूप है। अतः यह नियम अर्थ-विज्ञान का सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है। इस नियम के अनुसार चलकर हम अपने जीवन को अधिक सुखमय बना सकते हैं और सामाजिक तथा मानवीय सुख को अधिकतम् बना सकते हैं। यह नियम हमें सीमित साधनों को सबसे उपयुक्त रीति से उपयोग करने की शिक्षा देता है।

प्रतिस्थापना नियम का विस्तृत रूप (The Broad Implications of the Law of Substitution)—

प्रतिस्थापना नियम को अर्थशास्त्र का आधारभूत नियम (Fuudamental Law) कहा जाता है। जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, यह नियम ही वास्तव में अर्थ-विज्ञान का आधार है और मानव व्यवहार को समझने मे हमारी सहायता करता है। हर मनुष्य किसी न किसी प्रकार इसी नियम के अनुसार अपने व्यवहार को निश्चित करता है, इसी की सहायता से हम यह निर्णय करते हैं कि अपने सीमित साधनों का सर्वोत्तम उपयोग किस प्रकार करें। उपभोग में तो इस नियम की कार्यशीलता का अध्ययन हम कर ही चुके हैं, परन्तु यह नियम उत्पत्ति, विनिमय, वितरण और राजस्व मे भी अधिक महत्त्व रखता है। अर्थशास्त्र के इन विभागों मे नियम की कार्यशीलता निम्न प्रकार है :—

(१) उत्पत्ति में—जिस प्रकार एक उपभोक्ता के पास साधन सीमित होते हैं और वह उनका इस प्रकार उपयोग करने का प्रयत्न करता है कि उसे उनके उपयोग से अधिकतम् लाभ प्राप्त हो, ठीक इसी प्रकार एक उत्पादक के पास भी उत्पत्ति के साधन (पूँजी, कच्चे माल आदि) सीमित मात्रा मे ही होते हैं और उसका हित इसी मे होता है कि वह इन साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करके अधिक से अधिक लाभ कमाये और उत्पादन व्यय (Cost of Production) को न्यूनतम् रखे। इस सम्बन्ध मे उत्पादक के सामने यह समस्या रहती है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनो के

पारस्परिक अनुपात को किस प्रकार निर्धारित करे ? व्यावहारिक अनुभव यह बताता है कि यदि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का उपयोग एक निश्चित अनुपात मे किया जाय तो उत्पादन व्यय न्यूनतम् होता है और उत्पादन में अधिकतम् कुशलता (Maximum Efficiency) रहती है। इस अनुपात को प्राप्त करने के लिए उत्पादक उत्पत्ति के विभिन्न साधनो के बीच प्रतिस्थापन करता रहता है, अर्थात् वह महंगे साधन अथवा कम कुशल साधन के स्थान पर सस्ते साधन अथवा अधिक कुशल साधन का उपयोग करता रहता है और अन्त मे साधनो के अनुकूलतम् अनुपात (Ideal Ratio) का पता लगा लेता है। इस प्रकार प्रतिस्थापना नियम उत्पादक के लिए सहायक होता है। उदाहरणस्वरूप, यदि कोई उत्पादक उत्पत्ति के पैमाने का विस्तार करना चाहता है तो उसके लिए दो स्पष्ट सम्भावनाएँ रहती हैं—प्रथम, और अधिक श्रमिको को काम पर लगाये तथा दूसरे, मशीनो की संख्या बढाकर और अधिक उत्पादन करे। श्रमिको और मशीनों के बीच प्रतिस्थापन सम्भव होता है, इसलिए साधन की उपयुक्तता देख कर ही उत्पादक यह निश्चय करता है कि श्रमिक और मशीन इन दोनो में से किसको चुने उत्पादक का यह कार्य प्रतिस्थापना नियम के ही अनुसार होता है। उत्पत्ति मे इस नियम को बहुधा सम-सीमान्त प्रत्याय नियम (Law of Equi-marginal Returns) के नाम से पुकारा जाता है।

(२) विनिमय में—*विनिमय (Exchange) मे भी यह नियम बहुत* महत्त्वपूर्ण है। विनिमय का कार्य यथार्थ में एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु के प्रतिस्थापन का ही कार्य होता है। हम अपने पास की फालतू वस्तु को किसी ऐसी वस्तु अथवा सेवा मे बदल देते हैं जिसकी हमे आवश्यकता है और जो किसी दूसरे व्यक्ति के पास फालतू है। विनिमय का आधार ही यह होना है कि हम कम उपयोगिता रखने वाली वस्तु को अधिक उपयोगिता वाली वस्तु में बदल ले। इसी प्रकार विनिमय हमे अपने सन्तोष को अधिकतम् करने मे सहायता देता है। विनिमय से विनिमय करने वाले दोनो ही पक्षो को लाभ होता है, क्योकि विनिमय द्वारा प्रत्येक पक्ष कम उपयोगी वस्तु के बदले में अधिक उपयोगी वस्तु प्राप्त करता है। विनिमय मे प्रतिस्थापना नियम की कार्यशीलता वस्तु-विनिमय (Barter) अर्थात् जब एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु ली जाती है, में तो साफ-साफ दिखाई पड़ती है, परन्तु मुद्रा विनिमय (Money Exchange) जबकि पहले किसी वस्तु को मुद्रा मे बदला जाता हैं और फिर इस मुद्रा के बदले मे दूसरी वस्तु प्राप्त की जाती है, का आधार भी बिल्कुल यही होता है।

विनिमय में यह नियम एक दूसरे दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण है। मूल्य के निर्धारण में भी यह नियम उपयोगी है। जब किसी वस्तु की कीमत बढ जाती है, तो हम उस वस्तु के स्थान पर किसी दूसरी ऐसी वस्तु का उपयोग करने लगते हैं जो इतनी मँहगी नही है। परिणाम यह होता है कि मँहगी वस्तु की माँग मे कमी हो जाने के कारण उसकी कीमत नीचे आ जाती है।

(३) वितरण में—वितरण में भी इस नियम का लाभदायक उपयोग होता है। जितनी कुल उत्पत्ति होती है वह संयुक्त उपज (Joint Product) होती है, क्योंकि वह उत्पत्ति के सभी साधनों के सामूहिक प्रयत्न का फल होती है। इस कुल उपज में से उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के अलग-अलग हिस्से बाँटे जाते हैं। वितरण का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का हिस्सा उसकी सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) द्वारा निश्चित किया जाता है। दीर्घकाल में उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उपज (Marginal Product) की कीमत के ही बराबर हिस्सा मिलता है, उससे कम या अधिक नहीं। उत्पत्ति के किसी साधन की सीमान्त उत्पादकता कुल उपज में उस साधन की अन्तिम अथवा सीमान्त इकाई की देन होती है। सीमान्त उपज कुल उपज के उस भाग को सूचित करती है जो उत्पत्ति के अन्य साधनों के यथास्थिर रहने की दशा में एक साधन की एक अधिक इकाई द्वारा उत्पन्न की जाती है। यदि किसी साधन को इससे अधिक हिस्सा मिलता है तो उसके स्थान पर अन्य साधनों को उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार यदि एक साधन को इससे कम पारिश्रमिक दिया जाता है तो उस साधन को दूसरे साधनों के स्थान पर उपयोग किया जाता है। दोनों ही दशाओं में यहाँ पर भी प्रतिस्थापन की समस्या बराबर रहती है।

(४) राजस्व में (In Public Finance)—प्रतिस्थापना नियम राजस्व विज्ञान में भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। राजस्व का उद्देश्य अधिकतम् सामाजिक लाभ (Maximum Social Advantage) प्राप्त करना होता है। जिस प्रकार अधिकतम् सन्तोष अथवा अधिकतम् उपज प्राप्त करने के लिये इस नियम की आवश्यकता पड़ती है, ठीक उसी प्रकार सामाजिक लाभ को अधिकतम् करने के लिये भी इस नियम का अनुकरण लाभदायक है। सरकार अनेक सूत्रों से आय प्राप्त करती है। विभिन्न सूत्रों से आय प्राप्त करने के अलग अलग परिणाम होते हैं। सरकार का यह कर्त्तव्य है कि आय प्राप्ति के ऐसे सूत्रों को चुने कि समाज को कम से कम त्याग करना पड़े। यही कारण है कि आय के विभिन्न शीर्षकों के बीच प्रतिस्थापन की आवश्यकता पड़ती है, ठीक इसी प्रकार सरकारी व्यय के भी विभिन्न शीर्षक होते हैं। कुछ शीर्षकों से समाज को बहुत लाभ पहुँचता है और कुछ से लाभ के स्थान पर उल्टी हानि होती है। यहाँ पर भी आवश्यकता इस बात की रहती है कि व्यय के विभिन्न शीर्षकों के बीच इस प्रकार प्रतिस्थापन किया जाय कि अधिकतम् सामाजिक लाभ प्राप्त हो सके।

इस प्रकार यह नियम लगभग सर्वव्यापी है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने तो इसे अर्थशास्त्र का नियम (The Law of Economics) कहा है, क्योंकि अर्थशास्त्र के दूसरे सभी नियम इसी में से निकलते हैं। रोबिन्स ने इसे अर्थशास्त्र का आधार (Basis of Economics) कहा है, क्योंकि सीमित साधनों के उपयोग की रीति

यहाँ नियम बनाना है। मार्शल का भी कहना है कि "यह नियम आर्थिक खोज के लगभग सभी क्षेत्रों में लागू होता है।"*

प्रतिस्थापना नियम की परिसीमायें (Limitations of the Law of Substitution)—

इतना लाभदायक होने पर भी यह नियम सभी दशाओं में लागू नहीं होता है। इस नियम की प्रमुख सीमाएं निम्न प्रकार हैं :—

(१) अवास्तविक मान्यताएं—यह नियम इस मान्यता पर आधारित है कि उपभोक्ता को अपनी आवश्यकता की वस्तु और उसमें प्राप्त होने वाली उपयोगिता का पूरा-पूरा ज्ञान है, जिससे कि वह उन विभिन्न वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं की तुलना कर सके, जिन पर उसे व्यय करना है। वास्तविक जीवन में न तो इतना ज्ञान ही होता है और न उपयोगिता की कोई निश्चित माप ही सम्भव होती है। इसलिए इस प्रकार की तुलना कठिन होती है।

(२) विभाजकता की कठिनाई—बहुत सी वस्तुएं ऐसी होती हैं कि इन्हें छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित करना कठिन होता है। ऐसी दशा में विभिन्न वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता की तुलना करना कठिन होता है।

(३) मनुष्य का अनिश्चित व्यवहार—मनुष्य का व्यवहार सदा ही अनिश्चित रहता है। विशेषकर रीति रिवाज, आदत, फैशन आदि का मानव व्यवहार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। हमारी कृत्रिम आवश्यकताएं हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण होती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हमारा व्यय इस नियम के अनुसार बहुधा कम ही हो पाता है।

(४) ज्ञान का अभाव—बहुत बार उपभोक्ता को अथवा उत्पादक को यह ज्ञान भी नहीं होता है कि किसी एक साधन विशेष का कोई और भी लाभदायक उपयोग हो सकता है। ऐसी दशा में इस नियम के अनुसार कार्य करने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(५) पालन करने में कठिनाई—वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में वास्तविक जीवन में बड़े शीघ्र और व्यापक परिवर्तन होते रहते हैं। एक व्यक्ति प्रचलित कीमतों के आधार पर उपभोग की वस्तुओं के खरीदने के लिये प्राथमिकता क्रम (Order of Priority) निश्चित करता है, परन्तु कीमतों के परिवर्तन उसे इस क्रम को बदलने के लिए बाध्य करते हैं। इस कठिनाई के कारण इस नियम का पालन करना बहुधा कठिन हो जाता है।

उपभोक्ता की सार्वभौमिकता (Sovereignty of the Consumers)—

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत जिसका एक महत्वपूर्ण गुण प्रतियोगिता

---

* "The applications of the principle of substitution extend over almost every field of economic enquiry."—Marshall.

होती है अर्थात् विभिन्न विक्रेता एक दूसरे से होड़ करते हैं, उपभोक्ता का स्थान एक सम्राट के समान होता है। सारी की सारी उत्पादन प्रणाली उपभोक्ता के ही संकेत पर चलती है। जो-जो वस्तुएँ उपभोक्ता द्वारा पसंद की जाती हैं उन्ही का उत्पादन किया जाता है। यही कारण है कि उत्पादक तथा विक्रेता दोनो उपभोक्ता के दास की भांति होते है, जो उसकी इच्छाओं और रुचियो का पता लगाते रहते है और उन्ही के अनुसार काम करते है। कोई भी उत्पादक अथवा विक्रेता उपभोक्ता को अप्रसन्न अथवा असन्तुष्ट नही करना चाहता है, क्योंकि इसका उसके व्यवसाय पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उन्हे इस सम्बन्ध मे भी कहने का अधिकार नही है कि उपभोक्ता की इच्छाएँ अच्छी है या बुरी। कुछ भी हो उन्हे तो इन इच्छाओ को पूरा करने की ही चेष्टा करनी होती है। इस कारण वास्तविक शासक उपभोक्ता ही रहता है और साहसी और उत्पादकों की सभी क्रियाएँ उसी की इच्छाओ की पूर्ति के लिए होती हैं।

ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह कथन एक बड़े अंश तक सही ही है कि वास्तविक सम्राट उपभोक्ता ही है। पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली मे उत्पादक न केवल उपभोक्ता की पसन्द का ही ध्यान रखता है, बल्कि वह कीमतें भी उपभोक्ताओं की क्रयः शक्ति के ही अनुसार निश्चित करने का प्रयत्न करता है। कारण यह है कि यदि ऐसा नही किया जाता है तो बिक्री मे कमी आयेगी और उत्पादक की आय मे कमी आ जायेगी। उत्पादक की सफलता मुख्यतया इसी बात पर निर्भर रहती है कि वह उपभोक्ताओं की रुचि और उनकी क्रयः शक्ति (माँग) का कितना सही अनुमान लगा सकता है। इसमे तो सन्देह नही कि उपभोक्ता का चुनाव सदा ही बुद्धिमानी अथवा विवेकशीलता पर आधारित नही होता, परन्तु उत्पादक को इस चुनाव का प्रत्येक दशा मे आदर करना ही होता है।

भूतकाल में उपभोक्ता की यह सर्वभौमिकता वास्तव मे बहुत अधिक थी, क्योंकि किसी भी वस्तु का निर्माण उपभोक्ता से आदेश प्राप्त करके ही किया जाता था। उदाहरणस्वरूप, एक जुलाहा अथवा बुनकर उसी प्रकार के कपड़े को तैयार करता था जिसका उसे ग्राहक से आदेश मिलता था और इसी प्रकार मोची भी ग्राहक के आदेश पर उसकी रुचि और आवश्यकता के अनुसार जूता बनाता था। ऐसी दशा मे आर्थिक साम्राज्य का स्वामी उपभोक्ता ही था। किन्तु कालान्तर मे यह स्थिति बदल गई है। अब बहुत सा उत्पादन माँग के अनुमान पर ही कर लिया जाता है। उत्पादक की दक्षता इसी मे है कि वह रुचि, फैशन तथा आवश्यकताओं के भावी परिवर्तन का ठीक-ठीक अनुमान लगा सके। इस प्रकार का अनुमान बहुधा उत्पादन के आरम्भ करने से पूर्व ही लगा लिया जाता है और फिर इसी के आधार पर उत्पत्ति की योजना बनाई जाती है।

उपभोक्ता की सर्वभौमिकता की सीमाएँ—

यह समझ लेना भूल होगी कि आर्थिक जगत के सम्राट के रूप में उपभोक्ता

के अधिकार असीमित हैं। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, वर्तमान जगत में उपभोक्ता की शक्ति पर कुछ प्रकार के बन्धन लग चुके हैं। वह शासक तो एक बड़े अंश तक है, परन्तु वह सर्वशक्तिमान नहीं कहा जा सकता है। निम्न कारणों ने उपभोक्ता की शक्ति को सीमित कर दिया है :—

(१) आय की सीमितता (Limitedness of Income)—किसी भी उपभोक्ता की क्रयः शक्ति और इस प्रकार उसकी उत्पादन को प्रभावित करने की शक्ति उसकी आय की मात्रा पर निर्भर होती है। आय की सीमितता उसे अपने निर्णय को व्यक्त करने से रोक सकती है। इसके अतिरिक्त समस्या यह भी है कि उपभोक्ता को अपनी सीमित आय अनेक वस्तुओं के खरीदने पर व्यय करनी पड़ती है। इसलिए किसी एक वस्तु पर उसकी व्यय करने की शक्ति और इस प्रकार उसकी उस वस्तु के उत्पादन को प्रभावित करने की क्षमता सीमित ही रहते हैं।

(२) विज्ञापन तथा बिक्री-कुशलता—उत्पादक के लिए यह भी सम्भव है कि वह उपभोक्ता की मनोवृत्ति, उसके फैशन और उसकी रुचियों को प्रभावित कर सके। वर्तमान युग में विज्ञापन और प्रचार के दो महत्वपूर्ण अस्त्र उत्पादक और विक्रेता के पास होते हैं। बहुत बार तो उत्पादक पूर्णतया नई वस्तुएँ उत्पन्न करके विज्ञापन द्वारा उनकी माँग उत्पन्न कर लेता है। उपभोक्ता के चुनाव को प्रभावित करके उसकी सर्वभौमिकता को सीमित किया जा सकता है।

(३) सरकारी नियन्त्रण—आज का युग आर्थिक जीवन में सरकारी हस्तक्षेप का युग है। सरकार किसी भी वस्तु के उत्पादन, उसकी बिक्री अथवा उसके उपभोग पर प्रतिबन्ध लगा सकती है। विदेशों से आने वाले माल को रोक सकती है अथवा कम कर सकती है। सरकारी नियन्त्रण या तो प्रत्यक्ष रूप में होता है, जैसे किसी वस्तु के उत्पादन अथवा उपभोग को वर्जित करना अथवा परोक्ष रूप में होता है जबकि वस्तु के उत्पादन, उसकी बिक्री अथवा उसके उपभोग पर कर लगा दिए जाते हैं।

(४) एकाधिकार (Monopoly)—वर्तमान युग में उत्पादन तथा बिक्री के एकाधिकार की प्रवृत्ति भी बहुत बलवान है। इसके अन्तर्गत एक व्यक्ति अथवा फर्म किसी वस्तु की समस्त पूर्ति पर अधिकार प्राप्त कर लेती है और फिर उपभोक्ताओं के लिये स्वयं यह निश्चित करती है कि वे कैसी तथा कितनी मात्रा में उस वस्तु को खरीदेंगे। यहाँ उपभोक्ता की शक्ति बहुत सीमित हो जाती है।

(५) परम्पराएँ, रीति-रिवाज तथा वातावरण—मनुष्य परिस्थितियों का भी दास होता है। उसका उपभोग उसके चारों ओर की परिस्थितियों द्वारा प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता है। जिस समाज में वह रहता है उसकी परम्पराएँ और वहाँ का वातावरण भी उसके चुनाव को सीमित कर देते हैं।

(६) आदत का प्रभाव—बहुत दिनों के सेवन के पश्चात् किसी वस्तु का उपभोग हमारी आदत बन सकता है। ऐसी दशा में स्वयं उपभोक्ता अपने उपभोग क्रम

में परिवर्तन करना पसन्द नही करेगा। यहाँ पर उपभोक्ता की स्वतन्त्रता भ्रमात्मक होगी।

(७) उत्पादन का प्रमापीकरण (Standardisation of Production)—वर्तमान युग मशीन द्वारा और बड़े पैमाने पर उत्पत्ति करने का युग है। ऐसी दशा मे उत्पादक व्यक्तिगत रुचि तथा आदत पर ध्यान नहीं देता है। वह एक सी प्रमापीकृत वस्तुओं का निर्माण करता है और उपभोक्ताओं का चुनाव इन्हीं उत्पादित वस्तुओं तक सीमित हो जाता है।

QUESTIONS

१. अधिकतम् सन्तोष के नियम की व्याख्या कीजिए और बतलाइये कि यह नियम हमारे व्यय की योजना को किस प्रकार निश्चित करता है। (Agra, B. A., 1958 S)

२. सम सीमान्त उपयोगिता नियम की व्याख्या कीजिए। चित्र की सहायता से सिद्ध कीजिए कि उपभोक्ता को इस नियम के अनुसार कार्य करने पर ही अधिक से अधिक लाभ होता है। (Agra, B. A., 1959, 54 & 52; Agra, B Com, 1954)

3. "The applications of the Principle of Substitution extend over almost every field of economic enquiry." (Marshall) Explain this statement fully. (Agra, B. A, 1955, 53; Agra, B. Com, 1956, Raj, B. Com, 1956)

4. Discuss the practical importance of the Law of Substitution as applied to various fields of economic enquiry. (Vikram, B. Com., 1959)

5. Explain the Law of Substitution as applied to consumption and production. (Bihar, B. Com., 1958; Jabalpur, B. A., 1959, Agra, B. Com., 1952; Jabalpur, B. Com., 1958, Gorakhpur, B. A, 1958)

6. Explain the Law of Satiable Wants. A housewife has an income of Rs. 15. The utility measured in annas of the successive units of articles to her is as follows :—

of bread	28,	26,	20,	16 annas
of meat	24,	20,	16,	10 annas
of tea	22,	18,	16,	2 annas
of sugar	20,	17,	16,	6 annas

If each unit costs Re. 1, howmany rupees would she spend on

the various items. Would she save any rupees ?

(Raj, B. A., 1952)

7. Prove that a consumer so adjusts his expenditure to make the marginal utilities of commodities *proportional to their prices.* (Alld., B. A., 1952)

8. What do you understand by the Law of Substitution in Production ? What are the conditions of its operation ?

(Gorakhpur, B. Com., 1959)

अध्याय १२

उपभोक्ता की बचत

(Consumer's Surplus)

आरम्भिक—

उपभोक्ता की बचत केवल एक विचार (Concept) है। कुछ लोगों ने गलती से इसे सिद्धान्त (Doctrine) का नाम भी दिया है। पहले-पहल प्रो० मार्शल ने इस विचार से अर्थशास्त्र का परिचय कराया था और इस विषय में उनका स्पष्टीकरण ही सबसे अधिक अच्छा और महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस विचार की विवेचना एक नये ही ढंग से की है। एक बड़े अंश तक कदाचित् यह कहना भूल न होगी कि इस विचार का पुनर्निर्माण किया गया है। बहुत से प्रसिद्ध लेखकों ने इस विचार की कड़ी आलोचना भी की है और इस पर विभिन्न प्रकार के आक्षेप लगाये हैं। कुछ आलोचक ऐसे भी हैं जिनका मत है कि यह विचार तो सही है, परन्तु इसकी उपयोगिता कुछ भी नहीं है और इसी कारण इसके अध्ययन से कोई व्यावहारिक लाभ नहीं है। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उच्चतम आर्थिक सिद्धान्तों के समझे बिना इस विचार के महत्त्व को समझना कठिन है।

परिभाषा—

किसी वस्तु से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता और उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए व्यय किये हुए कुल मुद्रा की उपयोगिता के अन्तर को उपभोक्ता की

बचत कहते हैं।[1] दूसरे शब्दों में, यदि हम कुल उपयोगिता में से सीमान्त उपयोगिता और उपभोग की इकाइयों के गुणनफल को घटा दें तो उपभोक्ता की बचत शेष रह जाती है। इस बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि उपभोक्ता की बचत = वस्तु की कुल उपयोगिता – वस्तु की सीमान्त उपयोगिता × उपभोग की कुल इकाइयाँ।

उपभोक्ता की बचत की माप बहुधा मुद्रा (Money) में भी की जाती है। मुद्रा में इसकी माप जितना धन कोई व्यक्ति किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए व्यय करने को तैयार है और जितना वह यथार्थ में व्यय करता है, इन दोनों के अन्तर के बराबर होती है।[2] यह निश्चय है कि यदि हमारे सामने यह समस्या हो कि या तो हम किसी वस्तु के लिए ऊँचे दाम दें अथवा उसका उपभोग ही न करें और उस वस्तु के लिए हमारी आवश्यकता बहुत तीव्र हो तो उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए हम अधिक दाम देने को तैयार हो जायेंगे, परन्तु बहुत बार वह वस्तु हमें इससे कम दामों में मिल जाती है। ऐसी दशा में हम ऐसा अनुभव करते हैं कि हमें कुछ बचत रही, क्योंकि जितना व्यय हम करने को तैयार थे उससे कम में ही वह वस्तु हमें मिल गई। इस प्रकार की बचत ही उपभोक्ता की बचत है। एक छोटे से उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए कि एक व्यक्ति आगरे में रहता है और उसका एक लड़का है, जो दिल्ली में नौकरी करता है। इस व्यक्ति को अपने लड़के के पास कोई आवश्यक सन्देश भेजना है। इस सन्देश के भेजने के लिए वह दस रुपये तक व्यय करने को तैयार है, किन्तु तार के द्वारा यथार्थ में वह सन्देश केवल एक ही रुपए में चला जाता है। यहाँ पर जिस काम के लिए वह मनुष्य दस रुपए व्यय करने को तैयार था वह एक ही रुपये में हो जाता है। इस प्रकार उसे कुछ अतिरिक्त सन्तोष (Surplus Satisfaction) तार देने से मिलता है। यही उसकी उपभोक्ता की बचत है।

यहाँ पर उपभोक्ता की बचत की कुछ और लेखकों द्वारा दी गई परिभाषाएँ दे देना भी असंगत न होगा। इन परिभाषाओं में केवल शब्दों का ही हेर-फेर है। किसी के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर नहीं है। पैन्सन के अनुसार—"जो कुछ हम देने को तैयार हैं और जो कुछ हमको देना पड़ता है, इन दोनों के अन्तर को हम

---

1. "It is the difference between the utility that he expects to derive from the consumption of the commodity and the cost of buying it."—J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 60.

2. "The excess of the price which he would be willing to pay rather than go without the thing over that which he actually does pay is the economic measure of this surplus satisfaction. It may be called Consumer's Surplus."—Marshall. *Principles of Economics*.

उपभोक्ता की बचत कहते हैं।"[1] इसी प्रकार "किसी व्यक्ति को किसी वस्तु से प्राप्त होने वाली उपभोक्ता की बचत उस वस्तु से प्राप्त होने वाले सन्तोष और उस त्याग के अन्तर के बराबर होती है जो उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए किया जाता है।"[2] प्रो० सेन के अनुसार—"उपभोक्ता को उसकी खरीदारी से प्राप्त होने वाला अतिरिक्त सन्तोष उपभोक्ता की बचत कहलाता है।"[3] इन सभी परिभाषाओं से अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि एक उपभोक्ता जब किसी वस्तु को खरीदता है तो दो बातें एक ही साथ होती हैं। जो वस्तु खरीदी गई है उसके रूप में उपभोक्ता को उपयोगिता अथवा सन्तोष प्राप्त होता है, परन्तु वस्तु को खरीदने के लिए जो कीमत दी गई है उसके रूप में उपभोक्ता को त्याग करना पड़ता है। साधारणतया प्राप्त उपयोगिता किये हुए त्याग से अधिक होती है। प्राप्त सन्तोष और किये हुए त्याग के अन्तर को ही हम उपभोक्ता की बचत कहते हैं। इस बचत को हम अधिकतर मुद्रा में नापते हैं। हमारे लिए प्राप्त सन्तोष और किए हुए त्याग दोनों को मुद्रा में नाप लेना सम्भव होता है और इसीलिए दोनों का अन्तर भी मुद्रा में नापा जाता है। वास्तविकता यह है कि अर्थशास्त्र में लगभग सभी तथ्यों को हम मुद्रा में ही नापने का प्रयत्न करते हैं।

अपने दैनिक जीवन में एक प्रकार से हम सबको उपभोक्ता की बचत का आभास होता है। बहुत बार ऐसा होता है कि हम बाजार में जब किसी वस्तु के दाम पूछते हैं तो हम एक दम कह उठते हैं 'यह तो बड़ी सस्ती है।' ऐसा कहने का कारण केवल यह होता है कि उस वस्तु से हमें जितना सन्तोष प्राप्त होने की आशा है वह उसकी कीमत की तुलना में अधिक है। दूसरे शब्दों में, हमें उपभोक्ता की बचत प्राप्त हो रही है। कुछ लेखकों ने उपभोक्ता की बचत को उपभोक्ता का लगान (Consumer's Rent) भी कहा है।[4]

उपभोक्ता की बचत और आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ—

सभी वस्तुओं से हमें समान उपभोक्ता की बचत नहीं मिलती है। कुछ वस्तुओं से तथा कुछ दशाओं में बचत अधिक होती है। यह बचत हमारे चारों ओर की सामा-

---

1. "The difference between what we would pay and what we have to pay is called Consumer's Surplus."—Penson : *Economics of Everyday Life*, p. 27.

2. "Consumer's Surplus obtained by a person from a Commodity is the difference between the Satisfaction which he derives from it and which he foregoes to procure that commodity."—J K. Mehta : *Groundwork of Economics*, p. 52.

3. "The surplus satisfaction of the consumer from his purchase is called consumer's surplus"-Sen : *Outlines of Economics*, p. 122.

4. *See* J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 60.

जिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर होती है। अधिकांश सभ्य देशों में समाचार-पत्रों, यातायात, तार इत्यादि की सस्ती सुविधायें होती हैं, जिनको प्राप्त करने के लिए बहुत कम व्यय करना पड़ता है और ये सब वस्तुएं ऐसी हैं जिनकी आवश्यकता इतनी आग्रहपूर्ण होती है कि इन्हें प्राप्त करने के लिए हम बहुत अधिक व्यय करने के लिए तैयार रहते हैं। इसके विपरीत पिछड़े हुए देशों में इस प्रकार की सुविधायें दुर्लभ होती हैं और ऐसे देशों मे इनसे प्राप्त होने वाली उपभोक्ता की बचत नहीं मिल पाती है। वस्तुओं मे विशेष रूप से ऐसी वस्तुयें जो हमारी आवश्यक आवश्यकताओं को पूरा करती हैं, अधिक उपभोक्ता की बचत प्रदान करती है। प्यास की दशा मे एक पानी के गिलास के लिए हम बहुत अधिक मूल्य देने के लिए तैयार हो जाते हैं, जबकि वास्तव मे यह पानी का गिलास हमे बहुत ही कम मूल्य पर मिल जाता है। निश्चय ही ऐसी दशा मे उपभोक्ता की बचत बहुत अधिक होगी। इसके विपरीत जिन वस्तुओं से हमारी अतिरिक्त आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, उनके लिए हम बहुत अधिक व्यय करने को तैयार नहीं होते हैं और इनसे उपभोक्ता की बचत बहुत कम मिलती है। "इस प्रकार उपभोक्ता की बचत हमारे चारों ओर की परिस्थितियों पर निर्भर होती है। यह हमारे सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक वातावरण पर निर्भर होती है।"*

उपभोक्ता की बचत की माप—

उपभोक्ता की बचत का सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। उपभोग की पहली इकाइयों से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है और जैसे जैसे उपभोग की इकाइयाँ बढ़ती जाती है, सीमान्त उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है। किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये हम उससे प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता के अनुसार व्यय करने को तैयार होते हैं। किसी भी वस्तु की कीमत उसकी सीमान्त उपयोगिता की अनुपाती (Proportional) होती है, अर्थात् किसी वस्तु के लिए हम उतनी ही कीमत देने को तैयार होते हैं जिसको कि उपयोगिता वस्तु से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिए कि एक आने की उपयोगिता १ के बराबर है। फिर मान लीजिये कि कोई व्यक्ति सतरे खरीदना चाहता है, जिनकी कि सीमान्त उपयोगिता निम्न प्रकार है :—

सतरे	उपयोगिताएं
१	१०
२	६
३	८
४	७
५	६

* "Consumer's Surplus depends upon the conjucture of circumstances around us, it depends upon our social, political and economic environment.."—M. Sen : *Outlines of Economics*, p 123.

६	५
७	४
८	३
९	२
१०	१

ऐसी दशा में पहले सन्तरे को पाने के लिए वह व्यक्ति १० आने तक व्यय करने को तैयार होगा, क्योंकि एक सन्तरे की उपयोगिता १० आनों की उपयोगिता के बराबर है, परन्तु दूसरा संतरा वह उसी दशा में खरीदेगा जबकि संतरों के दाम घटकर ९ आने प्रति संतरा हो जायेंगे, क्योंकि दूसरे संतरे से केवल ९ के बराबर उपयोगिता मिलती है।

इसी प्रकार तीसरा संतरा केवल उस दशा में खरीदा जायगा, जबकि संतरे की कीमत आठ आने हो। अब यदि वह मनुष्य ६ संतरे खरीदना चाहता है, जिसका अर्थ यह है कि संतरे के दाम ५ आने प्रति संतरा है, तो वह कुल मिलाकर ५ × ६ = ३० आने व्यय करेगा, अर्थात् ३० के बराबर उपयोगिता मुद्रा के रूप में उसके पास से निकल जायगी, जबकि उसे कुल मिलाकर ६ संतरों से १० + ९ + ८ + ७ + ६ + ५ = ४५ के बराबर उपयोगिता मिलेगी। इस दशा में अतिरिक्त उपयोगिता ४५ — ३० = १५ होगी। यदि हम मुद्रा में नापना चाहे तो यह १५ आने के बराबर होगी। यही उपभोक्ता की बचत है।

इस विचार को हम एक रेखा-चित्र द्वारा भी अंकित कर सकते हैं। नीचे के चित्र में अ क रेखा पर संतरों की इकाइयाँ नापी गई हैं और अ ख रेखा पर उपयोगितायें। प्रत्येक आयत एक संतरे से प्राप्त होने वाली उपयोगिता या सन्तोष को सूचित करता है। चित्र में रंगीन भाग उपभोक्ता की बचत को दिखाता है।
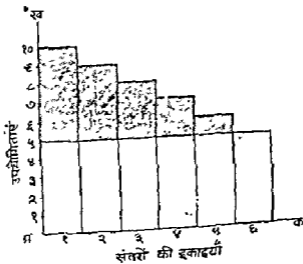
यदि हम आयतों के स्थान पर वक्र रेखा का उपयोग करें तो उपभोक्ता की बचत का चित्रण निम्न प्रकार किया जा सकता है :—
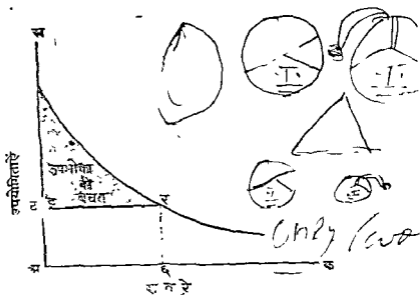
उपभोक्ता का बचत की मान्यताएँ—

अन्य आर्थिक विचारो की भाँति उपभोक्ता की बचत का विचार भी अनेक मान्यताओं पर आधारित है। इस विचार की प्रमुख मान्यताएं निम्न प्रकार हैं :—

(१) उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित—यह विचार उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है, इसलिए उस नियम की कुछ मान्यताएं इस पर भी लागू होती हैं। विशेष रूप से यह विचार भी केवल सुखमय आर्थिक दशा (Pleasure Economy) मे ही लागू होता है।

(२) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन—कुछ लोगो का विचार है कि यह विचार इस मान्यता पर आधारित है कि मुद्रा (Money) की सीमान्त उपयोगिता यथास्थित (Constant) रहे, किन्तु यह मत सही नही है। उपभोक्ता की बचत उस दशा मे भी होती है जबकि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बदलती रहती है। अन्तर केवल इतना होता है कि ऐसी दशा में उपभोक्ता की बचत कम या अधिक हो जाती है। ऊपर दिया हुआ चित्र इस आधार पर बनाया गया है कि मुद्रा की सीमान्त

उपयोगिता में कोई परिवर्तन नही होता है। मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता के बदलने की दशा में ऊपर के चित्र में ट र रेखा की दिशा बदल जायगी और यह अ क के समानान्तर न रह कर ऊपर या नीचे की ओर मुड़ जायेगी। मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन होने के दो परिणाम हो सकते है :—प्रथम, यह कि मुद्रा के व्यय के साथ-साथ उसकी सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाय और द्वितीय, यह कि इस दशा मे मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता घटती जाय। वास्तविकता में पहला परिणाम अधिक सही है, क्योंकि ह्रास नियम के अनुसार मुद्रा की मात्रा में कमी होने से उसकी अगली इकाइयों की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जायेगी। दूसरी दशा केवल सैद्धान्तिक (Theoretical) है, जिसका वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नही है। इन दोनों दशाओं में उपभोक्ता की बचत अगले दो रेखा-चित्रों के अनुसार होगी।

चित्र १ मे मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता उसकी मात्रा के घटने के साथ-साथ बढ़ती हुई दिखाई गई है और मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता का वक्र ट र ऊपर की ओर जाता हुआ दिखाया गया है। इस दशा मे उपभोक्ता की बचत की मात्रा कम हो जाती है। चित्र २ मे इसके विपरीत मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता व्यय करने पर भी घटती जाती है, अर्थात् उस पर उपयोगिता वृद्धि नियम लागू होता है। यहाँ ट र रेखा ऊपर से नीचे की ओर जाती है, जिसके कारण उपभोक्ता की बचत की मात्रा बढ़ गई है।

पहली दशा

चित्र १

चित्र न० २

उपभोक्ता की बचत की आलोचनायें—
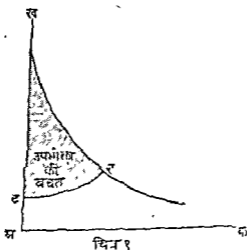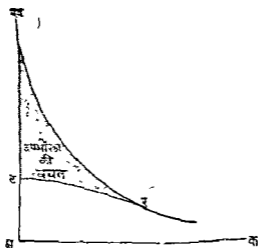
उपभोक्ता की बचत के विचार की अनेक आलोचनाएँ की गई हैं। इन आलोचनाओं को हम दो भागो मे बांट सकते है। कुछ आलोचकों का विचार है कि यह विचार ही मूलतया गलत है। इस प्रकार की बचत एक कोरी कल्पना है, जो भ्रम मात्र है। दूसरी प्रकार के आलोचक यह तो स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार की बचत होती है, परन्तु उनका विचार है कि इस बचत की कोई निश्चित माप सम्भव नही है, जिसके कारण इस विचार का महत्त्व केवल सैद्धान्तिक ही है। व्यावहारिक जीवन में इसकी कोई उपयोगिता नही है। दोनो प्रकार की कुछ आलोचनाएँ नीचे दी जा रही हैं, किन्तु हमे यह याद रखना चाहिए कि इन आलोचनाओं के रहते हुए भी इस विचार का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक महत्त्व शेष रहता है। प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार हैं:—

(१) *उपभोक्ता की बचत का विचार एक कोरी कल्पना है*, जिसका वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नही है और इसीलिए इसका अध्ययन सर्वथा व्यर्थ है। यह आलोचना प्रोफेसर निकलसन (Nicholson) ने की है, जो मार्शल के साथी थे। उनका कथन है कि "यह कहने से क्या लाभ है कि १०० पौंड की आय का महत्त्व १,००० पौंड वार्षिक के बराबर है।"* यदि ऐसा है भी तो इससे हमारे जीवन की कौनसी समस्या सुलझ जाती है। इस आलोचना का स्वयं मार्शल ने ही

---

* "Of what avail is it to say that the utility of an income of £ 100 is worth (say) £ 1,000 a year."—Nicholson.

उत्तर दिया है। इस विचार की सहायता से यदि हम मध्य अफ्रीका और इङ्गलेंड की मानव जीवन की दशाओं का अध्ययन करें तो इसका लाभ स्पष्ट दिखाई देगा। एक व्यक्ति ३०० पौंड की वार्षिक आय से इङ्गलैंड में बहुत सी वस्तुयें खरीद लेगा, जैसे कि समाचार-पत्र, सस्ता साहित्य, बिजली की रोशनी, इत्यादि, जबकि १,००० पौंड की वार्षिक आय से भी मध्य अफ्रीका के जंगलों का निवासी इन सब वस्तुओं को नहीं खरीद पायेगा। अतः इङ्गलेंड में ३०० पौंड प्रति वर्ष की उपयोगिता मध्य अफ्रीका में १,००० पौंड प्रति वर्ष से अधिक है और इसी प्रकार १०० पौंड की उपयोगिता १,००० पौंड के बराबर हो सकती है।

(२) दूसरी आलोचना यह की जाती है कि जैसे-जैसे मनुष्य मुद्रा का व्यय करता चला जाता है, मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती चली जाती है। यहाँ पर भी निकलसन ने मार्शल की कड़ी आलोचना की है कि मार्शल ने इस बात पर भी ध्यान ही नही दिया कि खरीदने के अन्तर्गत मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो सकते है। यथार्थ में मार्शल ने उपभोक्ता की बचत को नापते समय इस बात पर ध्यान नही दिया है। उनका विचार है कि क्योंकि किसी एक वस्तु पर एक व्यक्ति अपनी आय का एक बहुत बड़ा अंश व्यय नही करता है, इसलिये मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नही होता है, परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन होने पर भी उपभोक्ता की बचत बनी रहती है और नापी जा सकती है। वह केवल कम या अधिक हो जाती है।

(३) तीसरी आलोचना उन वस्तुओं के सम्बन्ध में की गई है जो एक दूसरी के स्थान पर उपयोग में लाई जा सकती हैं। चावल के स्थान पर गेहूँ का उपभोग हो सकता है और इसी प्रकार चाय के स्थान पर कॉफी काम में लाई जा सकती है। जिन दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन हो सकता है उन दोनो को मिलाकर कुल उपयोगिता दोनों की अलग अलग कुल उपयोगिताओं के योग से अधिक होती है। हो सकता है कि गेहूँ और चावल दोनों के न होने पर जिस अनुपयोगिता का अनुभव किया जाता है वह २०० के बराबर हो, किन्तु केवल गेहूँ न मिलने पर केवल ९० अनुपयोगिता मिलेगी, क्योंकि एक अंश तक गेहूँ की कमी चावल से पूरी कर ली जायेगी। इसी प्रकार केवल चावल न होने से कुल उपयोगिता ६० हो सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों के अलग-अलग अभाव से १५० अनुपयोगिता मिलती है, जबकि दोनों के एक साथ अभाव से २००। ऐसी दशा में उपभोक्ता की बचत को निकालना लगभग असम्भव होगा।

इस सम्बन्ध में मार्शल का कथन है कि यह कठिनाई इस प्रकार की दोनों वस्तुओं को माँग की एक ही अनुसूची (Schedule) में साथ-साथ ले लेने से दूर हो जाती है और यह विचार ठीक भी है।

(४) चौथी आलोचना इस आधार पर की गई है कि उपभोक्ता की

बचत की सही माप नहीं हो सकती है। इस सम्बन्ध में दो बातें कही जाती हैं :—
पहली यह कि कुछ वस्तुएं (विशेष रूप से जीवन-रक्षक आवश्यक वस्तुएं) ऐसी होती है जिनके आरम्भ की इकाइयों की उपयोगिता अपरिमित (Infinite) होती है, जिसको नापना सम्भव नही है। ठीक यही बात बहुमूल्य हीरों तथा दूसरी दुर्लभ (Rare) वस्तुओं के विषय मे भी कही जा सकती है। उपभोक्ता की बचत का अनुमान लगाने के लिए किसी वस्तु की माँग की सम्पूर्ण (Complete) अनुसूची का जानना आवश्यक है, जबकि किसी भी वस्तु की सम्पूर्ण (Complete) माँग की सूची केवल अनुमानजनक ही होती है। इस प्रकार की माँग की अनुसूची से नापी हुई उपभोक्ता की बचत बहुत ही अनिश्चित (Arbitrary) होगी। वास्तव मे माँग की सही अनुसूची हम बाजार की इस समय की प्रचलित कीमतो के अनुसार ही बना सकते हैं। इस विषय में इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्रचलित कीमतो के अनुसार हम उपभोक्ता की बचत का जो अनुमान लगाते है वह भले ही पूर्णतया सही न हो, किन्तु फिर भी इस अनुमान का व्यावहारिक (Practical) महत्व होता है, क्योकि इसी के द्वारा इम बात का पता लगाया जाता है कि कीमतों को बदलने का विभिन्न श्रेणी के मनुष्यों पर क्या प्रभाव पडता है?

दूसरी बात यह है कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता सभी व्यक्तियो के लिये समान नही होती है। मानव मनोवृत्ति की भिन्नता के कारण तथा इस कारण कि कुछ लोग धनी होते हैं और कुछ निर्धन, मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता मे अन्तर रहता है। एक व्यक्ति की उपभोक्ता की बचत की तुलना दूसरे की बचत से नही की जा सकती, इसलिए मनुष्यों के किसी समूह की या एक बाजार मे उपभोक्ता की बचत नही नापी जा सकती है। यह आलोचना उपभोक्ता की बचत के विरुद्ध नही है, वरन् इसमे केवल इतना बताया गया है कि इस बचत को सही माप नही हो सकती। इस विषय मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि यदि ऐसा है तो यह दोष इस विचार का नही है। इसका कारण केवल यह है कि अर्थविज्ञान मे उपयोगिता की सही माप करने की कोई रीति नही है। यह कहना अनुचित न होगा कि यह विचार तो सही है, परन्तु इस बचत की पूर्णतया निश्चित माप न होने के कारण विचार की कुछ परिसीमायें (Limitations) उत्पन्न हो जाती हैं।

(५) यह कहा जाता है कि माँग और कीमतों की सूची बहुधा अपूर्ण (Incomplete) होती है। उन कीमतो पर जो साधारणतया प्रचलित नही होती हैं, किसी वस्तु की कितनी इकाइयां खरीदी जायेंगी, इस बात का सही अनुमान लगाना कठिन होता है। परिणाम यह होता है कि इस प्रकार चुनी हुई कीमतें केवल काल्पनिक होती है, जिसके कारण उपभोक्ता की बचत की माप में अधिक गलती की सम्भावना होती है। इस विषय में मार्शल का कथन है कि इससे इस विचार के व्यावहारिक महत्व पर कोई प्रभाव नही पड़ता है, क्योकि इस विचार

का महत्व साधारणतया प्रचलित रहने वाली कीमतों के निकट के परिवर्तनों से ही सम्बन्धित है।

विचार की परिसीमाएँ (Limitations)—

उपभोक्ता की बचत का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यह विचार सही है और इसके साथ-साथ यह हमारे व्यावहारिक जीवन मे लाभदायक भी है, किन्तु इस विचार की कुछ परिसीमाएं हैं, जिनमे से निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(१) यह विचार जीवन रक्षक आवश्यक वस्तुओं के विषय में ठीक नहीं है, क्योंकि उनसे उपभोक्ता को अपरिमित (Infinite) बचत प्राप्त होती है। कुछ लेखकों का मत है कि आवश्यक वस्तुओं के सम्बन्ध मे उपभोक्ता की बचत का अध्ययन उचित नही है। ऐसी वस्तुओं से आवश्यकता की उपस्थिति से उत्पन्न होने वाले दुख का ही विनाश होता है, कोई सन्तोष नही मिलता है। टॉजिग (Taussig) का कथन है कि "केवल इस दशा मे जबकि हमें (उपभोग से) कुछ सुख मिलने लगता है और हम यह निर्णय करने लगते है कि किस वस्तु पर अपनी आय को व्यय करें, अतिरिक्त सन्तोष नाम की कोई वस्तु उपभोक्ता को मिलती है।"* उनके विचार मे यह बात जीवन रक्षक आवश्यक वस्तुओ के अतिरिक्त कृत्रिम आवश्यकताओ (Conventional Necessaries) पर भी लागू होती है। दूसरे शब्दो में, दुखमय आर्थिक दशा (Pain Economy) में उपभोक्ता की बचत नही होती है।

(२) दूसरी परिसीमा यह है कि जब हम बाजार में उपभोक्ता की बचत की माप करते हैं तो विभिन्न व्यक्तियों के लिए मुद्रा की समान मात्रा की उपयोगिता समान मान कर ही ऐसा कर सकते हैं। उपभोक्ता, की बचत की सही और निश्चित माप सम्भव नही है। हम केवल एक मोटा अनुमान ही लगा सकते हैं।

उपभोक्ता की बचत का महत्व—

उपभोक्ता की बचत सैद्धान्तिक (Theoretical) और व्यावहारिक (Practical) दोनों ही दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है।

सैद्धान्तिक महत्व—

यह विचार हमारे ध्यान को इस महत्वपूर्ण सत्य की ओर आकर्षित करता है कि किसी वस्तु से प्राप्त होने वाले सन्तोष की माप उस वस्तु के मूल्य के बराबर नही होती है। मूल्य बहुत कम होते हुए भी सन्तोष बहुत अधिक हो सकता है और इस दशा में उपभोक्ता की बचत बहुत अधिक होती है। अच्छे भोजन, पर्याप्त वस्त्र, मकान तथा मनोरंजन से जो सन्तोष मिलता है उसकी अपेक्षा जो कीमत हम इनके लिए देते हैं वह बहुत कम होती है।

* *Taussig : Principles of Economics*, Vol. 1.

व्यावहारिक महत्त्व—

इसी प्रकार यह विचार हमारे व्यावहारिक जीवन में भी बड़ा लाभ पहुँचाता है। व्यावहारिक जीवन में इसके नीचे दिए हुए लाभ विशेष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं—

(१) आर्थिक उन्नति की तुलना—उपभोक्ता की बचत से हम एक देश की आर्थिक उन्नति की तुलना दूसरे देश से कर सकते हैं। किसी देश के निवासियों को उपभोक्ता की बचत जितनी ही अधिक प्राप्त होगी उतना ही वह देश उन्नत माना जायेगा। उपभोक्ता की बचत कम होना देश के कम-उन्नत होने का सूचक है।

(२) आर्थिक दशा की तुलना—उपभोक्ता की बचत की सहायता से एक अर्थशास्त्री समाज के विभिन्न वर्गों की आर्थिक दशा की तुलना कर सकता है और यह पता लगा सकता है कि देश मे जीवन-स्तर (Standard of Living) ऊपर उठ रहा है या नीचे गिर रहा है। ऊँचे जीवन स्तर में उपभोक्ता की बचत अधिक होती है।

(३) करारोपण में—देश के वित्त मन्त्री के लिए इस विचार का बहुत महत्त्व है। जब सरकार किसी वस्तु पर अथवा आय पर कर लगाती है तो समाज के लिए उपभोक्ता की बचत कम हो जाती है। इसलिए इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि कर इस प्रकार लगाये जायँ जिससे कि जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर लगाये जा रहे हैं उनकी तुलना मे उपभोक्ता की बचत मे कोई महत्त्वपूर्ण कमी न हो जाय।

(४) एकाधिकारी के लिए—एक एकाधिकारी (Monopolist) के लिए भी इसका बड़ा महत्त्व है। उपभोक्ता की बचत को देखकर ही वह कीमत को इस प्रकार घटाने बढाने का प्रयत्न करता है कि जिससे उसका कुल लाभ (Total Profits) अधिकतम् हो जाय। जिन वस्तुओं की कीमत के थोड़ा बढ जाने पर भी उपभोक्ता की बचत में अधिक कमी हो जाती है, उनकी कीमत का ऊँचा रखना लाभदायक नहीं होता है।

(५) कीमत परिवर्तन के प्रभाव का अध्ययन—कीमत के घटने बढ़ने के साथ-साथ उपभोक्ता की बचत में जो परिवर्तन होते है उनकी सहायता से हम यह निश्चय कर लेते हैं कि कीमत के किसी दिये हुए परिवर्तन का समाज के विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ता है।

जैसे-जैसे सांख्यिकी (Statistics) की उन्नति होती जाती है और हम उपभोक्ता की बचत को नापने की नई तथा अधिक सही विधियों को जानते जाते हैं, वैसे ही व्यावहारिक जीवन मे इस विचार का महत्त्व और भी बढ़ता जाता है।

उपभोक्ता की बचत को नापने की कठिनाइयाँ (Difficulties in the Measurement of Consumer's Surplus)—

ऊपर से देखने पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि शायद उपभोक्ता की बचत को नापने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। उपभोक्ता की बचत उन दोनों कीमतों के अन्तर के बराबर होती है जो हम देने को तैयार हैं और जो हम वास्तव में देते हैं,

परन्तु वास्तविक जीवन में इस बचत को नाप लेना इतना सरल नहीं है। इस सम्बन्ध मे अनेक कठिनाइयाँ हैं:—

(१) माँग की कीमतों की पूरी सूची उपलब्ध नही होती है—यदि हम उपभोक्ता की बचत की पूर्णतया सही माप करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की माँग की कीमतें हमे ज्ञात हो। स्वयं उपभोक्ता को भी यह ज्ञात नही होता है कि वह वस्तु की प्रत्येक इकाई के लिए कितनी-कितनी कीमत देगा? जो कीमतें बाजार मे प्रचलित हैं उनके विषय मे तो उपभोक्ता की बचत का पता लगाना कठिन नही है, परन्तु जो कीमतें प्रचलित नही हैं उनके सम्बन्ध में भारी कठिनाइयाँ होती हैं। जब हम उन कीमतों के आधार पर जो कि प्रचलित नही हैं, माँग की कीमतो की सूची तैयार करते हैं तो ऐसी सूची केवल कल्पित और अनुमानजनक ही होती है। इसी कारण उपभोक्ता की बचत की माप भी अनुमानजनक ही रहती है। इस सम्बन्ध में मार्शल का कहना है कि यह कठिनाई केवल सैद्धान्तिक (Theoretical) है। व्यावहारिक जीवन में यह कठिनाई उत्पन्न नही होती है, क्योकि हमारी वास्तविक माँग का सम्बन्ध माँग की कीमतो की सूची के केवल उस भाग से ही होता है जो कि ज्ञात है।

(२) कुछ वस्तुओं से प्राप्त उपभोक्ता की बचत असीमित होती है—उपभोक्ता की बचत को नाप लेना इस कारण भी कठिन होता है कि कुछ वस्तुयें ऐसी होती हैं कि उनको प्राप्त करने के लिए हम सब कुछ देने को तैयार रहते हैं, जबकि वास्तव में वे हमे बहुत ही कम कीमत पर मिल जाती हैं। लगभग सभी जीवन-रक्षक तथा प्रतिष्ठा रक्षक आवश्यक वस्तुयें इसी प्रकार की होती हैं। ऐसी वस्तुओं से असीमित मात्रा मे उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, एक प्यास से मरता हुआ मनुष्य एक गिलास पानी के लिए, यदि उसके पास हो तो, सैकड़ो रुपये देने को तैयार हो जायगा, परन्तु यह एक गिलास किंचित एक पैसे मे ही मिल जाय। ऐसी दशा में उपभोक्ता की बचत अत्यधिक होगी।

इस सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि ऊपर जिस कठिनाई का उल्लेख किया गया है वह दुखमय आर्थिक दशा (Pain Economy) की अवस्था से सम्बन्धित है। उसका सुखमय आर्थिक दशा से कोई महत्वपूर्ण सम्बन्ध नही है, जबकि अर्थशास्त्र मे हम केवल सुखमय आर्थिक अवस्था (Pleasure Economy) का ही अध्ययन करते हैं। दुखमय अवस्था मे तो ऋणात्मक सन्तोष (Negative Satisfaction) मिलता है, इसलिए उपभोक्ता की बचत का प्रश्न ही नही उठता है। टॉजिग ने भी कहा है कि अतिरिक्त सन्तोष का प्रश्न तो तभी उठता है जबकि उपभोक्ता को कुछ सुख मिलने लगता है और वह यह निर्णय करने लगता है कि अपनी आय को किस प्रकार व्यय करे।*

* "Only where the stage has been reached of possible comfort, of some choice in the direction of expenditure, can there be any thing in the nature of a real surplus of satisfaction for the consumer."
—Taussig : *Principles of Economics*, Vol. I.

(३) उपभोक्ता की आर्थिक स्थिति बदलती रहती है—उपभोक्ता की बचत की सही माप तभी हो सकती है जबकि उपभोक्ता की आर्थिक स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो। दूसरे शब्दों में, एक धनी आदमी समान रूप से धनी बना रहे और इसी प्रकार एक निर्धन व्यक्ति भी उतना ही निर्धन बना रहे। उसी दशा में एक सी कीमत से एक सी ही उपभोक्ता को बचत प्राप्त होती है, किन्तु वास्तविक जीवन में आर्थिक स्थिति बराबर बदलती रहती है। इसलिए उपभोक्ता की बचत का कोई निश्चित अनुमान कठिन होता है। इस कठिनाई को कुछ विद्वानों ने इस प्रकार दूर करने का प्रयत्न किया है कि यह कठिनाई केवल एक व्यक्ति को प्राप्त होने वाली बचत से सम्बन्धित है। यदि हम समाज को लेते हैं, जिसमें कुछ व्यक्तियों की आर्थिक दशा बिगड़ती है तो कुछ की सुधरती है और इसलिए सारे समाज की आर्थिक स्थिति लगभग यथास्थिर ही रहती है। यह निश्चय है कि यह दृष्टिकोण भी गलत है, क्योंकि सारे समाज की आर्थिक स्थिति भी सदैव यथास्थिर नहीं रहती है।

(४) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बदलती रहती है—उपभोक्ता की बचत को नापने में यह भी कठिनाई बताई जाती है कि जैसे-जैसे हम व्यय करते जाते हैं, हमारे पास मुद्रा या क्रयः शक्ति का सञ्चय घटता जाता है और साथ ही साथ मुद्रा की प्रत्येक अगली इकाई की उपयोगिता हमारे लिए बढ़ती जाती है। परिणाम यह होता है कि उपभोग की प्रत्येक अगली इकाई से प्राप्त होने वाली उपभोक्ता की बचत तेजी के साथ घटती है। इस कठिनाई के सम्बन्ध में केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, इससे उपभोक्ता की बचत घट जाती है, परन्तु जो भी बचत प्राप्त होती है वह नापी जा सकती है।

(५) उपभोक्ताओं की संवेदनशीलता (Sensibility) में अन्तर होते हैं—यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती है कि विभिन्न उपभोक्ताओं की संवेदनशीलताओं में विशाल अन्तर होते हैं और उनकी रुचि (Taste) भी अलग-अलग होती है। इसका परिणाम यह होता है कि विभिन्न व्यक्तियों को एक ही वस्तु से अलग-अलग अंश में सन्तोष प्राप्त होता है और वे किसी वस्तु की एक इकाई के लिये अलग-अलग कीमत देने को तैयार रहते हैं। इस कारण विभिन्न व्यक्तियों को अलग-अलग मात्राओं में उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है। ऐसी दशा में समाज को प्राप्त होने वाली बचत का सही अनुमान लगाना कठिन होगा। इस सम्बन्ध में भी हम इतना कह सकते हैं कि विभिन्न व्यक्तियों की बचत में तो अन्तर अवश्य रहेगा, परन्तु औसत (Average) का पता सरलता से लगाया जा सकता है।

(६) किसी वस्तु की अधिक इकाइयाँ खरीदने पर उसकी पहले से खरीदी हुई इकाइयों की उपयोगिता घटती जाती है—यह कठिनाई पैटन (Patten) ने बताई है। उनका विचार है कि यह समझना भूल होगी कि किसी वस्तु की जो इकाइयाँ हम खरीद चुके हैं उनकी उपयोगिता यथास्थिर रहती है। वास्तविकता

अध्याय १३

उदासीनता वक्र अथवा तटस्थता वक्र

(The Indifference Curves)

उपयोगिता की माप में कठिनाई—

प्रत्येक प्रकार के अध्ययन मे वैज्ञानिक विवेचना करने के लिए किसी इस प्रकार के माप-दण्ड की आवश्यकता पड़ती है, जिससे कि हम विभिन्न घटनाओ (Phenomena), कारणो तथा परिणामो की सही माप कर सकें। भौतिक-विज्ञान मे अनेक प्रकार की विधियो से भौतिक सत्यो की माप की जाती है। उदाहरणस्वरूप, वायु के दबाव को नापने के लिये हम बैरोमीटर (Barometer) का उपयोग करते हैं। इसी प्रकार ताप-मान यन्त्र (Thermometer) और तोलने के लिए तुला (तराजू) को काम मे लाया जाता है। एक कपड़े का व्यापारी गज से कपड़ा नापता है और प्रायः सभी सेवाओ की माप मुद्रा (Money) में की जाती है। अर्थ-विज्ञान मे वैज्ञानिक विवेचना के लिए हम उपयोगिता को इसी काम मे लाते है। अभिप्राय यह है कि कुछ विद्वानो के अनुसार विभिन्न आर्थिक घटनाओ और उद्देश्यों की माप उपयोगिता मे ही की जा सकती है। कुछ विद्वानो का विचार है कि प्रत्येक आर्थिक और राजनीतिक क्रिया का उद्देश्य यह होना चाहिए कि समाज को प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता अधिकतम् हो जाय।

उपयोगिता का माप यन्त्र अर्थशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण यन्त्र है, परन्तु कठिनाई यह है कि यन्त्र उतनी सही और निश्चित माप नही दे सकता है, जितनी कि भौतिक या रसायनशास्त्र के यन्त्र दे सकते हैं। उपभोग के नियमों के अध्याय मे यह बात स्पष्ट की गई थी कि उपयोगिता की सही माप लगभग असम्भव है। उपभोग की किसी वस्तु से यथार्थ मे कितनी उपयोगिता प्राप्त होती है, यह ठीक ठीक उपभोक्ता को भी ज्ञात नही हो सकता है। उसके अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति के लिए तो इसका पता लगाना और भी कठिन होता है। अलग-अलग मनुष्यो की रुचियाँ, स्वभाव, मनोवृत्तियाँ तथा संवेदनशीलतायें अलग-अलग होती हैं, जिसके कारण एक ही वस्तु के उपभोग से अलग-अलग व्यक्तियो को उपयोगिता की विभिन्न मात्रायें प्राप्त होती हैं। किसी एक मनुष्य की आर्थिक परिस्थिति, अर्थात् उसके निर्धन या धनवान होने का भी उसके उपभोग द्वारा उपयोगिता प्राप्त करने की शक्ति पर बहुत प्रभाव पड़ता है। कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं कि जिनका निर्धनता की अवस्था मे हमारे उपभोग मे कुछ भी महत्त्व नही होता है, परन्तु धनवान् बन जाने पर वे महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। मोटर-कार

इसी प्रकार की वस्तु है। सारांश यह है कि जितनी उपयोगिता हमे प्राप्त होती है, उसका हम स्वयं तो कुछ अनुमान लगा सकते हैं, परन्तु इससे यह निश्चय नही होता कि दूसरो को कितनी उपयोगिता मिलेगी। समाज द्वारा प्राप्त की हुई उपयोगिता की माप और भी कठिन है। उपयोगिता एक अमूर्त (Abstract) गुण है, जो एक मानसिक दशा मात्र है।

प्रो० मेहता का विचार है कि उपयोगिता के नापने के सम्बन्ध में उठाये हुए अधिकतर आक्षेप ठीक नही हैं।[1] उपयोगिता का अमूर्त होना यह सिद्ध नही करता कि उसकी माप नही हो सकती। शक्ति, ताप, विद्युत (Electricity), आदि अमूर्त वस्तुएं नापी जा सकती है। सच तो यह है कि हम भौतिक वस्तुओ की माप कभी करते ही नही है। माप सदैव अमूर्त या अभौतिक गुणों की ही होती है। जब हम कपडे को नापते हैं तो यह माप कपडे की नही होती, वरन् उसकी लम्बाई की होती है, जो एक अमूर्त वस्तु है। दूसरे, इस कारण से भी कि उपयोगिता यथास्थित नही रहती, यह कह देना कि हम उपयोगिता को नही नाप सकते, ठीक नही है। प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता किसी निश्चित समय पर स्थिर होती है और नापी जा सकती है। तीसरे, यह कहना भी ठीक नही है कि क्योंकि उपयोगिता की माप का कोई मान (Standard) नही है, इसलिए इसकी माप नही हो सकती है। अर्थशास्त्र मे मुद्रा का माप दण्ड आर्थिक घटनाओ को नापने के उपयोग मे लाया जाता है और उपयोगिता की माप भी इसी प्रकार की जा सकती है।

उपयोगिता की माप न हो सकने का मुख्य कारण यह है कि उपयोगिता और दूसरी अमूर्त वस्तुओं जैसे लम्बाई मे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। जबकि दूसरी अमूर्त वस्तुएं विभाजित की जा सकती है, उपयोगिता का विभाजन नही हो सकता है। उनमे विस्तार (Extension) का गुण होता है, जबकि उपयोगिता का गुण गहराई अथवा तीव्रता (Intensity) है। विस्तार की नाप हो सकती है, तीव्रता की नही।

उपयोगिता की माप सम्बन्धी कठिनाई से बचने के लिए कुछ विद्वानो ने यह सुझाव दिया है कि किसी वस्तु को पाने के लिए कोई मनुष्य जितना रुपया व्यय करने के लिए तैयार हो जाता है उसी को उस वस्तु की उपयोगिता की माप मान लेना चाहिए। उनके विचार मे एक मानसिक विचार की ठोस माप केवल इसी प्रकार हो सकती है। यह विचार सही नही है। प्रो० पीगू का कथन है कि मुद्रा मे हम केवल इच्छा की तीव्रता को नाप सकते है, उपयोगिता को नहीं।[2] इस प्रकार मुद्रा उपयोगिता की सही माप नही है। यह केवल हमारे अनुराग (Preference) की सूचक होती है। इस कठिनाई से बचने के लिए आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने उपयोगिता के

---

1. J. K Mehta : *Advanced Economic Theory*, p 24-26.
2. A. C. Pigou : *Some Remarks on Utility*, Economic Journal 1909.

उपयोग का अर्थशास्त्र में परित्याग कर दिया है और अर्थ-विज्ञान मे अधिक वैज्ञानिक विवेचना के लिए एक नई रीति को अपनाया है। उन समस्याओ को जो उपयोगिता विवेचना द्वारा नही सुलझाई जा सकती हैं उदासीनता वक्र (Indifference Curves) की सहायता से, जिनमें एक भौतिक मान द्वारा माप की जाती है, सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

उदासीनता वक्र क्या है ?—

अर्थशास्त्र मे सबसे पहले पैरेटो (Pareto) नामक एक इटेलियन आर्थिक लेखक ने इस बात पर जोर दिया था कि उपयोगिता की माप नही हो सकती है।[1] उनके विचार में उपयोगिता केवल एक तुलनात्मक शब्द है, जिसकी निरपेक्ष (Absolute) माप नही हो सकती है। इस आधार पर उन्होने इस बात पर जोर दिया कि उपयोगिता के विचार के स्थान पर हमे अनुराग की तुलाराशि (Scale of Preferences) का उपयोग करना चाहिए। यद्यपि कोई व्यक्ति यह बताने में असमर्थ रह सकता है कि किसी वस्तु से उसे कितनी उपयोगिता मिली है, परन्तु वह यह सरलता से बता देगा कि दी हुई दो वस्तुओं में से किसके लिए उसका अनुराग कितना और किस प्रकार है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हम उपयोगिता की विवेचना पर अपना समय व्यय न करके अनुराग की सूची बनाने का प्रयत्न करें। पैरेटो के पश्चात् प्रो० वीजर (Wieser), एडवर्ड चैम्बरलेन (Edward Chamberlain), एलन (Allen), प्रो० बाउले (Bowley) और प्रो० हिक्स (Hicks) ने इस विषय में और आगे काम किया है। हिक्स और एलन का विचार है कि सीमान्त उपयोगिता की सही माप न हो सकने के कारण मूल्य के सिद्धान्त को उपयोगिता द्वारा स्पष्ट नही किया जा सकता है, किन्तु इसको स्थानापन्न अर्घ (Rate of Substitution) द्वारा समझाया जा सकता है। उनके विचार मे सीमान्त उपयोगिता का कोई निश्चित अर्थ नही है, परन्तु स्थानापन्न-अर्घ के विषय मे ऐसी बात नही है।[2] इन सब विद्वानों ने इस सम्बन्ध मे एक जटिल गणित प्रणाली का उपयोग किया है, जिसको उदासीनता वक्र की प्रणाली कहते हैं।

उदासीनता वक्र की परिभाषा—

उदासीनता-वक्र एक ऐसा वक्र है जिसके ऊपर प्रत्येक बिन्दु उपभोग की दो वस्तुओं की मात्रायें सूचित करता है, जबकि पूरा वक्र इन दोनों वस्तुओं से प्राप्त होने वाली उपयोगिता को दिखाता है। इस वक्र के अलग-अलग बिन्दुओं मे से प्रत्येक दोनो वस्तुओं का ऐसा संयोग (Combination) दिखाता है कि प्रत्येक संयोग से समान कुल सन्तोष प्राप्त होता है। उपभोक्ता इस विषय में पूर्णतः उदासीन या तटस्थ (Indifferent) रहता है कि इन संयोगों मे से कौन से संयोग को चुने, क्योंकि

1. Pareto : *Manuel'd Economic Politique.*
2. J. R. Hicks : *Value and Capital.*

प्रत्येक संयोग से मिलने वाला सन्तोष बराबर होता है। ईसथम के शब्दों में—"यह मात्राओं के उन जोड़ों को प्रदर्शित करने वाले बिन्दुओं का मार्ग पथ (Locus) होता है जिनके बीच व्यक्ति तटस्थ अथवा उदासीन रहता है, इसीलिए इसे तटस्थता वक्र अथवा उदासीनता वक्र कहते है।"* उदाहरणस्वरूप, यदि र और म दो वस्तुयें हैं तो उदासीनता वक्र र और म के ऐसे सयोगों को दिखायेगा कि र और म दोनो से प्राप्त होने वाले सन्तोष का योग हर दशा में समान ही होगा। यदि कोई उपभोक्ता यह जानता है कि र की ६ इकाइयों+म की १० इकाइयों के संयोग से जो कुल सन्तोष मिलता है वह उतना ही है जितना कि र की १५ इकाइयों और म की ४ इकाइयो से प्राप्त होता है तो ६ र+१० म और १५ र+४ म दोनो ही संयोग उदासीनता वक्र पर स्थित दो बिन्दुओ द्वारा दिखाये जायेंगे। नीचे दी हुई तालिका ऐसे संयोगो को दिखाती है :—

म वस्तु की सख्या	र वस्तु की सख्या	उपयोगिता	विनिमय मे दी जाने वाली म वस्तु की संख्या	बदले मे ली जाने वाली वस्तु की सख्या
५०	०	×	....	....
४०	१	×	१२	१
३१	२	×	११	१
२३	३	×	१०	२
१६	४	×	७	३
१०	५	×	४	४
५	६	×	२	८
१	७	×	१	१२

इस तालिका से स्पष्ट होता है कि म और र वस्तुओं के ऐसे सयोग (Combinations) हो सकते हैं, जिनमे से प्रत्येक से उपभोक्ता को समान ही सन्तोष प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि जैसे-जैसे किसी सयोग मे म वस्तु की मात्रा घटती जायगी, र की मात्रा बढ़ती जायगी। ये विभिन्न संयोग ऐसे है कि उपभोक्ता इस सम्बन्ध मे तटस्थ अथवा उदासीन (Indifferent) रहता है कि इनमे से किसको चुनें। इन सयोगो से ही इस बात का पता चलता है कि म वस्तु की इकाइयो की एक निश्चित मात्रा के बदले मे र वस्तु की कितनी मात्रा मिलेगी।

इसी तालिका के आधार पर रेखा-चित्र भी खींचा जा सकता है, जो निम्न प्रकार होगा :—

* It is the locus of the points representing pairs of quantities between which the individual is indifferent, so it is termed as Indifference Curve." J. K. Eastham: *An Introduction to Economic Analysis*, p. 50.
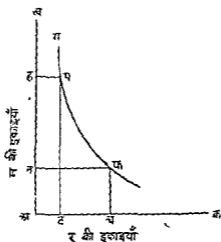
यह वक्र दो अक्ष-रेखाओ (Axes) पर खीचा गया है। अ ख रेखा पर म वस्तु की इकाइयाँ नापी गई हैं और अ क रेखा पर र वस्तु की इकाइयाँ नापी गई हैं। प और फ, ग वक्र पर दो ऐसे बिन्दु हैं जो र और म के दो अलग अलग संयोग दिखाते हैं। प बिन्दु पर र की माप अ ट के बराबर है और म की माप अ ह के बराबर है, दोनो से प्राप्त होने वाला सन्तोष यहाँ पर अ ह प ट आयत द्वारा सूचित होता है। फ बिन्दु पर र की माप अ च के बराबर है और म की माप अ न के बराबर है। दोनों से प्राप्त होने वाला सन्तोष अ न फ च आयत द्वारा दिखाया जाता है। विशेषता यह है कि दोनो दशाओ में प्राप्त होने वाला सन्तोष बराबर है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि अ ह प ट आयत का क्षेत्रफल अ न फ च के क्षेत्रफल के बराबर है।

इस वक्र के द्वारा हमे यह पता नही चलता कि र और म वस्तुओ से कितनी-कितनी उपयोगिता या सन्तोष यथार्थ मे मिलता है। पता केवल इतना चलता है कि इन दो वस्तुओ से सम्बन्धित उपयोग के कौन-कौन से संयोग हैं, जिनसे समान सन्तोष मिलता है। उपयोगिता कितनी भी हो, इससे कोई तात्पर्य नही है। ग वक्र उन सब सयोगो को दिखाता है जिनमे से प्रत्येक से समान सन्तोष मिलता है तथा उपभोक्ता जिनके चुनने मे उदासीन रहता है। यही कारण है कि ग वक्र उदासीनता वक्र कहलाता है। उदासीनता वक्र के स्थान पर उपभोग उदासीनता वक्र कदाचित् और भी अधिक उपयुक्त होगा।

उदासीनता वक्र के गुण--

उदासीनता वक्र का खीचना और समझाना इतना सरल नही है जितना कि ऊपर दिये हुये उदाहरण मे दिखाया गया है। प्रो० हिक्स (Hicks) ने इस बात पर जोर दिया है कि उदासीनता वक्र की ठीक आकृति (Figure) केवल तीन परिमाण सम्बन्धी (Three Dimensional) आकृति द्वारा ही खीची जा सकती है।

उपयोगिता वक्र उनके विचार में ठीक शब्द नही है। अधिक उपयुक्त शब्द उपयोगिता स्तल (Utility Surface) है, किन्तु सौभाग्यवश अन्त मे इस उपयोगिता स्तल को वक्र का रूप देकर दो परिमाणिक आकृति (Two Dimensional Figure) मे परिवर्तित किया जा सकता है।* इस प्रकार अन्त में इस वक्र की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि साधारण गणित ज्ञान से भी हम इसको समझ लें।

दो वस्तुओ के उपभोक्ता के उदासीनता वक्र का आकार अ बिन्दु से उन्नतोदर (Convex) अर्थात् बाहर को मुड़ता हुआ होता है। इसका कारण यह है कि जैसे-जैसे हम इस वक्र पर नीचे की ओर बढते है, अ ख अक्ष (Axis) की लम्बाई बढती चली जाती है। पीछे दिये हुये उदासीनता वक्र ग में प बिन्दु से फ बिन्दु तक आने मे अ ख के साथ नापी जाने वाली लम्बाई अ ट से बढ़ कर अ च के बराबर हो जाती है। इसके विपरीत नीचे से ऊपर जाने मे अ ख अक्ष के साथ नापी जाने वाली लम्बाई बढती चली जाती है। अब हमे यह देखना है कि प से फ पर उतरने में अ क अक्ष पर मापी जाने वाली लम्बाई के बढने का क्या अर्थ होता है? यह इस बात को सिद्ध करता है कि यदि उपभोक्ता म वस्तु की इकाइयो के उपभोग को कम करता है तो उसे र वस्तु के उपभोग को बढाना पड़ता है, क्योकि म का उपभोग कम करने से म की मात्रायें कम होती चली जाती है, जिसकी स्थान-पूर्ति करने के लिये र की बढती हुई इकाइयो का उपभोग आवश्यक होता है। केवल इसी दशा मे उसको प्राप्त होने वाला कुल सन्तोष यथास्थिर रह सकता है। यह एक साधारण सी बात है कि जब हम एक वस्तु के उपभोग को कम करते है तो इस दशा से उत्पन्न होने वाली सन्तोष की कमी को पूरा करने के लिये हमे दूसरी वस्तु का अधिक उपभोग करना पडता है। जब एक वस्तु के उपभोग की मात्रायें बहुत कम रह जाती है तो उसका उपभोग न करने से सन्तोष की अधिक हानि होती है। इसके विपरीत जब किसी वस्तु के उपभोग की मात्रायें बहुत अधिक हो जाती है तो उसकी अगली इकाइयो से साधारणतया बहुत कम सन्तोष मिलता है। अब यदि हम पहली वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु के उपभोग द्वारा सन्तोष की हानि को पूरा करना चाहते हैं तो पहली वस्तु की प्रत्येक इकाई के बदले में दूसरी वस्तु की बढती हुई इकाइयो का उपभोग करना पड़ेगा। यह बात साधारणतया सभी वस्तुओ के विषय मे सत्य है, किन्तु यदि दो वस्तुयें ऐसी हैं जिनमें से एक की उपयोगिता दूसरी की उपयोगिता पर आधारित है तो यह भी सम्भव है कि ऐसा न हो। यह इस कारण होता है कि साधारणतया प्रत्येक वस्तु के स्टॉक में वृद्धि होने से उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती है और कमी होने पर उसकी सीमान्त उपयोगिता बढ़ती है। इसी कारण हमे इस बात की आवश्यकता पडती है कि दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन करें। दूसरे शब्दो में, हम

* J. R. Hicks : *Value and Capital*, Chapter 1.

इसी बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि जैसे-जैसे हम एक वस्तु के स्थान पर दूसरी का उपभोग बढ़ाते जाते हैं, स्थानापन्न-अर्घ (Rate of Substitution) क्रमशः बढ़ता जाता है। दूसरे शब्दों में, सीमान्त-स्थानापन्न-अर्घ (Marginal rate of Substitution) बढ़ता चला जाता है। उन्नतोदार वक्र इसी बात को सूचित करता है।

उदासीनता वक्र का दूसरा गुण यह है कि दो उदासीनता वक्र एक-दूसरे को कभी नहीं काटते हैं, क्योंकि अलग-अलग वस्तुओं की मात्राओं से सम्बन्धित उदासीन वक्र अलग अलग होते हैं। *इसके साथ-साथ उदासीन वक्रों का एक दूसरे से समानान्तर होना आवश्यक नहीं है।* ये समानान्तर केवल उस दशा मे होते हैं जबकि *वस्तु विशेष की सीमान्त उपयोगिता यथास्थित रहती है।** कुछ कुछ दशाओं में उदासीनता वक्र का आकार गोलाकार भी होता है। यह आकार प्रायः उन वस्तुओं से सम्बन्धित उदासीनता वक्र का होता है *जिनके उपभोग से एक निश्चित मात्रा के* पश्चात् ऋणात्मक उपयोगिता (Negative Utility) मिलने लगती है। अन्तिम दशा मे लम्बे काल के उपभोग के पश्चात् प्रत्येक वस्तु इसी प्रकार की हो जाती है और इसलिए अधिकतर वस्तुओं के उदासीनता वक्र गोलाकार होते हैं।

नीचे दिए हुए चित्र मे गोलाकार उदासीनता वक्र दिखाया गया है। अ फ, र वस्तु की अधिकतम् उपभोग की मात्रा है। इस मात्रा से आगे र वस्तु से ऋणात्मक उपयोगिता मिलती है, जिसका अर्थ यह होता है कि इस वस्तु के उपभोग के घटाने से कुल उपयोगिता में जो हानि होती है *उसकी पूर्ति करने के लिये म वस्तु का उपभोग भी* बढ़ाना पड़ता है। यह जानने मे कठिनाई न होगी कि इस गोलाकार वक्र पर स से ल बिन्दु तक र के उपभोग की बढ़ती हुई इकाइयों के साथ म के उपभोग की इकाइयाँ घटती जाती हैं, किन्तु ल बिन्दु के आगे र की इकाइयों के उपभोग के बढ़ने के साथ-साथ म की इकाइयों का उपभोग भी बढ़ता है। गोलाकार वक्र की यही विशेषता होती है :—
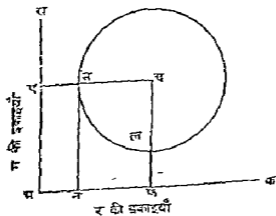
* Marshall : *Principles of Economics,* Mathematical Appendix.

उदासीनता वक्र का तीसरा गुण यह होता है कि कोई भी उदासीनता वक्र अ क अक्ष (*Axis of X*) अथवा अ ख अक्ष (*Axis of Y*) को स्पर्श नहीं करता है। इसका कारण यह है कि उदासीनता वक्र खींचा ही इस आधार पर जाता है कि एक व्यक्ति दो अलग-अलग वस्तुओं के विभिन्न संयोगों का उपभोग करता है। यदि कोई उदासीनता वक्र अ ख अक्ष को छ बिन्दु पर स्पर्श करता है तो इसका अर्थ यह होगा कि व्यक्ति विशेष एक वस्तु की अ छ इकाइयों तथा दूसरी की शून्य इकाइयों से सन्तुष्ट हो जाता है। यह हमारी आधारभूत मान्यता के विरुद्ध है, क्योंकि हम यह मानकर चले हैं कि व्यक्ति विशेष दोनों ही वस्तुओं का उपभोग करता है। यद्यपि एक के उपभोग की मात्रा कम हो सकती है और दूसरे की अधिक। इस कारण यदि हम दो वस्तुओं के उपभोग का अध्ययन कर रहे हैं तो उदासीनता वक्र किसी भी अक्ष से स्पर्श नही करेगा। केवल एक ही दशा में उदासीनता वक्र किसी अक्ष को स्पर्श कर सकता है। यदि दो वस्तुओं में से एक मुद्रा (Money) है, जिसे (मान लीजिए कि) हम अ ख अक्ष पर मान रहे हैं तो इस विशेष दशा मे हो सकता है कि उदासीनता वक्र अ ख से छ बिन्दु पर स्पर्श करे। इस अर्थ में उस दशा में यह होगा कि व्यक्ति विशेष या तो मुद्रा की अ छ इकाइयां लेना चाहेगा अथवा वह क वस्तु की कुछ इकाइयाँ तथा मुद्रा की कुछ मात्रा लेना चाहेगा, जैसे कि निम्न चित्र मे दिखाया गया है :—
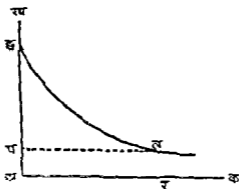
इस चित्र में ल बिन्दु पर व्यक्ति विशेष वस्तु की अ द इकाइयो तथा मुद्रा की अ प इकाइयों का उपभोग करेगा और इस दशा मे उसे उतना ही संतोष मिलेगा जितना कि मुद्रा की अ छ इकाइयो से।

उदासीनता वक्र के उपयोग—

आधुनिक अर्थशास्त्र मे गणित पद्धति (Mathematical Method) के उपयोग की प्रथा बराबर बढ़ती जा रही है। गणित के उपयोग द्वारा आर्थिक सिद्धान्तों और निष्कर्षों की अनिश्चितता का दोष दूर करने का प्रयत्न निरन्तर किया जा रहा है। सभी शास्त्रों मे गणित सबसे निश्चित विज्ञान है। अर्थशास्त्र मे इसके उपयोग से

बहुत लाभ होने की आशा की जाती है, किन्तु बहुधा आर्थिक सिद्धान्त इतने गणित-जटित हो जाते हैं कि गणित के अच्छे ज्ञान बिना अर्थशास्त्र को समझ लेना कठिन हो जाता है। पीगू (Pigou), हिक्स, चैम्बरलेन, ऐलन इत्यादि की अर्थशास्त्र के उच्चतम सिद्धान्तों की व्याख्या अर्थशास्त्री की समझ से बाहर की बात है। गणित अर्थशास्त्रीय लेखक एक लम्बे काल से उदासीनता वक्र का विस्तृत उपयोग करते आये हैं, किन्तु विशेष रूप से इस वक्र की लोकप्रियता हिक्स और ऐलन ने बढ़ायी है। उन्होंने अर्थशास्त्र के अध्ययन की पुरानी रीतियों की कड़ी आलोचना की है, क्योंकि ये रीतियाँ उपयोगिता की माप पर आधारित हैं। यथार्थ में अर्थशास्त्र में उपयोगिता को नापना आवश्यक नहीं है। इसके बिना ही अधिकांश आर्थिक समस्यायें सुलझाई जा सकती हैं। हमें केवल इतना जानने की आवश्यकता है कि विभिन्न वस्तुओं अथवा सेवाओं और मुद्रा के किन-किन संयोगों से समान कुल संतोष प्राप्त होता है और किन-किन संयोगों से कम या अधिक संतोष प्राप्त होता है। इतना ही ज्ञान अधिकतम् कुल संतोष की प्राप्ति के लिए पर्याप्त है। अभिप्राय यह है कि प्रतिस्थापना नियम अथवा अधिकतम् सन्तोष नियम की व्याख्या करने के लिये उपयोगिता को नापने की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल सीमान्त स्थानापन्न-अर्घ को नाप लेने से समस्या हल हो जाती है। यह निश्चय है कि हमें यह तो पता नहीं चलेगा कि उपभोग के अमुक संयोग से हमें कुल कितनी उपयोगिता प्राप्त हुई, किन्तु हमें अधिकतम् संतोष 'प्राप्ति का स्थान' मिल जायगा।

इसी प्रकार उपभोक्ता की बचत की समस्या भी उपयोगिता की माप किये बिना सुलझ जाती है। उपभोक्ता की बचत का सबसे महत्त्वपूर्ण उपयोग तुलना करने की दृष्टि से किया जाता है। हमें यह जान लेने में अधिक रुचि नहीं होती कि उपभोक्ता की कुल बचत कितनी है। हमें तो केवल यह जान लेना पर्याप्त होता है कि उपभोक्ता की कुल बचत में किस प्रकार तथा किस अंश तक परिवर्तन होते हैं। या तो हमारा यह उद्देश्य होता है कि हम यह जानें कि उपभोक्ता की बचत कम है या अधिक या फिर हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि आर्थिक घटनाओं के परिवर्तन के साथ साथ उपभोक्ता की बचत में किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं। ये दोनों कार्य उदासीनता वक्र की सहायता से सुगमता से सम्पन्न हो जाते हैं और उपयोगिता को नापने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपभोग के दो महत्त्वपूर्ण नियम, प्रतिस्थापना-नियम और उपभोक्ता की बचत, जो इस कारण से अनुमानजनक थे कि वे उपयोगिता की माप पर आधारित थे, अधिक निश्चित तथा विश्वसनीय हो जाते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उदासीनता वक्र की प्रणाली बड़ी ही गणित जटित है और साधारण अर्थशास्त्रीय लेखक, जो गणित ज्ञान से अनभिज्ञ हैं, इसका ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर सकते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से यह रीति बड़ी सराहनीय है और इसके दोष निकालना कठिन है।

स्टिगलर (Stigler) ने उदासीनता वक्र के तीन उपयोग बताये हैं:—(१)

वस्तु-विनिमय प्रणाली में वस्तुओं का विनिमय अनुपात तो निर्धारित नहीं हो सकता है, परन्तु वे सीमायें निर्धारित हो सकती हैं, जिनके भीतर विनिमय होता है। (२) इनके उपयोग से इस बात का पता लगाया जा सकता है कि किसी व्यक्ति का जीवन-स्तर नीचे गिर गया है या ऊपर उठ गया है। (३) यदि कोई कर वस्तु के स्थान पर व्यक्ति की आय पर लगाया जाता है तो वह व्यक्ति ऊँचे उदासीनता वक्र की ओर चला जाता है।

उदासीनता वक्र के उपयोग के विषय में बैनहाम (Benham) ने कहा है कि "उदासीनता वक्रों का उपयोग दो विकल्पो (Alternatives) के बीच, यदि वे केवल दो ही हो, किसी व्यक्ति के अनुराग अधिमान (Scale of Preferences) का चित्रण करने के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार वे आय और विश्राम के बीच उसके अनुराग अधिमान को दिखा सकते हैं, अर्थात् यह दिखायेंगे कि वह व्यक्ति अपने प्रत्येक दिन के २४ घन्टों को विश्राम और पारिश्रमिक कार्य पर, जबकि यह पारिश्रमिक एक निश्चित दर पर है, किस प्रकार बाँटेगा। इसी प्रकार इनका उपयोग वर्तमान और भावी उपभोग तथा तरल और अतरल आदेयों से सम्बन्धित अनुराग अधिमान निश्चित करने के लिए भी किया जा सकता है।"*

सीमान्त स्थानापन्न अर्घ पर कुछ विचार (A Detailed Study of the Marginal Rate of Substitution)—

उदासीनता वक्र के अध्ययन में सबसे महत्त्वपूर्ण अध्ययन सीमान्त स्थानापन्न अर्घ का है। एक वस्तु की एक निश्चित मात्रा के बदले में दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा मिलेगी अथवा एक वस्तु का दूसरी से प्रतिस्थापन हम किस दर पर करते हैं, इस प्रश्न का उत्तर हमें सीमान्त स्थानापन्न अर्घ (Marginal Rate of Substitution) से ही मिलता है। सीमान्त प्रतिस्थानापन्न दर का विचार अर्थशास्त्र को हिक्स और ऐलन की देन है। मान लीजिए कि क के पास चीनी है और ख के पास दूध और दोनों व्यक्ति विनिमय करना चाहते हैं। विनिमय दर इस प्रकार निश्चित होगी कि चीनी की एक निश्चित मात्रा के बदले मे कितना दूध दिया जाता है। परन्तु विनिमय केवल उसी दशा मे सम्भव हो सकेगा जबकि चीनी और दूध की सीमान्त उपयोगिताओं का अनुपात (Ratio) क और ख दोनों के लिए अलग-अलग है।

---

* "Indifference Curves can be used to portray a person's Scale of Preferences between any two alternatives, provided they are only two. Thus they can portray his *scale of preferences* as between income and leisure, showing how he would divide his twenty four hours each day between leisure and remunerated work at any given rate per hour. Again they can be used to show the Scale of Preferences between present and future consumption between liquid assets and income-yielding assets and so on."—Benham: *Economics*, pp. 96-97.

इसी अनुपात को सीमान्त स्थानापन्न अर्घ कहा जाता है। *हिक्स (Hicks) के शब्दों में "हम क की स में सीमान्त प्रतिस्थापन अर्घ स की उस मात्रा के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो उपभोक्ता के लिए क की सीमान्त इकाई की हानि की क्षतिपूर्ति मात्र कर देगी।"*[1] वास्तव मे यह ख मे क की सीमान्त उपयोगिता मात्र है। इस अध्ययन की सहायता से हम बिना उपयोगिता की माप किये ही प्रतिस्थापन नियम (Law of Substitution), अधिकतम् सन्तोष नियम (Law of Maximum Satisfaction) और उपभोक्ता की बचत आदि की व्याख्या कर सकते हैं। इस अध्ययन से हमे यह पता तो नही चलता है कि हमे कितना अधिकतम् कुल सन्तोष मिला है, परन्तु यह पता अवश्य चल जाता है कि दी हुई परिस्थितियो मे हमारा सन्तोष अधिकतम् हुआ या नही।

गणित वर्ग के अर्थशास्त्रियों ने एक और भी नया विचार प्रस्तुत किया है, जिसे प्रतिस्थापन की लोच (Elasticity of Substitution) कहा जाता है। यह विचार माँग की लोच से मिलता-जुलता ही है। इस विचार की सहायता से उस दर (Rate) का पता लगाया जाता है जिस पर सीमा पर (At the Margin) दो वस्तुओ के बीच प्रतिस्थापन होता है। यह निश्चय है कि "एक व्यक्ति किसी समय विशेष मे प्रचलित कीमतो को ध्यान मे रखते हुए केवल इसी दशा मे साम्य की अवस्था मे हो सकता है, जबकि किन्ही दो वस्तुओं की कीमत का अनुपात उसकी उन दोनों वस्तुओ के बीच के सीमान्त प्रतिस्थापन अर्घ के बराबर होता है, अन्यथा उस बाजार भाव पर उस व्यक्ति के लिए यह लाभदायक होगा कि वह एक वस्तु के एक भाग के स्थान पर समान कीमत के दूसरी वस्तु के एक भाग का उपयोग करे।"[2]

हिक्स के अनुसार म वस्तु का सीमान्त प्रतिस्थापन अर्घ य वस्तु की उस मात्रा के बराबर होती है जो उपभोक्ता के प वस्तु के उपभोग न करने के त्याग का निवारण मात्र करेगी। नीचे की तालिका मे सीमान्त प्रतिस्थापन अर्घ दिखाई गई है :—

1. "We may define the marginal rate of substitution of X for Y as the quantity of Y which would just compensate the consumer for the loss of marginal unit of X."—Hicks : *Value & Capital*, Chap. I, p. 6.

2. ......an individual can only be in equilibrium with respect to the system of prices in operation at any one moment if the ratio of prices of any two goods equals his marginal rate of substitution between them, for otherwise, at that particular market rate, it would be to his advantage to substitute a portion of one good for an equal value of another."—Briggs and Jordan : *A Text-Book of Economics*, p. 94.

म वस्तु की संख्या	प वस्तु की संख्या	उपयोगिता	विनिमय में दी जाने वाली म वस्तु की संख्या	बदले में मिलने वाली प वस्तु की संख्या	म की प में सीमान्त प्रतिस्थापन अर्घ	प की म में सीमान्त प्रतिस्थापन अर्घ
१	२	३	४	५	६	७
५०	०	X	....	....	....	....
४०	१	X	१२	१	१२ : १	$\frac{१}{१२}$: १
३२	२	X	११	१	११ : १	$\frac{१}{११}$: १
२३	३	X	१०	२	$\frac{१०}{२}$ = ५ : १	$\frac{२}{१०}$: १
१६	४	X	७	३	$\frac{७}{३}$: १	$\frac{३}{७}$: १
१०	५	X	४	४	$\frac{४}{४}$ = १ : १	$\frac{४}{४}$ = १ : १
५	६	X	२	८	$\frac{२}{८}$ = $\frac{१}{४}$: १	$\frac{८}{२}$ = ४ : १
१	७	X	१	१२	$\frac{१}{१२}$: १	१२ : १

QUESTIONS

1. Write short notes on—Indifference Curve (उदासीनतासूचक रेखा) ।
   (Raj., B. A., 1959 ; Alld., B. A., 1952 ; Sagar, B. A., 1957 ; Sagar, B. Com., 1959 ; Jabalpur, B. A., 1959, 58 ; Delhi, B. A., 1952)
२. उपभोग विश्लेषण में उदासीनता रेखाओं का महत्त्व समझाइये तथा चित्र द्वारा स्पष्ट कीजिये । (Sagar, B. Com., 1958)
3. What are indifference curves ? Explain consumer's equilibrium with the help of indifference curves.
   (Delhi, B A., 1956)
४ तटस्थ रेखाएँ किसे कहते हैं ? माँग की रेखा के बनाने में उनका उपयोग समझाइये ।
   (Sagar, B. A., 1958)
5. Explain "Indifference Curves" and discuss their practical importance. (Agra, B. A., 1955 S)

अध्याय १४

जीवन-स्तर

(Standard of Living)

अध्ययन का महत्त्व —

मनुष्य की कार्य शक्ति एक बड़े अंश तक उसके जीवन-स्तर या रहन सहन के दर्जे पर निर्भर रहती है और मनुष्य का जीवन-स्तर उसके कुल उपभोग या सन्तोष से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार हमारे उपभोग का हमारी कार्य-शक्ति पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जीवन-स्तर का अध्ययन प्रायः दो कारणों से किया जाता है। पहले तो, हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि उपभोग और उत्पादन शक्ति में परस्पर क्या सम्बन्ध है। दूसरे, जीवन-स्तर पर ही किसी देश की आर्थिक उन्नति निर्भर होती है। पूंजी (Capital) की वृद्धि तथा उत्पन्न की हुई वस्तुओं की मांग, दोनों जीवन-स्तर द्वारा निश्चित होते हैं। इसके अतिरिक्त जीवन-स्तर के अध्ययन से किसी समाज या देश की आर्थिक दशा का अनुमान लगाया जा सकता है। साधारणतया किसी जाति के जीवन-स्तर का ऊँचा होना उसकी आर्थिक उन्नति को सूचित करता है। जीवन-स्तर में परिवर्तन करके मनुष्य के जीवन को अधिक सुखमय बना देने की सम्भावना रहती है। वैसे तो यह कहा जाता है कि मनुष्य स्वभाव से ही अधिकतम् सन्तोष नियम (Law of Maximum Satisfaction) के अनुसार आचरण करता है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर पता चलता है कि मनुष्य सदैव इतनी बुद्धिमानी से काम नहीं लेता है जितनी कि इस नियम में मान ली गई है। जीवन-स्तर का अध्ययन करते समय बहुधा पारिवारिक आय-व्ययक (Family Budget) का अध्ययन किया जाता है। ये बजट हमें यह बताते हैं कि विभिन्न परिवार किस प्रकार आय को उपभोग के अलग-अलग शीर्षकों पर व्यय करते हैं। इस प्रकार के व्यय में परिवर्तन कर देने पर बहुत सी दशाओं में आय का अधिक हितकारी व्यय हो सकता है, अर्थात् अधिकतम् सन्तोष प्राप्त किया जा सकता है।

जीवन-स्तर की परिभाषा—

जीवन-स्तर शब्द दो अर्थों में उपयोग किया जाता है, जिनमें से एक वास्तविक है और दूसरा आदर्शनीय। समाज के किसी वर्ग का जीवन-स्तर उस वर्ग के औसत परिवार द्वारा उपभोग की हुई वस्तुओं के गुण और परिमाण द्वारा जाना जाता है। जीवन-स्तर की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है :—"उन सब वस्तुओं और सेवाओं के समूह द्वारा जिनके उपयोग का समाज के किसी वर्ग को अभ्यास पड़ गया हो, जीवन-

स्तर निश्चित होता है।"* दूसरे शब्दों में, जीवन-स्तर से आशय उन सब आवश्यकताओं की पूर्ति से है जिन्हें सन्तुष्ट करने की किसी मनुष्य को साधारणतया आदत पड़ गई हो। इस प्रकार जीवन-स्तर में आवश्यक, आरामदायक तथा विलासितापूर्ण, तीनों ही प्रकार की वस्तुएँ सम्मिलित की जाती हैं। यह समस्त उपभोग द्वारा निश्चित होता है। किसी वर्ग को एक निश्चित समय में जितना सन्तोष प्राप्त होता है उससे ही उस वर्ग के आर्थिक सुख का अनुमान लगाया जाता है। वास्तविक अर्थ मे जीवन-स्तर से यही अभिप्राय होता है। जो लोग इसे आदर्शनीय मानते हैं उनके विचार में जीवन-स्तर वास्तविक उपभोग से निश्चय नहीं होता, वरन् इस प्रकार का अनुमान लगाया जाता है कि किसी वर्ग विशेष का कितना और कैसा उपभोग होना चाहिए ? सब बातों को देखते हुए समाज के इस वर्ग को कितनी आवश्यक, आरामदायक तथा विलासिता की वस्तुओं का उपभोग करना चाहिए ? दोनों दृष्टिकोणों मे अन्तर केवल इतना ही है कि एक वास्तविकता के संग चलता है, जबकि दूसरा आदर्श बनाता है।

जीवन-स्तर का विचार एक तुलनात्मक विचार है। इसका उपयोग हम बहुधा इस उद्देश्य से करते हैं कि एक वर्ग के कल्याण (Well-being) की विभिन्न अवसरों पर तुलना कर सकें। इसी प्रकार एक ही स्थान पर रहने वाले दो अलग-अलग वर्गों के जीवन-स्तर की भी तुलना की जाती है और एक ही वर्ग के व्यक्तियों के बीच अलग अलग स्थानों पर आर्थिक सम्पन्नता के भेद को जाना जा सकता है। जीवन-स्तर स्वभाव, परिस्थिति, शिक्षा आदि के अनुसार बदलता रहता है। समाज के अलग-अलग वर्गों के उपभोग में भिन्नता होने के कारण प्रत्येक को अलग अलग वस्तुओं से प्राप्त होने वाले सन्तोष में अन्तर होता है, जिसके कारण तुलना करने की आवश्यकता होती है।

जीवन-स्तर किन बातों पर निर्भर है ?—

जीवन-स्तर बहुत सी बातों पर निर्भर होता है, जिनमे से मुख्य-मुख्य निम्न प्रकार हैं:—

(१) आय अथवा आमदनी—जीवन-स्तर के निर्धारित करने मे सबसे अधिक महत्त्व आय का है। एक साधारण सी कहावत है "उतने पाँव पसारिये जितनी चादर होय।" सच है कि किसी व्यक्ति या परिवार की वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने की शक्ति उसकी आय के द्वारा सीमित होती है। साधारणतया जितनी ही किसी की आय अधिक होगी उतनी ही उसकी वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने की शक्ति भी अधिक होगी। ऐसी दशा मे अधिक आवश्यकताओं की तृप्ति की जा सकती है और इसीलिए जीवन स्तर ऊँचा हो जाता है। जब आय बहुत कम होती है तो उपभोग कुछ अति आवश्यक वस्तुओं तक ही सीमित हो जाता है और इसीलिए जीवन-स्तर बहुत नीचा होता है। इस सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि आय का व्यय दो

---

* Worker's Standard of Living, I. L. O.

प्रकार से किया जा सकता है। या तो उससे उत्पादक वस्तुयें (Producer's Goods) खरीदी जा सकती है या उपभोग की वस्तुयें (Consumer's Goods)। जीवन स्तर आय के केवल उस भाग पर निर्भर होता है जिसका व्यय उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं और सेवाओं पर किया गया हो। उत्पादक वस्तुएं आगे धन की उत्पत्ति करने में तो सहायक होती हैं, परन्तु उनसे हमारे उपभोग का सम्बन्ध बड़ा परोक्ष और दूर का है।

किन्तु जब हम मुद्रा में आय की माप करते हैं तो हमारा जीवन-स्तर का अनुमान ठीक नहीं रहता है। दो विभिन्न स्थानों पर एक सी ही आय, समान मात्रा में वस्तुएं और सेवाएं प्राप्त नहीं की जा सकती है। वस्तुओं के दाम ऊँचा-नीचा होने पर एक निश्चित आय की वस्तुएं खरीदने की शक्ति घटती-बढ़ती रहती है। आय दो प्रकार की होती है :—एक, जिसे हम नाम मात्र आय (Nominal Income) या मौद्रिक आय (Money Income) कहते है और दूसरी, वास्तविक आय (Real Income)। मौद्रिक आय से वस्तुओं और सेवाओं का जितना संचय प्राप्त किया जा सकता है, उसी को हम वास्तविक आय कहते हैं। जबकि मौद्रिक आय की माप मुद्रा में की जा सकती है, वास्तविक आय इसके विपरीत वस्तुओं और सेवाओं में नापी जाती है। यथार्थ में जीवन-स्तर वास्तविक आय पर निर्भर होता है। जब हम यह कहते हैं कि ऊँची आय के साथ-साथ अधिकतर जीवन-स्तर भी ऊँचा होता है तो हमारा आशय वास्तविक आय से ही होता है।

(२) मुद्रा की क्रय-शक्ति (Purchasing Power of Money)—मुद्रा की क्रय-शक्ति का भी जीवन स्तर पर अधिक प्रभाव पड़ता है। वस्तुओं के दाम कम होने पर थोड़ी आय से बहुत सारी सुविधाजनक वस्तुएं और सेवाएं खरीदी जा सकती है। ऐसी दशा में मुद्रा की क्रय-शक्ति बहुत अधिक होती है। इसके विपरीत जब वस्तुओं के दाम बहुत ऊंचे चढ़ जाते हैं, अर्थात् मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाती है तो अपनी निश्चित आय से हमें बहुत थोड़ी वस्तुयें प्राप्त होती हैं। बहुधा विभिन्न स्थानों में अथवा विभिन्न कालों में मनुष्य के जीवन-स्तर की तुलना करते समय हम मौद्रिक आय को ही तुलना का आधार बनाते है। ऐसी दशा में यह बहुत आवश्यक हो जाता है कि हम मुद्रा की क्रय-शक्ति पर भी ध्यान दें, क्योंकि इसके बिना हमारे निष्कर्ष सही न होंगे।

(३) व्यय करने की रीति (Method of Spending)—किसी दी हुई आय से किसी व्यक्ति या परिवार को कितना सन्तोष मिलेगा अथवा कितनी सम्पन्नता प्राप्त होगी, यह एक बड़े अंश तक इस बात पर भी निर्भर होता है कि व्यय किस प्रकार किया जा रहा है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि आय के केवल उस भाग का प्रत्यक्ष रूप से जीवन-स्तर पर प्रभाव पड़ता है जो उपभोग की वस्तुओं पर व्यय किया गया हो। इस दशा में कम व्यय होने पर जीवन-स्तर नीचा हो जायेगा। यह भी पहले स्पष्ट कर दिया गया है कि एक विशेष रीति से आय का व्यय

करने से अधिकतम् सन्तोष प्राप्त होता है। सम-सीमान्त उपयोगिता नियम हमें इसी बात की शिक्षा देता है। साधारण अनुमान हमे बताता है कि बहुत बार दो परिवारों की आय तथा अन्य परिस्थितियो के समान होते हुये भी उनके जीवन स्तर में भारी अन्तर होता है, जिसका कारण मुख्यतया यही होता है कि एक परिवार की व्यय-व्यवस्था अधिक योग्य प्रबन्धक के हाथों मे होती है। इसी सम्बन्ध मे यह भी ध्यान देने योग्य है कि जो मनुष्य आवश्यकता पूर्ति के समय कार्य-क्षमता (Efficiency) पर विशेष रूप मे ध्यान देता है, उसका जीवन-स्तर भविष्य मे ऊँचा हो जाता है, क्योकि ऐसे मनुष्य की उत्पादन शक्ति बढ जाती है।

(४) देश या समाज की आर्थिक और सामाजिक दशा—किसी समय विशेष मे देश और समाज की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दशा का भी जीवन स्तर पर प्रभाव पडता है। कुछ शासन व्यवस्थायें ऐसी है जहाँ सामाजिक सुरक्षा (Social Security) का उत्तम् प्रबन्ध होता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, इत्यादि आवश्यक सेवायें बड़ी सस्ती होती हैं और इस बात का भय नही रहता कि किसी दुर्घटना के कारण भविष्य मे कठिनाई हो सकती है। इस प्रकार के देश में जीवन-स्तर अधिकतर ऊँचा होता है, क्योकि भविष्य के लिए बहुत कुछ बचाकर रखने की आवश्यकता कम होती है। प्रायः सभी सभ्य देशो में लोक उपयोगी सेवाओं (Public Utility Service) की व्यवस्था करना सरकार का अनिवार्य कार्य होता है। ऐसे देश अथवा समाज मे आय के थोड़ा रहने पर भी व्यक्तियो का जीवन-स्तर ऊँचा हो जाता है।

(५) समाज की मनोवृत्ति—समाज के विभिन्न वर्गों तथा विभिन्न देशो के देशवासियो की मानसिक प्रवृत्तियाँ बहुधा एक जैसी नही होती हैं। एक निश्चित आय से हमे कुल कितना सन्तोष मिलता है, यह केवल हमारी आय की मात्रा और व्यय की रीति पर ही निर्भर नही होता है, वरन् इस बात पर भी निर्भर होता है कि हम मे सन्तोष प्राप्ति की कितनी क्षमता है। कुछ मनुष्य स्वभाव से ही ऐसे होते है कि ससार की किसी वस्तु से उन्हे कोई विशेष प्रसन्नता प्राप्त नही होती। इसी प्रकार ससार की कुछ जातियों में सन्तोष अथवा प्रसन्नता प्राप्त करने की शक्ति दूसरी जातियो की अपेक्षा अधिक होती है। उदासीन मनोवृत्ति का मनुष्य ऊँचा जीवन-स्तर नही बना सकता है। इसी प्रकार जातीय मनोवृत्ति (National Psychology) के अनुसार समान *परिस्थितियो के होते हुए भी एक देश के लोगो का जीवन-स्तर दूसरे देश के लोगो के* जीवन-स्तर से ऊँचा अथवा नीचा हो सकता है।

किसी देश में जीवन-स्तर किन बातों पर निर्भर रहता है?—

किसी देश मे वहाँ के लोगों का जीवन-स्तर देश के भीतर उत्पादन की मात्रा और उसके स्वरूप पर निर्भर होता है। साथ ही, वह इस बात पर भी निर्भर होता है कि कुल उत्पादित धन का समाज के विभिन्न वर्गों मे किस प्रकार वितरण किया जाता है? कोई भी देश दूसरे देशो से ऋण अथवा दान लेकर बहुत समय तक अपने समाज

के जीवन-स्तर को ऊँचा नही रख सकता है। अन्त में, उसे अपने ही उत्पादन पर निर्भर रहना पडेगा। किसी समाज का जीवन-स्तर मुख्यतया निम्न बातो पर निर्भर होता है :—

(१) देश के भीतर आर्थिक साधनों की उपलब्धता—किसी भी देश मे उत्पत्ति की मात्रा और उसका स्वरूप देश मे प्राप्त साधनो पर निर्भर होता है। किसी देश में प्राकृतिक साधन (Natural Resources), जैसे—अच्छी भूमि, खनिज पदार्थ, आदि मानव साधन (Human Resources) तथा अन्य उत्पत्ति के साधन जितने ही अधिक होगे उतना ही वहाँ उत्पत्ति को बढाने और उसमे विविधता लाने की सम्भावना भी अधिक होगी। दीर्घकालीन दृष्टिकोण से उत्पत्ति के साधनो की प्रचुरता ही ऊँचे जीवन-स्तर की एक मात्र गारन्टी होती है।

(२) देश में उत्पत्ति के साधनों का उपयोग—साधनो की प्रचुरता होते हुए भी कोई देश निर्धन रह सकता है, यदि बहुत से साधन बेकार पडे रहते हैं और देश के निवासी परिश्रमी नही है। भारत में जीवन स्तर के नीचा होने का प्रमुख कारण यही बताया जाता है कि यद्यपि यहाँ साधनो का अभाव नही है, परन्तु अधिक मात्रा मे साधन बेकार पडे हुए है तथा जन-संख्या निकम्मी और आलसी है। इसी कारण यह कहा जाता है कि भारत में प्रचुरता के बीच निर्धनता है (There is poverty in the midst of plenty)।

(३) उत्पादन और उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन का अनुपात (The Ratio Between Producer's Goods and Consumer's Goods)—उत्पादन उन वस्तुओ का भी हो सकता है जो पूँजीगत वस्तुएँ (Capital Goods) है, अर्थात् जिनका उपयोग उपभोग के लिए नही किया जाता है, बल्कि और आगे उत्पत्ति करने के लिए किया जाता है तथा उन वस्तुओ का भी हो सकता है जिनका प्रत्यक्ष उपभोग किया जाता है। जिस देश मे अधिकांश उत्पादन केवल पूँजीगत माल का ही होता है वहाँ अधिक लम्बे समय तक जीवन स्तर नीचा ही रहता है, यद्यपि दीर्घकाल मे उसके ऊपर उठने की सम्भावना रहती है।

(४) उत्पादित आय का वितरण—समाज का जीवन-स्तर इस बात पर भी निर्भर होता है कि उत्पादित आय का देश मे किस प्रकार वितरण होता है। आय का वितरण एक ऐसी समुचित रीति से होना चाहिए कि न्यूनतम् राष्ट्रीय आय से समाज को अधिकतम् सन्तोष प्राप्त हो सके। आय के वितरण की घोर असमानताएँ आर्थिक कल्याण को घटाती है और जीवन-स्तर को नीचे गिराने की प्रवृत्ति रखती है।

(५) काम और आराम का सन्तुलन—किसी वर्ग अथवा समाज का जीवन-स्तर इस बात पर भी निर्भर होता है कि काम (Work) और आराम (Leisure) के बीच किस प्रकार सन्तुलन किया जाता है? यदि उत्पादन अधिक होता है, परन्तु इसके लिए जन-सख्या को अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है, जिससे

आराम का अवसर नही मिलता है तो अधिक उत्पादन और ऊँची आय के रहते हुए भी जीवन-स्तर ऊँचा न रह सकेगा।

(६) कार्यशील (Working) पूँजी और कार्यशील जन सख्या—जीवन स्तर इस बात पर भी निर्भर होता है कि कुल पूँजी का कौनसा भाग उत्पादन कार्य मे लगाया जाता है और कुल जन-सख्या का कौनसा भाग उत्पादन कार्य मे हिस्सा लेता है।

जीवन-स्तर और जीवन-मान अथवा रहन-सहन के स्तर का भेद (Difference between the Standard of Living and Scale of Living)—

बहुत बार जीवन-स्तर (Standard of Living) और जीवन-मान (Scale of Living) के बीच भी भेद किया जाता है। जीवन स्तर से हमारा अभिप्राय भोजन, कपड़ा, मकान आदि की उन मात्राओं से होता है जिनके उपभोग का कोई व्यक्ति अभ्यस्त हो जाता है और जीवन-मान उसके जीवन के आदर्श को सूचित करता है। इस प्रकार एक भारतीय सन्यासी का जीवन-स्तर नीचा होते हुए भी उसका जीवन-मान बहुत ऊँचा हो सकता है। एक दूसरे दृष्टिकोण से भी दोनो के बीच भेद किया जा सकता है। जीवन स्तर हमे उन वस्तुओं को बताता है जिन्हे एक व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है, जबकि जीवन-मान उन वस्तुओं को दिखाता है जो एक व्यक्ति के पास पहले से विद्यमान हैं।

जीवन-स्तर किस प्रकार निर्धारित होता है ?—

समाज के किसी वर्ग के जीवन-स्तर का अनुमान लगाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम उस वर्ग के कुछ प्रतिनिधि परिवारो के आय व्ययको (Family Budgets) का सग्रह करें। यह हमारे लिए असम्भव होता है कि उस वर्ग के सभी परिवारो के आय और व्यय का पूरा ब्यौरा इकट्ठा कर सकें, इसलिए कुछ ऐसे परिवारों को चुन लिया जाता है जिनमे सभी प्रकार के परिवार आ जाएं और जिन्हे हम प्रतिनिधि स्वरूप मान सकें। इस चुनाव में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। चुनाव की दो रीतियाँ है :—एक तो यह है कि हम स्वेच्छा से (Deliberately) कुछ परिवारो को चुन लें और उनके आय-व्ययको का अध्ययन करे। दूसरी रीति यह है कि हम आकस्मिक निःदर्शन (Random Sampling) से काम ले। इस प्रणाली मे अन्वेषक (Investigator), अर्थात् खोज करने वाला व्यक्ति अपनी स्वेच्छा का प्रयोग नहीं करता, वरन् सब परिवारो की एक सूची बनाकर उनमे अकस्मात ढग से (जैसे कि प्रत्येक १० वां, १५ वां, २० वां, इत्यादि) कुछ परिवारो को चुन लेता है और केवल इन्हीं-चुने हुए परिवारो की आय व्ययको का अध्ययन करता है। इन प्रकार के चुनाव द्वारा समस्त वर्ग के विषय में जो नियम बनाये जाते है अथवा जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं उनके ठीक होने की सम्भावना अधिक होती है।

इसी प्रकार कुछ और सावधानियाँ भी आवश्यक होती है। खोज करने वाले के लिए यह अति आवश्यक है कि वह परिवार के प्रबन्धकर्त्ता का पूर्ण रूप से विश्वास प्राप्त कर ले और व्यय के प्रत्येक छोटे और बडे शीर्षक का ठीक-ठीक हिसाब रखे। इसके अतिरिक्त जो भी माध्य (Average) उपयोग में लाया जाय वह खोज के उद्देश्य के अनुसार उपयुक्त होना चाहिए।

एञ्जिल्स का नियम (Engel's Law)—

उपभोग सम्बन्धी आंकड़ो के एकत्रित करने का काम प्रायः सभी देशो मे किया गया है, परन्तु इस विषय मे जर्मन अर्थशास्त्रीय लेखक एञ्जिल्स (Engel's) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होने बहुत सारे पारिवारिक आय व्ययको का संग्रह किया है और इस संग्रह द्वारा उपभोग सम्बन्धी सामान्य नियम बनाये है। नीचे की तालिका मे जर्मनी के सैक्सनी (Saxony) नामक क्षेत्र में पारिवारिक बजटो द्वारा एञ्जिल्स के अनुभव दिये गये है। इस तालिका मे तीन प्रकार के परिवारो का अध्ययन किया गया है अर्थात् श्रमिक परिवार, मध्य श्रेणी के परिवार तथा सम्पन्न परिवार :—

तालिका

व्यय के शीर्षक	श्रमिक परिवार		मध्यम श्रेणी का परिवार		सम्पन्न परिवार	
जीवन रक्षा	६२	९५%	५५	९०%	५०	८५%
कपडा	१६		१८		१८	
मकान किराया	१२		१२		१२	
ईंधन और प्रकाश	५		५		५	
शिक्षा			३·५		५·५	
कर	१		२		३	
स्वास्थ्य	१		२		३	
व्यक्तिगत सेवायें	१		२.५		३·५	
	१००		१००		१००	

इस तालिका मे प्रत्येक व्यय के शीर्षक पर कुल व्यय का प्रतिशत दिखाया गया है। एजिल्स ने इस तालिका के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले है :—

प्रथम, जितनी ही आय होगी उतनी ही जीवन रक्षा, अर्थात् भोजन इत्यादि पर व्यय की प्रतिशत अधिक होगी।

दूसरे, आय चाहे जितनी भी हो, कपड़ो पर व्यय की प्रतिशत प्रायः समान ही रहती है।

तीसरे, मकान के किराये तथा रोशनी और ईंधन पर भी व्यय का प्रतिशत आय की विभिन्नता होते हुए भी लगभग समान होता है।

चौथे, जितनी ही आय अधिक होती है उतना ही शिक्षा, स्वास्थ्य और व्यक्तिगत सेवाओं पर अधिक व्यय होता है।

एंजिल्स का नियम यूरोप के देशों, विशेष रूप से जर्मनी के अनुभव पर निर्भर है। दूसरे देशों मे जो खोज की गई है, वहाँ व्यय का व्यौरा ठीक उसी प्रकार का नही मिला है जैसा कि एंजिल्स ने पाया था। विशेष रूप से एशियाई देशों में एंजिल्स की खोज सर्वदा लागू नही की जा सकती है। कपडा, खाना और मकान का किराया इन शीर्षकों पर व्यय के प्रतिशत मे अलग-अलग देशो मे विशाल अन्तर पाये जाते हैं, किन्तु एञ्जिल्स द्वारा निश्चित किये हुए दो नियमो की प्रायः सभी देशो मे पुष्टि हुई है। ये दो नियम इस प्रकार हैं :—

(१) जितनी ही आय कम होती है उतना ही भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर आय का अधिक बडा भाग व्यय किया जाता है, अर्थात् भोजन, कपड़ा, रोशनी और ईंधन पर व्यय का अनुपात अधिक होता है।

(२) अधिक आय वाले व्यक्ति खाने और कपडे पर निर्धन व्यक्तियों की अपेक्षा आय का छोटा भाग व्यय करते है और शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि पर अधिक।

ऊँचे जीवन-स्तर का महत्व—

नीचा जीवन-स्तर अवनति का सूचक होता है। पिछडे हुए देशो और वर्गों का जीवन-स्तर नीचा होता है। बहुधा देखने मे आता है कि जिन वर्गो का जीवन-स्तर बहुत नीचा होता है उनकी उत्पादन शक्ति भी कम होती है। मजदूरो अथवा श्रम-जीवियो की कार्यक्षमता या कार्य-कुशलता उनके जीवन स्तर पर एक बडे अश तक निर्भर होती है। साधारणतया एक भारतीय मजदूर योरोपियन मजदूर की अपेक्षा कम कार्य कुशल होता है। इसका मुख्य कारण यही है कि भारतीय मजदूर का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। मजदूरों के जीवन स्तर को सुधारने के सम्बन्ध मे जो प्रयोग (Experiments) किये गये है, उनमे से अधिकतर कार्य-कुशलता में वृद्धि करने मे सफल रहे हैं, जिससे सिद्ध होता है कि जीवन-स्तर को ऊँचा कर देने से श्रम की कार्य-कुशलता बढ जाती है और देश की उत्पादन-शक्ति अधिक हो जाती है, परन्तु इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह समझना भूल होगी कि जितना ही जीवन-स्तर ऊँचा उठाया जायगा उतनी ही कार्य-कुशलता और उत्पादन शक्ति बढती चली जायगी। बहुत नीचे जीवन-स्तर के साथ साथ कार्य-कुशलता बहुत ही कम होगी, यह तो सत्य है, किन्तु हम ऐसा नही कह सकते है कि बहुत ऊँचे जीवन-स्तर के साथ साथ कार्य कुशलता भी बहुत अधिक होगी। उपयोगिता ह्रास नियम हमें बताता है कि जैसे-जैसे किसी वस्तु का स्टॉक हमारे पास बढता जाता है, इस बढते हुए स्टॉक की प्रत्येक अगली इकाई से हमें क्रमशः कम उपयोगिता प्राप्त होती है। अतः उपभोग की वस्तुओं में वृद्धि होने से सन्तोष बढता तो है, परन्तु इनके बढने की दर धीरे-धीरे घटती चली जाती है। जीवन-स्तर मे एक निश्चित अश तक सुधार करने पर

कार्य-कुशलता बढ़ती है, किन्तु उसके पश्चात् जीवन-स्तर के सुधार की अपेक्षा कार्य-शक्ति में बहुत कम उन्नति होती है। यदि जीवन-स्तर बहुत ही ऊँचा हो जाय तो यह भी सम्भव है कि इसके और ऊँचा उठने का कार्य-कुशलता पर कुछ भी प्रभाव न पड़े। यह तो सभी जानते हैं कि लार्ड लुई माउन्टबेटन (Lord Lious Mountbatten) का जीवन-स्तर महात्मा, गांधी की अपेक्षा बहुत ही ऊँचा था, परन्तु क्या उनकी कार्य-कुशलता अथवा उत्पादन-शक्ति गांधीजी से अधिक थी? इस प्रश्न का उत्तर नहीं मे ही है, जाँच का कोई भी मान हम उपयोग मे लाये तो महात्मा गाँधी अधिक अच्छे उत्पादक और अधिक कार्य-कुशल प्रतीत होंगे। कारण यह है कि लार्ड माउन्टबेटन का जीवन-स्तर इतना ऊँचा था कि उसका उनकी कार्य-क्षमता पर बहुत प्रभाव नहीं पड़ता था, जबकि महात्मा गाँधी का जीवन-स्तर बहुत नीचा नहीं था।

जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की रीतियाँ—

ससार के अधिकांश मनुष्यों का जीवन-स्तर नीचा ही होता है। लार्ड माउन्टबेटन का जो उदाहरण हमने लिया था वह कोई सामान्य दशा का उदाहरण नहीं था। इस प्रकार के व्यक्ति बहुत ही कम होते हैं। साधारणतया जीवन-स्तर को ऊँचा उठा देने से कार्य-क्षमता और उत्पादन शक्ति बढ़ती है, इसलिए जीवन-स्तर को ऊँचा करने की बड़ी आवश्यकता है। अब हम यह देखेंगे कि किन-किन रीतियों से जीवन-स्तर ऊँचा किया जा सकता है। ये निम्न प्रकार हैं :—

(१) *आय की वृद्धि*—हम पहले ही देख चुके हैं कि जीवन-स्तर पर सबसे अधिक प्रभाव आय या आमदनी का पड़ता है। अधिकांश दशाओं मे आय के बढ जाने पर जीवन-स्तर भी ऊँचा हो जाता है, अतः जिन सब रीतियों से राष्ट्रीय आय मे वृद्धि की जा सकती है उन्ही सब रीतियों से जीवन-स्तर को भी ऊँचा किया जा सकता है। आधुनिक काल मे राष्ट्रीय आय को बढाने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि देश मे स्थित प्राकृतिक साधनों का अधिक से अधिक उपयोग किया जाय और इस प्रकार के आविष्कार किए जायें जिनकी सहायता से बेकार पड़े हुए साधनों का भी सदुपयोग हो सके। इसके साथ-साथ इन साधनों का इस प्रकार उपयोग करना चाहिए कि वे लम्बे काल तक फल प्रदान करते रहें। आर्थिक नियोजन (Economic Planning) द्वारा अर्थ-व्यवस्था को इस प्रकार संगठित किया जा सकता है कि राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो जाये। यह वृद्धि दो प्रकार की जा सकती है :—प्रथम तो, किसी देश के कुल उत्पादन को बढ़ा देने से स्वयं ही उत्पत्ति के साधनों को प्राप्त होने वाले हिस्से बढ जायेंगे और राष्ट्रीय आय अधिक हो जायगी। दूसरे, रोजगार के बढ़ जाने से भी राष्ट्रीय आय बढ़ती है। जितने ही कम मनुष्य बेरोजगार (Unemployed) होंगे उतनी ही कुल राष्ट्रीय आय अधिक होगी। आर्थिक योजनाओं से उत्पत्ति और रोजगार दोनों ही बढाये जा सकते हैं, अतः जीवन-स्तर को ऊँचा करने में आर्थिक नियोजन बहुत महत्वपूर्ण काम करता है।

(२) *आय के वितरण में समानता*—समाज के किसी वर्ग या जाति पर

देश के भीतर राष्ट्रीय आय के वितरण का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रीय आय के अधिक होते हुये भी यह सम्भव है कि समाज का जीवन-स्तर ऊँचा न रहे। उस आय का वितरण यदि न्यायपूर्ण (Equitable) नही है, जिसके फलस्वरूप इस आय का अधिकांश भाग थोड़े से व्यक्तियों को मिल जाता है, तो इससे समाज का जीवन-स्तर ऊँचा नही उठ सकता है। यह अति आवश्यक है कि विभिन्न परिवारों और व्यक्तियों की आय में बहुत अन्तर न हों।

(३) शिक्षा का विकास—शिक्षा मे उन्नति हो जाने से भी जीवन स्तर ऊँचा हो जाता है। शिक्षा द्वारा नये-नये प्रकार की आवश्यकताएँ उत्पन्न की जा सकती हैं। मनुष्य दूसरे देशों, जातियों, नये आविष्कारों तथा आवश्यकता पूर्ति के नये-नये साधनो का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त एक शिक्षित मनुष्य अपने उत्तरदायित्व को समझने लगता है तथा हित और अनहित में भेद करने लगता है। वह एक अच्छा उपभोक्ता और अच्छा उत्पादक बन जाता है। एक ओर तो उसकी उत्पादन शक्ति बढ़ जाती है और दूसरी ओर वह बेकार अथवा निपुणता-नाशक वस्तुओं के उपभोग पर आय का व्यय नही करता है। उसका उपभोग अधिकतम् सन्तोष नियम के अधिक अनुकूल होता है। यूरोपीय देशो में जीवन-स्तर के ऊँचा होने का एक बहुत महत्त्वपूर्ण कारण शिक्षा की उन्नति ही है। इन सब देशो में शिक्षा का प्रचार बहुत अधिक हुआ है। इसके विपरीत भारत जैसे देश में शिक्षा के अभाव के कारण आधुनिक युग की बहुत सारी आवश्यकताओ और उनकी पूर्ति के साधनो का पता भी नही है। हमारे देश की अधिकांश ग्रामीण जनता अभी तक रेडियो, टेलीफोन, इत्यादि के विषय में कुछ भी नही जानती है।

(४) पारिवारिक नियोजन (Family Planning)—जीवन-स्तर पर कुटुम्ब के आकार (Size) का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। साधारणतया बडा परिवार और ऊँचा जीवन-स्तर साथ-साथ नही चलते। जीवन-स्तर को ऊँचा रखने के लिए पारिवारिक विस्तार (Family Expansion) पर नियन्त्रण लगाना बहुत आवश्यक है। जिन देशों मे इस प्रकार का नियन्त्रण नहीं होता वहाँ जन-सख्या बराबर बढती चली जाती है और जीवन-स्तर नीचे गिरता चला जाता है, यद्यपि यह कहना ठीक है कि ऊँचा जीवन-स्तर स्वयं ही जन-सख्या की वृद्धि मे बाधक होता है, किन्तु इसमे भी सन्देह नहीं है कि जन-संख्या के बढने पर रोक लगाने से जीवन-स्तर ऊँचा हो जाता है। योरुप के किसी परिवार के सम्मुख जब कोई इस प्रकार की समस्या उपस्थित होती है कि परिवार में एक बच्चे अथवा एक कार की वृद्धि की जाय तो निर्णय अधिकतर कार के ही पक्ष मे होता है। कोई भी परिवार अपने जीवन-स्तर को नीचा नहीं गिरने देता। इसके विपरीत भारत मे जन-संख्या बराबर बढती जाती है, जिससे जीवन-स्तर नीचे गिरता चला जाता है।

(५) यातायात के साधनों की उन्नति—जिन देशों मे यातायात के साधन अधिक प्रचुर तथा अधिक अच्छे होते हैं, वहाँ के निवासियों के आचारों और विचारों मे बहुत परिवर्तन हो जाता है। यातायात के साधन समाज और जातियों के विभिन्न वर्गों के परस्पर के सम्बन्ध को बढ़ा देते हैं, जिससे विचारों, रीति रिवाजों, शौक इत्यादि का आदान-प्रदान हो जाता है। मनुष्य संसार और उसकी बातों को जान जाता है। एक प्रकार से ये साधन शिक्षा का काम करते हैं। नई-नई वस्तुएं उपभोक्ताओं के सम्मुख आती हैं। उपभोक्ताओं का एकाकीपन (Isolation) दूर हो जाता है, जिससे जीवन-स्तर के ऊँचा उठाने मे बड़ी सहायता मिलती है।

(६) रुचियों और मनोवृत्तियों में परिवर्तन—समाज की रुचियों और मनोवृत्तियों में परिवर्तन कर देने से भी जीवन-स्तर को ऊँचा किया जा सकता है। आधुनिक युग मे विज्ञापन और प्रचार (Propaganda) का महत्त्व सभी जानते हैं। प्रचार द्वारा इस बात की शिक्षा दी जा सकती है कि लोग अपनी आय का अधिक उपयोगी व्यय करें और व्यर्थ अथवा हानिकारक वस्तुओं पर अधिक व्यय न करें। किसी निश्चित आय से हमें कितना सन्तोष मिलता है, यह इस बात पर भी निर्भर होता है कि हमारी मानसिक प्रवृत्तियाँ किस प्रकार की है। इस प्रवृत्ति मे परिवर्तन कर देने से हम अधिक अच्छे उपभोक्ता बन जाते हैं और हमारा जीवन-स्तर ऊँचा उठ सकता है।

जीवन-स्तर के अध्ययन का महत्त्व—

जीवन-स्तर का अध्ययन अर्थशास्त्र का एक आवश्यक अङ्ग है। आधुनिक युग मे इस अध्ययन का महत्त्व और भी बढ गया है। इस अध्ययन के लाभ निम्न प्रकार हैं :—

प्रथम तो, यह अध्ययन आय के व्यय के विषय मे लाभदायक सामान्य ज्ञान प्रदान करता है। व्यय का स्वरूप किस प्रकार है, यह ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि समाज की कुरीतियों को दूर किया जा सके और समाज की उत्पादन शक्ति को बढाया जा सके। पारिवारिक बजटों का अध्ययन इस विषय में विशेष रूप से उपयोगी है।

दूसरे, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, जीवन-स्तर का कार्यक्षमता से घनिष्ट सम्बन्ध है। जीवन-स्तर के परिवर्तनों के साथ-साथ कार्यक्षमता मे भी परिवर्तन हो जाता है। जीवन-स्तर का अध्ययन हमे यह बताता है कि कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए किस प्रकार और किस अंश तक जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना चाहिए।

तीसरे, एक श्रम मन्त्री के लिए इस अध्ययन का महत्त्व और भी अधिक है। बहुत से देशों मे अथवा कुछ उद्योगों में श्रमजीवियों की मजदूरी को जीवन-स्तर से जोड़ दिया जाता है। प्रयत्न यह किया जाता है कि यह स्तर एक निश्चित मान (Standard) से नीचे न गिरे। यदि देश मे वस्तुओं के दाम बढ जाते है तो श्रमिकों की वास्तविक आय कम हो जाती है और जीवन-स्तर नीचे गिरने लगता है। ऐसी दशा मे मजदूरी का कीमतों के अनुपात मे बढ़ाना आवश्यक हो जाता है।

चौथे, जीवन-स्तर द्वारा किसी देश, जाति अथवा वर्ग विशेष की आर्थिक दशा का अनुमान लगाया जा सकता है। नीचा जीवन स्तर कम उन्नत होने का प्रतीक होता है और ऊँचे जीवन-स्तर से आर्थिक सम्पन्नता जानी जाती है। विभिन्न कालों, स्थानों और वर्गों की आर्थिक उन्नति की तुलना इस अध्ययन द्वारा की जा सकती है।

आजकल के युग मे सभी देशों मे जीवन-स्तर का अध्ययन किया जाता है और इस अध्ययन के आधार पर नियम बनाये जाते हैं। श्रम-सम्बन्धी अधिकतर नियमो पर इस अध्ययन की छाप रहती है। देश की उत्पादन शक्ति को बनाये रखने के लिए जीवन-स्तर की रक्षा आवश्यक है और इस स्तर को ऊँचा करने से समाज की उत्पादन शक्ति अधिक हो जाती है। पहले महायुद्ध के पश्चात् एक अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम संघ (International Labour Organisation) बनाया गया था। इस संघ मे संसार के सभी सदस्य देशों के प्रतिनिधि भाग लेते हैं और श्रम-सम्बन्धी समस्याओ पर विचार करते हैं। इस संघ ने श्रम-सुधार सम्बन्धी बहुत सारी सिफारिशें (Recommendations) की हैं। संघ का एक महत्त्वपूर्ण काम यह भी है कि सदस्य देशों मे श्रम के जीवन-स्तर का अध्ययन किया जाये और आवश्यकता के अनुसार सुधारों की सम्मति दी जाय। संघ का प्रधान कार्यालय जेनेवा (Geneva) में है और इसकी शाखाएं सदस्य देशों में फैली हुई हैं। संघ का कार्य सदस्य देशों के सहयोग द्वारा ही चलता है।

QUESTIONS

1. Write a note on—Relation of Saving and Spending.
   (Raj., B. A., 1958)
2. Write short note on Standard of Living.
   (Agra, B. Com., 1956 S; Vikram, B. Com., 1959)
3. Give a clear idea of Standard of Living. How are changes brought in it? Do you think that if the income of an individual so raised, his standard of living is invariably raised. Give illustrations. (Agra, B. Com., 1958 S)
४. रहन-सहन का स्तर और जीवन-स्तर के भेद को समझाइये। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध भी लिखिये। (Alld., B. A., 1956)
५. नोट लिखिए—परिवार आय-व्यय (Family Budgets)।
   (Sagar, B. A. & B. Com., 1959)

तीसरा भाग

उत्पत्ति

(PRODUCTION)

अध्याय १५

उत्पत्ति और उत्पत्ति के साधन

(Production and the Factors of Production).

उत्पत्ति का अर्थ—

अर्थशास्त्र का दूसरा विभाग उत्पत्ति है। उत्पादन का अर्थ किसी चीज को उत्पन्न करना या जन्म देना होता है, परन्तु बहुधा ऐसा कहा जाता है कि मनुष्य किसी भी वस्तु को उत्पन्न नही कर सकता है। जिस प्रकार उपभोग के अध्ययन मे हमने देखा था कि मनुष्य किसी भी वस्तु का विनाश नही कर सकता है, इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि मनुष्य किसी वस्तु का सृजन भी नही कर सकता है। सृजन और विनाश ये दोनों प्रकृति (Nature) के कार्य हैं, मनुष्य के कार्य नही हैं। इस कारण यह कहना भूल होगी कि मनुष्य किसी पूर्णतया नई वस्तु को उत्पन्न कर सकता है, इसलिये उत्पादन को सृजन करने की क्रिया कहना ठीक न होगा।

कुछ अर्थशास्त्रियो का विचार है कि हम वस्तु का सृजन तो नही कर सकते हैं, परन्तु उपयोगिता (Utility) का सृजन अवश्य कर सकते हैं। इसके अनुसार उपयोगिता का सृजन करने की क्रिया को ही उत्पत्ति कहा जाता है। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह भी सही परिभाषा नही है। अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल उपयोगिता और उसके सृजन से नही है। इसका सम्बन्ध तो ऐसी दुर्लभ वस्तुओ से है जिनमें उपयोगिता होती है। उदाहरणस्वरूप, यद्यपि वायु की हमारे लिए बहुत ही अधिक उपयोगिता है, परन्तु क्योंकि उसकी माँग की तुलना में उसकी पूर्ति सीमित नही है, इसलिए उसके सम्बन्ध मे कोई भी आर्थिक समस्या उत्पन्न नही होती है। इसलिए किंचित यह कहना अनुचित न होगा कि किसी ऐसी वस्तु का उत्पन्न करना, जिसमें उपयोगिता तो हो, परन्तु मूल्य न हो, उत्पत्ति नही कहा जा सकता है। इस प्रकार *मूल्य के निर्माण (Creation of Value) को ही उत्पत्ति कहना उचित होगा। संकुचित अर्थ में शायद यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उत्पत्ति का अभिप्राय आर्थिक वस्तुओं (Economic Goods) और ऐसी सेवाओं का उत्पन्न करना है जिनका कि मूल्य होता है।* उत्पत्ति का सम्बन्ध उत्पन्न करने की कला (Technique) से नही है, बल्कि उत्पन्न करने के आर्थिक पक्ष से है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से उपयोगिता अथवा मूल्य का सृजन करना भी उत्पत्ति नही हो सकता है। निरपेक्ष अर्थ (Absolute Sense) में मनुष्य उपयोगिता अथवा मूल्य का भी सृजन (Creation) नही कर सकता है। सृजन का कार्य तो मनुष्य

कर ही नहीं सकता है। मनुष्य का कार्य तो केवल उपयोगिता अथवा मूल्य मे वृद्धि करने तक ही सीमित होता है। नये सिरे से उपयोगिता या मूल्य का उत्पन्न करना मनुष्य का काम नही है, इस कारण *उत्पत्ति उपयोगिता अथवा मूल्य का सृजन करना नहीं होती है, बल्कि केवल उपयोगिता या मूल्य में वृद्धि करना होती है।* इसीलिए पेंसन ने कहा है कि अनेक रीतियो से मनुष्य किसी वस्तु की मानव आवश्यकताओं को पूरा करने वाली शक्ति को बढा देता है और उसकी इन सब क्रियाओ के फलस्वरूप धन का उत्पादन होता है।[1] इसी प्रकार टामस (Thomas) का विचार है कि केवल ऐसी उपयोगिता वृद्धि को उत्पत्ति कहा जा सकता है जिसके फलस्वरूप किसी वस्तु में मूल्य की वृद्धि या विनिमय साध्यता की वृद्धि हो जाय, अर्थात् उस वस्तु के बदले मे पहले से अधिक वस्तुएँ मिल सकें। इसी से मिलता-जुलता विचार मार्शल का भी है। उनका कहना है कि *"इस भौतिक संसार में मनुष्य अधिक से अधिक इतना कर सकता है कि पदार्थ की पुनर्व्यवस्था कर दे, जिससे कि वह पहले से अधिक उपयोगी हो जाय"*....।[2] इसी क्रिया को उत्पत्ति की क्रिया कहा जा सकता है। सरल शब्दो मे, *उत्पत्ति का अर्थ मनुष्य द्वारा उपयोगिता अथवा मूल्य में वृद्धि करना होता है।* इस सम्बन्ध मे दो बातो का ध्यान मे रखना आवश्यक है—(१) उत्पादन केवल मनुष्य द्वारा किया जा सकता है और (२) कोई भी कार्य जो इस उद्देश्य से किया गया है कि किसी वस्तु की उपयोगिता अथवा उसके मूल्य मे वृद्धि की जाय, उत्पत्ति का कार्य कहलायेगा। यह आवश्यक नही है कि उस कार्य के फलस्वरूप भौतिक अर्थ मे उपयोगिता की वृद्धि हो ही। यदि उद्देश्य इस प्रकार की वृद्धि करना था तो वह कार्य उत्पादन का कार्य होगा, चाहे, वास्तव में उपयोगिता मे वृद्धि होती है या नहीं। उदाहरणस्वरूप, यदि एक आविष्कारक किसी नई मशीन के निर्माण का कार्य करता है, परन्तु अपने कार्य मे सफल नही होता है तो भी उसका यह कार्य उत्पत्ति का कार्य ही होगा। इस दशा मे उपयोगिता मे किसी भी प्रकार की वृद्धि नहीं हुई है, परन्तु क्योकि आविष्कारक का यह कार्य उपयोगिता मे वृद्धि करने के उद्देश्य से किया गया था, इसलिए इसे उत्पत्ति का कार्य ही कहा जायेगा। इस प्रकार मनुष्य द्वारा उपयोगिता वृद्धि हेतु किया हुआ प्रत्येक कार्य उत्पत्ति का कार्य होता है।

---

1. "Practically, man does nothing but pull, press, carry or otherwise mechanically force things into new forms or new places. He pushes a spade into the ground, pulls a root out of it, lifts a load of firewood and carries it to the fire, he presses on the branch of a tree and breaks it, so on and so forth. All these activities result in the production of wealth."—Penson.

2. "All that man can do in the physical world is either to re-adjust matter so as to make it more useful, as when he makes a log of wood into a table, or to put it in the way of being made more useful by nature, as when he puts seed where the forces of nature will make it burst into life."—Marshall.

उपयोगिता वृद्धि की रीतियाँ (Methods of Adding Utility)—

किसी वस्तु मे उपयोगिता की वृद्धि अनेक प्रकार से की जा सकती है। निम्न रीतियाँ उल्लेखनीय हैं :—

(१) रूप उपयोगिता (Form Utility)—अधिकांश उत्पत्ति किसी वस्तु का रूप बदल कर ही की जाती है। हम किसी वस्तु के रूप को बदलकर उसकी उपयोगिता को बढा सकते है। एक लकड़ी जब मेज और कुर्सी के रूप मे बदल दी जाती है तो इस रूप में निस्सन्देह उसकी उपयोगिता अधिक हो जाती है। इसी प्रकार जब हम रुई को कपडे में परिवर्तित कर देते है अथवा चूने और ईंट को मिलाकर मकान बना देते हैं तो इन सभी वस्तुओं की उपयोगिता बढ़ जाती है। वास्तविक जीवन में इस प्रकार का कार्य मनुष्य दिन प्रति दिन ही करता रहता है। उत्पत्ति करने की सबसे महत्वपूर्ण रीति यही है।

(२) स्थान उपयोगिता (Place Utility)—इस प्रकार की उपयोगिता की वृद्धि किसी वस्तु या सेवा का स्थान बदल कर उत्पन्न की जाती है। किसी वस्तु को जब किसी ऐसे स्थान से, जहाँ पर कि वह प्रचुर मात्रा मे है अथवा जहाँ पर उसकी माँग नही है, किसी ऐसे स्थान पर ले जाया जाता है जहाँ पर वह दुर्लभ है अथवा जहाँ उसकी माँग बहुत है तो इससे वस्तु विशेष की उपयोगिता बढ जाती है। जंगल मे लकड़ी की उपयोगिता बहुत कम होती है, परन्तु जब यह लकडी शहर मे आ जाती है तो इसकी उपयोगिता बहुत बढ जाती है। इसी प्रकार नदी में रेत की उपयोगिता बहुत ही कम है, परन्तु जब इसी रेत को नगर मे लाया जाता है तो इसकी उपयोगिता बहुत बढ जाती है। ऐसी उपयोगिता की वृद्धि का यातायात के साधनो के विकास से गहरा सम्बन्ध है। इस प्रकार की उपयोगिता अथवा मूल्य-वृद्धि भी लगभग दिन प्रति दिन ही देखने मे आती है।

(३) समय उपयोगिता (Time Utility)—संचय द्वारा भी उपयोगिता अथवा मूल्य मे वृद्धि की जा सकती है। बहुत सी वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि वे किसी विशेष समय या मौसम में ही पैदा होती है।-उस काल मे इनकी प्रचुरता रहती है, परन्तु इनकी माँग बराबर बने रहने के कारण दूसरे मौसमों मे ये माँग की तुलना में दुर्लभ हो जाती हैं। ऐसी वस्तुओ का संचय करने से उनकी उपयोगिता बढ जाती है। जुलाई के महीने मे आम की उपयोगिता उतनी नही होती है जितनी कि जनवरी के महीने मे। मई और जून मे गेहूँ सस्ता होता है, परन्तु जनवरी-फरवरी मे मँहगा हो जाता है। इससे पता चलता है कि संचय मूल्य वृद्धि का कारण होता है। कुछ वस्तुएँ तो स्वभाव से ही ऐसी होती हैं कि जैसे-जैसे पुरानी होती जाती हैं, उनकी उपयोगिता बढती जाती है। शराब और चावल ऐसी ही वस्तुएँ हैं। इस प्रकार किसी वस्तु के उपभोग के समय मे परिवर्तन कर देने से उसकी उपयोगिता मे वृद्धि कर देना सम्भव होता है।

(४) अधिकार हस्तान्तरण उपयोगिता (Possession Utility)—विभिन्न व्यक्तियों के लिए एक ही वस्तु की उपयोगिता अलग-अलग होती है। एक पुस्तक का जब किसी रद्दी बेचने वाले से किसी विद्यार्थी के पास हस्तान्तरण होता है तो किताब की उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। एक दस रुपये का नोट जब एक धनी आदमी से गरीब आदमी के पास चला जाता है तो उसकी उपयोगिता बढ जाती है। ठीक इसी प्रकार एक दूकानदार के लिए वस्तु की उपयोगिता कम होती है, परन्तु जब यही वस्तु उपभोक्ता के पास चली जाती है तो इसकी उपयोगिता बढ जाती है। इस प्रकार की उपयोगिता वृद्धि को कभी-कभी हस्तान्तरण उपयोगिता (Transfer Utility) भी कहा जाता है।

(५) सेवा उपयोगिता (Service Utility)—सेवा उपयोगिता से हमारा अभिप्राय उस उपयोगिता से होता है जो मनुष्य की सेवा के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। एक गायक तबले और सितार का उपयोग करके इन दोनों की उपयोगिता को बढ़ा देता है। ठीक इसी प्रकार एक डाक्टर भी अपने औजारों की उपयोगिता बढ़ा सकता है। यहाँ पर यह बता देना असंगत न होगा कि कुछ अर्थशास्त्रियों ने मूर्त वस्तुओं के निर्माण को ही उत्पत्ति कहा है। उनके अनुसार सेवा द्वारा उपयोगिता में वृद्धि नहीं हो सकती है, किन्तु यह विचार ठीक नहीं है। मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार की वस्तुओं का निर्माण उत्पत्ति में सम्मिलित किया जाता है। वास्तविकता यह है कि उपयोगिता की प्रत्येक वृद्धि अमूर्त ही होती है। इसी कारण वस्तुओं और सेवाओं दोनों ही के निर्माण को उत्पत्ति कहा जाता है।

(६) ज्ञान उपयोगिता (Knowledge Utility)—आधुनिक युग में विज्ञापन द्वारा भी उपयोगिता में वृद्धि की जा सकती है। विज्ञापन द्वारा उपभोक्ताओं को वस्तु के गुण और लाभ बता कर उनके उपयोगिता-प्राप्ति के ज्ञान में वृद्धि की जा सकती है। इसका परिणाम यह होता है कि उनके लिए वस्तु विशेष की उपयोगिता बढ जाती है।

इस प्रकार उत्पत्ति अथवा उपयोगिता वृद्धि में निम्नलिखित को सम्मिलित किया जाता है :—(१) भूमि, समुद्र अथवा खानों से वस्तुओं का प्राप्त करना, उदाहरणस्वरूप कृषि, मछली पकड़ कर और खानें खोद कर। (२) वस्तुओं का निर्माण (Manufacture), जैसे—कपड़े बुनना, मकान बनाना, इत्यादि। (३) रेलों, मोटरों, जहाजों आदि द्वारा वस्तुओं का एक स्थान से दूसरे को लाना और ले जाना। (४) व्यापार, अर्थात् उत्पादित वस्तुओं का वितरण और (५) उपभोक्ताओं के लिए प्रत्यक्ष सेवाएँ उपलब्ध करना, जैसे—गाना, नाचना, पढाना, सिखाना, इत्यादि। इस प्रकार प्राकृतिक साधनों में मानसिक और शारीरिक शक्ति लगा कर उपयोगिता की वृद्धि करना उत्पत्ति कहलाता है।

उत्पत्ति का महत्त्व (The Importance of Production)—

व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन दोनों में ही उत्पत्ति का अधिक महत्त्व है।

व्यक्तिगत दृष्टिकोण से हम यह कह सकते हैं कि एक व्यक्ति अपने और अपने आश्रितो के जीवन निर्वाह के लिए उत्पत्ति पर निर्भर रहता है। वह या तो उन वस्तुओ और सेवाओं का उपभोग करता है जिन्हें उसने स्वय उत्पन्न किया है या दूसरों के उत्पादन का उपभोग करता है। दोनो ही दशाओं मे व्यक्ति विशेष का उपभोग उसके अपने उत्पादन पर निर्भर रहता है, क्योंकि जब वह दूसरो की उत्पादित वस्तुओ का उपभोग करता है तब भी अपने द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं के बदले मे ही उन्हें प्राप्त करता है। उत्पत्ति के महत्त्वपूर्ण होने के कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) आवश्यकता की पूर्ति उत्पादन पर निर्भर होती है। यह एक साधारण सी बात है कि बिना उत्पत्ति के उपभोग हो ही नही सकता है। यह सम्भव है कि अल्पकाल में कोई व्यक्ति अथवा समाज अपने उत्पादन से अधिक उपभोग करे, परन्तु दीर्घकाल मे वह ऐसा नहीं कर सकता है। अन्तिम दशा मे उपभोग उत्पत्ति की मात्रा पर ही निर्भर रहता है। यदि उत्पत्ति कम होती है तो देश मे गरीबी रहती है और समाज के लोगो को अपनी दिन-प्रति-दिन की आवश्यकतायें पूरी करने मे भी कष्ट होता है।

(२) किसी व्यक्ति अथवा समाज का जीवन-स्तर भी उसकी उत्पत्ति पर निर्भर होता है। जिस देश मे उत्पादन अधिक होता है वहाँ के लोगो का जीवन-स्तर ऊँचा होता है और ऊँचा जीवन-स्तर शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को उन्नत करता है, जिससे कार्यकुशलता और उत्पादन शक्ति बढती हैं। ऊँचा जीवन-स्तर नैतिक स्तर और शिक्षा-स्तर को भी ऊँचा उठा देता है। यही देश की आर्थिक सम्पन्नता का प्रतीक होता है। बिना अधिक उत्पत्ति के ऊँचे जीवन-स्तर की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। किसी भी देश की उन्नति के लिए सबसे पहली आवश्यकता उत्पत्ति को बढाने की होती है। भारतवर्ष की आर्थिक दरिद्रता का प्रमुख कारण देश मे उत्पादन की कमी ही है।

(३) देश में व्यापार और वाणिज्य की उन्नति भी उत्पत्ति पर निर्भर होती है। जब उत्पत्ति ही कम होगी तो विनिमय व्यापार कभी भी उन्नति नहीं कर सकेगा। अधिक माल का क्रय-विक्रय तभी हो सकता है जब माल अधिक हो।

(४) सरकार की करों और इसी प्रकार के दूसरे शीर्षकों (Heads) से प्राप्त होने वाली आय भी उत्पत्ति पर निर्भर होती है। सभी प्रकार के कर उत्पत्ति मे से ही चुकाये जाते हैं। राजस्व मे समाज की करदान क्षमता (Taxable Capacity) का अध्ययन किया जाता है, अर्थात् हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि एक देश के निवासियो से अधिक से अधिक कितना कर वसूल किया जा सकता है। अन्तिम दशा मे करदान क्षमता देश मे उत्पादन की मात्रा पर ही निर्भर होती है।

देश में उत्पत्ति की मात्रा किन बातों पर निर्भर होती है (Factors Determining the Volume of Production in a Country)—

उत्पत्ति के महत्त्व को भली-भांति समझने के लिए हमे उन बातो का भी पता

लगाना चाहिए जो किसी देश में उत्पत्ति की मात्रा को निर्धारित करती है। ये निम्न प्रकार हैं:—

(१) उत्पत्ति के साधनों की स्थिति (Condition of Resources)—किसी देश में उत्पत्ति की मात्रा वहाँ के लोगों, वहाँ के प्राकृतिक साधनों और वहाँ की पूँजी की मात्रा पर निर्भर होती है। यदि देश में प्राकृतिक साधन अच्छे हैं, पूँजी पर्याप्त है और देश के निवासी परिश्रमी हैं तो उत्पत्ति की मात्रा अधिक होगी। प्रत्येक देश में उत्पत्ति की मात्रा देश में उपलब्ध उत्पत्ति के साधनों के गुण और मात्रा पर निर्भर होती है।

(२) आविष्कार और विज्ञान की प्रगति (Progress of Science and Invention)—उत्पत्ति की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि देश में उत्पादन कलाओं और विज्ञान की उन्नति किस अंश तक हुई है तथा इनका कृषि और उद्योगों में किस अंश तक उपयोग किया गया है। यदि वैज्ञानिक रीतियों का उपयोग नहीं हुआ है तो सब कुछ होते हुए भी उत्पत्ति की मात्रा कम ही रहेगी। भारत में उत्पत्ति की मात्रा के कम रहने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है। इङ्गलैंड में साधनों की मात्रा कम है, परन्तु वैज्ञानिक रीतियों के उपयोग के कारण उत्पत्ति की मात्रा अधिक है।

(३) परिवहन और संचार (Transport and Communications)—आर्थिक उन्नति के लिए यातायात और संवादवाहन का विकास भी बड़ा महत्वपूर्ण है। इनके विकास से मण्डियों का विस्तार होता है और कच्चा माल उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों को औद्योगिक क्षेत्रों से मिला देना सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त, उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता (Mobility) अर्थात् उनके एक स्थान से दूसरे स्थान तथा एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में चले जाने की क्षमता बढ़ जाती है तथा उपभोक्ताओं और उत्पादकों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। परिणामस्वरूप उत्पत्ति की मात्रा बढ़ती है।

(४) साख और अधिकोषण का विकास (Development of Credit and Banking)—वित्त (Finance) को आधुनिक उत्पादन प्रणाली का तेल कहा जाता है, जिसके बिना यह मशीन भली भाँति नहीं चल सकती है। आजकल के उद्योगों को भारी मात्रा में उधार पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। बैंकिंग और साख संस्थाओं के समुचित विकास के बिना उत्पत्ति के पैमाने का विस्तार सम्भव न होगा।

(५) देश की राजनीतिक दशा (Political Conditions of the Country)—उत्पत्ति की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि देश में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था कैसी है, सरकार आर्थिक मामलों में कितना हस्तक्षेप करती है और आर्थिक जीवन की उन्नति के लिए क्या-क्या प्रयत्न करती है। आधुनिक युग

में सरकार द्वारा संचालित आर्थिक नियोजन (Economic Planning) के महत्त्व को हम सभी जानते हैं। रूस और हाल ही में चीन मे आश्चर्यजनक आर्थिक उन्नति का कारण सरकारी प्रयत्न ही है। भारत सरकार भी इस समय आर्थिक नियोजन द्वारा उत्पत्ति को बढ़ाने का प्रयत्न कर रही है।

(६) प्राकृतिक कारण (Natural Factors)—अन्त मे देश मे उत्पत्ति की मात्रा वहाँ के प्राकृतिक साधनों की मात्रा और उनके गुण पर निर्भर होती है। जलवायु, भूमि, खानें, पहाड और नदियाँ ये सब प्रकृति की देन हैं। उत्पत्ति मे इनके महत्त्व से सभी परिचित हैं। इसी प्रकार प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों, जैसे—बाढ, भूचाल आदि का भी उत्पत्ति की मात्रा पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

उत्पत्ति के साधन अथवा कारक (The Agents or the Factors of Production)—

उत्पत्ति कई साधनों के सामूहिक प्रयत्न का परिणाम होती है। उत्पत्ति के *साधनों से हमारा अभिप्राय उन सेवाओं और पदार्थों से होता है जिनका धन के उत्पादन के लिए उपयोग आवश्यक होता है।** इन्ही साधनों के मिल कर काम करने के फलस्वरूप उत्पत्ति सम्भव होती है। उत्पत्ति के साधनों, उनकी प्रकृति और उनके महत्त्व का अध्ययन अर्थशास्त्र मे बहुत लम्बे काल से होता चला आ रहा है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) ने उत्पत्ति के तीन साधन बताये थे, अर्थात् भूमि, श्रम और पूँजी। उनका विचार था कि भूमि उत्पत्ति का प्रारम्भिक (Primary) अथवा आधारभूत (Basic) साधन है, जिसके बिना किसी भी प्रकार की उत्पत्ति सम्भव नही है। उत्पत्ति के लिए उत्पत्ति के कम से कम दो साधनों का सहयोग आवश्यक है। बिना भूमि और श्रम के किसी भी प्रकार की उत्पत्ति नही हो सकती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का विचार था कि कुल उत्पत्ति के तीन भाग होते हैं :—सबसे पहले भूमि को हिस्सा मिलता है, उसके पश्चात् श्रम को और अन्त में पूँजी को। इन अर्थशास्त्रियो ने भूमि को निष्क्रिय (Passive) साधन माना है और श्रम को सक्रिय (Active) साधन बताया है।

आगे चलकर मार्शल ने उत्पत्ति के चार साधन बताये, अर्थात् भूमि, श्रम, पूँजी तथा संगठन (Land, Labour, Capital and Organisation)। संगठन को उन्होंने आगे दो और भागों मे विभाजित किया है—(१) प्रबन्ध (Management) और (२) साहस (Enterprise)। कुछ अर्थशास्त्रियो ने साहस को उत्पत्ति का एक पृथक साधन बता कर उत्पत्ति के साधनों की संख्या पाँच कर दी है। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि उत्पत्ति के ये साधन क्या हैं ?

सबसे पहले भूमि को लीजिए। *प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार भूमि प्रकृति*

---

* The factors of production are those commodities and services of which the use is necessary for the production of wealth.

का स्वतन्त्र उपहार है।[1] इस परिभाषा के अनुसार वे सब वस्तुयें जो मनुष्य को प्रकृति की ओर से बिना किसी मूल्य के मिल जाती हैं, भूमि कहलाती हैं। इस प्रकार भूमि में मनुष्य और मनुष्यकृत वस्तुओं को छोड़ कर वे सारी वस्तुयें सम्मिलित होती हैं, जो प्रकृति के उपहार स्वरूप हैं। वायु, वर्षा, प्राकृतिक जंगल, खानें आदि इसी प्रकार की वस्तुयें हैं। बाद को कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस परिभाषा पर आपत्ति की है और यह बताया कि प्रकृति मनुष्य को बिना मूल्य के कुछ नहीं देती है। किसी भी वस्तु का उपयोग करने के लिए मनुष्य को उसका मूल्य चुकाना होता है। उन्होंने कहा कि मनुष्य को कोई वस्तु बिना मूल्य के तो नहीं मिलती, किन्तु संसार में कुछ ऐसी वस्तुयें अवश्य है, जो बिना मनुष्य के परिश्रम के ही विद्यमान हैं। अतएव भूमि की परिभाषा इस प्रकार की गई कि भूमि मे वे सब वस्तुये सम्मिलित हैं जो बिना मनुष्य के परिश्रम के ही इस ससार में मौजूद है। दूसरे शब्दो मे, *जिन वस्तुओं के इस संसार में होने के लिए मनुष्य किसी प्रकार भी उत्तरदायी नहीं है, वे भूमि हैं।*[2] इस परिभाषा के अनुसार प्राकृतिक पहाड, प्राकृतिक वन और प्राकृतिक नदियाँ भूमि हैं, परन्तु नहरें, मनुष्य द्वारा उगाये हुए वन आदि भूमि नही हैं।

कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने भूमि की इस परिभाषा की भी आलोचना की है। उनका विचार है कि इस अर्थ मे भूमि उत्पत्ति का साधन नहीं हो सकती है।[3] *प्रो० मेहता के अनुसार, भूमि कोई भी वह वस्तु है जो परिमाणिक (Specific) है अर्थात् जिसका समय विशेष मे केवल एक ही उपयोग सम्भव हैं।* निश्चय है कि अल्पकाल (Short Period) मे उत्पत्ति के किसी भी साधन के उपयोग को बदला नही जा सकता है। इसलिए अल्पकाल में उत्पत्ति के प्रत्येक साधन मे परिमाणिकता (Specificity), अर्थात् एक ही उपयोग मे चिपके रहने की विशेषता होती है। अल्पकाल मे उत्पत्ति का प्रत्येक साधन भूमि ही होता है। परन्तु दीर्घकाल मे उत्पत्ति के लगभग सभी साधनो के उपयोग को बदला जा सकता है। इसलिए दीर्घकाल मे भूमि नाम का कोई साधन नही रहता है। इस परिभाषा का विस्तृत अध्ययन लगान के अध्याय मे किया जायगा। प्रो० महता की परिभाषा के अनुसार कुछ दशाओं मे स्वय मनुष्य भी भूमि हो सकता है।[3]

उत्पत्ति का दूसरा साधन श्रम है। अर्थशास्त्र मे इस शब्द को सकुचित अर्थ मे उपयोग किया जाता है। अर्थशास्त्र मे केवल मनुष्य के परिश्रम को श्रम कहा जाता है। श्रम की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते है :—*श्रम मनुष्य का वह शारीरिक*

1. "*Land is a free gift of nature.*"—*Ricardo.*

2. "Land is anything above the surface of the earth, below the surface of the earth and including the surface of the earth which exists independently of man's effort."

3. *See* J. K Mehta : *Advanced Economic Theory* and Mrs. Joan Robinson : *Economics of Imperfect Competition*, the chapter 'A Digression on Rent'.

अथवा मानसिक परिश्रम है जो उत्पत्ति करने के उद्देश्य से किया गया हो।[1] इस प्रकार श्रम को तीन विशेषतायें होती हैं:—(१) यह केवल मनुष्य का परिश्रम होता है, (२) शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार का परिश्रम श्रम में शामिल किया जाता है और (३) केवल उस परिश्रम को श्रम में सम्मिलित किया जाता है जो उत्पत्ति करने के उद्देश्य से किया गया हो। यह आवश्यक नहीं है कि श्रम के फलस्वरूप उत्पत्ति हो ही, परन्तु यह आवश्यक है कि उद्देश्य उत्पत्ति करना हो। यदि हम परिश्रम करके भी कुछ उत्पन्न करने में असमर्थ रहते हैं, यद्यपि हम उत्पत्ति करना चाहते थे, तो हमारा यह परिश्रम श्रम ही होगा।

उत्पत्ति का तीसरा साधन पूँजी है। पूँजी सदा मनुष्यकृत वस्तु होती है। *पूँजी की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि यह मनुष्य के पिछले श्रम के फल का वह भाग है जो और आगे उत्पत्ति करने के लिये उपयोग किया जाता है।*[2] कुछ अर्थशास्त्रियों ने पूँजी को संचित श्रम (Stored-up Labour) कहा है। इस दृष्टिकोण से पूँजी सदा ही मनुष्य के परिश्रम का ही फल होती है, परन्तु किसी वस्तु के लिए पूँजी बनना तभी सम्भव होता है जबकि उसका उपयोग और आगे उत्पत्ति करने के लिये किया जाता है।

मार्शल ने संगठन (Organisation) को उत्पत्ति का चौथा साधन बताया है। संगठन के दो भाग होते हैं :—(१) प्रबन्ध, जिसका कार्य उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को जुटाना तथा उनके मिलकर काम करने की व्यवस्था करना होता है और (२) *साहस, जिसका कार्य उत्पत्ति सम्बन्धी जोखिम (Risk) अथवा अनिश्चितता (Uncertainty) को सहन करना होता है।* आधुनिक अर्थशास्त्री प्रबन्ध को उत्पत्ति का पृथक साधन नहीं मानते हैं। प्रबन्धक के कार्य को श्रम में सम्मिलित किया जाता है और यह उचित भी है। इसके विपरीत साहस को उत्पत्ति का एक पृथक साधन माना जाता है। उत्पत्ति के प्रत्येक कार्य में किसी न किसी प्रकार की जोखिम रहती है जिसको उठाये बिना उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है। उदाहरणस्वरूप, एक किसान जब फसल बोता है तो बाढ, सूखा, इत्यादि अनेक जोखिमों को उठाता है और इसी प्रकार एक कारखाने का स्वामी भी हानि की सम्भावना की जोखिम को उठाता है। जोखिम का उठाना एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण कार्य है, इसीलिए साहस को उत्पत्ति का एक पृथक साधन मान लेना उचित ही है।

क्या उत्पत्ति के केवल दो ही साधन हो सकते हैं ?—

कुछ अर्थशास्त्रियों ने उत्पत्ति के साधनों को घटा कर दो कर देने का प्रयत्न किया है, अर्थात् मनुष्य और प्रकृति अथवा श्रम और भूमि। यह कहा जाता है कि

1 "Labour is any human exertion, either of the body or of the mind, performed with a view to production."

2 "Capital is that part of the result of man's part labour which is used for further production."

उत्पत्ति के प्रारम्भिक साधन यही हैं। पूँजी के विषय मे यह कहा जाता है कि यह तो केवल *श्रम* और भूमि के प्रयत्नों का फल है। इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। इसी प्रकार संगठन एक प्रकार का श्रम है, जो शारीरिक और मानसिक परिश्रम का मिश्रण है, इसलिए वास्तविक साधन भूमि और श्रम ही रह जाते हैं।

कुछ अर्थशास्त्री तो इससे और भी आगे बढ जाते हैं। उनके विचार मे भूमि उत्पत्ति का साधन है ही नही। पूँजी एक प्रकार का श्रम है और आयोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy) मे जोखिम होती ही नही है, इसलिए उत्पत्ति का केवल एक साधन होता है, अर्थात् श्रम।

इस सम्बन्ध मे हम केवल इतना कह सकते हैं कि कोई भी दृष्टिकोण क्यों न ठीक हो, उत्पत्ति मे पूँजी का काफी महत्त्व होता है और उसे उत्पत्ति का एक पृथक साधन मान लेने से आर्थिक विवेचन मे सुविधा होती है। इसी प्रकार साहस को भी *उत्पत्ति का पृथक साधन मान लेना ठीक ही होगा।* जोखिम का उठाना न केवल अनिवार्य है बल्कि महत्त्वपूर्ण भी है। इसके अतिरिक्त पूँजी और साहस दोनो के पारितोषण भी अलग अलग निश्चित किये जा सकते है। इस आधार पर उत्पत्ति के चारो साधनो अर्थात्, भूमि, श्रम, पूँजी और साहस का बना रहना ही ठीक होगा। यह स्वीकार करने मे तो आपत्ति नहीं हो सकती है कि उत्पत्ति के आधारभूत साधन मनुष्य और प्रकृति ही हो सकते है, यद्यपि इन दोनो मे भी मनुष्य का ही महत्त्व अधिक है। मार्शल ने ठीक ही कहा है—"प्रत्येक दृष्टिकोण से मनुष्य ही उत्पत्ति और उपभोग *दोनो की समस्याओं का केन्द्र है।*"*

उत्पत्ति के साधनों की कुशलता—

उत्पत्ति के साधन की कुशलता से हमारा अभिप्राय किसी साधन की कम से कम लागत और और कम से कम परिश्रम द्वारा अधिक और अच्छा कार्य करने की योग्यता से होता है। सभी जानते हैं कि सभी भूमि समान रूप मे उपजाऊ नही होती, विभिन्न श्रमिको की निपुणता और कार्यक्षमता मे अन्तर होता है और सभी प्रबन्धक समान रूप मे कुशल नही होते है। जो साधन कम लागत पर अधिक और अच्छा काम करता है वही अधिक कुशल माना जाता है।

उत्पत्ति के किसी साधन की कुशलता जिन बातो पर निर्भर होती है, उन्हे हम दो भागो मे बाँट सकते है :—

(१) आन्तरिक दशायें और (२) बाहरी दशाये।

आन्तरिक दशाओ मे निम्न दो बातो को सम्मिलित किया जाता है :—

(१) पहले तो, प्रत्येक साधन को उसकी योग्यता के अनुसार *काम मिलना* चाहिए। दूसरे शब्दो मे, प्रत्येक साधन को उसकी निपुणता, योग्यता

---

* "From every point of view, man is the centre of the problem of production as well as that of consumption."—*Marshall*.

और क्षमता के अनुसार ही काम करने का अवसर देना चाहिए। निपुण साधन को अनिपुण काम देने से कुशलता नही रहेगी।

(२) दूसरे, साधनों को ठीक-ठीक अनुपात में मिला कर काम में लगाना चाहिये। उत्पत्ति की कुशलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि किसी साधन का भी अपव्यय न होने पाये।

बाहरी दशायें, जिनका कि उत्पत्ति के साधन की कुशलता पर प्रभाव पडता है, अनेक हैं। इनमे से प्रमुख इस प्रकार हैं :—(१) यातायात और सम्वादवाहन के साधनों का विकास (Development of the means of transport and communications), (२) कीमत का ऊँचा होना, (३) उद्योग-धन्धो का स्थानीयकरण (Localisation of industries), (४) प्रतियोगिता (Competition), (५) बैंक आदि का विकास, (६) वैज्ञानिक और शिल्प शिक्षा (Scientific and Technical Education), (७) राजनीतिक शान्ति और सुरक्षा, (८) सरकार की आर्थिक और कर नीति और (९) अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति।

QUESTIONS

1. What is production ? What are the factors which determine the volume of production at any given time in a country ? (Agra, B. A., 1956)
2. "Production is the creation of utilities." Discuss. (Agra, B. Com., 1953)
3. "Labour is the father and active principle of wealth ; as lands are the mother." Explain pointing out the part played by land and labour in production. (Agra, B. A., 1945)

अध्याय १६

उत्पत्ति के नियम

(The Laws of Production)

प्रारम्भिक—

उत्पादन उत्पत्ति के साधनो के सामूहिक उद्योग का फल होता है। उत्पादन के लिए कम से कम दो साधनो का सहयोग आवश्यक होता है। कोई भी एक साधन अकेले मे कुछ भी उत्पत्ति नही कर सकता है। यदि एक मनुष्य जङ्गल मे शिकार करने के लिए जाता है तो कम से कम तीन साधनो का उपयोग शिकार करने के कार्य मे होता है:- शिकारी का उद्योग (जो श्रम है), शिकारी का हथियार (जो पूँजी है) और जङ्गली जानवर (जो भूमि है)। इसी प्रकार जो मनुष्य हाथ से जङ्गली वृक्षो के फल तोड़ता है वह भी कम से कम दो साधनो, अर्थात् अपने श्रम और भूमि के रूप मे पेड का उपयोग करता है। आधुनिक उत्पत्ति प्रणाली मे, जहां उत्पत्ति अधिकतर परोक्ष रीति से होती है, बहुधा उत्पत्ति के सभी साधनो का एक साथ उपयोग आवश्यक होता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि उत्पत्ति विभिन्न साधनो के सहयोग के फलस्वरूप होती है। साधनो के इस सहयोग को हम दो विभिन्न दृष्टिकोणो से देख सकते है:-प्रथम तो, यह देखने मे आता है कि विभिन्न साधनो के सामूहिक प्रतिफल (Return) अर्थात् उपज पर कुछ विशेष नियम लागू होते है, जि हे अर्थशास्त्रियो ने उत्पत्ति के नियमो का नाम दे दिया है। दूसरे, यह देखा जाता है कि एक स ही साधनो का अलग-अलग अनुपात मे उपयोग करने पर भी बहुत बार उपज उतनी ही रहती है। कभी-कभी देखा जाता है कि २० श्रमिक और दो मशीनें यदि १,००० इकाइयो का उत्पादन करते हैं तो ५ श्रमिक और तीन मशीनें भी इतनी ही उत्पत्ति करते हैं। इस कारण उत्पत्ति के साधनो के बीच प्रतिस्थापन की सम्भावना रहती है और एक उत्पादक किसी निश्चित फल को प्राप्त करने के लिए साधनो के सर्वोत्तम अनुपात की खोज मे एक साधन के स्थान पर दूसरे का उपयोग करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार उत्पत्ति के सिद्धान्तो में हमारे लिये उत्पत्ति के प्रतिस्थापन नियम (Law of Substitution in Production) का भी अध्ययन करना आवश्यक है।

उत्पत्ति के साधनों के सहयोग सम्बन्धी नियम—

उत्पत्ति के साधनो के सहयोग पर तीन नियम लागू होते हैं, जिन्हें हम क्रमगतः उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns), क्रमगतः उत्पत्ति स्थिरता नियम (Law of Constant Returns) और क्रमगतः उत्पत्ति ह्रास

नियम (Law of Diminishing Returns) कहते हैं। प्रत्येक उत्पादन क्रिया में यदि वह लम्बे काल तक चलती रहे तो तीन अलग-अलग प्रकार के फल प्राप्त होते हैं। यदि कम से कम एक साधन को यथास्थिर रखकर अन्य साधनो की मात्राओ मे वृद्धि की जाय तो तीन प्रकार की सम्भावनायें हो सकती हैं :—(१) उत्पत्ति साधनो की वृद्धि से भी अधिक अनुपात में बढे, (२) उत्पत्ति साधनो की वृद्धि के अनुपात मे ही बढे और (३) उत्पत्ति साधनों की वृद्धि से भी कम अनुपात में बढे। यह निश्चय है कि साधनो मे वृद्धि उत्पादक उसी दशा मे करेगा जबकि इस वृद्धि से उत्पत्ति भी बढती है। यदि ऐसा नही होगा तो साधनो के बढ़ाने का प्रश्न ही नही उठेगा।

क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns)—

साधारणतया आरम्भ मे लगभग सभी उद्योगों मे, परन्तु कुछ उद्योगो मे विशेष रूप से, *यह देखने मे आता है कि कम से कम उत्पत्ति के एक साधन को यथास्थिर रखते हुए भी जब अन्य साधनों के उपयोग की मात्रायें बढ़ाई जाती हैं तो उत्पत्ति वेग से बढने लगती है। जिस अनुपात या प्रतिशत से इन साधनों को बढ़ाया जाता है, उत्पत्ति उससे भी अधिक वेग से बढ़ती है।* उत्पत्ति की वृद्धि की इस प्रवृत्ति को अर्थशास्त्र मे क्रमगतः उत्पत्ति वृद्धि नियम कहते है। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि एक किसान भूमि की मात्रा को यथास्थिर रखता है और श्रम, पूँजी, प्रबन्ध तथा साहस की मात्राओ को निरन्तर बढाता चला जाता है। मान लीजिए कि इस प्रकार साधनों की मात्राओ (Doses) के बढाने से निम्न परिणाम निकलता है—

भूमि + ५० श्रम + २० पूँजी + १० प्रबन्ध + ५ साहस = १,००० मन उपज
" + ५५ " + २२ " + ११ " + ५½ " = १,२०० " "
" + ६० " + २४ " + १२ " + ६ " = १,५०० " "

इस उदाहरण मे हम देखते है कि प्रथम बार जब भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी उत्पत्ति के साधनो को १०% के अनुपात में बढ़ाया जाता है तो उत्पत्ति २०% के अनुपात मे बढती है। इसी प्रकार दूसरी बार जब इन्ही सब साधनो को फिर १०% के अनुपात मे बढाया जाता है तो उत्पत्ति ३०% के अनुपात मे बढती है। इस दशा मे हम कह सकते हैं कि उत्पत्ति की वृद्धि अर्थ साधनो की वृद्धि अर्थ से अधिक है और इस उत्पादन में क्रमगतः वृद्धि नियम कार्यशील हो रहा है। ठीक इसी प्रकार कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में भी हम इस नियम को कार्यशील देख सकते हैं। एक साधारण से उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। सरलता के लिए मान लीजिये कि केवल श्रम मे ही वृद्धि की जाती है तथा अन्य साधन (मान लीजिये पूँजी) यथास्थिर रहते है और इस दशा मे उत्पत्ति इस प्रकार होती है :—

मशीन (जो पूँजी है) + १०० श्रम = उपज की १०० इकाइयाँ
" " + १०१ " = " १०२ "
" " + १०२ " = " १०५ "

यहाँ पर हम यह देखते है कि श्रम में १% वृद्धि करने पर उत्पत्ति क्रमशः २% और ३% के अनुपात में बढ़ती है, अतः यहाँ भी क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम कार्यशील है।

प्रो० मार्शल ने इस नियम की कार्यशीलता को स्पष्ट करते हुये लिखा है— "साधारणतया श्रम और पूँजी की वृद्धि के फलस्वरूप संगठन में भी सुधार हो जाता है, जिससे श्रम और पूँजी की कार्यशीलता बढ़ जाती है।"[1] यही कारण है कि उत्पत्ति साधनों की वृद्धि के अनुपात से अधिक तेजी के साथ बढ़ने लगती है। इस नियम की सबसे अच्छी परिभाषा जोन रोबिन्सन (Joan Robinson) ने की है। उनके अनुसार—"जब किसी उपयोग में किसी उत्पत्ति के साधन को अधिक मात्रा लगाई जाती है तो बहुधा ऐसा होता है कि संगठन में ऐसे सुधार किए जा सकते हैं कि जिससे साधन को प्राकृतिक इकाइयों (मनुष्य, एकड़ अथवा मुद्रा) की कुशलता बढ़ जाती है। इस कारण उत्पत्ति को बढ़ाने के लिए साधनों की भौतिक मात्रा को उसी अनुपात मे बढ़ाना आवश्यक नहीं होता है।"[2] *अधिक सरल शब्दों में, हम इस नियम की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि जब संगठन की कुशलता बढ़ जाने के कारण उत्पत्ति की मात्रा साधनों की मात्रा की वृद्धि की तुलना में अधिक तेजी के साथ बढ़ती है तो उत्पत्ति की यह प्रवृत्ति क्रमगतः उत्पत्ति वृद्धि नियम कहलाती है।*[3]

यह नियम क्यों लागू होता है?—

क्रमगतः उत्पत्ति वृद्धि नियम को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह जान लें कि यह नियम क्यों लागू होता है? जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि यह नियम बहुधा उत्पादन क्रिया की प्रारम्भिक अवस्था मे लागू होता है। इस सम्बन्ध मे यह भी जान लेना आवश्यक है कि यह नियम अस्थायी होता है। यदि उत्पत्ति में वृद्धि करने के क्रम को लम्बे समय तक बनाये रखा जाय तो परिणाम अधिकतर इस नियम के प्रतिकूल होता है। नियम के स्थाई न होने का विस्तृत कारण आगे चलकर बताया जायगा। यहाँ पर केवल इतना बता देना पर्याप्त होगा कि उत्पत्ति मे

---

1. "An increase of Labour and Capital leads generally to improved organisation which increases the efficiency of the work of Labour and Capital.' —Marshall.

2. "When an increased amount of any factor of production is devoted to a certain use, it is often the case that improvements in organisation can be introduced which will make natural units of factor (men, acres or money) more efficient, so that an increase in output does not require a proportionate increase in the physical amount of the factors."—Mrs. Joan Robinson.

3. When as a result of increase in the efficiency of organisation, the amount of production increases more than proportionately to the increase in the amount of factors of production, the tendency is known as the Law of Increasing Returns.

बहुत बार कुछ अविभाज्य (Indivisible) साधनों का उपयोग किया जाता है-जैसे मशीनें ; जिनका आरम्भ में पूर्ण रूप से उपयोग नही हो पाता है। परन्तु जैसे-जैसे दूसरे साधनो की मात्राएँ बढाई जाती हैं, इस साधन का अधिक अच्छा उपयोग होने लगता है। यही कारण है कि जब ऐसे किसी साधन को यथास्थिर रखकर अन्य साधनों की मात्रा को बढाया जाता है तो कुल उपज साधनों की वृद्धि की अपेक्षा और भी अधिक तेजी से बढ़ती है। आरम्भ मे ऐसे साधन का अधिकतर क्षयपूर्ण (Wasteful) उपयोग होता है, परन्तु अन्य साधनो की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ इसका उपयोग अधिक लाभप्रद होता जाता है और अन्त मे एक समय ऐसा भी आ जाता है जबकि उसका उपयोग सर्वोत्तम होता है। इस सारी अवधि मे उत्पत्ति साधनों की मात्रा की वृद्धि की अपेक्षा अधिक तेजी से बढती है, अर्थात् उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है। स्मरण रहे कि यह नियम केवल एक निश्चित बिन्दु तक ही लागू होता है, अर्थात् उस बिन्दु तक जहाँ अविभाज्य साधन का सर्वोत्तम उपयोग हो जाता है। साथ ही साथ, यह भी ध्यान रहे कि यद्यपि वृद्धि कुल उपज तथा सीमान्त उपज दोनो मे ही होती है, परन्तु इस नियम के लिए सीमान्त उपज अर्थात् श्रम की अन्तिम इकाई द्वारा उत्पन्न उपज की वृद्धि ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। ऊपर दिये हुए दूसरे उदाहरण में श्रम की सीमान्त उपज पहले तो १ से बढकर २ हो जाती है और फिर २ से बढकर ३, जो इस नियम की कार्यशीलता का सूचक है। इसी कारण कभी-कभी इस नियम की परिभाषा इस प्रकार भी की जाती है कि जब अन्य साधनों को यथास्थिर रखते हुए एक साधन के बढ़ाने से उसकी सीमान्त उपज में वृद्धि होती है तो हम कहते हैं कि क्रमगतः उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू है।

इसी नियम को कभी-कभी सीमान्त उत्पादन व्यय ह्रास नियम (*Law of Diminishing Marginal Cost*) भी कहा जाता है। यह निश्चय है कि जब सीमान्त उपज (Marginal Produce) साधनों की वृद्धि की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती जाती है तो सीमान्त उत्पादन व्यय (Marginal Cost of Production) अर्थात् उत्पत्ति की अन्तिम इकाई का उत्पादन व्यय क्रमशः घटता जाता है। यह दो कारणों से होता है:—प्रथम तो, अविभाज्य साधन का मूल्य या व्यय उत्पत्ति की अधिक इकाइयो पर फैलता जाता है और दूसरे, जिन साधनों को बढ़ाया जा रहा है उनकी प्रत्येक अगली इकाई पर पहले के बराबर ही व्यय करके अधिक उपज प्राप्त कर ली जाती है। अतः जैसे-जैसे उत्पत्ति बढ़ती जाती है, उत्पत्ति की प्रत्येक अगली इकाई पहले से कम व्यय पर उत्पन्न होती जाती है और इस प्रकार सीमान्त उत्पादन व्यय क्रमशः घटता चला जाता है।

क्रमगतः उत्पत्ति स्थिरता नियम (The Law of Constant Returns)—

कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि जब उत्पत्ति के एक या कुछ साधनों को यथास्थिर रखकर अन्य साधनों की मात्राओं में वृद्धि की जाती है तो कुल उपज इस प्रकार की वृद्धि के ही अनुपात में बढ़ती है। उत्पत्ति की वृद्धि की

इस प्रवृत्ति को हम क्रमगतः उत्पत्ति स्थिरता नियम कहते है।[*] उदाहरणस्वरूप, यदि भूमि की मात्रा को यथास्थिर रखकर अन्य साधनो की मात्राएँ दूनी कर दी जाएँ और इस दशा में कुल उपज भी ठीक दूनी हो जाय तो हम कहेंगे कि क्रमगतः उत्पत्ति स्थिरता नियम कार्यशील हो रहा है। उत्पत्ति को बराबर बढाते रहने के प्रयत्न की दशा मे क्रमगतः उत्पत्ति वृद्धि नियम के पश्चात् बहुधा यही नियम लागू होता है। यदि हम ऐसा कहें कि क्रमगतः उत्पत्ति वृद्धि नियम की अन्तिम सीमा पर यही नियम प्रारम्भ होता है तो कदाचित यह अनुचित न होगा।

यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि उत्पत्ति के बराबर बढाते रहने की दशा मे क्रमगतः उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत सर्वोत्तम उत्पत्ति स्थिति (Optimum Production Point) आ जाती है। यह वह स्थिति होती है जहाँ पर सीमान्त उत्पादन व्यय न्यूनतम् होता है। इस स्थिति मे उत्पत्ति के विभिन्न साधनो को सर्वोत्तम अनुपात में उपयोग किया जाता है। अविभाज्य साधन का अधिकतम् लाभप्रद उपयोग भी इसी दशा मे होता है। अब जितने काल तक इस अनुपात को बनाये रखा जाता है, उत्पत्ति की वृद्धि साधनो की वृद्धि के अनुपात मे ही होती है, परन्तु बहुत बार सर्वोत्तम *अनुपात को बनाये रखना सम्भव नही होता है।* अधिक उत्पत्ति करने के लिए इस अनुपात को तोडना पडता है, क्योंकि कोई-कोई साधन अभाव के कारण पर्याप्त मात्रा में नही मिल पाता है। यही पर इस नियम की कार्यशीलता का अन्त हो जाता है।

क्रमगतः उत्पत्ति स्थिरता नियम का ही दूसरा नाम सीमान्त व्यय स्थिरता नियम या समान अथवा स्थिर सीमान्त व्यय नियम (Law of Constant Costs) भी है। यह समझने में देर न लगेगी कि जब साधनो की वृद्धि के अनुपात मे ही उत्पत्ति बढती है तो प्रत्येक उत्पादन की अगली इकाई का उत्पादन व्यय समान ही रहेगा।

क्रमगतः उत्पत्ति ह्रास नियम (The Law of Diminishing Returns)—

यह उत्पत्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण नियम है। कुछ लेखकों का विचार है कि, मानव जीवन की अधिकांश समस्याएँ इसी नियम द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। साथ ही साथ, अर्थशास्त्रियों को इस बात पर भी गर्व है कि अर्थशास्त्र का यह नियम सर्वव्यापी, सर्वमान्य तथा अटल है। यह इतना ही निश्चय और सत्य है जितना कि किसी भी विज्ञान का कोई भी नियम हो सकता है।

उत्पत्ति वृद्धि तथा स्थिरता नियमो का अध्ययन करने के पश्चात् इस नियम को समझ लेना कठिन न होगा। जब *उत्पत्ति साधनों की वृद्धि से कम अनुपात में*

---

[*] When the total output increases in proportion to the increase in the amount of factors of production (at least one factor being kept constant) the tendency is known as the Law of Constant Returns.

*बढ़ती है तो उत्पत्ति की यह प्रवृत्ति क्रमागतः उत्पत्ति ह्रास नियम कहलाती है।**
नीचे के उदाहरण से यह प्रवृत्ति स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए कि उत्पत्ति के एक साधन, अर्थात् पूंजी को यथास्थिर रखा जाता है और अन्य साधनों को बढाया जाता है, जिससे उत्पत्ति मे निम्न प्रकार वृद्धि होती है:—

पूंजी + १० भूमि + १० श्रम + १० प्रबन्ध + १० साहस = १,००० इकाई उत्पत्ति
,, + ११ ,, + ११ ,, + ११ ,, + ११ ,, = १,०८० ,,
,, + १२ ,, + १२ ,, + १२ ,, + १२ ,, = १,१५० ,,
,, + १३ ,, + १३ ,, + १३ ,, + १३ ,, = १,२१० ,,

इस दशा में हम देखते हैं कि जब कि साधनो मे वृद्धि १०% के अनुपात मे की जाती है तो पहली बार कुल उपज ८%, दूसरी बार ७% और तीसरी बार केवल ६% के अनुपात मे बढ़ती है। इससे सिद्ध होता है कि उत्पत्ति की वृद्धि अर्थ गिर रही है और वह साधनो की वृद्धि से कम अनुपात मे बढ रही है। यही उत्पत्ति ह्रास नियम का रूप है।

निश्चय है कि *उत्पत्ति ह्रास नियम साधनो के सर्वोत्तम अनुपात को भङ्ग कर देने के पश्चात् लागू होता है। इस नियम को हम सीमान्त उत्पादन व्यय वृद्धि नियम भी कह सकते हैं,* क्योंकि इस नियम के अन्तर्गत उत्पत्ति की प्रत्येक अगली इकाई का उत्पादन व्यय बढता चला जाता है।

उत्पत्ति के इन तीनों नियमो को रेखा-चित्र द्वारा भी अङ्कित किया जा सकता है। नीचे के चित्र मे तीनों नियमो का चित्रण किया गया है। मान लीजिए कि भूमि अविभाज्य साधन है और श्रम तथा पूंजी की मात्राएं बढाई जाती हैं:—

---
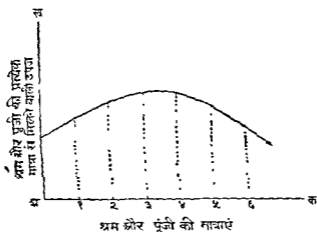
* When the output increases less than proportionately to the increase in the amount of factors of production, the amount of at least one factor being kept constant, the tendency is known as the Law of Diminishing Returns.

इस चित्र के देखने से ज्ञात होता है कि श्रम और पूँजी की दूसरी मात्रा (Dose) के उपयोग से पहली मात्रा की अपेक्षा उत्पत्ति अधिक होती है। तीसरी मात्रा के उपयोग से उत्पत्ति की वृद्धि दूसरी मात्रा के उपयोग द्वारा की हुई वृद्धि से भी अधिक होती है, अर्थात् यहाँ तक उत्पत्ति वृद्धि नियम कार्यशील है। श्रम और पूँजी की चौथी मात्रा से ठीक उतनी ही उपज प्राप्त होती है जितनी कि तीसरी मात्रा से, जो उत्पत्ति स्थिरता नियम को सूचित करती है। परन्तु पाँचवीं मात्रा के उपयोग से चौथी की अपेक्षा कम उपज मिलती है और छठी मात्रा के उपयोग से पाँचवीं से भी कम। इस प्रकार श्रम और पूँजी के और अधिक उपयोग से घटते हुए अनुपात में उत्पत्ति की वृद्धि होती है, अर्थात् यहाँ से आगे उत्पत्ति ह्रास नियम कार्यशील है।

जब उत्पत्ति के नियमों का उल्लेख सीमान्त उत्पादन व्यय के अनुसार किया जाता है तो चित्र का रूप भिन्न होता है। सीमान्त उत्पादन व्यय की वक्र रेखा श्रम और पूँजी की मात्राओं की प्रत्येक वृद्धि के साथ आरम्भ में गिरती है, परन्तु तत्पश्चात् उठती जाती है। नीचे का चित्र इसे दिखाता है :—
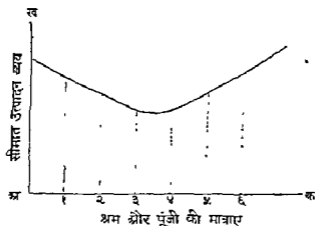
यह चित्र दिखाता है कि श्रम और पूँजी की तीसरी मात्रा के उपयोग तक सीमान्त उत्पादन व्यय घटता जाता है, जो उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत होता है। चौथी मात्रा के उपयोग पर सीमान्त उत्पादन व्यय ठीक उतना ही होता है जितना कि तीसरी मात्रा के उपयोग से, जो क्रमगत उत्पत्ति स्थिरता नियम को कार्यशीलता को सूचित करता है। परन्तु चौथी मात्रा के पश्चात् श्रम और पूँजी की मात्रा की प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ सीमान्त उत्पादन व्यय भी बढ़ता जाता है, उत्पत्ति ह्रास नियम को दिखाता है। इस प्रकार अन्त में प्रवृत्ति ह्रास नियम की ओर ही होती है।*

---

* आचार्य रघुवीर ने उत्पत्ति के नियमों को वर्धी प्रत्याय नियम (Law of Increasing Returns), स्थिर प्रत्याय-नियम (Law of Constant Returns) और आह्रासी प्रत्याय-नियम (Law of Diminishing Returns) के नाम दिये हैं, परन्तु लेखक द्वारा उपयोग किये हुए नाम ही अर्थशास्त्र में अधिक प्रचलित हैं।

क्रमगतः उत्पत्ति ह्रास नियम की व्याख्या—

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अर्थशास्त्र मे उत्पत्ति ह्रास नियम का अध्ययन बहुत समय से होता आया है। एडम स्मिथ सबसे पहले अर्थशास्त्री थे, जिन्होने इस नियम पर ध्यान दिया था, परन्तु यद्यपि उनकी पुस्तक वैल्थ ऑफ नेशन्स (Wealth of Nations) से इस बात का पता चलता है कि वे इस नियम के रूप और गुणों को समझते थे, फिर भी इस नियम की कोई विस्तृत विवेचना एडम स्मिथ ने नही की है। सबसे पहले माल्थस (Malthus) ने अपनी पुस्तिका 'लगान पर' (On Rent) मे इस नियम की व्याख्या विस्तारपूर्वक की है। माल्थस का विचार था कि लगान का मुख्य कारण क्रमगतः उत्पत्ति ह्रास नियम का कार्यशील होना ही है। वास्तविकता तो यह है कि माल्थस का जन-संख्या सिद्धान्त भी इसी नियम पर आधारित है। किसी देश मे खाद्य उत्पादन के जन-संख्या के अनुपात में न बढ़ने का प्रमुख कारण माल्थस के विचार मे कृषि उत्पत्ति पर इस नियम का लागू होना ही है। माल्थस का विचार था कि जबकि जन-संख्या की वृद्धि तो निरन्तर होती रहती है, परन्तु खाद्य उत्पत्ति पर ह्रास नियम के लागू हो जाने के कारण उसकी वृद्धि की गति मन्दी हो जाती है, जिसके फलस्वरूप कुछ समय पश्चात् खाद्य उत्पत्ति जन-संख्या के लिए पर्याप्त नही रह पाती और जन-संख्या आवश्यकता से अधिक प्रतीत होने लगती है। माल्थस के पश्चात् रिकार्डो (Ricardo) ने तो अपने लगान के सिद्धान्त को पूर्णतया इसी नियम पर आधारित किया। लगान के उत्पन्न होने का एक प्रमुख कारण उनके विचार मे यही है कि गहन खेती (Intensive Cultivation) मे श्रम और पूँजी की प्रत्येक अगली मात्रा (Dose) से पहले की अपेक्षा कम उपज प्राप्त होती है। रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त इतना सर्वप्रिय हुआ कि आगे के लगभग सभी अर्थशास्त्रियो ने इसका अनुकरण किया और इस प्रकार उत्पत्ति ह्रास नियम प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र (Classical Economics) का एक महत्त्वपूर्ण नियम बन गया। समय के साथ-साथ इस नियम का महत्त्व बढता ही गया है और आज भी यह अर्थविज्ञान का एक प्रमुख नियम है।[1]

मार्शल की परिभाषा—

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रीय परम्परा को निभाते हुये मार्शल ने इस नियम की परिभाषा इस प्रकार की है—"*खेती में साधारणतया श्रम और पूँजी की किसी एक वृद्धि के फलस्वरूप उपज में अनुपात से कम वृद्धि होती है, यदि यह खेती करने की रीति में सुधार करने के साथ-साथ न हो।*"[2] कहने का अभिप्राय यह है कि यदि

1. For detailed study see Cannan : *Theories of Production & Distribution*, chapt. IV and Marshall : *Principles of Economics*, book IV, chapt. III.

2. "An increase in the capital and labour employed in the cultivation of land causes, in general, a less than proportionate increase in the amount of produce raised unless it happens to coincide with an improvement in the art of agriculture."—Marshall : *Principles of Economics*, p. 169.

खेती करने की रीतियों में सुधार न किया जावे तो साधारणतया कृषि की उपज उतनी अधिक तेजी से नही बढती है जितनी तेजी से कि श्रम और पूँजी की मात्राएं बढाई जाती है। मार्शल की इस परिभाषा में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं :–प्रथम तो, उनका विचार है कि उत्पत्ति ह्रास नियम साधारणतया लागू होता है, जिसका अर्थ यह होता है कि सभी दशाओं मे इस नियम का लागू होना आवश्यक नही है। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि कुछ दशाओं में उत्पत्ति वृद्धि तथा स्थिरता नियम लागू होते हैं। दूसरे, यह नियम केवल उसी दशा मे लागू होता है, जबकि खेती करने की रीतियो मे सुधार न हो, अर्थात् जबकि खेती में ठीक उसी प्रकार के औजारो, यन्त्रों और कृषि ज्ञान का उपयोग किया जाये जैसा कि पहले हो रहा था। यदि पहले खेती देशी हलो और बैलों की सहायता से की जाती है, परन्तु बाद मे आधुनिक ट्रैक्टरो द्वारा, तो इस नियम का लागू होना आवश्यक नहीं है।

स्मरण रहे कि मार्शल के अपने ही कथन के अनुसार उनकी यह परिभाषा अधूरी है, अन्तिम नही है। इस परिभाषा में मौलिक सत्य तो अवश्य है, परन्तु कमी यह है कि अन्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की भाँति मार्शल ने भी इस नियम को एक कृषि *सम्बन्धी नियम ही बताया है। कुछ ऐसी परम्परा सी चली आ रही है कि इस नियम* को केवल भूमि से ही सम्बन्धित किया जाता रहा है, जिससे कभी कभी यह भ्रम होता है कि कदाचित यह नियम अन्य उद्योगो मे लागू नही होता है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, *ऐसी बात नही है। यह नियम तो सभी उत्पादन क्रियाओं पर लागू होता* है। मार्शल ने तो यथार्थ मे इस नियम के क्षेत्र को और भी सकुचित कर दिया है, क्योंकि उनकी परिभाषा के अनुसार यह नियम केवल गहन खेती पर ही लागू होता है। स्मरण रहे कि कृषि की उपज विस्तृत खेती द्वारा भी बढाई जा सकती है, जिसमे श्रम और पूँजी के स्थान पर भूमि *की मात्रायें बढाई जाती है*। मार्शल की परिभाषा मे भूमि की मात्रा को यथास्थिर रखकर श्रम और पूँजी की मात्रायें बढाई गई हैं। यह दशा गहन खेती की ही है।

जोन रोबिन्सन की परिभाषा—

मार्शल की परिभाषा की त्रुटियो को ध्यान मे रखते हुए श्रीमती जोन रोबिन्सन (Mrs. Joan Robinson) ने इस नियम की एक और परिभाषा की है, जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अधिक सही है। उनके विचार में इस नियम की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—"*क्रमगतः उत्पत्ति ह्रास नियम, जैसा कि साधारणतया कहा जाता है, यह बताता है कि किसी एक साधन की मात्राओं के निश्चित होने की दशा में एक निश्चित बिन्दु के पश्चात् अन्य साधनों की प्रत्येक अगली वृद्धि से उत्पत्ति की घटती हुई वृद्धि (Increment) प्राप्त होगी। यदि हम इसी बात को उत्पादन व्यय के दृष्टिकोण से देखें तो, यदि एक साधन की मात्रा निश्चित है और इसके साथ अन्य साधनों की बढ़ती हुई मात्राओं का उपयोग किया जाता है*

तथा यदि न तो कार्यक्षमता में सुधार होना है और न इन साधनों के अधिक मात्रा में उपयोग होने से इनके मूल्य में ही परिवर्तन होता है तो एक निश्चित बिन्दु के उपरान्त प्रति इकाई उत्पादन व्यय बढ जायगा।'* इसी सम्बन्ध मे उनकी क्रमगतः उत्पत्ति वृद्धि नियम की परिभाषा को दे देना भी अनुपयुक्त न होगा। वृद्धि नियम की परिभाषा उन्होंने इस प्रकार की है—"कभी-कभी ऐसा देखने मे आता है कि जब किसी एक उत्पत्ति के साधन को अधिक मात्राओं को उपयोग मे लाया जाता है तो प्रबन्ध मे इस प्रकार के सुधार सम्भव हो जाते है, जिससे कि साधन (मनुष्य, एकड़ अथवा द्रव्य, पूँजी) की प्राकृतिक इकाइयों की क्षमता बढ जाती है, इसलिए उपज बढाने के लिए साधनों की भौतिक मात्राओं का उसी अनुपात मे बढाना आवश्यक नही होता है।"

इस परिभाषा की विशेषता यह है कि श्रीमती रोबिन्सन ने इस नियम के क्षेत्र को कृषि तक ही सीमित नही रखा है। उन्होंने नियम का सही-सही स्पष्टीकरण भी किया है। यह नियम प्रत्येक उत्पादन क्रिया पर लागू होता है, परन्तु एक निश्चित बिन्दु के पश्चात्, जिसका सही स्थान जाना जा सकता है। यह बिन्दु वहा पर होता है जहाँ पर स्थिर साधन का पूर्ण उपयोग (Full Utilization) हो जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस नियम को उत्पादन व्यय के दृष्टिकोण से भी समझाने का प्रयत्न किया है।

बेनहाम का दृष्टिकोण (The Viewpoint of Benham)—

बेनहाम ने उत्पत्ति ह्रास नियम के सम्बन्ध मे एक दूसरा ही दृष्टिकोण अपनाया है। उन्होंने भी मार्शल की इस सम्बन्ध मे आलोचना की है कि मार्शल ने इस नियम को बेकार ही इतना मान्यता-जटित बना दिया है और इसके क्षेत्र को केवल कृषि तक सीमित कर दिया है। उन्होंने लिखा है कि—"उत्पत्ति ह्रास नियम केवल *यह बताता है कि एक निश्चित समय में यदि उत्पत्ति के साधनों के अनुपात में परिवर्तन किया जाता है तो उत्पत्ति की मात्रा में किस प्रकार परिवर्तन होते हैं और इसका आधार यह होता है कि इस काल में ज्ञान (Knowledge) में किसी प्रकार के परिवर्तन नहीं हो सकते है।..................यह उत्पत्ति की सभी शाखाओं*

* 'The Law of Diminishing Returns, as it is usually formulated, states that, with a fixed amount of any one factor of production, successive increases in the amount of other factors will, after a point, yield a diminishing increment of output."–Joan Robinson: *Economics of Imperfect Competition*

"Looking at the matter from the point of view of cost of production, if one factor is fixed in amount and increased amounts of other factors are used with it, and if no improvement in the efficiency and reduction in the price of these other factors is introduced by the increase in the amount used, after a point, the cost of production per unit of output will rise"—*Ibid.*

*पर लागू होता है, केवल कृषि पर ही नहीं"** हमारी आधारभूत समस्या विभिन्न साधनों के अनुपात में परिवर्तन की समस्या है। बात ऐसी है कि यदि उत्पत्ति के केवल एक साधन की मात्रा में १०% की वृद्धि की जाती है, जबकि अन्य साधन यथास्थिर रहते हैं, तो हमें कुल उपज में १०% से कम वृद्धि की आशा करनी चाहिये। यदि ऐसा न होता तो निश्चित हम सारे संसार की आवश्यकता पूर्ति के लिए पर्याप्त अन्न एक ही खेत से उपजा सकते थे।

बेनहाम ने उत्पत्ति ह्रास नियम को उत्पत्ति के साधन की सीमान्त उपज के दृष्टिकोण से समझाने का प्रयत्न किया है। किसी साधन की सीमान्त उपज से हमारा अभिप्राय कुल उपज की उस वृद्धि से होता है जो साधन विशेष की एक और इकाई के उपयोग के फलस्वरूप मिलती है। निम्न तालिका बेनहाम के दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है:—

तालिका

श्रम की इकाइयाँ	कुल उपज	औसत उपज (Average Product)	सामान्त उपज (Marginal Product)
१	१००	१००	१००
२	२५०	१२५	१५०
३	४५०	१५०	२००
४	६००	१५०	१५०
५	७२५	१४५	१२५
६	८२५	१३७·५	१००
७	९००	१२८·६	७५
८	९५०	११८·७५	५०
९	९७५	१०८·८	२५
१०	९८५	९०·८५	१०

इस तालिका से पता चलता है कि जैसे-जैसे श्रम की मात्रा बढ़ाई जाती है (भूमि की मात्रा यथास्थिर रखते हुए), श्रम की तीसरी इकाई के पश्चात् सीमांत उपज घटने लगती है। श्रम की चौथी इकाई के पश्चात् औसत उपज भी घटने लगती है। इसके पश्चात् धीरे-धीरे सीमांत और औसत उपज दोनों घटती ही चली जाती है। यहाँ तक कि १० वें श्रमिक पर सीमांत उपज केवल १० रह जाती है। इस स्थिति को निम्न रेखा-चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है:—

* "The Law of Diminishing Returns states how output would vary if the proportions of the factors were altered *at a given moment* and this rules out any changes in knowledge......it applies to all branches of production and not only to agriculture." Benham : *Economics*, pp. 122-23.
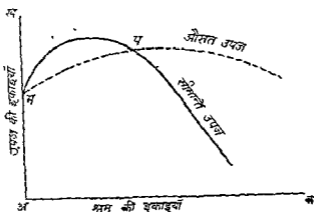
प बिन्दु पर सीमान्त उपज और औसत उपज की रेखायें एक दूसरे को काटती है। यहाँ से आगे दोनो ही रेखायें नीचे की ओर गिरने लगती है। प बिन्दु से ही बेनहाम के अनुसार उत्पत्ति ह्रास नियम की कार्यशीलता आरम्भ होती है। बेनहाम के अनुसार उत्पत्ति ह्रास नियम की परिभाषा निम्न प्रकार है:—"जैसे-जैसे उत्पत्ति के साधनों के संयोग में किसी एक साधन का अनुपात बढ़ाया जाता है, एक बिन्दु के पश्चात् उस साधन की सीमान्त और औसत उपज घटने लगेगी"* यही से क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम की कार्यशीलता प्रारम्भ हो जायगी।

मार्शल, रोबिन्सन और बेनहाम के दृष्टिकोण की तुलना—

मार्शल, रोबिन्सन और बेनहाम इन तीनों के दृष्टिकोण ऊपर से एक दूसरे के प्रति-विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि तीनो मे कोई आधारभूत अन्तर नहीं है। तीनों का ही विश्वास है कि उत्पत्ति की कुछ ऐसी दशायें होती हैं कि जिनमे ह्रास नियम लागू नहीं होता है। तीनो ही का यह भी विश्वास है कि इस नियम के कुछ अपवाद (Exceptions) होते है, यद्यपि साधारणतया यह नियम लागू होता है। वास्तविकता यह है कि उत्पादन की प्रत्येक क्रिया वृद्धि, स्थिरता और ह्रास नियम से होकर गुजरती है, यद्यपि अन्तिम प्रवृत्ति ह्रास नियम को ही होती है।

इसी प्रकार मार्शल और रोबिनसन दोनो ने घटती हुई सीमान्त वृद्धि की ओर भी संकेत किया है, यद्यपि उन्होने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है, परन्तु बेनहाम ने स्पष्ट शब्दो मे इसका उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध मे मार्शल और रोबिन्सन के विचारो मे अधिक समानता है। दोनो का विचार है कि यदि एक साधन (मार्शल के अनुसार भूमि) को यथास्थिर (Constant) रखा जाता है और अन्य साधनों की मात्राओं में क्रमशः वृद्धि की जाती है तो उत्पादन की सीमान्त वृद्धि घटती जाती है। इस

* "As the proportion of one factor in a combination of factors is increased, after a point, the marginal and average product of that factor will diminish."—Benham : *Economics*, p. 126.

सम्बन्ध मे बेनहाम ने एक दूसरी ही रीति अपनाई है। वे अन्य सभी साधनों की मात्रा यथास्थिर रखकर केवल एक साधन की सीमान्त उपज का पता लगाते है। परन्तु यह अन्तर भी केवल अध्ययन की रीति का ही अन्तर है। अन्तिम परिणाम मे कोई अन्तर नही पड़ता है। क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम का आधार यही है कि एक या अधिक साधनों की मात्रा यथास्थिर रखकर यदि अन्य साधनों की मात्रायें बढ़ाई जाती हैं तो कुल उपज घटते हुए अनुपात मे बढ़ती है।

"*शायद अन्तर केवल इतना है कि जबकि बेनहाम के अनुसार ह्रास नियम तब लागू होता है जबकि सीमान्त और औसत उपज दोनों घटने लगती हैं। दूसरे दोनों अर्थशास्त्री ऐसा नहीं समझते हैं। जैसे ही सीमान्त उपज घटने लगती है, ह्रास नियम की कार्यशीलता आरम्भ हो जाती है और यही ठीक भी है।*"[1] किन्तु वास्तविक जगत मे इन दोनों दृष्टिकोणों का अन्तर भी इतना सूक्ष्म है कि उसे बहुत महत्त्व देना उचित न होगा।

यदि हम मार्शल, रोबिन्सन और बेनहाम की परिभाषाओं के बीच तुलना करें तो शायद रोबिन्सन की परिभाषा सबसे अच्छी रहे। यह परिभाषा निश्चित, स्पष्ट और सरलता से समझ मे आने वाली है। इसमे गलती की सम्भावना भी बहुत कम है। इसके अतिरिक्त इसमें ह्रास नियम को उत्पादन व्यय के अनुसार भी समझाया गया है।

यहां पर स्टिगलर (Stigler) के दृष्टिकोण को व्यक्त करना भी उचित होगा, क्योंकि उन्होंने एक प्रकार श्रीमती रोबिन्सन तथा बेनहाम दोनों के दृष्टिकोण का समावेश करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने लिखा है, "*जैसे-जैसे किसी एक साधन की मात्राएँ समान अंश तक बढ़ाई जाती हैं, जबकि अन्य साधनों की उत्पादक सेवाएँ यथास्थिर रखी जाती जाती हैं तो एक निश्चित बिन्दु के पश्चात्, उत्पादन की मात्रा की वृद्धि का अंश घट जाएगा, अर्थात् सीमान्त उत्पादन घट जायेगा।*"[2] यह परिभाषा एक बड़े अंश तक सही है क्योंकि इसका श्रीमती रोबिन्सन की परिभाषा

---

1. 'Probably, the only point of difference lies in the fact that whereas according to Benham, the Law of Diminishing Returns operates when the average and marginal products are both falling, this is not so with the other two economists. The moment the marginal product starts falling the Law of Diminishing Returns should be deemed to have started, and this is probably the correct position."—Rathi and Singh : *Principles of Economics*, Book II, p. 15.

2. "As equal increments of one input are added, the inputs of other productive sources being held constant beyond a certain point, the resulting increments of product will decrease, i.e., the marginal product will diminish"—Stigler : *The Theory of Price*, p. 121.

से किसी प्रकार का विरोध नहीं है, परन्तु साधनों की मात्रा की वृद्धि के सम्बन्ध में बेनहाम का दृष्टिकोण भी सन्तुष्ट हो जाता है।

उत्पत्ति ह्रास नियम की कार्यशीलता का मूल कारण—

यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि उत्पत्ति ह्रास नियम का मूल कारण साधनों के सर्वोत्तम अनुपात का भङ्ग हो जाना होता है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि सर्वोत्तम अनुपात भङ्ग क्यों होता है ? क्या यह सम्भव नहीं है कि यह अनुपात बना ही रहे ? उत्तर में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सर्वोत्तम अनुपात को बनाए रखना थोड़े ही समय के लिए सम्भव होता है। इस अनुपात को लम्बे काल तक बनाये रखना मनुष्य की शक्ति से बाहर होता है, क्योंकि साधनों की मात्राओं पर पूर्णतया मनुष्य का ही अधिकार नहीं है।

मनुष्य के मार्ग में इस दिशा में सबसे बड़ी बाधा प्रकृति द्वारा उपस्थित की जाती है। सीमित होना प्रकृति का प्रमुख लक्षण है। वैसे तो संसार में कोई भी वस्तु असीमित मात्रा में नहीं है, पर जिन वस्तुओं की पूर्ति पर मनुष्य की अपेक्षा प्रकृति का अधिकार अधिक है, उनकी मात्राएँ अधिक सीमित होती हैं। निश्चय है कि भूमि पर पूँजी की अपेक्षा प्रकृति का प्रभुत्व अधिक है, यद्यपि श्रम, पूँजी, साहस आदि सभी साधनों की मात्रायें अन्तिम दशा में प्रकृति द्वारा ही निश्चित होती हैं। लम्बे काल में प्रत्येक साधन की मात्रा सीमित होती है और यही कारण है कि क्रमगतः उत्पत्ति ह्रास नियम साधारणतया एक दीर्घकालीन प्रवृत्ति है, यद्यपि जिन उद्योगों में प्रकृति शीघ्र ही कुछ साधनों की मात्रायें सीमित कर देती है, जैसे कृषि में, वहाँ यह नियम अल्पकाल या आरम्भ में ही लागू हो जाता है। मान लीजिए कि सर्वोत्तम अनुपात पर उत्पत्ति पहुँच गई है। इस स्थान पर उत्पत्ति अधिकतम् लाभप्रद होगी और उत्पादन व्यय न्यूनतम् होगा। मनुष्य इस सर्वोत्तम अनुपात को बनाए रखने का प्रयत्न करेगा, परन्तु इस अनुपात को बनाये रखने के लिये उत्पत्ति बढ़ाते समय उत्पत्ति के समस्त साधनों को एक ही अनुपात में बढ़ाना आवश्यक होता है, परन्तु क्या ऐसा करना हमारे लिये सम्भव होता है ? मान लीजिए कि प्राकृतिक कारणों से भूमि की या श्रम की मात्रा सीमित हो जाती है। ऐसी दशा में भूमि या श्रम तो यथास्थिर हो जाता है और अन्य साधनों की मात्रायें बढ़ाकर ही उत्पत्ति में वृद्धि की जायगी, किन्तु क्योंकि साधनों के बीच पूर्ण प्रतिस्थापन (Substitution) नहीं हो सकता है, सर्वोत्तम अनुपात अवश्य भङ्ग हो जायगा, जिसके कारण तुरन्त ही उत्पत्ति ह्रास नियम कार्यशील हो जायगा।

मार्शल का यह कथन है कि *"हम साधारणतया यह कह सकते हैं कि उत्पादन क्रिया में प्रकृति उत्पत्ति ह्रास नियम की अनुकूल दिशा में काम करती है, जबकि मनुष्य का प्रयत्न उत्पत्ति वृद्धि नियम प्राप्त करने की दिशा में होता है"**

---

* "We say broadly that while the part which nature plays in production conforms to the Law of Diminishing Returns the part which man plays conforms to the Law of Increasing Returns." —Marshall : *Principles of Economics*, p. 195.

यथार्थ में ठीक ही है। अनुभव हमें बताता है कि कृषि, कच्चा माल उत्पन्न करने वाले उद्योगों और खनिज पदार्थों के उत्पादन मे, जहां प्रकृति का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है, ह्रास नियम शीघ्र ही लागू हो जाता है, जबकि निर्माण उद्योगों (Manufacturing Industries) में, जहां मानव कार्य प्रधान है, उत्पत्ति वृद्धि नियम की सम्भावना अधिक रहती है। दीर्घकाल में निर्माण उद्योगों मे भी ह्रास नियम इसलिए कार्यशील होता है कि प्रकृति द्वारा व्यवसायी की शारीरिक और मानसिक शक्ति सीमित हो जाती है और जब उत्पत्ति का पैमाना एक सीमा से आगे बढ जाता है तो व्यवसायी या प्रबन्धक की शक्ति के बाहर हो जाने के कारण कार्यक्षमता में कमी आ जाती है, जिससे ह्रास नियम लागू होने लगता है।

सीमित होने के साथ-साथ कुछ साधन स्वभाव से ही अविभाज्य होते हैं। ये साधन सर्वोत्तम उत्पादन बिन्दु तक तो अन्य साधनों की वृद्धि होने पर उपयोगी परिणाम देते रहते हैं, परन्तु इस बिन्दु के पश्चात् इनका और अधिक उपयोग उतना अधिक लाभप्रद नहीं रहता। इनकी मात्रा मे थोड़ी-थोड़ी वृद्धि सम्भव नहीं होती। वृद्धि साधन की एक और इकाई का उपयोग करके ही की जा सकती है। इस एक साधन के इतना बढाने पर व्यय भी अधिक हो जाता है और सर्वोत्तम अनुपात भी भङ्ग हो जाता है।

ह्रास नियम तथा वृद्धि और स्थिरता नियमों का सम्बन्ध—

*ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि उत्पत्ति के इन तीनो नियमो में परस्पर बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। एक ही उत्पादन क्रिया मे तीनो नियम क्रमशः एक के पश्चात् दूसरा लागू हो सकते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वृद्धि और स्थिरता नियम स्थाई नहीं है। वे केवल अल्पकालीन प्रवृत्तियां है। अन्तिम दशा मे तो केवल ह्रास नियम ही दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण स्पष्ट रूप से यह है कि उत्पत्ति के पैमाने को बढाने के कारण (और यह उपज की मात्रा को बढाने के उद्देश्य से किया जाता है) साधनो के सर्वोत्तम अनुपात या सर्वोत्तम उत्पत्ति अवस्था को लम्बे काल तक बनाये रखना असम्भव होता है। बड़े पैमाने की उत्पत्ति की भी सीमाएं होती हैं, जिनके उल्लंघन के उपरान्त ह्रास नियम अवश्य लागू होता है। सैलिगमैन (Seligman) का यह कथन कि वृद्धि और स्थिरता नियम केवल ह्रास नियम के ही अस्थाई रूप है, बिल्कुल ठीक है।**[*]

ह्रास नियम का कार्य क्षेत्र

कृषि में—

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, ह्रास नियम का कार्यक्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। यह नियम सभी उद्योगों पर लागू होता है, परन्तु शर्त यह है कि उत्पादन क्रिया

* "The laws of Increasing and Constant returns are only the temporary phases of the Law of Diminishing Returns."—Seligman.

लम्बे काल तक चलती रहे। सबसे पहले कृषि उद्योग को ही लीजिये। कृषि में यह नियम बहुत ही शीघ्र तथा बड़े वेग से लागू होता है, क्योंकि कृषि में प्रकृति का कार्य प्रधान होता है। कृषि दो प्रकार की होती है—विस्तृत और गहन (Extensive and Intensive)। विस्तृत कृषि में भूमि की मात्रा बढ़ा कर अधिक उत्पत्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु प्रकृति द्वारा अधिक उपजाऊ भूमि की मात्रा सीमित की जाती है। थोड़े ही समय के पश्चात् कम उपजाऊ भूमि पर खेती करना आवश्यक हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि समान श्रम और पूँजी लगाने पर भी उत्पत्ति पहले की अपेक्षा कम बढ़ती है और इस प्रकार उत्पादन व्यय बढ़ता चला जाता है। जैसे-जैसे कृषि की सीमा (Margin) को बढ़ाया जाता है, क्रमशः कम और कम उपजाऊ भूमि पर खेती होने लगती है और सीमान्त उत्पादन व्यय बढ़ता चला जाता है। ठीक इसी प्रकार गहन खेती पर भी यह नियम लागू होता है। गहन खेती में भूमि की मात्रा को यथास्थिर रखकर श्रम और पूँजी की मात्राएँ बढ़ा कर उत्पत्ति में वृद्धि की जाती है। जैसे-जैसे एक ही भूमि पर अधिक श्रम और पूँजी लगाई जाती है, भूमि की उर्वरता या उपजाऊपन (Fertility) के सीमित होने के कारण कुछ समय पश्चात् श्रम और पूँजी की प्रत्येक अगली मात्रा क्रमशः कम और कम उपज प्रदान करती है।

खनिज उद्योग (Mining)—

कृषि की भाँति यह नियम खान खोदने के उद्योग पर भी लागू होता है। खानों की उपज बढ़ाने की भी दो रीतियाँ हैं। जैसा कि सभी जानते है, पहले उन खानों पर खुदाई की जाती है जो आबादी के समीप होती हैं या जहाँ तक सुगमता से पहुँचा जा सकता है या जिन पर सरलतापूर्वक खुदाई हो सकती है। परन्तु धीरे-धीरे ऐसी खानें समाप्त हो जाती हैं और खुदाई का काम दूर की खानों पर अथवा ऐसी खानों पर आरम्भ किया जाता है, जिनकी खुदाई सरलता से नहीं हो सकती। खानों की उपज बढ़ाने का दूसरा उपाय यह है कि नई खानों के स्थान पर पुरानी ही खानों की और गहरी खुदाई की जाती है। इन दोनों ही दशाओं में श्रम और पूँजी की अगली मात्राओं से कम उपज प्राप्त होती है, अर्थात् ह्रास नियम लागू होता है। दूर की खानों तक पहुँचने तथा वहाँ से खनिज पदार्थ को मण्डी तक लाने में अधिक व्यय होता है, जिससे उत्पादन व्यय बढ़ता चला जाता है। इसके अतिरिक्त नई खानों से खनिज पदार्थ निकालने मे आरम्भ में व्यय अधिक होता है, क्योंकि ऊपर की मिट्टी हटाने, रास्ते बनाने, आदि मे काफ़ी व्यय हो जाता है और उत्पादन व्यय बढ़ जाता है। इसी प्रकार जब पुरानी खानों की गहरी खुदाई की जाती है तो भीतर रोशनी करने, पृथ्वी के भीतर के पानी को निकालने तथा खनिज पदार्थ को बाहर निकालने में अधिक व्यय करना पड़ता है और उत्पादन व्यय बढ़ जाता है। इस प्रकार खान उद्योग में भी कृषि की भाँति उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है।

मछली उद्योग (Fishing)—

मछली पकड़ने के उद्योग में भी यह नियम इसी प्रकार कार्यशील होता है। मछली उद्योग को दो भागों मे बाँटा जा सकता है। मछलियाँ या तो नदियों और झीलों में से पकड़ी जा सकती हैं या समुद्र मे से। नदियों और झीलों मे मछली की मात्रा सीमित होती है। थोड़े ही समय के पश्चात् मछलियों की संख्या इतनी कम हो जाती है कि पहले के बराबर परिश्रम करने पर भी कम मात्रा मे मछलियाँ पकड़ी जा सकती हैं। दूसरे शब्दो मे, श्रम और पूँजी की अगली मात्राएँ कम उपज प्रदान करती हैं और सीमान्त व्यय क्रमशः बढ़ता चला जाता है। समुद्र से मछलियाँ पकड़ने के विषय में यह कहा जाता है कि वहाँ ह्रास नियम लागू नहीं होता, क्योंकि समुद्र में मछलियों का स्टॉक अक्षय होता है। मछलियो के विषय मे यह प्रसिद्ध है कि जितनी तेजी से वे पकड़ी जाती हैं उससे भी अधिक वेग से उनका सख्या-बर्द्धन होता रहता है। इस प्रकार समुद्र से मछली पकड़ने के उद्योग मे ह्रास नियम लागू नहीं होता। परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि यथार्थ में ऐसा नहीं है। समुद्र मे भी मछलियो की मात्रा अक्षय नहीं होती है। यह निश्चय है कि उत्पत्ति के वृद्धि और स्थिरता नियम समुद्र से मछली पकड़ने में बहुत अधिक समय तक चालू रहते हैं, किन्तु यहाँ भी वे पूर्णतया स्थायी नहीं हो सकते। जब बड़े पैमाने पर मछलियाँ पकड़ने का काम किया जाता है तो मछलियाँ किनारे से अधिक दूर जाने लगती हैं और उनको पकड़ने के लिए पहले से अधिक व्यय करना पड़ता है। इस प्रकार कुछ समय पश्चात् ह्रास नियम यहाँ भी लागू होने लगता है, परन्तु एक लम्बे काल के पश्चात्।

मकान बनाने का उद्योग (House Building)—

मकान बनाने के उद्योग मे भी हम इस नियम को कार्यशील देख सकते हैं। मकान उद्योग में भी दो रीतियाँ अपनाई जा सकती हैं। या तो और अधिक भूमि पर मकान बनाए जाएँ या पहले से बनाये हुए मकानों पर और मंजिलें (Storeys) बनाई जायें। पहली दशा मे धीरे-धीरे मण्डी से दूर की भूमि पर मकान बनने लगते हैं, जिससे उत्पादन व्यय बढ़ता है और ह्रास नियम लागू हो जाता है। दूसरी दशा मे पहली मंजिल की अपेक्षा दूसरी मंजिल पर व्यय कम होता है, क्योंकि नींव डालने और मोटी दीवार बनाने पर व्यय नहीं करना पड़ता, परन्तु और अधिक मंजिलों का बनाना अधिक असुविधाजनक होता चला जाता है। सामान को ऊपर चढ़ाने आदि के कारण व्यय बढ़ने लगता है और ह्रास नियम का प्रारम्भ हो जाता है।

निर्माण उद्योग (Manufacturing Industries)—

अब हमे यह देखना है कि निर्माण उद्योगों पर यह नियम क्यों और किस प्रकार लागू होता है? कुछ लोगों का विचार है कि निर्माण उद्योगों (Manufacturing Industries) पर यह नियम लागू नहीं होता है। प्रोफेसर चैपमैन के अनुसार निर्माण उद्योग का विस्तार, यदि उत्पत्ति के उपयुक्त साधनों की कमी न हो,

उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत होता है।[1] साथ ही साथ, निर्माण उद्योगों मे मनुष्य का कार्य प्रधान होता है। एक बड़े अंश तक मनुष्य उत्पत्ति के साधनों को यथेष्ठ मात्रा में घटा-बढा सकता है और इस प्रकार सर्वोत्तम अनुपात को बनाये रखने में सफल हो सकता है। यही नही, वरन् जैसे-जैसे उत्पत्ति के पैमाने का विस्तार होता जाता है, अत्यधिक बाह्य और आभ्यांतरिक बचत (Internal and External Economies) प्राप्त की जा सकती हैं और इस प्रकार उत्पादन व्यय घटता चला जाता है, परन्तु इन दोनों प्रकार की बचत की भी सीमा होती है। उत्पत्ति का पैमाना किसी भी सीमा तक नही बढाया जा सकता। प्रबन्धक की कार्य-क्षमता की सीमाएँ होती है और प्रबन्धक तथा मशीन जैसे अविभाज्य साधनो का एक सीमा तक ही लाभप्रद उपयोग हो सकता है। इस सीमा के पश्चात् ह्रास नियम अवश्य लागू होता है। अन्तर केवल इतना है कि दूसरे उद्योगो की अपेक्षा निर्माण उद्योगो मे ह्रास नियम की कार्यशीलता को अधिक समय तक रोके रखा जा सकता है।

क्या उत्पत्ति ह्रास नियम सर्वव्यापी (Universal) है ?—

उपरोक्त विवेचना इस बात की पुष्टि करती है कि केवल कृषि ही इस नियम का विशेष कार्य-क्षेत्र नही है। यह नियम तो सर्वव्यापी है और सभी उद्योगो पर लागू होता है। मानव व्यवहार के प्रत्येक अङ्ग में इस नियम को कार्यशील देखा जा सकता है। विकस्टीड के शब्दो मे—"यह नियम इतना ही सर्वव्यापी है जितना कि स्वयं जीवन का नियम।"[2] एक साधारण विद्यार्थी का भी यही अनुभव होता है कि दो-तीन घन्टे पढ लेने के पश्चात् उसके अध्ययन की गति मन्द हो जाती है और अगले प्रत्येक घन्टे मे वह पहले की अपेक्षा कम और कम पढ सकता है तथा याद रख सकता है। यह भी उत्पत्ति ह्रास नियम का ही एक रूप है और इसका कारण विद्यार्थी की मानसिक शक्ति का सीमित होना होता है। यदि ह्रास नियम लागू न होता तो कदाचित हम एक ही खेत से तथा एक ही कारखाने से संसार की सारी उत्पत्ति कर लेते। प्रकृति मनुष्य से सौतेली माता (Step mother) का सा व्यवहार करती है। सीमितता उसका प्रमुख लक्षण है और ह्रास नियम भी उसी की देन है, परन्तु स्मरण रहे कि ह्रास नियम केवल दीर्घकालीन दृष्टि से ही सर्वव्यापी है। यह सदा एक निश्चित अवधि के बाद लागू होता है, यद्यपि विभिन्न उद्योगो मे इस अवधि का समय तथा विस्तार अलग-अलग होता है।

उत्पत्ति के नियम और उत्पादन व्यय (The Laws of Returns and the Cost of Production)—

उत्पत्ति के नियमों की व्याख्या उत्पादन व्यय के अनुसार भी की जा सकती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, क्रमशः उत्पत्ति वृद्धि नियम, उत्पत्ति स्थिरता

1. Chapman : *Outlines of Political Economy*, p. 102.
2. "This law is as universal as the law of life itself."—Wicksteed : *Commonsense of Political Economy*, p. 47.

नियम और उत्पत्ति ह्रास नियम को हम क्रमशः उत्पादन व्यय ह्रास नियम (Law of Diminishing Cost), उत्पादन व्यय स्थिरता नियम (Law of Constant Cost) और उत्पादन व्यय वृद्धि नियम (Law of Increasing Cost) भी कह सकते हैं। नीचे की तालिका में उन तीनो नियमों की कार्यशीलता को उत्पादन व्यय के दृष्टिकोण से स्पष्ट किया गया है :—

श्रम और पूंजी की इकाइयाँ	कुल उत्पादन व्यय रुपयों में	चावल की कुल उत्पत्ति मनों में	चावल की सीमान्त उत्पत्ति मनों में	प्रति मन उत्पादन व्यय रुपयों में	
१	१००	५	५	२०.०	उत्पादन व्यय ह्रास नियम
२	२००	११	६	१८.२	
३	३००	१९	८	१५.६	
४	४००	२७	८	१४.८	
५	५००	३४	७	१४.९	
६	६००	३९	५	१५.४	उत्पादन व्यय वृद्धि नियम
७	७००	४२	३	१६.६	
८	८००	४४	२	१८.२	
९	९००	४६	२	१९.७	
१०	१,०००	४७	१	२१.३	

इस तालिका से स्पष्ट होता है कि श्रम और पूंजी की तीसरी इकाई तक श्रम और पूंजी की प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन व्यय घटता जाता है, अतः उत्पादन व्यय ह्रास नियम लागू होता है। चौथी और पांचवी इकाई पर उत्पादन व्यय स्थिर है, अतः उत्पादन व्यय स्थिरता नियम कार्यशील है। तत्पश्चात् श्रम और पूंजी की प्रत्येक वृद्धि के साथ प्रति इकाई उत्पादन व्यय भी बराबर बढ़ता जाता है। यही से क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम कार्यशील होने लगता है। इन तीनों नियमों को निम्न रेखा-चित्रों की सहायता से दिखाया जा सकता है :—

उत्पत्ति का प्रतिस्थापन नियम (The Law of Substitution in Production)—

उत्पत्ति का यह नियम उपभोग के प्रतिस्थापन नियम के ही समान होता

है। अन्तर केवल इतना होता है कि उपभोग में आय को उपभोग के विभिन्न शीर्षकों पर इस प्रकार बाँटा जाता है कि अधिकतम् सन्तोष प्राप्त किया जा सके। इसके विपरीत उत्पत्ति में कम से कम लागत पर उत्पत्ति करने के उद्देश्य से साधनों का सर्वोत्तम पारस्परिक अनुपात निश्चित किया जाता है। कम से कम लागत पर उत्पादन करने के उद्देश्य से उत्पादक के लिए बहुत बार यह आवश्यक होता है कि वह एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन का उपयोग करे। यदि श्रम का मूल्य पूँजी की अपेक्षा अधिक है तो श्रम के स्थान पर मशीन के रूप मे पूँजी का उपयोग किया जायगा। इसी प्रकार बहुत सी दशाओं में मशीन के स्थान पर श्रम का उपयोग अधिक लाभदायक होता है। बहुत बार एक प्रकार की मशीन के स्थान पर दूसरी प्रकार की मशीन तथा एक प्रकार के कच्चे माल के स्थान पर दूसरे प्रकार के कच्चे माल का उपयोग लाभप्रद होता है। लागत को कम करने के लिए इस प्रकार एक साधन के स्थान पर दूसरे का उपयोग आवश्यक हो जाता है।

अब हमे यह देखना है कि प्रतिस्थापन अर्थात् एक साधन के स्थान पर दूसरे का उपयोग क्यों और किस प्रकार किया जाता है? प्रतिस्थापन इस कारण सम्भव हो जाता है कि उत्पत्ति एक से अधिक साधनो का प्रतिफल होती है और इन साधनों के विभिन्न सयोगों से एकसा ही फल प्राप्त किया जा सकता है। प्रारम्भ में ही हम यह बता चुके है कि बहुत बार श्रम और पूँजी को ५० और ३ के अनुपात में उपयोग करने पर भी उतनी ही उपज मिल सकती है जितनी २० और ४ के अनुपात में उपयोग करने से मिलती है। प्रतिस्थापन का एक आवश्यक कारण यह होता है कि कुछ साधनों का मूल्य उनकी सीमान्त उपज के मूल्य से अधिक होता है, अर्थात् जितना इन साधनो पर व्यय किया जाता है, इनके उपयोग से उत्पत्ति में उससे भी कम वृद्धि होती है। ऐसे साधनो के उपयोग को कम कर देने से लाभ की सम्भावना अधिक हो जाती है।

परन्तु सभी दशाओं में प्रतिस्थापन सम्भव नहीं होता। उत्पत्ति की दो दशायें होती हैं:—प्रथम, जबकि उत्पत्ति के पारिभाषिक गुणक (Technical Co-efficients of Production) परिवर्तनीय (Variable) होते हैं और दूसरी, जबकि ये गुणक अपरिवर्तनीय (Fixed) होते हैं। स्मरण रहे कि केवल पहली दशा में प्रतिस्थापन सम्भव होता है। दूसरी दशा मे एक साधन का दूसरे के स्थान पर उपयोग करना लाभदायक नहीं हो सकता है। उदाहरणस्वरूप, यदि हम तीन टाइपराइटर, तीन टाइपपिस्ट, कागज और अन्य वस्तुओं को लें और देखें कि आठ घन्टे में १०० पृष्ठों की प्रतिलिपियां निकलती हैं। अब यदि हम टाइपराइटरों की मात्रा को यथास्थिर रख कर अन्य साधनो को बढ़ायें, अर्थात् तीन के स्थान पर चार टाइपिस्ट को लें तो क्या नक्ल किये हुए पृष्ठों की मात्रा में वृद्धि होगी? इसका उत्तर नहीं में ही होगा, क्योंकि

टाइपिस्ट को टाइपराइटर के स्थान पर उपयोग नही किया जा सकता है। चौथे टाइपिस्ट को बेकार ही रहना पड़ेगा। इस दशा मे उत्पत्ति के पारिभाषिक गुणक अपरिवर्तनीय है, परन्तु यदि चौथा टाइपिस्ट हाथ से नकल करता है तो एक अश तक वह टाइपराइटर के स्थान पर काम करेगा। उस दशा मे प्रतिस्थापन सम्भव है। अतः प्रतिस्थापन नियम के कार्यशील होने के लिये उत्पत्ति के पारिभाषिक गुणको का परिवर्तनीय होना आवश्यक है। कठिनाई यह है कि सभी दशाओं मे उत्पत्ति के पारिभाषिक गुणक परिवर्तनीय नही होते हैं। इसका अच्छा उदाहरण हमारे देश के सूती कपड़े के उद्योग में मिलता है। हमारे कारखाने लम्बे रेशे की रुई से कपड़ा बुनते हैं, जिसकी कीमत इस समय बहुत ऊँची है। साथ ही साथ, यह प्रचुर मात्रा मे भी नही मिलती है। छोटे रेशे की रुई के सस्ता होते हुये तथा पर्याप्त मात्रा मे मिलते हुये भी हमारे कारखाने उसका उपयोग नही कर सकते, क्योकि उनकी मशीनें ऐसी रुई से सूत नही कात सकती हैं।

प्रतिस्थापन किस प्रकार होता है?—

यद्यपि प्रत्येक दशा मे प्रतिस्थापन सम्भव नही होता फिर भी उत्पत्ति में प्रतिस्थापन प्रवृत्ति बडी प्रबल होती है और प्रत्येक उत्पादक अवसर मिलते ही कम लाभदायक साधन के स्थान पर अधिक लाभदायक साधन का उपयोग करने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक उत्पादक का उद्देश्य उत्पादन व्यय को कम करना होता है और ऐसा करने के लिये वह प्रत्येक साधन की सीमांत उपज की उसके मूल्य से तुलना करता है। जिस साधन का मूल्य उसकी सीमांत उपज के मूल्य से अधिक होता है उसके स्थान पर किसी ऐसे साधन का उपयोग करने से लाभ होता है, जिसका मूल्य उसकी सीमांत उपज के मूल्य से कम होता है। इस कारण कम उत्पादक साधन की मांग कम हो जाती है, जिससे उसका मूल्य गिर जाता है और अधिक उत्पादक साधन की मांग बढ जाती है, जिससे उसका मूल्य भी बढ जाता है। कम उत्पादक साधन के स्थान पर अधिक उत्पादक साधन का उपयोग उस समय तक होता रहेगा जब तक दोनो साधनों की सीमांत उत्पादकता (Marginal Productivity) उनके मूल्यो के बराबर नही हो जायगी, अतः हम इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रतिस्थापन नियम हमें यह बताता है कि कम से कम लागत पर उत्पत्ति करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न साधनो को ऐसे अनुपात मे उपयोग किया जाय कि प्रत्येक की सीमान्त उत्पादकता उसके मूल्य के बराबर हो। दूसरे शब्दो में, प्रतिस्थापन नियम निम्न प्रकार होता है:—

$$\frac{\text{साधन अ की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{अ का मूल्य}} = \frac{\text{साधन ब की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{ब का मूल्य}}$$

इस दशा को नीचे के रेखा-चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :—
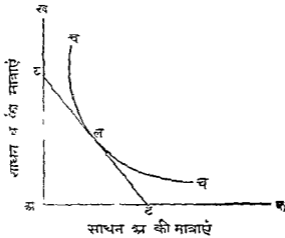
इस चित्र में च च वक्र समान उपज की वक्र रेखा है। इस वक्र रेखा का प्रत्येक बिन्दु अ और ब साधनों के एक ऐसे संयोगो (Combinations) को दिखाता है जिनमे से हर एक समान उपज प्रदान करता है। इस प्रकार च च वक्र इस सम्बन्ध को दिखाती है।

$$\frac{\text{साधन ब की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन अ की सीमान्त उत्पादकता}}$$

इसी प्रकार ट ट रेखा $\frac{\text{साधन ब का मूल्य}}{\text{साधन अ का मूल्य}}$ को दिखाती है। ल बिन्दु, जहाँ पर च च वक्र तथा ट ट रेखा मिलते हैं, निम्न दशा को सूचित करता है :—

$$\frac{\text{साधन अ की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन अ का मूल्य}} = \frac{\text{साधन ब की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन ब का मूल्य}}$$

एक उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि अ और ब साधनो की सीमान्त उपज का मूल्य तथा साधनों का अपना मूल्य निम्न प्रकार है :—

साधन	सीमान्त उपज का मूल्य	साधन का मूल्य
अ	३० रुपये	२० रुपये
ब	२० रुपये	४० रुपये

यह सन्तोषजनक दशा नहीं है, इसलिए उत्पादक ब के उपयोग को कम करके अ का अधिक उपयोग करेगा। ऐसा करने से अ की सीमान्त उत्पादकता घटती चली जायगी और ब की बढ़ती चली जायगी। प्रतिस्थापन उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि निम्न दशा उत्पन्न नहीं हो जायगी :—

साधन	सीमान्त उपज का मूल्य	साधन का मूल्य
अ	२० रुपये	२० रुपये
ब	४० रुपये	४० रुपये

केवल इसी दशा में प्रत्येक साधन का मूल्य उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होता है।

सीमान्त उत्पादकता का अर्थ—

प्रतिस्थापन नियम के सम्बन्ध में हमने अनेक बार सीमान्त उत्पादकता शब्द का उपयोग किया है, इसलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उत्पत्ति के साधन की सीमान्त उत्पादकता का अर्थ स्पष्ट कर दिया जाय। अन्य साधनों को यथास्थिर रख कर किसी एक साधन की मात्रा में एक इकाई की वृद्धि करने से कुल उपज में जितनी वृद्धि होती है वह उस साधन की सीमान्त उत्पादकता कहलाती है। उदाहरणार्थ, यदि अन्य साधनों के साथ १०० श्रमिकों का उपयोग किया जा रहा है और बाद में एक श्रमिक बढ़ा देने से कुल उपज में ३ इकाइयों की वृद्धि होती है तो श्रम की सीमान्त उत्पादकता उपज की तीन इकाइयों के मूल्य के बराबर होगी। दूसरे शब्दों में, सीमान्त उत्पादकता साधन की सीमान्त या अतिरिक्त (जो अन्तिम भी हो सकती है) इकाई द्वारा उत्पन्न की हुई उपज से सूचित होती है। प्रोफेसर हिक्स (*Hicks*) के अनुसार *सीमान्त उपज "उस वृद्धि को कहते हैं जो साम्य की दशा में किसी फर्म द्वारा उपयोग किये हुये साधनों की मात्रा में एक छोटी सी इकाई जोड़ने से प्राप्त होती है।"**

QUESTIONS

१. उत्पादन-क्रिया में जो भाग प्रकृति द्वारा सम्पादित होता है, वह उत्पादन के क्रमगत ह्रास नियम तथा जो भाग मनुष्य द्वारा सम्पादित होता है, वह उत्पादन के क्रमगत वृद्धि नियम के अनुकूल होता है। इस कथन की व्याख्या कीजिए।
(Agra. B A., 1958 S, 1955 ; Agra. B. Com., 1959 ; Bihar. B. A., 1958 ; Bihar. B. Com., 1959)

२. क्रमगत-उत्पत्ति-ह्रास-नियम की परिभाषा एवं स्पष्टीकरण रेखा-चित्र अथवा तालिकाओं के प्रयोग से कीजिए। यह कहना कहाँ तक उचित है कि यह सिद्धान्त उद्योग-धन्धों में प्रयुक्त नहीं होता है। (Agra. B. A., 1957)

3. "The operation of the law of diminishing returns is due to the scarcity of factors of production." Discuss.
(Agra. B. A., 1956)

---

* J. R. Hicks : *Value and Capital*, Chapter IV.

4. State and explain fully the Law of Diminishing Returns. Use diagram or table of figures to illustrate your answer. How far is the Law applicable to (a) Fisheries, (b) Mines and (c) Manufactures ? (Agra, B. A., 1951)

5. Show why if amount of one factor of production is kept fixed, the successive increases in the amounts of other factors will, after a point, yield diminishing returns. Illustrate your answer with examples. (Agra, B. Com., 1958)

6. An increase in the capital and labour applied in the cultivation of land causes, in general, a less than proportionate increase in the amount of produce raised, unless it happens to coincide with an improvement in the art of agriculture." (Marshall). Explain and comment on the above statement. (Agra, B. Com., 1955)

7. "As equal increments of one input are added, the inputs of other productive services being held constant, beyond a certain point the resulting increments of product will decrease, i e., the marginal products will diminish." (Stigler). Elaborate this statement and explain the condition under which the Law of Diminishing Returns operates. (Raj., B. A, 1955)

8. "As the proportion of one factor in a combination of factors is increased, after a time, the marginal and average product of the factor will diminish." (Benham). Explain and illustrate. (Raj., B A., 1954)

९. क्रमगत ह्रास नियम को स्पष्ट कीजिए और विवेचना कीजिए। इस नियम की क्रियाशीलता किस प्रकार स्थगित की जा सकती है ? (Alld., B. A., 1956)

10. "The law of diminishing returns states that with a fixed amount of any one factor of production successive increases in the amount of other factors will, after a point, yield a diminishing increment of product." Explain this law. (Alld, B. Com, 1953)

11. Explain the law of Diminishing Returns. What difference would it make if there were no tendency to diminishing returns in agriculture. (Vikram, B. Com., 1959)

१२. ह्रास उत्पत्ति नियम को समझाइये तथा उत्पादन में उसके महत्त्व की विवेचना कीजिए। (Sagar, B. Com, 1959 & 58)

१३. ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम को स्पष्ट रूप से समझाइये और बताइये कि इस नियम का कृषि तथा उद्योग-धन्धों में लागू होना क्यों अनिवार्य है ? (Sagar, B. A, 1957)

१४. क्रमगत-उत्पत्ति-ह्रास-नियम को भली भाँति समझाइये। मत्स्य एवं गृह निर्माण उद्योगों में इसका प्रयोग समझाइये। (Gorakhpur, B. A., 1958)

१५ वास्तव में उत्पादन का एक ही नियम है—"क्रमगत-उत्पादन-ह्रास-नियम" (Law of Diminishing Returns)। इस सिद्धान्त की यथार्थता का स्पष्टीकरण कीजिए। (Lucknow, B. A., 1956)

16. "The Law of Productivity is the Law of Variable Proportions. It presents the problem of balancing the different factors which have to be combined in production." Explain. (Agra, B. Com., 1957)

१७. 'अनुकूलतम् उत्पादन' की परिभाषा कीजिये। किसी उत्पत्ति की इकाई में किन परिस्थितियों में अनुकूलतम उत्पादन हो सकता है? (Alld., B. A., 1957, 52)

18. Write a note on the Law of Variable Proportions. (Delhi, B. A., 1956)

१९. क्रमगत-वृद्धि-नियम आलोचना सहित समझाइये। किन दशाओं में वह लागू होता है? (Alld., B. A., 1957)

अध्याय १७

भूमि

(Land)

भूमि का अर्थ—

अर्थशास्त्र के दूसरे शब्दों की भाँति भूमि की परिभाषा के सम्बन्ध मे भी भारी मतभेद है। एक पिछले अध्याय में यही बताया जा चुका है कि कालान्तर मे भूमि की परिभाषा बदलती गई है। सबसे पहले निर्बाधावादी अर्थशास्त्रियों ने इस शब्द का उपयोग किया है। उनके अनुसार भूमि में पृथ्वी की ऊपरी सतह, खनिज पदार्थ और इस प्रकार की दूसरी प्राकृतिक वस्तुएँ शामिल होती हैं। इन अर्थशास्त्रियों का विचार था कि प्रकृति की मनुष्य पर विशेष कृपा है। कृषि और खनिज उद्योग मे मनुष्य प्रकृति के साथ मिलकर काम करता है और प्रकृति की उदारता के कारण उसे उसके परिश्रम से अधिक पारितोषण मिल जाता है, जो प्रकृति का उपहार होता है। इस प्रकार भूमि प्रकृति के वे उपहार है जो प्रकृति की उदारता के कारण मनुष्य को मिलते हैं।

बाद के अर्थशास्त्रियों ने भूमि की इस परिभाषा को कुछ संशोधन के साथ स्वीकार किया है। रिकार्डो का विचार है कि प्रकृति मे उदारता नही है, बल्कि सीमितता अथवा सकीर्णता (Niggardliness) है, परन्तु फिर भी रिकार्डो ने भूमि को प्रकृति का स्वतन्त्र उपहार (Free gift of Nature) कहा है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इस परिभाषा के विरुद्ध आपत्ति की जा सकती है, क्योंकि यह कहा जाता है कि मानव उपभोग की कोई भी वस्तु ऐसी नही है जिसे बिना मूल्य के प्राप्त किया जा सकता हो। इसी कारण भूमि की परिभाषा को बदला गया। इस सम्बन्ध में मार्शल ने भूमि की परिभाषा निम्न प्रकार की है—"*भूमि से हमारा अभिप्राय केवल पृथ्वी की ऊपरी सतह से नहीं होता है, बल्कि उन सब पदार्थों और शक्तियों से कि जो प्रकृति मनुष्य को बिना मूल्य के उसकी सहायता के लिए देती है, जैसे—पृथ्वी, पानी, वायु, रोशनी, गर्मी इत्यादि।*"* इसी प्रकार का मत पेन्सन ने भी प्रकट किया है।

भूमि या इस प्रकार की कोई वस्तु मनुष्य को बिना मूल्य के तो नही मिलती है, परन्तु इस ससार में ऐसी अनेक वस्तुयें है जिन्हे मनुष्य ने अपने परिश्रम से नही उपजाया है। ऐसी वस्तुओं को भूमि कहा जा सकता है, अतएव भूमि मे उन सब वस्तुओ को सम्मिलित किया जाता है जिनके इस संसार मे होने के लिये मनुष्य किसी प्रकार भी उत्तरदायी नही है, जैसे—भूमि की सतह, खानें, जङ्गली वृक्ष, जङ्गली पशु-पक्षी, बादल, धूप, गर्मी इत्यादि।

इस सम्बन्ध में प्रो० महता का दृष्टिकोण सबसे अलग है। उनके विचार में उपरोक्त अर्थ में भूमि को उत्पत्ति का साधन नहीं कहा जा सकता है। प्रो० महता ने वीजर (Wieser) नामक आस्ट्रियन अर्थशास्त्री के दृष्टिकोण को अपनाया है। वीजर ने उत्पत्ति के साधनो को दो भागो मे बाँटा है—(१) परिमाणिक साधन (Specific Factors), (२) अपरिमाणिक साधन (Non-specific Factors)। पहली प्रकार के साधन वे होते हैं जिनका केवल एक ही उपयोग सम्भव होता है। दूसरी प्रकार के साधन बहु-उपयोगी हुआ करते है। प्रो० महता का विचार है कि केवल परिमाणिक साधनो को ही भूमि कहा जा सकता है। यह निश्चय है कि परिमाणिकता (Specificty) उत्पत्ति के सभी साधनो में हो सकती है। अल्प काल (Short Period) मे उत्पत्ति के किसी भी साधन के उपयोग को बदलना सम्भव नही होता है, जबकि दीर्घ काल (Long Period) में प्रत्येक साधन का उपयोग बदला जा सकता है। इस प्रकार भूमि केवल अल्पकाल में ही हो सकती है। प्रो० महता का विचार है कि उत्पत्ति के प्रत्येक साधन मे भूमि अंश (Land

---

* "By land is meant, not only land in the strict sense of the word, but whole of the materials and the forces which nature gives freely for man's aid, in land and water, in air and light and heat." —Marshall : *Economics of Industry*, p. 35.

Aspect) हो सकता है। इस प्रकार का साधन जब उत्पत्ति में अपनी सेवायें उपस्थित करता है तो उसे किसी प्रकार का त्याग नहीं करना पड़ता है। इस प्रकार "*उत्पत्ति का कोई साधन भूमि के रूप में तभी दृष्टिगोचर होता है, जबकि वह अपनी सेवायें बिना किसी त्याग अथवा व्यय के उपस्थित* करता है।"*

भूमि के लक्षण (Characteristics of Land)—

भूमि में कुछ ऐसी विशेषतायें होती हैं जो उत्पत्ति के अन्य साधनों में नहीं मिलती हैं। रिकार्डो (Ricardo) का विचार था कि भूमि की कुछ मूल और अविनाशी (Original and Indestructible) शक्तियाँ होती है, जो उसे उत्पत्ति के दूसरे साधनों से पृथक कर देती है। पुरानी विचारधारा के अनुसार भूमि की विशेषतायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) भूमि सीमित है—भूमि का सबसे प्रमुख लक्षण उसकी सीमितता बताया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि परिमाण और गुण दोनों ही के दृष्टिकोणों से भूमि सीमित है। भूमि की जितनी मात्रा मौजूद है उसमें हम कमी या वृद्धि नहीं कर सकते, क्योंकि प्राकृतिक कारण भूमि की मात्रा को सीमित करते हैं। ठीक इसी प्रकार किसी विशेष प्रकार की भूमि भी सीमित मात्रा में ही होती है। भूमि का यह लक्षण महत्त्वपूर्ण नहीं है। कारण यह है कि प्रकृति में सभी ओर सीमितता है। संसार में लगभग कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो असीमित मात्रा में हो। इस प्रकार यह गुण तो सभी वस्तुओं का है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि मनुष्य भूमि की मात्रा को घटा-बढ़ा नहीं सकता है। यह कहना भी गलत है। अनुभव बताता है कि भूमि की मात्रा में कमी भी की जा सकती है और वृद्धि भी। हॉलैंड के देश में समुद्र के पानी को सुखाकर खेती करने योग्य भूमि प्राप्त कर ली गई है। इसी प्रकार प्रस्तुत भूमि की मात्रा कम भी की जा सकती है। जब हम अपने मकान पर दूसरी मंजिल बनाते हैं तो तब भी एक प्रकार हम भूमि की मात्रा में वृद्धि ही करते हैं। इस प्रकार भूमि का यह लक्षण आधारभूत लक्षण नहीं है। जहाँ तक भूमि में गुणात्मक परिवर्तन करने का प्रश्न है, ऐसे परिवर्तन प्रायः प्रति दिन ही किए जाते हैं।

(२) भूमि का उत्पादन व्यय नहीं है—दूसरा लक्षण यह बताया जाता है कि भूमि तो बिना मूल्य का उपहार है। उसके लिए कोई उत्पादन व्यय नहीं होता है। वास्तविकता यह है कि भूमि की परिभाषा ही इस प्रकार की गई है कि उसका कोई उत्पादन व्यय नहीं होता है। भूमि का यह लक्षण लगभग सभी अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया है, परन्तु इस सम्बन्ध में कठिनाई यह है कि उत्पत्ति के कार्य के लिए उपयोग करने में मनुष्य को हर वस्तु के लिए व्यय करना पड़ता है। उत्पत्ति का कोई

---

* "A factor of production, therefore, appears in its land aspect when it is considered as rendering its service without any sacrifice or cost."—J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 224.

भी साधन निःशुल्क नही होता। यदि कोई वस्तु बिना मूल्य के प्राप्त होती है तो वह उत्पत्ति का साधन नही हो सकेगी।

(३) अक्षयता (Indestructibility)—यह भूमि का तीसरा गुण है। भूमि को अमर, अविनाशी और अनन्त कहा जाता है। रिकार्डो विशेष रूप से भूमि के इस गुण को बहुत महत्त्वपूर्ण समझते है। भली-भाँति देखने से पता चलता है कि यह गुण भी वास्तव मे केवल भूमि का ही गुण नही है। संसार मे लगभग किसी भी वस्तु का विनाश नही होता है, केवल उसका रूप बदला जा सकता है। अन्य वस्तुओं की भाँति भूमि के रूप और गुणों में भी परिवर्तन करना सम्भव होता है।

(४) विविधता (Variability)—यह कहा जाता है कि सारी की सारी भूमि एक जैसी नही होती है। अलग-अलग भूमि अलग-अलग कामो के लिए उपयुक्त होती है। सभी देशों के प्राकृतिक साधन भी एक जैसे नही होते हैं। कही खानें होती है तो कही उपजाऊ भूमि और इसी प्रकार अलग-अलग देश अलग अलग वस्तुओं के उत्पादन के लिए अधिक उपयुक्त होते है। भूमि का यह गुण भी बहुत महत्त्वपूर्ण नही कहा जा सकता है। विविधता का गुण ससार की सभी वस्तुओ मे पाया जाता है। इस आधार पर भूमि और उत्पत्ति के दूसरे साधनों के बीच कोई भेद नही किया जा सकता है।

(५) स्थिरता (Stability)—भूमि स्थिर है। भूमि नाम की वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जाया जा सकता है। हमारी नदियाँ और पहाड़ अपने अपने स्थान पर दृढ है। एक स्थान की जलवायु को दूसरे स्थान पर नही ले जाया जा सकता और ठीक इसी प्रकार एक देश की खानें दूसरे देश में नही जा सकती है। स्मरण रहे कि जब किसी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है तो वह भूमि नही रहती है, क्योकि उसमे मनुष्य का परिश्रम सम्मिलित हो जाता है। प्रो० महता की परिभाषा के अनुसार भूमि का उपयोग भी स्थिर होता है। उपयोग के बदलते ही एक वस्तु भूमि नही रह पाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भूमि में परिमाणिकता का गुण है।

(६) निष्क्रियता (Passiveness)—भूमि उत्पत्ति का निष्क्रिय (Passive) साधन है। उत्पत्ति के दो प्रमुख साधन होते है, अर्थात् भूमि और श्रम। *इन दोनो मे से केवल श्रम ही सक्रिय (Active) होता है। भूमि अपने आप उत्पत्ति* के कार्य मे भाग नही ले सकती है, उसका उपयोग दूसरो की सहायता से किया जा सकता है।

(७) भूमि के महत्त्व पर उसकी स्थिति का प्रभाव पडता है—भूमि का मूल्य कितना होगा, यह अधिकतर इस बात पर निर्भर होता है कि वह भूमि कहाँ स्थित है? एक सी ही भूमि, एक सी ही खानो अथवा एक से ही जंगलो का मूल्य उनकी स्थिति के अनुसार अलग-अलग होता है।

भूमि की उत्पादकता (The Productivity of Land)—

भूमि की कुशलता उसकी उत्पादकता पर निर्भर होती है। उत्पत्ति के सभी साधनों में भूमि का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है, इसलिए भूमि की उत्पादकता का कुल उत्पत्ति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। उत्पादकता के दो अर्थ लगाये जा सकते हैं—(१) निरपेक्ष अर्थ (Absolute Sense) और (२) सापेक्ष अर्थ (Relative Sense)। उत्पादकता शब्द को अधिकतर सापेक्ष अर्थ में ही उपयोग किया जाता है। इस अर्थ में हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि भूमि के एक टुकड़े की उत्पादकता दूसरे टुकड़े की तुलना में किस प्रकार है? जो टुकड़ा उपयोग करने वाले को अधिक लाभ पहुंचाता है वह अधिक उत्पादक कहलाता है और इसके विपरीत कम उत्पत्ति प्रदान करने वाली भूमि की उत्पादकता कम होती है। भूमि की उत्पादकता साधारणतया चार बातों पर निर्भर होती है:—(१) भूमि के गुण, अर्थात् इस बात पर कि भूमि उपजाऊ है या नहीं, उत्तम प्रकार की है या नीची किस्म की और उसकी बनावट कैसी है? (२) भूमि की क्षय पूर्ति अथवा सुधार की दशा, अर्थात् इस बात पर कि भूमि पर किस अंश तक सुधार किया गया है। अच्छे खाद, अच्छे बीज और अच्छी सिंचाई के द्वारा कृषि भूमि की उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है। (३) भूमि की स्थिति, जितनी ही भूमि की स्थिति अनुकूल होगी उतनी ही उत्पादकता भी अधिक होगी। (४) भूमि का उपयोग, अर्थात् भूमि किस काम में लाई जा रही है? कुछ उपयोगों में उत्पादकता अधिक होती है और कुछ में कम।

विस्तृत और गहन कृषि (Extensive and Intensive Cultivation)—

कृषि की उपज को बढ़ाने की दो रीतियाँ होती हैं। या तो कृषि की जाने वाली भूमि की मात्रा बढ़ा कर अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है या वर्तमान खेतों पर अच्छे खादों, अच्छे बीजों और इस प्रकार के दूसरे सुधार करके उपज बढ़ाई जा सकती है। पहले प्रकार की खेती को विस्तृत खेती कहा जाता है और दूसरे प्रकार की खेती गहन खेती होती है। संसार में दोनों ही प्रकार की खेती पाई जाती है, परन्तु संसार में जन संख्या के बढ़ते रहने के कारण गहन खेती का महत्त्व बराबर बढ़ता जा रहा है। *जब भूमि अधिक मात्रा में होती है और जन-संख्या थोड़ी होती है तो विस्तृत खेती अपनाई जाती है।* आरम्भ में अमरीका और आस्ट्रेलिया के उपनिवेशों में विस्तृत खेती का ही बोलबाला था। यूरोप के अधिकांश देशों में, जहाँ जन-संख्या का घनत्व अधिक है, गहन खेती का अधिक प्रचलन है।

यह कहना कठिन है कि किस प्रकार की खेती अधिक अच्छी है। अधिकांश देशों में दोनों प्रकार की खेतियाँ एक ही साथ चलती रहती हैं। कुछ दिनों तक तो दोनों का महत्त्व बराबर ही रहता है, परन्तु आगे चल कर गहन खेती का महत्त्व बढ़ जाता है, क्योंकि अन्त में कृषि योग्य भूमि की कमी अनुभव होने लगती है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने विस्तृत खेती की कड़ी निन्दा की है। उनका विचार है कि ऐसी खेती

अपव्ययी होती है, क्योंकि उसमें भूमि का दुरुपयोग होता है। गहन खेती भूमि के उपयोग में मितव्ययिता लाती है। गहन खेती अधिकतर दो बातों पर निर्भर होती है—(१) जन-संख्या की अधिकता और (२) शिल्प ज्ञान का विकास। जैसे-जैसे ये दोनों बातें बढती जाती हैं, गहन खेती अधिक लोकप्रिय होती चली जाती है। यूरोप के देशो मे इसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण यही है। भारत में भी धीरे-धीरे इसी प्रकार की खेती का प्रचलन बढ रहा है।

क्या भूमि उत्पत्ति का एक साधन है ?—

आधुनिक अर्थशास्त्र मे यह विषय विवाद-ग्रस्त (Controversial) है कि क्या भूमि को उत्पत्ति का एक स्वतन्त्र साधन माना जाये। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, फिजयोक्रेट्स (Physiocrats) और उनके बाद प्रतिष्ठित (Classical) अर्थशास्त्रियो ने भूमि को बहुत महत्त्व दिया है। फिजियोक्रेट्स के अनुसार केवल भूमि पर खेती करना ही उत्पादक कार्य था। एडम स्मिथ तथा उनके बाद के आर्थिक लेखकों ने यद्यपि केवल कृषि सम्बन्धी कार्यों को ही उत्पादक नहीं माना है, परन्तु फिर भी उन्होने भूमि को उत्पादन कार्य मे विशेष स्थान दिया है। कुछ थोडे से अर्थशास्त्रियों को छोडकर मार्शल के समय तक लगभग इसी प्रकार की विचारधारा रही है। मार्शल ने स्वय भी प्रतिष्ठित परम्परा ही का अनुकरण किया, यद्यपि एक अश तक उन्होने इस परम्परा को तोडने का भी प्रयत्न किया। मार्शल का अर्थशास्त्र मे विशेष महत्त्व इसलिये है कि वे प्रतिष्ठित और आधुनिक अर्थशास्त्र के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का काम करते हैं। हाल ही मे भूमि शब्द की परिभाषा तथा भूमि को उत्पत्ति का एक साधन मानने के विषय मे अधिक वाद-विवाद रहा है। श्रीमती जान रोबिन्सन (Mrs. Joan Robinson), प्रोफेसर महता तथा आधुनिक युग के अनेक अन्य अर्थशास्त्रियों का मत है भूमि के विषय मे अधिकांश पुराने विचार ठीक नही है।* लगभग सभी पुराने लेखको ने भूमि को प्रकृति का बिना व्यय उपहार (Free gift of Nature) माना है और इसी के अनुसार उसके गुण और महत्त्व की व्याख्या की है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, रिकार्डो (Ricardo) के लगान सिद्धान्त (Theory of Rent) का भी यही आधार है। रिकार्डो का विचार है कि भूमि मे कुछ मूल और अविनाशी गुण है, जिनके कारण वह उत्पत्ति के दूसरे साधनो से भिन्न है। परन्तु अपने मूल्य के सिद्धान्त में रिकार्डो ने भूमि को कोई महत्त्व नही दिया है। वे मूल्य के श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) के अनुयायी थे, जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी उत्पत्ति पर व्यय किये हुए श्रम द्वारा निश्चित किया जाता है। इस प्रकार मूल्य के निर्धारण में भूमि का कुछ भी हाथ नही होता है। प्रसिद्ध साम्यवादी लेखक कार्ल मार्क्स (Karl Marx) तथा लगभग सभी समाजवादी लेखको ने भी इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। इस प्रकार भूमि के स्थान पर

* Mrs. Joan Robinson : *Economics of Imperfect Competition*, pp. 102-103 and J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory*, p 224.

श्रम को उत्पत्ति का मुख्य साधन मानने की प्रथा बढ़ती ही चली आई है। इसके साथ-साथ भूमि की परिभाषा का स्पष्टीकरण भी बराबर होता चला आया है। जब मार्शल ने इस प्रकार पूँजी और भूमि मे भेद किया कि "वे भौतिक वस्तुएँ जिनकी उपयोगिता (Usefulness) मानव परिश्रम से उत्पन्न हुई है, पूँजी कहलानी चाहिए तथा वे जिनकी उपयोगिता का इससे कोई सम्बन्ध नही है, भूमि हैं,"* तो इस प्रकार वे आधुनिक विचारधारा के बहुत समीप पहुँच गये थे। परन्तु पुरानी परम्परा को निभाने के नाते मार्शल ने भूमि के लगभग वही लक्षण बताये जो प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने बताये थे।

आधुनिक युग में भूमि सम्बन्धी इस पुराने विचार की कि वह प्रकृति की बिना मूल्य की देन है, कड़ी आलोचना की गई है। यह कहा जाता है कि मनुष्य को कोई भी वस्तु बिना व्यय के नही मिलती है। यदि किसी वस्तु के प्राप्त करने मे द्रव्य व्यय (Money Cost) नही भी होता तो अवसर व्यय (Opportunity Cost) अवश्य होता है। उदाहरणस्वरूप, यदि किसी जङ्गल मे कोई सुन्दर झरना है, जो प्रकृति की देन है तो क्या इस झरने द्वारा आवश्यकता की सन्तुष्टि बिना व्यय के हो जाती है। झरने तक पहुँचने के लिए व्यय करना पड़ता है और इसके अतिरिक्त जितना समय झरने का उपभोग करने पर व्यय किया जाता है, इसका भी मूल्य होता है। उतने समय मे कोई दूसरा कार्य किया जा सकता है। इस प्रकार झरने का आनन्द प्राप्त करने मे अवसर व्यय होता है। ठीक इसी प्रकार यद्यपि नदियाँ, झील, इत्यादि मनुष्य के परिश्रम बिना इस संसार मे विद्यमान है, पर क्या वह मनुष्य को बिना व्यय के प्राप्त हो जाती हैं? बनावटी झीलो पर भले ही अधिक व्यय होता हो, परन्तु कुछ न कुछ व्यय प्राकृतिक झीलो के उपभोग पर भी अवश्य करना पड़ता है। अतः पता चला कि बिना व्यय की प्राकृतिक वस्तु कोई भी नही है और इस अर्थ में भूमि का अस्तित्व ही नही है। इसलिए भूमि की इस प्रकार परिभाषा करना उचित न होगा।

इस विषय मे यह भी कहा जा सकता है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि मनुष्य को बिना व्यय के कोई भी वस्तु नही मिलती तो इससे यह सिद्ध नही हो जाता कि संसार मे ऐसी वस्तुएँ नही हैं, जिनके निर्माण मे मनुष्य का कुछ भी हाथ न हो। जगल मे उगने वाले पेड़ और प्राकृतिक झीलें मनुष्य के परिश्रम द्वारा किसी प्रकार भी नही बने है। क्या इनको भूमि कहना ठीक नही होगा? इस प्रश्न के उत्तर मे केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इन वस्तुओ को भूमि मान लेने से कोई विशेष लाभ नही होता है। अपनी प्राकृतिक दशा मे जगली पेड़ और झीलें उत्पादन कार्य मे तनिक भी सहायक नही हैं, अतः उन्हे उत्पत्ति के साधन नही माना जा सकता है।

प्रसिद्ध आस्ट्रियन अर्थशास्त्री वीजर (Wieser) ने उत्पत्ति के साधनो को दो भागो मे विभाजित किया है—परिमाणिक (Specific) तथा अपरिमाणिक (Non-specific)। पहली प्रकार के उत्पत्ति के साधन वे हैं जिनका केवल एक ही उपयोग

* Marshall : *Principles of Economics*, p. 144.

सम्भव है। दूसरी प्रकार के साधनों के एक से अधिक उपयोग हो सकते हैं। साधारणतया ऐसी कोई भी वस्तु इस संसार में ऐसी नहीं है जिसका केवल एक ही उपयोग होता हो, परन्तु यदि समय या काल का ध्यान रखा जाय, जैसा कि लगान के सिद्धान्त की विवेचना में बताया जायगा, तो अल्पकाल (Short period) में लगभग सभी साधन परिमाणिक होते हैं और कुछ साधन तो आभास-दीर्घ काल (Quasi-long period) में भी इसी प्रकार के होते हैं। *श्रीमती जोन रोबिन्सन ने प्रोफेसर महता का अनुकरण करते हुए बताया है कि केवल परिमाणिक साधन ही भूमि कहलाते हैं और इस प्रकार के साधन अल्प तथा आभास-दीर्घ काल में ही विद्यमान रहते हैं, दीर्घ काल में नहीं। ऐसे साधन भी निसन्देह उत्पत्ति में सहायक होते हैं और उन्हें उत्पत्ति के साधन कहना उचित ही है।** ऐसे साधनों को भूमि कहा जा सकता है।

QUESTIONS

१. कृषि भूमि की उत्पादन क्षमता किन-किन बातों से प्रभावित होती है ? ये बातें भारतवर्ष में कहाँ तक पाई जाती हैं ? (Agra, B. A. 1958 S)

2. Give a suitable definition of land and explain its main characteristics. Discuss the factors affecting the productivity of land. (Raj., B. A., 1959)

3. What is meant by the term "Land" in Economics? What are its characteristics? Discuss the factors governing its productivity. (Agra, B. Com., 1959 S)

४. भूमि के क्लासिकल और आधुनिक सिद्धान्त के भेद को बताइये। क्या आप भूमि को उत्पादन का साधन समझते हैं ? (Alld., B. A., 1957)

5. Define Land and Labour and show what part they play in production. (Alld., B. A, 1955)

---

* Joan Robinson : *Economics of Imperfect Competition*, A Digression on Rent, also J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 224.

अध्याय १८

श्रम

(Labour)

श्रम की परिभाषा (The Definition of Labour)—

श्रम शब्द से साधारण बोल-चाल में सभी परिचित हैं। हाथ से काम करने वाले अनिपुण मजदूरों के परिश्रम को साधारणतया श्रम कहा जाता है। परन्तु यह श्रम का बड़ा ही संकुचित अर्थ है। अर्थशास्त्र में यह शब्द अधिक व्यापक अर्थ में उपयोग किया जाता है। यहां उस सभी मानव परिश्रम को (चाहे वह शारीरिक हो अथवा मानसिक) जो उत्पत्ति करने के उद्देश्य से किया गया है, श्रम कहा जाता है। इसमें निपुण और अनिपुण, औद्योगिक और कृषक, शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार के परिश्रम को सम्मिलित किया जाता है। टामस के अनुसार—*"सभी प्रकार का मानव श्रम, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, जो किसी पारितोषण की आशा पर किया गया है, श्रम कहलाता है।"*[1] इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सभी प्रकार का मानव परिश्रम श्रम में सम्मिलित होता है, परन्तु यह आवश्यक है कि यह परिश्रम उत्पत्ति करने के उद्देश्य से अथवा किसी लाभ की आशा से किया गया हो। यदि कोई व्यक्ति बिना किसी आर्थिक लाभ की आशा के ही काम करता है तो उसके परिश्रम को श्रम नहीं कहा जायगा। जो कार्य केवल इसलिए किया जाता है कि कार्य करता स्वयं आनन्द देता है उसे श्रम में सम्मिलित नहीं किया जाता है। जेवन्स के अनुसार श्रम *"मस्तिष्क अथवा शरीर का वह परिश्रम है जो पूर्णतया अथवा आंशिक रूप में उस आनन्द के उद्देश्य के अतिरिक्त, जो कि काम से प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त होता है, किसी दूसरे ही उद्देश्य से किया जाता है।"*[2] इस प्रकार श्रम में समाज के ऊँचे से ऊँचे अथवा प्रतिष्ठित व्यक्ति से लेकर नीचे से नीचे व्यक्ति, सभी के परिश्रम को सम्मिलित किया जाता है। एक न्यायाधीश का कार्य उसी प्रकार श्रम है जैसे कि एक मेहतर का कार्य। प्रो० निकलसन ने श्रम की व्याख्या करते हुए लिखा है—"श्रम शब्द में हमें प्रत्येक प्रकार की ऊँची से ऊँची व्यावसायिक निपुणता और अनिपुण

---

1. "Labour connotes all human effort, of body or mind, which is undertaken in the expectation of reward."—Thomas

2. "......any exertion of mind or body undertaken partly or wholly with a view to some good other than the pleasure derived directly from the work."—Jevons *quoted by* Marshall: *Principles of Economics*, p. 65.

श्रमिकों तथा कारीगरों के परिश्रम को सम्मिलित करना पड़ता है। हमें न केवल उन व्यक्तियों के परिश्रम को सम्मिलित करना चाहिए जो व्यवसायों में लगे हुए हैं, बल्कि उन व्यक्तियों के परिश्रम को भी सम्मिलित करना चाहिए जो शिक्षा, ललित कलाओं, साहित्य, विज्ञान, न्याय—शासन और अनेक प्रकार की सरकारी सेवाओं में लगे हैं और हमें केवल उसी परिश्रम को ही सम्मिलित नहीं करना चाहिए जिसके फलस्वरूप कोई स्थाई उत्पत्ति होती है बल्कि उन सेवाओं को भी सम्मिलित करना चाहिए जिनका सम्पन्न करते हो विनाश हो जाता है।"*

इन परिभाषाओं से श्रम की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का पता चलता है, जिनको ध्यान में रखना आवश्यक है। प्रथम श्रम में केवल मनुष्य के परिश्रम को सम्मिलित किया जाता है। पशु और मशीनें भी परिश्रम करते हैं, परन्तु उसे अर्थशास्त्र में श्रम नहीं कहा जाता है। दूसरे, सभी प्रकार के मानव परिश्रम को श्रम कहा जाता है, चाहे उसका सम्बन्ध शरीर से हो या मस्तिष्क से और चाहे उसके फलस्वरूप किसी मूर्त वस्तु का निर्माण हो अथवा अमूर्त सेवा का। तीसरे, सभी प्रकार का मानव परिश्रम श्रम नहीं कहलाता है। यह आवश्यक है कि इस परिश्रम का उद्देश्य आर्थिक अथवा लाभ की आशा हो। इस आधार पर हम श्रम को वह मानव परिश्रम कह सकते हैं जो उत्पत्ति करने के उद्देश्य से किया गया हो। इस विषय में यह जानना आवश्यक है कि वास्तव में उत्पत्ति का होना भी आवश्यक नहीं है। इतना ही पर्याप्त है कि उद्देश्य उत्पत्ति करना होना चाहिये। बहुत बार हमारा परिश्रम निष्फल जाता है, यद्यपि हम उसे सफल बनाना चाहते थे। ऐसा परिश्रम भी आर्थिक अर्थ में श्रम ही होगा। एक वैज्ञानिक किसी नये आविष्कार के लिये वर्षों प्रयत्न करने पर भी असफल रह सकता है। उसका परिश्रम भी, यद्यपि वह अनुत्पादक है, श्रम ही कहा जायगा।

उत्पादक और अनुत्पादक श्रम (Productive and Unproductive Labour)—

अधिक लम्बे काल से अर्थशास्त्री उत्पादक और अनुत्पादक श्रम में भेद करते आये हैं। आरम्भ में 'उत्पादक' शब्द के संकुचित अर्थ लगाये गये थे। निर्बाधावादी अर्थशास्त्रियों (Physiocrats) का विचार था कि केवल वही श्रम उत्पादक है जो उन उत्पादक कार्यों में लगा हुआ है जहाँ प्रकृति मनुष्य के कार्य में सहायक है। उनके विचार में केवल कृषि और खनिज उद्योग ही उत्पादक कार्य थे। व्यापार और निर्माण

* "The term labour must be held to include the very highest professional skill of all kinds, as well as the labour of unskilled workers and artisans : we must include not only the labour of those engaged in business in the ordinary sense of the term but that of those employed in education, in fine arts, in literature, in science, in the administration of justice and in government in all its branches, and we must include also not only the labour that results in the permanent form but also that renders service which perishes in the act."—Nicholson.

उद्योगों में मनुष्य प्रकृति से अलग रहता है, इसलिये कृषि, खान उद्योग तथा मछली उद्योग के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में लगा हुआ श्रम अनुत्पादक है। बात यह थी कि निर्बाधावादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार कृषि आदि उद्योगों में प्रकृति की सहायता और दयालुता के कारण मानव प्रयत्न से अधिक उत्पत्ति होती थी, जबकि अन्य उद्योगों में ऐसी बात नहीं थी।

एडम स्मिथ ने इस विचार में थोड़ा संशोधन किया। उनके विचार में कृषि और निर्माण उद्योग दोनों में लगे हुये श्रमिक उत्पादक थे। स्मिथ का विचार था कि वह श्रम जिसके द्वारा किसी मूर्त (Tangible) वस्तु का निर्माण होता है, उत्पादक श्रम है, परन्तु जिस श्रम के फलस्वरूप अमूर्त वस्तुयें (Immaterial Commodities) उत्पन्न होती है, वह अनुत्पादक होता है। इस प्रकार अन्न, वस्त्र, मेज, इत्यादि उत्पन्न करने वाले श्रमिकों का श्रम उत्पादक होगा, परन्तु एक वकील, डाक्टर अथवा अध्यापक का श्रम अनुत्पादक होगा, क्योंकि उसके फलस्वरूप अमूर्त सेवायें उत्पन्न होती हैं। अनुत्पादक श्रम की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—"इसी प्रकार हमें कुछ बहुत ही गम्भीर और महत्त्वपूर्ण तथा निम्न श्रेणी के व्यवसायों में लगे हुये व्यक्तियों को भी अनुत्पादक श्रमिकों में सम्मिलित करना होगा, जैसे—पुजारी, वकील, डाक्टर, साहित्यकार, घरेलू नौकर, खिलाड़ी, गायक तथा नाचने वाले।"*

आधुनिक अर्थशास्त्री निर्बाधावादी अर्थशास्त्रियों और एडम स्मिथ के विचारों से सहमत नहीं हैं। उत्पत्ति का अर्थ किसी वस्तु की उपयोगिता में वृद्धि करने से होता है। यह उपयोगिता की वृद्धि किसी मूर्त वस्तु में भी हो सकती है और अमूर्त वस्तु में भी। दोनों ही दशाओं में यह उत्पत्ति कहलायेगी और जिस श्रम के फलस्वरूप यह सम्भव हुई है उसे उत्पादक श्रम ही कहा जायगा। अनुत्पादक श्रम तो वह श्रम होगा जो उपयोगिता में किसी भी प्रकार की वृद्धि नहीं कर सकता है, अर्थात् जो नष्ट हो जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक व्यक्ति वर्षों के परिश्रम से एक मशीन बनाता है, जो चलते ही टूट जाती है तो उसका श्रम अनुत्पादक ही कहलायेगा। टॉज़िग ने ठीक ही कहा है कि "क्योंकि उत्पत्ति की प्रमुख विशेषता यही है कि उससे सन्तोष और उपयोगिता प्राप्त होती है, इसलिए कोई भी श्रम, जिसके फलस्वरूप उपयोगिता प्राप्त होती है, उत्पादक श्रम होगा।" इस प्रकार टॉज़िग के अनुसार, किसान, उद्योगपति, वकील, डाक्टर, व्यापारी और गायक सभी का श्रम उत्पादक है। टॉज़िग के अनुसार, चोर, ठग तथा समाज शोषक (Parasites), जो स्वयं कुछ नहीं करते, बल्कि दूसरों के परिश्रम पर निर्भर रहते हैं, अनुत्पादक श्रमिक हैं।

* ".....in the same class of unproductive labourers must be ranked some both of the gravest and most important and some of the most frivolous professions: churchmen, lawyers, physicians, men of letters of all kinds, domestic servants, players, buffoons, musicians, opera singers, opera dancers."—Adam Smith.

इसी प्रकार का विचार मार्शल का भी है। उनके विचार में सभी प्रकार का श्रम उत्पादक है, केवल वह श्रम उत्पादक नहीं होगा जो उस उद्देश्य को पूरा नहीं कर पाता है, जिसके लिए वह किया गया था, अर्थात् जो उपयोगिता की वृद्धि करने में असमर्थ रहता है। इस प्रकार केवल वह श्रम अनुत्पादक है जो उत्पत्ति करने के उद्देश्य से तो किया गया था, परन्तु जिसके फलस्वरूप उत्पत्ति नहीं हो पाती है।

श्रम की विशेषतायें (The Peculiarities of Labour)—2

एक वस्तु के रूप में श्रम की कुछ विशेषतायें होती हैं, जो उसे दूसरे उत्पत्ति के साधन से पृथक कर देती है। श्रम की इन विशेषताओं का श्रम के पारितोषण (Remuneration) अथवा मजदूरी पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, इसलिए इन विशेषताओं का समझ लेना उपयुक्त होगा। प्रमुख विशेषतायें निम्न प्रकार हैं:—

(१) *श्रम को श्रमिक से पृथक नहीं किया जा सकता है।* श्रम और श्रमिक दोनों साथ साथ चलते है। श्रम को उसका खरीदने वाला अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी स्थान पर नही ले जा सकता है। कारण यह है कि श्रम के साथ-साथ श्रमिक भी जाता है। इसलिए श्रमिक पर कार्य की प्रकृति, मालिक के व्यवहार और कार्य में मिलने वाले पारितोषण का अधिक प्रभाव पड़ता है। साथ ही साथ, श्रम की इस विशेषता के कारण श्रम की गतिशीलता में भी भारी कमी आ जाती है। यह सम्भव होता है कि किसी स्थान पर मजदूरी अधिक होते हुए भी श्रमिक वहाँ न जाय।

(२) *श्रम एक शीघ्र नाशवान सेवा है (Labour is a highly perishable service)।* श्रम का संचय करके रखना सम्भव नही है। संसार में लगभग सभी वस्तुओं को कुछ न कुछ समय तक संचय करके रखा जा सकता है, परन्तु श्रम इतनी जल्दी नष्ट हो जाता है कि उसके संचय करने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यदि हम एक दिन काम नही करते है तो एक दिन का हमारा श्रम सदा के लिए समाप्त हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि श्रमिक अपना श्रम बेचने के लिए उत्सुक रहता है। उसके लिए प्रतीक्षा करना सम्भव नहीं होता है। यदि वह एक दिन काम नही करता है तो उस दिन का श्रम सदा के लिए नष्ट हो जाता है। श्रमिक अपने श्रम को जिस कीमत पर भी हो सके, बेचने का प्रयत्न करेगा। सेवायोजक (Employer) श्रम की इस विशेषता का लाभ उठा सकता है और श्रमिक को कम मजदूरी देने का प्रयत्न करता है। इसका श्रमिक के जीवन स्तर पर बुरा प्रभाव पड़ता है और मजदूरों की सौदा करने की शक्ति (Bargaining Power) मालिक की तुलना मे कम रहती है।

(३) *श्रम की पूर्ति धीरे-धीरे बढ़ती है।* श्रम की पूर्ति दो बातों पर निर्भर होती है। मात्रा के दृष्टिकोण से तो यह जन-संख्या के आकार पर निर्भर होती है और गुणात्मक दृष्टिकोण से (Qualitatively) यह श्रम की कार्य-कुशलता (Effi-

ciency of Labour) पर निर्भर होती है । जन-संख्या में परिवर्तन धीरे-धीरे होते हैं और ठीक इसी प्रकार कार्य-कुशलता भी धीरे-धीरे ही घटती-बढ़ती है । साधारणतया *श्रम की पूर्ति को बहुत वेग के साथ नहीं बढ़ाया जा सकता है । यदि पूर्ति को तेजी के* साथ बढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है । तो इसके दो ही उपाय होते हैं—या तो कार्यशील जन-संख्या (Working Population) की संख्या बढाई जाती है, अर्थात् कुल *जन-संख्या के अधिक बड़े भाग को काम पर लगाया जाता है* अथवा प्रशिक्षण (Training) की सहायता से तेजी के साथ श्रमिकों की कार्य-कुशलता बढाई जाती है । श्रम की पूर्ति को एक दम कम कर देना भी सम्भव नहीं होता है । जन सख्या *केवल धीरे-धीरे ही घटाई जा सकती है और ठीक इसी प्रकार श्रमिकों की कार्य-कुश*लता भी धीरे-धीरे घटती-बढती है । पूर्ति में तेजी के साथ परिवर्तन न होने का एक कारण यह भी है कि श्रमिक की गतिशीलता (Mobility) कम रहती है ।

(४) *श्रमिक अपना श्रम अथवा अपनी सेवा बेचता है, परन्तु स्वयं अपने गुणों का स्वामी बना रहता है ।* श्रम को खरीदने वाला व्यक्ति श्रमिक को नहीं खरीद सकता है । श्रमिक स्वय अपनी कार्य-कुशलता का स्वामी बना रहता है । अन्य वस्तुओं की भाँति श्रम के उत्पन्न करने की लागत एक दम वसूल नहीं हो जाती है । वह धीरे-*धीरे प्राप्त होती है । परिणाम यह होता है कि श्रमिक की शिक्षा और उसके शिक्षण पर* जो कुछ व्यय किया जाता है वह सदा के लिए उसमे लग जाता है और उसका फल व्यय करने वाले को बहुत ही कम मात्रा मे प्राप्त होता है । पुराने काल मे जबकि दासता की *प्रथा थी तो श्रम और श्रमिक दोनो पर मालिक का अधिकार रहता था तब शायद यह* सम्भव था, परन्तु अब तो मालिक को यह भय बना रहता है कि अधिक निपुण हो जाने पर श्रामक अधिक मजदूरी माँगेगा अथवा काम छोड़ कर दूसरे स्थान पर चला *जायगा । इस विशेषता का परिणाम यह होता है कि* सेवायोजक श्रमिको की कार्य-कुशलता को बढाने की ओर कम ध्यान देता है । एक श्रमिक की कार्य-कुशलता बड़े अश तक उसके माता-पिता की सम्पन्नता और दूरदर्शिता पर निर्भर होती है । समझदार *माँ बाप अपने बच्चो को अच्छी शिक्षा और शिक्षण देकर उन्हे* अधिक निपुण और अधिक कार्य कुशल श्रमिक बना देते हैं, जिससे जीवन भर वे अच्छे काम तथा अच्छे वेतन पाते हैं और उन्नति करते रहते हैं ।

(५) *श्रमिक की सौदा करने की शक्ति (Bargaining Power) सेवायोजक की तुलना मे कम होती है ।* इसका एक कारण तो यह है कि क्योंकि श्रम एक अति शीघ्र नाशवान वस्तु है, इससे श्रमिक को अपना श्रम तुरन्त बेचने पर बाध्य होना पडता है । वह श्रम का संचय करके उसकी पूर्ति को नहीं घटा सकता है । दूसरे, सेवायोजक की तुलना मे श्रमिक की आर्थिक स्थिति अधिक कमजोर होती है, जिसका प्रमुख कारण श्रमिक की निर्धनता होती है । तीसरे, संगठन की कमी, अशिक्षितता आदि के कारण श्रमिक का पक्ष निर्बल होता है । अन्त में, रोजगार पर

सेवायोजक का अधिकार रहता है। वह उसे घटा-बढ़ा कर श्रमिकों की माँग और मजदूरी में परिवर्तन कर सकता है।

(६) *श्रम उत्पत्ति का सक्रिय (Active) साधन है।* भूमि, पूँजी और साहस सभी निष्क्रिय (Passive) साधन होते हैं। वे स्वयं काम को प्रारम्भ नहीं कर सकते हैं। सभी साधनों को श्रम द्वारा काम पर लगाया जाता है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति श्रम को लगाकर अथवा बेचकर ही आय प्राप्त कर सकता है, जिससे कि वह अपनी जीविका चला सके। बिना श्रम के किसी भी प्रकार की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती है, अपनी सक्रियता के कारण यह साधन दूसरे साधनों का उपयोग करके उत्पत्ति करने की अनुकूल दशाएँ उत्पन्न कर देता है। इस दृष्टिकोण से श्रम उत्पत्ति का *सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है।*

(७) *श्रमिक एक ही साथ उत्पादक और उपभोक्ता दोनों होता है।* यह विशेषता वास्तव में श्रम की विशेषता नहीं है, क्योंकि श्रम तो एक वस्तु मात्र है, बल्कि श्रमिक की एक विशेषता है। किन्तु क्योंकि श्रम को श्रमिक से अलग करना सम्भव नहीं होता है, इसलिए श्रम का उपयोग करते समय श्रमिक को उपभोक्ता के रूप में भी ध्यान में रखा जाता है। अधिकांश उत्पत्ति का अन्तिम उद्देश्य श्रमिकों के लिए उपभोग की वस्तुओं की व्यवस्था करना ही होता है।

(८) *श्रम भूमि और संगठन की तुलना में अधिक गतिशील होता है।* इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि पूँजी और साहस की तुलना में श्रम की गतिशीलता कम होती है, परन्तु उत्पत्ति के अन्य साधनों की तुलना में वह अधिक होती है।

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि श्रम की जो विशेषताएँ ऊपर बताई गई हैं वे मौलिक नहीं हैं, बल्कि उन्हें वास्तव में बढ़ा-चढ़ा कर बताया गया है। वास्तविकता यह है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के बीच प्रतिस्थापन हो सकता है। एक अंश तक एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन का उपयोग सम्भव होता है। प्रत्येक साधन का स्वामी भी अन्तिम दशा में कोई न कोई मनुष्य ही होता है और इस प्रकार साधन को मनुष्य (उसके स्वामी) से अलग करना कठिन होता है। गतिशीलता उत्पत्ति के अन्य साधनों में भी पाई जाती है, अन्तर केवल अंश (Degree) का होता है, अर्थात् किसी साधन की गतिशीलता किसी निश्चित काल में कम होती है और किसी की अधिक। ठीक यही बात अन्य विशेषताओं के विषय में भी कही जा सकती है। किंचित श्रम की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उसका शीघ्र नाशवान होने का गुण ही है।

श्रम की कार्य-कुशलता (The Efficiency of Labour)—

कार्य-कुशलता का अर्थ काम करने की शक्ति अथवा उत्पादन क्षमता से होता है। कार्य कुशलता के दो पक्ष होते हैं:—(१) परिमाणवाचक पहलू (Quantitative Aspect) और (२) गुणात्मक पक्ष (Qualitative Aspect)। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि कार्य-कुशलता सदा ही

तुलनात्मक होती है। दो व्यक्तियों की कार्य-शक्ति की तुलना करके ही हम यह कहते हैं कि उनमे से कौन अधिक कुशल है और कौन कम कुशल है। यदि अन्य बातो के समान रहते हुए एक श्रमिक एक निश्चित समय मे दूसरे श्रमिक से अधिक काम करता है तो वह अधिक कुशल होगा। इसी प्रकार यदि दो श्रमिकों का काम मात्रा मे बराबर है, परन्तु एक का काम दूसरे से उत्तम है तो अच्छा काम करने वाला श्रमिक अधिक कुशल होगा। इस प्रकार दो व्यक्तियों की कार्य-कुशलता की तुलना करते समय हमे तीन बातों को ध्यान मे रखना चाहिए—(१) कार्य की दशाएँ, सुविधाएँ और समय अवधि, (२) काम करने की मात्रा और (३) काम की उत्तमता।

कार्य-कुशलता की तुलना एक दूसरे प्रकार भी की जा सकती है। उपरोक्त विवेचना मे हमने काम के आधार पर कुशलता की तुलना की थी, परन्तु अर्थशास्त्र में सभी तथ्यों को मुद्रा मे नापा जाता है, अतएव कार्य-कुशलता की तुलना भी मुद्रा की माप के आधार पर करना अधिक अच्छा होगा। एक सेवायोजक के दृष्टिकोण से यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है कि श्रमिक कितना और किस किस्म का काम करता है। उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण यह देखना होता है कि एक श्रमिक को काम पर लगाने का उसके उत्पादन व्यय (Cost of Production) पर क्या प्रभाव पड़ता है। अधिक सरल शब्दों मे, हम यह कह सकते हैं कि एक सेवायोजक का हित केवल यह देखने मे रहता है कि सब बातों को ध्यान में रखते हुए कौनसा श्रमिक मँहगा है और कौनसा श्रमिक सस्ता है। एक उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट की जा सकती है। मान लीजिए कि एक व्यवसायी दो कारीगरो को नौकर रखता है, जिनमे एक दो जोड़ी जूते रोजाना बनाता है और दूसरा तीन जोड़ी जूते। यह निश्चय है कि दूसरे श्रमिक को अधिक कुशल कहा जायगा, क्योंकि वह अधिक काम करता है, परन्तु यदि पहले श्रमिक को २ रुपये प्रति दिन मजदूरी दी जाती है और दूसरे को ३ रुपया ६ आने प्रति दिन, तो प्रति जोड़ा जूता उत्पादन व्यय पहले का केवल १ होगा और दूसरे का १ रुपया २ आना। इस दशा मे मालिक के दृष्टिकोण से पहला श्रमिक अधिक कुशल होगा, यद्यपि उसका उत्पादन कम है। अतएव कुशलता को मुद्रा मे नापना अधिक उपयुक्त हो सकता है। एक सेवायोजक सदा ऐसा ही करता है। कार्य-कुशलता की सही माप इसी प्रकार की जाती है।

श्रमिक की कार्य-कुशलता किन बातों पर निर्भर होती है (Factors Determining the efficiency of Labour) ?—

किसी भी श्रमिक की कार्य-कुशलता अनेक बातों पर निर्भर होती है। श्रमिक की मजदूरी, उसके काम करने की दशाएँ, संगठन की कुशलता, शिल्प ज्ञान का विकास सभी बातो का कार्य-कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। पैन्सन के अनुसार—"श्रम की कार्य कुशलता आंशिक रूप मे सेवायोजक और आंशिक रूप में श्रमिक पर, कुछ अंश तक संगठन पर और कुछ अंश तक व्यक्तिगत प्रयत्न पर, कुछ अंश तक उन औजारो

और मशीनों पर जिनसे श्रमिक काम करते हैं और कुछ अंश तक श्रमिक की अपनी निपुणता और उसके अपने परिश्रम पर निर्भर होती है।'* उद्योग की भीतरी और बाहरी दोनो ही प्रकार की दशाओं का भी श्रमिक की कुशलता पर प्रभाव पडता है। समझाने की सुविधा के लिए कार्य-कुशलता पर प्रभाव डालने वाली बातो का निम्न प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है :—

(१) श्रमिक का जीवन-स्तर (The Worker's Standard of Living)—श्रमिक की कार्य-कुशलता एक बड़े अंश तक उसके रहन-सहन के दर्जे पर निर्भर होती है। श्रमिक को आवश्यक, आरामदायक और विलास की वस्तुएँ कितनी मात्रा मे मिलती हैं, इस बात का उसकी काम करने की शक्ति और काम करने की इच्छा दोनो पर ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। यदि श्रमिक को पर्याप्त और पौष्टिक भोजन मिलता है, अच्छे कपडे प्राप्त है और अच्छा मकान उपलब्ध है, तो उसकी कार्यकुशलता स्वय ही ऊँची हो जायगी। इसी प्रकार विलास की वस्तुओ का उपभोग हमारे कार्य-उत्साह को बढ़ाता है। यदि श्रमिक को भर-पेट भोजन नही मिलता है तथा गन्दे और अस्वस्थ मकानो मे रहना पडता है, तो उसका स्वास्थ्य खराब हो जायगा और उसकी कार्य-कुशलता स्वय ही घट जायगी। श्रमिक की कार्य-कुशलता पर सबसे अधिक प्रभाव उसके जीवन स्तर का ही पड़ता है।

जीवन-स्तर स्वयं अनेक बातो पर निर्भर होता है। मुख्यतया जीवन स्तर मजदूरी की दर, मजदूरी के रूप, व्यय करने के ढङ्ग और कीमत स्तर (Price-level) पर निर्भर होता है। साधारणतया मजदूरी की वृद्धि जीवन-स्तर को ऊँचा उठा देती है। श्रमिको के जीवन-स्तर को ऊँचा करके उनकी कार्य कुशलता को बढाने की सबसे उपयुक्त रीति मजदूरियों की वृद्धि ही होती है।

यह तो निश्चय है कि मजदूरी और जीवन-स्तर की उन्नति कार्य-कुशलता को साधारणतया बढा देती है, परन्तु यह समझना भूल होगी कि जीवन-स्तर को जितना ही ऊँचा उठाया जायगा, उतनी ही कार्य-कुशलता भी बराबर बढती जायगी। ह्रास नियम यहाँ पर भी लागू होता है। बहुत ही नीचे जीवन-स्तर को ऊपर उठाने की दशा मे कार्य-कुशलता बहुत तेजी के साथ बढ सकती है, परन्तु जब जीवन स्तर एक बिन्दु तक पहुँच जाता है तो कार्य-कुशलता जीवन-स्तर की उन्नति की तुलना मे कम तेजी से बढ़ने लगती है। अन्त मे, यह भी सम्भव है कि यदि जीवन-स्तर बहुत ही ऊँचा चला जाता है, तो जीवन इतना विलासितापूर्ण हो जाता है कि कार्य-कुशलता उल्टी घट जाती है, किन्तु समाज के अधिकांश व्यक्तियों का जीवन-स्तर उस बिन्दु तक

* "Efficiency of labour depends partly on the employer and partly on the employed, partly on organisation and partly on individual effort, partly on tools, machinery, etc. with which the worker is supplied and partly on his own skill and industry in making use of them."—Penson : *Economics of Everyday Life*, Pt. I, p. 51.

नहीं पहुँच पाता है, इसलिए जीवन-स्तर को ऊँचा उठाकर कार्य कुशलता में वृद्धि करने की सम्भावना साधारणतया शेष ही रहती है।

भारतीय मजदूरों की नीची कार्य-कुशलता का प्रमुख कारण उनकी नीची मजदूरी और नीचा जीवन-स्तर ही है। हमारे देश के मजदूर अस्वस्थ मकान और गन्दी बस्तियों में रहते हैं। उन्हें विश्राम, थकावट को दूर करने और पौष्टिक भोजन प्राप्त करने का अवसर कम मिलता है। ऐसे श्रमिकों से ऊँची कार्य-कुशलता की आशा निर्मूल होगी। बहुत बार कुछ मिलमालिकों की ओर से यह तर्क रखा जाता है कि भारतीय मजदूरों को ऊँची मजदूरी देना इसलिए सम्भव नहीं है कि उनकी कार्य कुशलता कम है। इन मजदूरों को ऊँची मजदूरी देने का परिणाम यह होगा कि मालिक को घाटा होगा, जिससे उत्पत्ति का संकुचन होगा और अन्त में इसका रोजगार पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इस सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि नीची मजदूरी नीची कार्य-कुशलता का कारण है या नीची कार्य-कुशलता के कारण ही मजदूरी नीची रहती है। इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि अधिकांश दशाओं में, जहाँ मजदूरियाँ बढ़ाई गई हैं, श्रमिकों की कार्य-कुशलता पर उसका अच्छा ही प्रभाव पड़ा है।

(२) कार्य की दशायें (Conditions of Work)—दूसरा महत्वपूर्ण कारण, जिसका श्रमिक की कार्य-कुशलता पर अधिक प्रभाव पड़ता है, कार्य की दशायें हैं। इस शीर्षक में हम अनेक बातों को सम्मिलित करते हैं, जैसे—कार्य करने के घन्टे (Hours of Work), कार्य स्थान की दशा, मालिक का व्यवहार, श्रमिक की स्वतन्त्रता तथा फैक्ट्री के भीतर की सामान्य दशाएँ। इनका विस्तृत अध्ययन निम्न प्रकार है :—

(क) कार्य के घन्टे—बहुत से मिलमालिक ऐसा समझते हैं कि श्रमिकों से प्रति दिन जितने ही अधिक समय तक काम लिया जायगा, उतना ही काम अधिक होगा। यह धारणा बहुत सही नहीं है। प्रत्येक मनुष्य की शारीरिक और मानसिक शक्ति सीमित होती है। अधिक समय तक काम करने से थकावट आती है, जिससे न केवल काम में शिथिलता आ जाती है, बल्कि काम भी अच्छा नहीं हो पाता है। दीर्घकाल में लम्बे समय तक काम करने के फलस्वरूप स्वास्थ्य और कार्य-कुशलता दोनों चौपट हो जाते हैं। आराम करने से थकावट दूर हो जाती है और खोई हुई कार्य-शक्ति फिर से लौट आती है। पश्चिम के उन्नतिशील देशों की प्रवृत्ति काम के घन्टों को बराबर घटाने और विश्राम की अवधि को बढ़ाने की ओर रही है। भारतीय कारखाना नियम के अनुसार अब साल भर चलने वाले उद्योगों में काम के घन्टे ४८ प्रति सप्ताह और मौसमी कारखानों में ५४ प्रति सप्ताह रखे गये हैं। काम के बीच में १ घन्टे के विश्राम की भी व्यवस्था की गई है।

(ख) कार्य-स्थान की दशा—श्रमिक जिस स्थान पर काम करता है, उसकी दशा का भी उसकी कार्य-कुशलता पर अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि कार्य-

स्थान स्वच्छ, स्वस्थ और हवादार है तथा उसमें गर्मी और सर्दी की रुकावट का अच्छा प्रबन्ध है तो श्रमिक की कुशलता बढ जायगी। कारखाने के भीतर का वातावरण जितना ही अनुकूल और रुचिकर होगा उतनी ही कार्य कुशलता अधिक होगी। साथ ही, इस बात की भी बहुत आवश्यकता है कि कारखाने मे मशीनों के खतरनाक भागो को इस प्रकार ढाँप कर रखा जाय कि श्रमिको को दुर्घटना का भय न रहे तथा वे अधिक सुरक्षा और स्वतन्त्रता के साथ काम कर सकें। अच्छे कारखानो मे कारखाने के भीतर सफाई, गर्मियों मे ठंडा रखने और जाड़ो मे गर्म रखने का प्रबन्ध किया जाता है। भारत मे बहुत से कारखानो में श्रमिको को खुले मे काम करना पड़ता है, अथवा टीन के छप्पर डाल दिये जाते है। गर्मी और सर्दी के विरुद्ध किसी प्रकार की रोक नही की जाती है और सफाई का भी कोई अच्छा प्रबन्ध नही होता है। इससे एक ओर तो व्यावसायिक बीमारियाँ (Professional Diseases) फैलती है और दूसरी ओर श्रमिको की कुशलता घट जाती है। ऐसी दशाओ मे ऊँची कुशलता की आशा निर्मूल ही होगी।

(ग) मालिक का व्यवहार—श्रमिको के प्रति मालिक का व्यवहार कैसा है, इसका भी श्रमिको की कुशलता पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि मालिक सहानुभूति के साथ व्यवहार करता है और श्रमिको के कष्टो को सुनकर दूर करने का प्रयत्न करता है, तो इससे काम करने वाले अधिक प्रसन्न, सन्तुष्ट और जिम्मेदार रहेंगे। यदि मालिक का व्यवहार बुरा है, तो उसे श्रमिको का सहयोग प्राप्त न हो सकेगा। इसी प्रकार यदि मालिक श्रमिको के साथ बात-बात पर बिगडता है और छोटी-छोटी बातो पर मजदूरी काट लेने या श्रमिक का रोजगार छीन लेने की धमकी देता है, तो श्रमिक अच्छा काम न करेंगे। मालिक और श्रमिक के अच्छे सम्बन्ध ही औद्योगिक शान्ति (Industrial Peace) की एक मात्र गारन्टी होते है।

(घ) श्रमिक की स्वतन्त्रता—कार्य-कुशलता शारीरिक और मानसिक दोनो ही प्रकार के कारणों पर निर्भर होती है। यदि श्रमिक को स्वतन्त्रता नहीं है, तो उसे कार्य के प्रति अरुचि हो जायगी। वह मन से काम नही करेगा, जिसका उसकी कुशलता पर बुरा प्रभाव पडेगा। दासता के अन्तर्गत श्रमिक से कुशलता की आशा निर्मूल है। इसी प्रकार जब श्रमिक को काम करने पर मजबूर किया जाता है, तो वह कुशल कार्यकर्त्ता नही रह पाता है। कुशलता की वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उसकी रुचि और स्वतन्त्रता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय।*

(ङ) फैक्टरी के भीतर की सामान्य दशायें—उपरोक्त बातो के अतिरिक्त श्रमिकों की कार्य दशाओं से सम्बन्धित और भी बहुत सी बातें होती हैं, जिनका श्रमिक की कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। कुशलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि

* "Give a man secure possession of a bleak rock and he will turn it into a garden."—Arthur Young.

फैक्टरी के भीतर का सामान्य वातावरण कैसा है, किस प्रकार की मशीनों का उपयोग किया जा रहा है, श्रम विभाजन (Division of Labour) कितना और किस प्रकार का है तथा श्रमिक और मालिक के सम्बन्ध कैसे है ? यदि नवीन प्रकार की सुरक्षित मशीनों का उपयोग किया जाता है, श्रम विभाजन द्वारा प्रत्येक श्रमिक को उसकी रुचि और योग्यता के अनुसार काम दिया जाता है तथा मजदूर और मालिक के सम्बन्ध अच्छे हैं, तो ऐसी दशा मे कार्य-कुशलता अधिक होगी।

(३) शिक्षा और प्रशिक्षण (Education and Training)—श्रमिकों की कार्य-कुशलता उनकी शिक्षा और उनके शिक्षण पर भी निर्भर होती है। शिक्षा दो प्रकार की होती है—(१) सामान्य शिक्षा (General Education) और (२) व्यावसायिक शिक्षा (Professional or Technical Education)। दोनों ही प्रकार की शिक्षा की वृद्धि श्रमिक की कार्य-कुशलता को बढा देती है। सामान्य शिक्षा से श्रमिक के ज्ञान मे वृद्धि होती है, जिससे उसके लिए किसी काम को सीख लेना सरल हो जाता है। इसके अतिरिक्त शिक्षा मनुष्य में नैतिकता, उत्तरदायित्व और सोच-समझ कर काम करने के गुण उत्पन्न करती है। योग्य और चतुर हो जाने के बाद श्रमिक अधिक मात्रा में तथा अधिक उत्तरदायित्व के साथ काम करने लगता है।* व्यावसायिक शिक्षा अथवा प्रशिक्षण प्रत्यक्ष रूप में श्रमिक की कुशलता को बढाती है, क्योकि व्यावसायिक शिक्षा का अभिप्राय ही यह होता है कि श्रमिक को उसके काम मे अधिक दक्षता और निपुणता प्रदान की जाय। शिक्षा का प्रभाव एक दूसरी रीति से भी पड़ता है। एक शिक्षित श्रमिक ऊँचे जीवन-स्तर के महत्त्व को समझने लगता है। वह अपने जीवन-स्तर को ऊँचा करने के लिए अधिक परिश्रम करता है और जीवन स्तर को ऊँचा करके अपनी कार्य-कुशलता को भी ऊँचा कर लेता है। आधुनिक युग मे, जहाँ उत्पत्ति में मशीनों का विस्तृत उपयोग होता है, व्यावसायिक शिक्षा, शिल्प शिक्षा (Technical Education) का महत्त्व और भी बढ गया है। श्रमिक को थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् नई-नई मशीनों और उनके उपयोग के बारे मे सीखना पड़ता है। सच बात तो यह है कि आधुनिक जगत मे औद्योगिक कार्यों को इतना वैज्ञानिक बना दिया गया है कि व्यावसायिक शिक्षा लगभग आवश्यक हो गई है। भारतीय मिल मालिकों ने भी धीरे-धीरे शिक्षा के महत्त्व को समझ लिया है तथा वे भी श्रमिकों की सामान्य और व्यावसायिक शिक्षा की ओर ध्यान देने लगे हैं। वर्तमान युग में श्रमिकों और

* "The intelligent labourer is more useful than the unintelligent labourer : (a) because he requires a far shorter apprenticeship (he can learn his trade in a half, a third or a quarter the time which the other requires) ; (b) because he can do his work with little or no superintendence ; (c) because he is less wasteful of materials ; and (d) because he readily learns to use machinery however delicate and intricate."—Walker.

उनके आश्रितों की शिक्षा का प्रबन्ध औद्योगिक नीति का एक आवश्यक अंग माना जाता है।

(४) जातीय और वंशगत गुण (Racial and Hereditary Qualities)—श्रमिक की कुशलता पर उसकी जाति (Race) और उसके वंश का भी प्रभाव पड़ता है। संसार में कुछ जातियाँ ऐसी हैं कि उनके सदस्य अधिक स्वस्थ और परिश्रमी होते हैं। कुछ जातियों में शारीरिक अथवा मानसिक परिश्रम की परम्परा भी अधिक होती है। उदाहरणस्वरूप, हमारे देश में पहाड़ी लोग अधिक हृष्ट-पुष्ट और परिश्रमी होते हैं। पंजाबी लोग बंगाली लोगों की तुलना में अधिक स्वस्थ तथा परिश्रमी होते हैं और इसी प्रकार कुछ जातियाँ मानसिक दृष्टिकोण से अधिक तेज हैं। इसी प्रकार वंश का भी कार्य-कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। हम जिस वातावरण में पलते हैं, जैसे लोगों के साथ रहते हैं और आरम्भ से जैसा दूसरों को करते हुए देखते हैं, वैसे ही गुण स्वयं हम में भी उत्पन्न होने लगते हैं। मेहनती माँ-बाप के बच्चे आरम्भ से ही परिश्रम के महत्त्व को समझने लगते हैं। इसके अतिरिक्त जातिगत रीति-रिवाजों, परम्पराओं और सामाजिक जीवन का भी कार्य-कुशलता पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। संसार के विभिन्न भागों में एक ही व्यवसाय में श्रमिकों की उत्पादन शक्ति के विशाल अन्तरों का कारण जातिगत और वंशगत गुणों का अन्तर भी है।

इस सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक है कि यद्यपि जाति और वंश का प्रभाव भी कार्य-कुशलता पर पड़ता है। परन्तु इसको अधिक महत्त्व देना उचित न होगा। यह आवश्यक नहीं है कि एक जाति में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति किसी एक काम को दूसरी जाति में उत्पन्न होने वाले श्रमिक की तुलना में अधिक कुशलता अथवा योग्यता के साथ करेगा। इसमें तो सन्देह नहीं कि वातावरण का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, परन्तु वातावरण में परिवर्तन किये जा सकते हैं। रूस का अनुभव तो यही है कि कार्य-कुशलता जाति या वंश पर निर्भर नहीं होती है, इसलिये हम केवल इतना कह सकते हैं कि यद्यपि इस कारण का कार्य-कुशलता पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है, परन्तु इसे अधिक महत्त्व देना ठीक न होगा।

(५) जलवायु (Climate)—जलवायु का भी मनुष्य के जीवन और उसकी कार्य-शक्ति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। जलवायु ही यह निश्चित करती है कि मनुष्य का आहार क्या होगा और क्षेत्र विशेष में किस वस्तु की उत्पत्ति होगी। जलवायु ही यह निश्चित करती है कि काम करने से कितनी थकावट होगी। जिन देशों की जलवायु अधिक उष्ण होती है, वहाँ शारीरिक और मानसिक थकान शीघ्र आ जाती है।* हमारा अपना अनुभव भी हमें बताता है कि गर्मी की तुलना में हम जाड़ों

* "Upto the present time a tropical climate has been fatal to the best energies of races, however vigorous. It has not indeed extinguished either the subtlety of their thinkers or the physical strength which the workers can exert for short periods; but it has been hostile to the power of undergoing severe continuous strain of mind and body."—Marshall : *Industry and Trade*, p. 61.

में अधिक समय तक काम कर सकते है। जाड़ों की ऋतु मे भूख भी अच्छी लगती है और खाना भी भली भाँति पच जाता है। इससे शरीर में स्फूर्ति रहती है और कार्य-कुशलता बढती है। इसके अतिरिक्त गर्म देशो मे थोडी सी ही मेहनत से जीवन की आवश्यक वस्तुएं उत्पन्न की जा सकती हैं। इसका कारण यह है कि एक ओर तो आवश्यकताएं ही कम होती हैं और दूसरे प्रकृति अधिक उदार होती है, जिससे आवश्यकता की वस्तुयें थोड़ी सी ही मेहनत के साथ उत्पन्न की जा सकती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि दीर्घकाल में मनुष्य आलसी हो जाता है। गर्म देशो मे सन्तान उत्पत्ति भी अधिक होती है, जिसका श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है और उनकी कार्य-कुशलता घट जाती है। कुछ उद्योगों मे तो जलवायु का महत्त्व बहुत ही अधिक होता है। सूती कपडा उद्योग के लिए नम (Dump) जलवायु की आवश्यकता होती है। सूखी जलवायु मे सूत के धागे टूटते रहते हैं और श्रमिकों की कुशलता कम हो जाती है।

भारतीय श्रमिकों के बारे मे बहुधा यह कहा जाता है कि उनकी कार्य-कुशलता के कम होने का एक कारण देश की जलवायु भी है। यह कथन केवल आंशिक रूप मे ही सही है। बहुधा ऐसा देखने मे आता है कि एक यूरोपियन श्रमिक भारत मे भी *भारतीय मजदूर से अधिक काम करता है। इसका कारण शायद* यह है कि यूरोपियन श्रमिक पहले से ही अधिक परिश्रम करने का अभ्यस्त होता है और उसका जीवन-स्तर भी ऊँचा होता है। इसलिए हम यही कह सकते है कि यद्यपि जलवायु का श्रमिक की *कार्य कुशलता पर प्रभाव पडता है, परन्तु यह प्रभाव अधिक महत्त्वपूर्ण नही होता है।*

(६) नैतिक गुण (Moral Qualities)—श्रमिक की कार्य कुशलता उसके चरित्र पर भी निर्भर होती है। यदि श्रमिक चरित्रवान, शिक्षित और आत्म विश्वासी है, उसमे निर्भयता, परिस्थितियो से न घबराने का गुण है और वह अपनी जिम्मेदारी को समझता है तो उसकी कार्य-कुशलता अधिक होगी। ऐसे श्रमिकों के लिए देख रेख की आवश्यकता नही रहती है, श्रमिक औजार और माल का अधिक सावधानीपूर्वक उपयोग करता है तथा इस बात का प्रयत्न करता है कि मालिक के काम मे कमी न होने दे। ऐसा श्रमिक काम से जी नही चुराता है। चरित्र मनुष्य का बहुत बड़ा गुण होता है। साधारणतया शिक्षा, सदुपदेश आदि द्वारा चरित्र को ऊँचा किया जा सकता है, परन्तु सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि श्रमिक को मजदूरी अच्छी होनी चाहिए। निर्धनता चरित्र के विकास मे बाधक होती है। भारतीय श्रमिक अशिक्षित है और साथ ही साथ निर्धन भी है। उससे उस समय तक नैतिक गुणों की आशा करना निर्मूल होगा, जब तक कि शिक्षा तथा राज्य की प्रगतिशील *श्रम नीति* द्वारा उनकी नैतिकता का स्तर ऊँचा न किया जाय। मजदूर को सन्तुष्ट रखने और उसके अनैतिक कार्य करने की प्रवृत्ति को रोकने के लिये यह भी आवश्यक है कि मजदूरी पर्याप्त हो।

(७) सामाजिक दशाएं (Social Conditions)—देश की सामाजिक दशाओं का भी श्रमिको की कार्य-कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। जाति प्रथा का प्रभाव यह होता है कि जन्म से ही बालक अपने वंशगत (Hereditary) काम को सीख लेता है। उस काम की सभी ऊँच-नीच उसे वंशगत अनुभव के आधार पर ज्ञात होती है। इससे कुशलता के बढने की सम्भावना है। इसका यह अर्थ नही है कि जाति प्रथा सदा ही अच्छी होती है। इस प्रथा का बहुत बार कुशलता पर बुरा प्रभाव भी पड़ता है। कारण यह है कि जाति प्रथा एक व्यक्ति के लिये व्यवसाय के चुनाव की स्वतन्त्रता को सीमित कर देती है। एक बढई (Carpenter) के बच्चे को यही काम करना पड़ता है, चाहे यह काम उसकी योग्यता और निपुणता के अनुकूल हो या नहीं। इससे अधिक उत्पत्ति करने और कार्य-कुशलता को बढाने का उत्साह समाप्त हो जाता है। जाति प्रथा और सम्मिलित कुटुम्ब प्रणाली भारत में कार्य-कुशलता के मार्ग में बाधक होती चली जा रही है।

(८) धार्मिक कारण (Religious Factors)—धार्मिक कारणों का भी कार्य कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। धार्मिक विचारधारा बहुत बार व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता को सीमित कर देती है। एक धर्म के अनुयाइयो के लिए कुछ प्रकार के कार्य वर्जित हो सकते हैं। कुछ धर्मों के अनुसार तो धनवान होना और जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना पाप होते है। हमारे देश में अन्य कारणों के साथ मिलकर धार्मिक भावनाओ ने भी कार्य-कुशलता को घटाने मे सहायता दी है।

(९) राजनीतिक दशाएं (Political Conditions)—श्रमिक की कार्य कुशलता देश की राजनीतिक दशा पर भी निर्भर होती है। पराधीन देशों मे श्रमिको का कार्य उत्साह मारा जाता है। वे निराशावादी हो जाते हैं, उनका नैतिक पतन होता है और वे अपना आत्म-विश्वास खो बैठते हैं। इसी प्रकार यदि राजनीतिक वातावरण अशान्त है, तो राजनीतिक कारणों से हड़तालें होती रहेंगी और श्रम की कुशलता घट जायगी। जब श्रमिक देश की सरकार को अपनी ही सरकार समझते है, तो वे अधिक उत्साह और परिश्रम के साथ काम करते है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक अशान्ति कार्य करने की उपयुक्त दशाएं उत्पन्न नही होने देती है। अनिश्चितता प्रत्येक कार्य को नीरस बना देती है।

(१०) भावी उन्नति की आशा (Hope for a Better Future)—श्रमिक की कुशलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि भविष्य मे उसके लिए उन्नति के लिये कैसी आशा है। यदि हम ऐसा समझते है कि अच्छा काम करने से हमारी उन्नति हो जायगी, तो हमारा कार्य-उत्साह बढ जाता है और हम अधिक परिश्रम करने लगते है तथा अपना काम अधिक मन लगा कर करते हैं। जब अच्छे काम का कोई भी फल नही मिलता है तो श्रमिक का कार्य-उत्साह मारा जाता है। इसी उद्देश्य से आधुनिक औद्योगिक जगत मे श्रमिको को लाभो मे से हिस्से दिये जाते है और कुशलता अधिलाभांश (Efficiency Bonus) आदि दिये जाते है।

(११) कार्य की प्रकृति (The Nature of Work)—श्रमिक की कार्य-कुशलता उसके काम की प्रकृति पर भी निर्भर होती है। कुछ कार्य स्वभाव से नीरस अथवा अरुचिकर होते हैं, कुछ कार्य खतरनाक होते हैं और कुछ कार्यों में व्यक्तिगत उत्साह के लिए बहुत ही कम अवकाश रहता है। इसी प्रकार यदि एक श्रमिक को सदा एक ही काम करना पड़ता है तो काम धीरे-धीरे नीरस हो जाता है। इसके लिए कार्य की विभिन्नता का बना रहना आवश्यक होता है।

(१२) प्रबन्ध की कुशलता (The Efficiency of Management)—श्रमिक की कुशलता एक बड़े अंश तक इस बात पर भी निर्भर होती है कि जिस प्रबन्ध के नीचे वह कार्य कर रहा है उसकी कुशलता कितनी है। उत्पत्ति की कुशलता के लिए यह आवश्यक है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का सर्वोत्तम अनुपात में उपयोग किया जाय। किसी साधन का आवश्यकता से अधिक या कम उपयोग होने से उसकी कुशलता कम हो जाती है। साधारणतया एक अच्छा प्रबन्धक अकुशल श्रमिकों को भी अनेक रीतियों से कुशल बना देता है। साथ ही, श्रम-विभाजन कैसे किया जाय, किस व्यक्ति को कौनसा काम दिया जाय और फिर श्रमिकों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय, ये सब निर्णय महत्त्वपूर्ण होते हैं। एक कुशल प्रबन्धक इन सब दिशाओं में सुधार करके श्रमिकों की कुशलता बढ़ा सकता है। इस प्रकार जितना ही प्रबन्ध योग्य, प्रगतिशील और सहानुभूतिपूर्ण होगा, उतनी ही श्रमिकों की कुशलता भी बढ़ जायगी। हमारे देश में निपुण और योग्य प्रबन्धकों की अधिक कमी है, इसीलिये श्रमिकों की कुशलता बढ़ाने के उपाय अधिकतर असफल ही रहते हैं।

(१३) श्रम संगठन अथवा श्रम संघ आन्दोलन (Trade Union Activity)—श्रमिकों के संगठन का भी उनकी कार्य कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। श्रम संघों (Trade Unions) के दो प्रमुख कार्य होते हैं। एक ओर तो, श्रम संघ श्रमिकों के लिए अच्छी मजदूरी और कार्य की अच्छी दशाएं प्राप्त करने के लिए बराबर संघर्ष करते रहते हैं। *इन क्रियाओं का यह परिणाम होता है कि श्रमिकों की* कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है। दूसरी ओर, श्रम संघ श्रमिकों के लिए श्रम कल्याण सेवाएं (Labour Welfare Services) चालू करते हैं। वे श्रमिकों की शिक्षा, उनके मनोरंजन और उनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास की व्यवस्था करते हैं। इससे *औद्योगिक थकान घटती है और कार्य-कुशलता में वृद्धि हो जाती है।*

(१४) सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था (The Provision for Social Security)—कार्य कुशलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि मजदूर को कितनी सामाजिक सुरक्षा प्राप्त है। दूसरे शब्दों में, हमें यह देखना पड़ता है कि श्रमिक को बेरोजगारी, बीमारी और दुर्घटनाओं के विरुद्ध क्या और कितना लाभ

करेंगी। इनमें से सबसे पहले हम उन बातों को लेते हैं जो बचत को प्रभावित करती है। ये निम्न प्रकार हैं :—

(१) बचत करने की शक्ति अथवा क्षमता (The Ability to Save)—

किसी भी व्यक्ति की बचत करने की क्षमता उसकी आय और उसके व्यय के अन्तर पर निर्भर होती है। जितनी ही आय व्यय से अधिक होगी, उतनी ही बचत करने की क्षमता भी अधिक होगी। व्यय के समान रहते हुए यदि आय बढ जाती है तो निस्संदेह बचत करने की क्षमता अधिक हो जायेगी। इसी प्रकार यदि आय के समान रहते हुए व्यय घट जाता है तो भी बचत करने की क्षमता अधिक हो जायेगी। सारांश यह है कि यदि व्यय की तुलना में आय बढ जाती है तो बचत करने की क्षमता बढेगी। एक देश में समाज की बचत करने की क्षमता देश की राष्ट्रीय आय की मात्रा और समाज के जीवन-स्तर पर निर्भर होती है। स्वयं राष्ट्रीय आय व्यापार और उद्योग के कुशल संगठन, परिवहन एवं संचार के विकास तथा बैंकिंग और साख पद्धति की उन्नति पर निर्भर होती है। इसके अतिरिक्त देश में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों की मात्रा, श्रम और उत्पत्ति के दूसरे साधनों की कुशलता तथा देश की कर-प्रणाली पर भी उत्पादन निर्भर होता है और उत्पादन की मात्रा ही अन्तिम अवस्था में राष्ट्रीय आय को निर्धारित करती है। प्राकृतिक साधनों के विकास द्वारा, उत्पत्ति के साधनों की कुशलता बढाकर तथा एक उपयुक्त कर-प्रणाली का निर्माण करके राष्ट्रीय आय की मात्रा बढाई जा सकती है। समाज का व्यय समाज के जीवन-स्तर पर निर्भर होता है। ऊँचा जीवन-स्तर हो जाने से व्यय बढता है, अतः यदि दो देशों में राष्ट्रीय आय समान है, परन्तु एक मे लोगो का जीवन स्तर दूसरे से नीचा है तो नीचे जीवन-स्तर वाले देश मे लोगो की बचत करने की क्षमता अधिक होगी। इस आधार पर यह कहना तो अनुचित होगा कि बचत को बढ़ाने के लिए जीवन-स्तर को नीचे गिरा देना अच्छा होगा। हम केवल यही कह सकते है कि बचत को बढ़ाने का सबसे अच्छा उपाय राष्ट्रीय आय को बढाना ही हो सकता है।

भारत के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि यहाँ समाज की बचत करने की क्षमता कम है। अधिकाश भारतवासी निर्धन हैं और ससार के उन्नतिशील देशों की तुलना मे हमारी राष्ट्रीय आय बहुत ही कम है, किन्तु दो कारणो से भारत मे आय कम होने हुए भी बचत हो जाती है। प्रथम, लोगो का जीवन-स्तर बहुत नीचा है और दूसरे, आय के वितरण की असमानताएँ बहुत ही विशाल हैं, जिससे उत्पादित आय का अधिकाश भाग कुछ थोडे से ही व्यक्तियो के पास केन्द्रित रहता है।

बचत करने की इच्छा (Willingness to Save)—

बचत तभी हो सकती है जबकि कोई बचत करना चाहता हो। हम कितनी बचत करेंगे, यह इस बात पर भी निर्भर होता है कि हमारी बचत करने की इच्छा

कितनी तीव्र है। अनेक प्रकार के उद्देश्यों से प्रेरित होकर एक व्यक्ति बचत करता है। एक निर्धन व्यक्ति भी इन इच्छाओं से प्रेरित होकर कुछ न कुछ बचत कर लेता है, परन्तु इच्छा के अभाव की दशा में एक धनी व्यक्ति भी बचत करने में असमर्थ रहेगा। बचत करने की इच्छा पर भी कई बातों का प्रभाव पड़ता है :—

(क) दूरदर्शिता (Foresight)—कुछ लोग स्वभाव से ही दूर की बात सोचने वाले होते हैं। वे जानते हैं कि भविष्य सदा अनिश्चित होता है, भविष्य में कोई आपत्ति आ सकती है अथवा कोई अकस्मात आवश्यकता पड सकती है। यदि पहले से ही इनके लिए व्यवस्था नही की जाती है तो बहुत कठिनाई होगी। दूरदर्शी मनुष्य इसी उद्देश्य से बचत करता है कि भविष्य की अनिश्चितता के विरुद्ध उपचार कर सके। यह निश्चय है कि कोई व्यक्ति जितना ही अधिक दूरदर्शी होगा, उतनी ही उसमे भविष्य के लिए बचा कर रखने की प्रवृत्ति भी अधिक बलवान होगी। मानव-जीवन के इतिहास मे भविष्य के लिए व्यवस्था करने की आदत धीरे-धीरे बढती गई है, यद्यपि अभी तक भी यह आदत सभी मनुष्यो मे नही पाई जाती है।

(ख) पारिवारिक प्रेम (Family Affection)—बचत करने की इच्छा को एक व्यक्ति का पारिवारिक प्रेम भी प्रोत्साहन देता है। मनुष्य अपने परिवार अथवा अपने आश्रितो के लिए पर्याप्त व्यवस्था करना चाहता है, ताकि उसकी मृत्यु के पश्चात् भी वे सुखमय जीवन बिता सकें। इस उद्देश्य को लेकर एक व्यक्ति कभी-कभी अपने आप को कष्ट देकर भी बचत करता है। इसी प्रकार अपने परिवार को समाज में अधिक सम्मान प्रदान करने के लिए भी एक व्यक्ति बचत कर सकता है।

(ग) शक्ति और सम्मान की इच्छा (Desire for Power and Prestige)—बहुत से व्यक्ति आर्थिक और राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने और समाज में अपने को सम्मानित करने के लिए भी बचत करते हैं। सभी जानते है कि इस संसार मे धन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्ति का साधन है। बहुत से व्यक्ति इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए ही धन का सचय करते हैं।

(घ) आदत (Habit)—प्रत्येक समाज मे कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते है जो धन सचय को स्वय उद्देश्य समझकर इस प्रकार का सचय करते रहते हैं। एक कंजूस केवल इसी कारण धन का संचय करता है कि उसे इसकी आदत पड़ गई है और वह बिना बचत किए रह ही नही सकता है। वह अपनी आवश्यक से आवश्यक जरूरत को काट कर भी बचत करता है। इसी प्रकार धीरे-धीरे एक व्यक्ति को बचत करने की आदत पड़ सकती है और अन्त मे बचत करना उसके स्वभाव का ही एक अङ्ग हो जाता है।

(ङ) कार्य का स्वभाव (The Nature of the Work)—बहुत से कार्य अथवा व्यवसाय स्वभाव से ही ऐसे होते हैं कि उनमे जोखिम रहती है और काम करने की अवधि कम रहती है। हवाई जहाज के चालक का कार्य इसी प्रकार

का होता है। ऐसे काम करने वाला व्यक्ति साधारणतया अधिक बुद्धिमानी और दूरदर्शिता से काम लेता है और उसकी बचत करने की इच्छा अधिक बलवान होती है।

(च) ब्याज द्वारा लाभ कमाने की इच्छा—ब्याज का लोभ भी कुछ लोगों को अधिक बचत करने के लिए प्रेरित कर सकता है, यदि ब्याज की दर ऊँची हो जाती है तो बहुत से ऐसे व्यक्ति भी बचत करने लगते हैं जो पहले ऐसा नहीं कर रहे थे।

(छ) व्यापारिक उन्नति की इच्छा—कुछ व्यक्तियों की बचत करने की इच्छा पर उनकी अपने व्यापार, व्यवसाय अथवा उद्योग में उन्नति करने की इच्छा का भी प्रभाव पड़ता है। एक व्यक्ति केवल इसलिए भी बचत कर सकता है कि अपने व्यापार अथवा उद्योग का विस्तार करे और उसकी उन्नति करके अधिक धन कमाये। छोटे-छोटे व्यापारी आय के कम होते हुए भी इसी उद्देश्य को लेकर बचत करते रहते हैं।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, हमारे देश मे बचत करने की इच्छा बहुत बलवान है। बहुधा ऐसा कहा जाता है कि भारतवासियों में यूरोप के अधिकाश निवासियो की तुलना मे दूरदर्शिता कम नहीं है और पारिवारिक प्रेम यहाँ इतना अधिक है कि आय के कम रहते हुए भी पर्याप्त बचत हो जाती है। शक्ति और सम्मान की इच्छा भी हमारे देश मे अधिक बलवान नहीं है। इतना अवश्य सही है कि ऐसे बहुत से व्यक्ति है जिन्हे बचत करने की आदत पड गई है। ब्याज की दरें भी हमारे देश में अधिकतर ऊँची ही रहती है और लोगों मे बचत द्वारा पूँजी प्राप्त करके अपने उद्योग और व्यवसायो को उन्नत करने की इच्छा भी अधिक बलवान है।

(३) बचत करने की सुविधाएँ (Opportunities to Save)—

किसी देश मे कितनी बचत होगी, यह इस बात पर भी निर्भर होता है कि वहाँ बचत करने की कितनी सुविधायें उपलब्ध हैं? यह सम्भव है कि देश मे सचय करने की क्षमता और इच्छा होते हुए भी केवल इसी कारण अधिक बचत न होती हो कि वहाँ बचत करने की सुविधाओं का अभाव हो। इस प्रकार की सुविधायें निम्न बातो पर निर्भर होती हैं।

(अ) शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था—यदि देश में जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित है तो बचत अधिक होगी, क्योंकि जो कुछ भी कोई व्यक्ति बचा कर रखेगा, वह उसका अपना ही रहेगा। यदि समाज का जीवन सुख और शान्ति के साथ बीत रहा है, राज्य सुसङ्गठित तथा न्यायपूर्ण है, बाहरी आक्रमणों तथा आन्तरिक उपद्रवों का भय नहीं है और चोरी या डकैती का भय नहीं है, तो बचत अधिक होगी। प्रत्येक व्यक्ति इस आशा पर बचत करता है कि अपनी बचत का फल या तो स्वय उसी को मिल जाय या उसके आश्रितो को। यदि शान्ति और सुरक्षा को समुचित व्यवस्था

नहीं है तो बचत सम्भव नहीं होती है। सभी जानते हैं कि जब हमारे लिये यह निश्चित नहीं है कि जो कुछ हमने जोड़ कर रखा है उसका उपयोग हम कर भी पायेंगे या नहीं, तो हमारी बचत करने की इच्छा कम ही रहती है।

(ब) *राज्य की नीति*—यदि राज्य की नीति धन के सचय को रोकने की है तो बचत कम होगी। राज्य करों द्वारा अथवा दूसरी रीतियों से लोगों की बचत करने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित कर सकता है। अत्यधिक करारोपण, रूढ़िवादी नियम, सरकार का सामान्य विरोधी व्यवहार, ये सभी बचत के मार्ग में बाधा डाल देते हैं। जिन देशों की सरकार बचत को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न करती हैं वहाँ बचत भी अधिक होती है। समाजवादी देशों में व्यक्तिगत बचत और संचय को अच्छा नहीं समझा जाता है। ऐसे देशों में व्यक्तिगत बचत कम होती है। अधिकांश बचत स्वयं सरकार द्वारा की जाती है।

(स) *मुद्रा का उपयोग*—किसी देश में बचत की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि वहाँ मुद्रा का उपयोग किस अंश तक होता है? असभ्य जातियों में, जहाँ मुद्रा का चलन कम है, सचय वस्तुओं के रूप में किया जाता है। वस्तुओं में न तो टिकाऊपन का गुण होता है और न उनकी कीमतों में स्थिरता ही होती है। इसके कारण ऐसा संचय बहुधा छोटा होता है और उसे थोड़े ही काल के लिए रखा जाता है। इसके विपरीत मुद्रा न तो शीघ्र नाशवान वस्तु है और न उसकी कीमत ही बहुत तेजी के साथ घटती-बढ़ती है। मुद्रा में तो सेवाओं की कीमत का भी सचय हो जाता है। यही कारण है कि जैसे-जैसे समाज में मुद्रा का उपयोग बढ़ता गया है, संचय करने की प्रवृत्ति भी बढ़ती गई है।

(द) लाभदायक तथा सुरक्षित विनियोग की सुविधा—आधुनिक युग में पूँजी के विनियोग की सुविधायें और सम्भावनाएँ बहुत बढ़ गई हैं, जिसने बचत को काफी प्रोत्साहन दिया है। यदि देश में सुरक्षित विनियोगों (Investments) की सुविधा नहीं है और लोग अपनी बचतों को अपने घर में ही जमा करके रखते हैं तो बचत कम होगी। इसका एक कारण तो यह है कि ऐसी दशा में बचत का लाभदायक उपयोग नहीं होगा। दूसरा कारण यह है कि इस बचत का आग, चोरी अथवा डकैती से नष्ट हो जाने का भी भय रहेगा। इसीलिए जितनी ही किसी देश में उद्योग, व्यापार और व्यवसायों की उन्नति होगी, उतनी ही वहाँ बचत भी अधिक होगी। बचत को प्रोत्साहन देने में सबसे अधिक महत्त्व बैंकिंग प्रणाली के विकास का होता है। बैंक छोटी से छोटी बचत को भी जमा कर लेती है और प्रत्येक बचत करने वाले को बचत के सुरक्षित और लाभपूर्ण उपयोग का अवसर देती है। इसके अतिरिक्त बीमा कम्पनियाँ और सहकारी समितियाँ भी बचत को अधिक प्रोत्साहन देती है।

भारत में बचत करने की सुविधाओं का अभाव है। देश में शान्ति और सुरक्षा

की व्यवस्था भी कम है, बैंकिंग प्रणाली अभी अविकसित अवस्था में है, देश में उद्योग, व्यापार और व्यवसायों का समुचित विकास नहीं हुआ है और ग्रामीण क्षेत्रों में अभी तक भी वस्तु-विनिमय प्रणाली (Barter System) प्रचलित है। यही कारण है कि हमारे देश मे बचत कम ही हो पाती है।

आसंचन की प्रवृत्ति किन बातों पर निर्भर होती है ?—

पूंजी के निर्माण पर दो बातों का प्रभाव पड़ता है, अर्थात् बचत की मात्रा और आसचन की आदत । इनमे से पहली बात का सविस्तार अध्ययन पहले किया जा चुका है। अब हम आसंचन (Hoarding) पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करने का प्रयत्न करेंगे। किसी देश मे समाज की आसंचन प्रवृत्ति निम्न बातों पर निर्भर होती है :—

(१) विनियोग की सुविधाएं (Facilities for Investment)—यदि देश मे विनियोग की सुविधायें अपर्याप्त हैं और विनियोग सुरक्षित तथा लाभदायक नहीं है तो जो कुछ भी बचत की जायगी, वह बेकार के आसचित कोषों में लुप्त हो जायगी और पूंजी के निर्माण मे सहायक न हो सकेगी।

(२) चैक प्रथा का रिवाज (Use of the Cheques)—यदि किसी देश मे बैंकिंग का समुचित विकास नहीं हुआ है और चैक प्रथा के चलन के अभाव के कारण अधिकांश भुगतान नकदी मे ही किए जाते हैं तो आसचन प्रवृत्ति अधिक बलवान होगी।

(३) लोगों का स्वभाव (Nature of the People)—बचत का कौनसा भाग आसचित कोषों मे जायगा और कौनसा भाग पूंजी के रूप मे उपयोग किया जायगा। यह इस बात पर भी निर्भर होता है कि लोग किस अंश तक जोखिम उठाने के लिए तैयार हैं ? हमारे देश में धन को गाड़कर रखने और छुपाने की प्रवृत्ति काफी बलवान है, इसलिए आसचन अधिक होता है।

आधुनिक काल मे दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियां एक ही साथ दृष्टिगोचर होती हैं। एक ओर तो लगभग सभी देशों मे राष्ट्रीय आय, आर्थिक विकास और बैंकिंग तथा विनियोगों की उन्नति हो रही है, जिसके कारण बचत करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है और आसचन की आदत घटती जा रही है। दूसरी ओर सामाजिक सुरक्षा (Social Security) प्रणाली का विकास हो रहा है, जिसके अन्तर्गत भविष्य की अनिश्चितता एक बड़े अंश तक दूर होती है और आश्रितों के लिए भी चिन्ता कम हो जाती है। इससे बचत करने की इच्छा और आवश्यकता दोनों घट जाती हैं। किंचित भविष्य में व्यक्तिगत बचत में काफी कमी हो जाय, परन्तु सौभाग्य से अब राज्यों ने बचत और पूंजी निर्माण का कार्य अपने हाथों मे ले लिया है, इसलिए व्यक्तिगत बचत की कमी लोक अथवा सार्वजनिक बचत (Public Savings) द्वारा पूरी हो जाने की आशा है। भविष्य के विषय मे हम यही कह सकते हैं कि पूंजी के निर्माण की गति (Rate of

Capital formation) तेज़ी के साथ बढ़ेगी। समाजवादी देशों में तो लगभग सारी की सारी राष्ट्रीय पूँजी सरकार द्वारा ही उपलब्ध की जाती है। आर्थिक नियोजन (Economic Planning) द्वारा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विकास की जो सम्भावना पैदा हो गई है, उसने राज्य द्वारा पूँजी निर्माण की प्रवृत्ति को ओर भी बढ़ा दिया है।

भारतीय पूँजी शर्मीली है (Indian Capital is Shy)—

भारत में पूँजी को शर्मीली कहा जाता है। यहाँ एक ओर तो बचत ही कम होती है, क्योंकि लोगों की बचत करने की क्षमता कम है। दूसरी ओर बचत का अधिकांश भाग असंचित कोषों (Hoards) में लुप्त हो जाता है या जेवरात बनाने में लगा दिया जाता है। हमारे देश के रीति-रिवाज तथा हमारे देश की धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियाँ एक बड़े अंश तक इस स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। सौभाग्य से अब ऐसी दशाएँ उत्पन्न होती जा रही हैं कि पूँजी का निर्माण बढ़ता जा रहा है। लोगों की असंचय प्रवृत्ति भी धीरे-धीरे घट रही है। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत पूँजी का निर्माण तेज़ी के साथ बढ़ने की आशा की जाती है।

QUESTIONS

1. नोट लिखिए—अचल और चल पूँजी (Agra, B. A., 1959)
2. किसी भी देश में पूँजी का विकास किन कारणों से होता है? भारतवर्ष में किन बातों ने इसमें बाधा डाली है उनकी समीक्षा कीजिए। (Agra, B. A., 1958)
3. वे कारण बतलाइये जो किसी देश में पूँजी बढ़ाने में सहायक होते हैं। उनको आप भारत में कहाँ तक लागू होते हुए पाते हैं? (Agra, B. Com., 1959)
4. What are the functions of Capital? What do you understand by "capitalistic production"? Does it *necessarily* involve a roundabout process. What evils, if any, are attached to it? (Agra, B. Com., 1956)
5. Discuss the factors determining the formation of capital in a country discussing how these factors are encouraging or hindering the formation of capital in our country? (Raj. B. Com., 1959)
6. Discuss the factors that *influence* capital *formation* in a country. (Delhi, B. A., 1955)
7. Analyse the factors governing formation of capital in a capitalistic society. (Delhi, B. A., 1951)
8. Discuss the part played by capital in modern industry and commerce. (Agra, B. Com., 1954)

अध्याय २१

संगठन अथवा व्यवस्था

(Organisation)

व्यवस्था का अर्थ—

अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने उत्पत्ति का चौथा साधन संगठन अथवा व्यवस्था (Organisation) बताया है। इस साधन को बहुधा दो भागों मे बांटा जाता है:-- (१) प्रबन्ध (Management) और (२) साहस (Enterprise)। उत्पत्ति के सभी साधनो के मिलकर काम करने से ही उत्पादन होता है, परन्तु किस-किस साधन को कितनी-कितनी मात्रा मे और किस प्रकार काम मे लाया जाय, यह प्रश्न बहुधा महत्त्वपूर्ण होता है। प्रबन्ध की आवश्यकता इसलिए पडती है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनो को एकत्रित करना पडता है और उन्हे एक निश्चित अनुपात में काम पर लगाया जाता है। उत्पत्ति मे कुशलता प्राप्त करने के लिए बहुधा श्रम-विभाजन की भी आवश्यकता पडती है। काम मे लगाने के पश्चात् उत्पत्ति के साधनो की देख-भाल भी आवश्यक होती है। ये सभी काम प्रबन्धक अथवा व्यवस्थापक द्वारा ही किये जाते हैं। साहसी का काम इससे बिल्कुल भिन्न होता है। साहसी उत्पत्ति सम्बन्धी जोखिम (Risk) को उठाता है, क्योकि बिना जोखिम उठाये किसी भी प्रकार की उत्पत्ति सम्भव नही होती है।

प्रबन्धक के कार्य को आधुनिक अर्थशास्त्र मे एक प्रकार का श्रम ही कहा जाता है। जैसा कि विदित है कि शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के मानव परिश्रम को अर्थशास्त्र मे श्रम कहा जाता है। प्रबन्धक का कार्य शारीरिक और मानसिक प्रयत्न का ही मिश्रण होता है, इसलिए उसे भी एक प्रकार का श्रम कहना ही उचित होगा। अधिक से अधिक इसे हम एक विशेष प्रकार का श्रम कह सकते हैं। प्रबन्धक वह व्यक्ति होता है, जो उत्पत्ति के विभिन्न साधनो से उनकी योग्यता के अनुसार काम लेता है। फिर भी साधारण श्रमिक और प्रबन्धक के कार्यों मे थोड़ा सा अन्तर अवश्य होता है। एक प्रबन्धक का अधिकांश कार्य मानसिक होता है। इसके अतिरिक्त कोई भी श्रमिक प्रबन्धक द्वारा निर्धारित कार्य ही करता है।

साहसी और उसका महत्त्व (The Entrepreneur and his Role in Production) —

साहसी उत्पत्ति से सम्बन्धित जोखिम को उठाता है। आर्थिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्था मे श्रमिक स्वतन्त्र था, उसके पास अपनी निजी भूमि, कारखाना

और पूँजी होती थी तथा वह स्वयं अपने ही हाथ से काम करता था। उस समय श्रमिक स्वयं ही भूमिपति, श्रमिक, पूँजीपति और साहसी चारों के काम करता था। आधुनिक काल में व्यवसायों का आकार इतना बढ़ गया है कि किसी एक व्यक्ति के लिए इन सभी कार्यों का सम्पन्न करना सम्भव नहीं है। इसी कारण साहसी की आवश्यकता पड़ती है। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का एक-दूसरे से लगभग कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है। साहसी विभिन्न उत्पत्ति के साधनों को एकत्रित करता है और उन्हें उत्पत्ति के काम में लगाता है। उत्पत्ति में उसका महत्व निम्न प्रकार होता है :—

(१) साहसी संगठन के कार्य में विशेषज्ञता प्राप्त करता है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि उसके पास अपनी स्वयं की भूमि अथवा पूँजी हो और वह स्वयं कोई परिश्रम करे, परन्तु उसका सबसे बड़ा गुण यह होता है कि उसमें संगठन अथवा व्यवस्था की योग्यता होती है। वह भूमि, श्रम, पूँजी और अन्य आवश्यक साधनों को जुटाता है तथा उनका इस प्रकार उपयोग करता है कि सर्वोत्तम फल प्राप्त हो।

(२) साहसी उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के बीच समन्वय तथा सह-सम्बन्ध (Co-ordination and Correlation) स्थापित करता है। उत्पत्ति के कार्य का आरम्भ उसी के द्वारा किया जाता है और वही उसके संगठन तथा निरीक्षण का कार्य करता है। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का पारितोषण चुकाने का उत्तरदायित्व भी वही लेता है। सभी साधनों को उनके हिस्से देने के पश्चात् जो कुछ बचता है, उसी में से वह अपना पारितोषण लेता है।

(३) वह उपभोक्ताओं की इच्छाओं, अर्थात् उनकी माँग का पता लगाने का प्रयत्न करता है और उसी के अनुसार उत्पत्ति की मात्रा तथा उसकी किस्म में परिवर्तन करता है। उसके पारितोषण, अर्थात् लाभ की मात्रा इस बात पर निर्भर होती है कि उपभोक्ताओं की भावी माँग के सम्बन्ध में उसका अनुमान कितना सही है।

(४) साहसी उत्पत्ति सम्बन्धी जोखिम अथवा अनिश्चितता को उठाता है। उत्पत्ति से सम्बन्धित जोखिम ज्ञात अथवा अज्ञात हो सकती है। सभी प्रकार की जोखिम उठाना साहसी का काम होता है। वास्तविकता यह है कि जोखिम उठाना और व्यवस्था करना यही दो साहसी के प्रमुख कार्य हैं।

कुछ लेखकों ने साहसी के कार्यों को तीन भागों में विभाजित किया है :— (क) प्रशासन सम्बन्धी कार्य (Administrative Functions), (ख) वितरण सम्बन्धी कार्य (Distributive Functions) और (ग) जोखिम सहन सम्बन्धी कार्य (Risk-taking Functions)।

(क) प्रशासनात्मक कार्य—

(१) साहसी व्यवसाय विशेष की एक योजना तैयार करता है, जिसमें आदि से अन्त तक सम्पूर्ण उत्पत्ति सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन होता है। वह इस बात

का निर्णय करता है कि कौनसी वस्तु कहाँ, कैसे और कितनी मात्रा में तैयार की जायेगी ?

(२) उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर देने के पश्चात् साहसी को यह भी निर्णय करना होता है कि उत्पत्ति का पैमाना कैसा हो अर्थात् उत्पत्ति की इकाई का आकार (Size of the plant) क्या हो ? उत्पत्ति का आकार किन-किन बातों पर निर्भर रहता है, यह हम एक अगले अध्याय में बतायेंगे।

(३) वह इस बात का भी निर्णय करता है कि कितने और किस-किस प्रकार के श्रमिक काम मे लगाये जायें तथा किस प्रकार के यन्त्र, कच्चा माल और मशीन काम मे लाई जाएँ ?

(४) वह उत्पत्ति के साधनों को एक स्थान पर एकत्रित करके प्रतिस्थापन नियम (Law of Substitution) के अनुसार उन्हे एक ऐसे सर्वोत्तम अनुपात मे उपयोग करने का प्रयत्न करता है, जिसके फलस्वरूप अधिक से अधिक उत्पत्ति कम से कम व्यय पर हो। इसके अतिरिक्त वह इस बात का निर्णय भी करता है कि किस प्रकार की अथवा किस श्रेणी की वस्तु तैयार होगी तथा कौन और कैसी वस्तु तैयार की जाये ? इन प्रश्नों का उत्तर देते समय साहसी को उपभोक्ता की रुचि का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि कारखाना कहाँ खोला जाये, साहसी तुलनात्मक व्यय नियम (Principle of Comparative Costs) को दृष्टि मे रखता है।

(५) कुछ दिन पहले संगठन का कार्य भी साहसी स्वयं ही सम्पन्न करता था। इसी कारण प्राचीन आंग्ल अर्थशास्त्री व्यवसाय के संगठन को उसका मुख्य कार्य बताते है, परन्तु मिश्रित पूंजी प्रणाली (Joint-stock System) के प्रचलन के कारण यह काम अब वेतनभोगी प्रबन्धक (Salaried Manager) करते है।

(६) वह उत्पत्ति की नई-नई विधियों की खोज करता है तथा नए नए व्यवसायों को लेकर औद्योगिक तथा आर्थिक क्षेत्र मे पथ-प्रदर्शक (Pioneer) का कार्य करता है।

(७) यही नही, उसे तैयार वस्तु की बिक्री का भी प्रबन्ध करना पडता है, यद्यपि ये सब काम प्रबन्ध के है, तथापि इतने महत्वपूर्ण हैं कि साहसी भी अपने को इस सम्बन्ध मे उत्तरदायी समझता है।

(८) साहसी यह भी निश्चय करता है कि प्रतिस्पर्धियो के सम्बन्ध मे कम्पनी की क्या नीति होगी ? इस नीति का निश्चय भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस पर बहुधा व्यवसाय की सफलता तथा विफलता निर्भर रहती है।

(९) कम्पनी की वस्तुओं का किस प्रकार विज्ञापन हो, इस प्रश्न का भी साहसी ध्यानपूर्वक अध्ययन करता है। वस्तु का निर्माण कर लेने से ही काम नहीं चलता है, बल्कि सबसे आवश्यक बात है तैयार माल की बिक्री। बिक्री के लिए

विज्ञापन उतना ही आवश्यक है जितना गाड़ी के लिए घोड़ा अथवा कार के लिए पैट्रोल ।

(१०) कम्पनी का सम्बन्ध उपभोक्ता, बैंक, बीमा कम्पनी, कच्चा माल तैयार करने वाले, आदि से ही नही होता है, बल्कि उसे पग पग पर देश की सरकार के सम्पर्क मे आना पड़ता है । साथ ही साथ, देश की जनता को भी अपने साथ रखना पड़ता है । इस प्रकार साहसी को यह भी निर्णय करना पडता है कि कम्पनी सरकार तथा जनता के प्रति कैसी नीति रखेगी ?

(ख) वितरणात्मक कार्य—

साहसी का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य भूमि, श्रम और पूँजी को उनका पारिश्रमिक देना है । यह पारिश्रमिक व्यवसाय की आय मे से दिया जाता है । व्यवसाय मे हानि हो अथवा लाभ, उत्पत्ति के अन्य साधनो को तो पारिश्रमिक अथवा पुरस्कार मिलता ही है ।

(ग) अनिश्चितता का सहन करना—

जोखिम उठाना साहसी का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है । यह कार्य ऐसा नही है, जो किसी दूसरे व्यक्ति को सौंपा जा सके । व्यवसाय की सफलता अथवा विफलता का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व साहसी ही के ऊपर होता है । जैसा कि स्पष्ट है, आजकल उत्पत्ति प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन करने वालो के लिए नही की जाती है, वरन् मण्डी के लिए की जाती है । साहसी की सम्पूर्ण उत्पत्ति योजना मण्डी के माँग सम्बन्धी अनुमान के आधार पर बनाई जाती है । यह अनुमान गलत भी हो सकता है । ऐसी दशा मे साहसी को हानि उठानी पडती है । इसके विपरीत यदि यह अनुमान ठीक सिद्ध होता है अथवा पूर्ति माँग की अपेक्षा कम रह जाती है तो साहसी को लाभ होता है । इस प्रकार आधुनिक उत्पादन प्रणाली के अनुसार प्रत्येक व्यवसाय मे एक प्रकार अनिश्चितता रहती है, जो मापी नही जा सकती है । इस अनिश्चितता का सहन करना साहसी का काम है । यह उसका एक विशेष उत्तरदायित्व है और इसी के कारण पूँजीवाद के अन्तर्गत साहसी उत्पादन प्रणाली का एक प्रमुख स्तम्भ है ।*

साहसी के कार्यों का हस्तान्तरण (Delegation of the Entrepreneurial Functions)—

विगत वर्षों मे व्यावसायिक जगत मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं और धीरे धीरे साहसी अपने कार्यों का हस्तान्तरण करता गया है । प्राचीन व्यावसायिक नियम यह था कि नियन्त्रण और जोखिम दोनो एक ही व्यक्ति का उत्तरदायित्व थे । धीरे-धीरे यह स्थिति बदल गई है । अब साहसी का कार्य तीन अलग-अलग भागो मे बँट गया है—(१) जोखिम सम्मिलित पूंजी कम्पनी (Joint-stock Company) के साधारण अंशधारी (Shareholders) उठाते हैं, (२) व्यवसाय का संगठन

*Benham : *Economics*, p. 175-76.

साहसी द्वारा किया जाता है और (३) प्रबन्ध वेतनभोगी कर्मचारियों (Salaried Employees) के हाथ मे रहता है। बीमा कम्पनियो के विकास ने साहसी द्वारा जोखिम उठाने की समस्या भी काफी सरल बना दी है। कर्मचारियो के गबन (Enbe:zlement), फैक्टरी में आग लग जाने और माल के खराब अथवा नष्ट हो जाने की जोखिम ने भी वह बीमा कराकर बच जाता है। साहसी सट्टेबाजो के साथ हुँघ-रक्षण ठेके (Hedging Contracts) करके कच्चे माल की कीमतो के परिवर्तन को जोखिम से भी बच सकता है। बहुत बार तो व्यावसायिक हानि का एक भाग साहसी के श्रमिकों के ऊपर भी पड़ता है। इस प्रकार वित्तीय जोखिम तो अंशधारी उठाते है और अन्य प्रकार की जोखिम बीमा कम्पनियाँ, सट्टेबाज तथा दूसरे व्यक्ति उठा लेते है और प्रबन्ध का काम वेतनभोगी कर्मचारी करते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि फिर साहसी के लिए क्या कार्य शेष रह जाता है? क्या आधुनिक व्यावसायिक जगत मे उसकी आवश्यकता शेष नही रही है?

इस प्रश्न के उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि इतना सब कुछ हो जाने के पश्चात् भी साहसी के बहुत से कार्य बच रहते हैं। साहसी बहुधा अपने पास से भी कुछ न कुछ पूँजी लगाता है और उससे सम्बन्धित जोखिम उसी के सिर रहती है। बीमा कम्पनियाँ और दूसरे व्यक्ति व्यवसाय से सम्बन्धित जोखिम नही उठाते है, वह तो फिर भी साहसी को ही उठानी पडती है। जिस प्रकार साहसी अपनी सभी प्रकार की जोखिम सट्टेबाजो के ऊपर नही डाल सकता है, उसी प्रकार यद्यपि जोखिम का एक अंश श्रमिको पर भी पडता है, परन्तु वास्तविक जोखिम तो साहसी ही उठाता है। निष्कर्ष के रूप मे हम यही कह सकते हैं कि यद्यपि साहसी ने अपने बहुत से कार्य दूसरो को सौंप दिये हैं परन्तु फिर भी बहुत से महत्वपूर्ण कार्य ऐसे बच रहे हैं जो साहसी को ही करने पड़ते हैं।*

प्रबन्धक की कुशलता—

वही प्रबन्धक कुशल समझा जाता है, जो या तो एक निश्चित मात्रा का माल कम से कम लागत पर उत्पन्न कर सके, या एक निश्चित उत्पादन व्यय में अधिक से अधिक माल तैयार कर सके। प्रबन्धक की कुशलता की यही दो कसौटियाँ हैं। प्रबन्धक की कुशलता दो बातो पर निभर रहती है:—पहली, उत्पत्ति मे काम आने वाले साधनों की कुशलता और दूसरी, उसकी निजी कुशलता। उत्पत्ति के साधनो की कुशलता के सम्बन्ध मे तो पहले ही लिखा जा चुका है। प्रबन्धक की निजी कार्य-क्षमता के लिये उसमे निम्नलिखित गुण होने आवश्यक हैं :—

---

* "The function of risk-taking cannot be turned over to an employee working for a salary. It is essentially the function of a businessman himself."—Carver : *The Distribution of Wealth,* Chapt. VII.

(१) दूरदर्शिता, विचार करने की शक्ति तथा विस्तृत ज्ञान—यह ऊपर लिखा जा चुका है कि प्रबन्धक की सफलता बहुत कुछ उसकी बाजार की स्थिति का ठीक ठीक अनुमान लगाने की योग्यता पर निर्भर रहती है। उसमे वस्तु की माँग का ठीक अनुमान लगाने की योग्यता होनी चाहिये। साथ ही, उसमे इसका भी अनुमान लगाने की क्षमता होनी चाहिये कि वह उस माँग के कौन से भाग की पूर्ति कर सकता है। यह कोई सरल कार्य नही है। आधुनिक उत्पत्ति प्रणाली के अन्तर्गत प्रबन्धक को वस्तु के बाजार में आने से महीनो पहले अपनी उत्पत्ति योजना को तैयार करना पड़ता है। ऐसा करने के लिये उसे देश की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दशा का अध्ययन करना पड़ता है। उसे इस बात को भी ध्यान मे रखना पड़ता है कि उसके प्रतिद्वन्दी उस वस्तु को किस मूल्य पर बाजार मे बेच रहे हैं। इन सब बातो के लिये यह आवश्यक है कि प्रबन्धक मे दूरदर्शिता हो और साथ ही साथ विस्तृत ज्ञान तथा विचार शक्ति भी हो। यदि उसमे इन गुणो का अभाव है तो वह सफल प्रबन्धक नही हो सकता है।

(२) संगठन की योग्यता—भूमि और श्रम उत्पत्ति के मूल साधन हैं, इनमें श्रम ही सक्रिय है। आजकल जब मिलो और कारखानो में हजारो श्रमिक काम करते है तो यह आवश्यक है कि प्रबन्धक में श्रमिको से उचित व्यवहार करने की योग्यता हो। उसे मानव प्रकृति का ज्ञान होना चाहिये, तभी वह श्रमिको से अधिक से अधिक काम ले सकता है। मजदूरो के प्रति सफल होने के लिये यह आवश्यक है कि प्रबन्धक को यह ज्ञान हो कि किस वर्ग के मजदूरो से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये ? उसको न तो बहुत कठोर ही होना चाहिये और न बहुत नम्र ही। उसका मजदूरो के प्रति ऐसा व्यवहार होना चाहिये कि मजदूर यह भली भाँति समझ लें कि वे मनमानी नही कर सकते हैं और यदि वे काम अच्छा करेंगे, तो उन्हें लाभ होगा। उसमे ऐसी शक्ति और योग्यता होनी चाहिये कि वह श्रमिको को उनकी कार्यक्षमता के अनुसार काम दे सके। इसमे सन्देह नही है कि यह सर्वदा सम्भव नही हो सकता है, तथापि जहाँ तक सम्भव हो, ऐसा होना चाहिये। ठीक-ठीक श्रम-विभाजन पर भी उत्पत्ति की कुशलता, श्रमिको की कार्यक्षमता और प्रबन्ध की सफलता बहुत सीमा तक निर्भर रहती है। दूसरे शब्दो मे, श्रमिको से ठीक-ठीक काम लेने के लिये यह आवश्यक है कि प्रबन्धक मे एक नेता के गुण हो। आजकल उद्योग धन्धे और वाणिज्य में नेतृत्व का वही महत्व है, जैसा कि युद्ध मे। प्राचीन काल मे युद्ध मे हार-जीत सैनिक की वीरता, शूरता और चातुर्य पर उतनी ही निर्भर थी, जितनी कि एक सेनापति की कुशलता पर। जिसकी सेना मे जितने ही अधिक अच्छे सेनापति होते थे, उतनी ही अधिक उस सेना की विजय की आशा होती थी, परन्तु आजकल हार-जीत का निर्णय एक ऐसे व्यक्ति पर निर्भर है, जो लड़ाई के मैदान से बहुत दूर, टेलीफून के तारो के जमघट के बीच बैठा है, जिसके सामने सम्भवतः कुछ कागज फैले हों, जो यह निर्णय करता है कि युद्ध किस प्रकार होगा, जिससे शत्रु को अधिक से अधिक मोरचों पर हार

खानी पडे और उसकी पराजय हो जाय। इसी प्रकार आधुनिक उद्योग-धन्धो और वाणिज्य में भी सफलता अधिकतर प्रबन्धक की सचालन शक्ति पर ही निर्भर होती है।

(३) प्रबन्धक के गुण—प्रबन्धक की कुशलता केवल इसी मे नही है कि वह इस बात का ठीक-ठीक अनुमान लगा ले कि कौन सी वस्तु किस मात्रा मे तैयार की जाय ? उसे इस बात का भी ज्ञान होना चाहिये कि वे कौन सी नई नई वस्तुएँ है, जिनकी माँग है और वे कौन सी पुरानी वस्तुएँ है, जिनकी माँग अधिक है। इसके अतिरिक्त उसके लिए उत्पत्ति की नई नई विधियो तथा उपयोग मे आने वाली नई-नई मशीनों के सम्बन्ध मे जानकारी भी अत्यन्त आवश्यक है।

(४) विशिष्ट ज्ञान (Special Knowledge)—प्रबन्धक को उसके व्यवसाय में काम आने वाले कच्चे माल के सम्बन्ध मे भी पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए, उसके लिए इस बात की जानकारी आवश्यक है कि कच्चा माल कहाँ अच्छा मिलता है, इत्यादि ? उसे मशीन आदि की बनावट, परिचालन, आदि का भी पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए।

(५) आत्मविश्वास और विश्वास दिलाने वाली योग्यता—प्रबन्धक को अपने ऊपर विश्वास होना चाहिए, इसके अतिरिक्त उसमे इतनी योग्यता होनी चाहिए कि अन्य व्यक्तियों को अपने तथा अपने व्यवसाय के सम्बन्ध मे विश्वास दिला सके। विश्वास दिलाने की योग्यता आजकल विशेषतया महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आधुनिक व्यवसाय अधिकतर उधार ली हुई पूँजी से चलाये जाते है। पूँजीपति उधार तब दे सकता है, जब उनको इस बात का विश्वास हो कि उनका रुपया डूब नही सकता है, इसलिए यह आवश्यक है कि पूँजीपति का प्रबन्धक की योग्यता में विश्वास हो। इसके अतिरिक्त प्रबन्धक के नीचे जो कर्मचारी होते है, वे भी काम तभी ठीक-ठीक कर सकते हैं, जब उनको प्रबन्धक और उनकी कुशलता मे विश्वास हो, अन्यथा नही।

यह बहुधा देखा जाता है कि बहुत से सफल प्रबन्धक अपना काम स्वाभाविक अथवा सहज प्रवृत्ति (Instinct) से करते है न कि किसी विशेष विचार के कारण। वे यह तो जानते है कि किसी दशा विशेष मे उन्हें क्या करना चाहिए या क्या करना ठीक है, परन्तु ऐसा करने का वे कारण प्रस्तुत नही कर सकते है। एक आदर्श प्रबन्धक में जो गुण होने चाहिए, वे इतनी उच्च कोटि के होते है कि वास्तविक जीवन मे कम ही मिलते है। कुछ व्यक्तियों मे कुछ गुण होते है और कुछ मे दूसरे। कुछ प्रबन्धक तो अपने गुणो के ही कारण सफल होते है, परन्तु कुछ ऐसे भी होते है जिनकी सफलता का मुख्य कारण उनकी चालाकी है। इसी प्रकार कुछ प्रबन्धक अपने अनुशासन के कारण सफल होते है। तात्पर्य यह है कि अच्छे से अच्छे प्रबन्धक भी आदर्श से बहुत नीचे होते है। इसीलिए वेबलन (Veblen) का कथन है कि प्रबन्धक का मुख्य उद्देश्य अधिकतम् उत्पत्ति नही है, वरन् अधिकतम् लाभ है।

QUESTIONS

1. Write a short note on—Characteristic functions of 'organisation' as a factor of production. (Agra, B. Com., 1958)
2. "The first condition of an efficient organisation of industry is that it should keep everyone employed at such work as his ability and training fit him to do well and should equip him with the best machinery and appliances for his work." (Marshall). Do you agree? (Agra, B. A., 1941)
3. Discuss the functions of the "Entrepreneur" in the organisation of large scale industries. (Agra, B. A., 1944)

अध्याय २२

उत्पत्ति का पैमाना

(The Scale of Production)

बड़ा और छोटा पैमाना—

प्रत्येक साहसी को यह निश्चित करना पडता है कि उसकी फर्म अथवा उत्पादन इकाई का आकार कितना बड़ा रहेगा। कारण यह है कि किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए उत्पादन इकाई का एक निश्चित आकार ही सबसे अधिक लाभप्रद होता है। इस सम्बन्ध मे हम दो प्रकार की उत्पत्ति मे भेद करते हैं—बहु-मात्रा अथवा बड़े पैमाने की उत्पत्ति (Large-Scale Production) और लघु-मात्रा अथवा छोटे पैमाने की उत्पत्ति (Small Scale Production)। इस बात का पता लगाने के लिए कि किसी देश मे किसी एक वस्तु का उत्पादन छोटे पैमाने पर हो रहा है अथवा बड़े पैमाने पर, हम इस बात पर ध्यान नही देते हैं कि देश में उद्योग विशेष द्वारा कुल मिलाकर कितनी उत्पत्ति की जाती है, बल्कि हम यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि देश मे प्रति उत्पादन इकाई उत्पत्ति की मात्रा कितनी होती है। यदि प्रति उत्पादन इकाई उत्पत्ति की मात्रा अधिक है तो उत्पत्ति का पैमाना बड़ा होगा। जब उत्पत्ति का पैमाना छोटा है तो प्रत्येक उत्पादन इकाई थोड़ी मात्रा में उत्पत्ति करती है।

ऊपर हमने छोटे और बड़े पैमाने की उत्पत्ति का जो भेद दिया है, वह बडा ही अस्पष्ट है, क्योंकि ऐसा कहने का लगभग कुछ भी अर्थ नही होता है कि जब उत्पादन की प्रत्येक इकाई द्वारा अधिक मात्रा में उत्पत्ति की जाती है तो उत्पत्ति का पैमाना बड़ा होता है। निश्चितता लाने के लिए यह बताना आवश्यक होगा कि किस मात्रा तक की उत्पत्ति छोटे पैमाने की उत्पत्ति कहलायेगी और फिर बड़े पैमाने की उत्पत्ति कहाँ से आरम्भ हो जायगी। दोनो प्रकार की उत्पत्ति में भेद करने की हम एक दूसरी रीति अपना सकते है। *यदि किसी फैक्टरी अथवा कारखाने में कर्मचारियों की संख्या इतनी है कि व्यवस्थापक प्रत्येक कर्मचारी से प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रख सकता है तो उत्पत्ति का पैमाना छोटा होगा। इसके विपरीत यदि कर्मचारियों की संख्या इतनी अधिक है कि व्यवस्थापक के लिए सभी कर्मचारियों से प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखना सम्भव नहीं है तो उत्पत्ति का पैमाना बड़ा होगा।* अलग अलग उद्योगो मे उनकी प्रकृति के अनुसार व्यवस्थापक की कर्मचारियों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क रखने की क्षमता अलग-अलग हो सकती है। कुछ उद्योगो मे प्रति उत्पादन इकाई उत्पत्ति की मात्रा के अधिक होते हुए भी उत्पत्ति का पैमाना छोटा हो सकता है, क्योंकि उद्योग की प्रकृति ही ऐसी हो सकती है कि व्यवस्थापक प्रत्येक श्रमिक को व्यक्तिगत रूप मे जानता हो। इस प्रकार छोटे और बड़े पैमाने की उत्पत्ति का आकार सभी उद्योगों मे समान नही होता। साधारणतया निर्माण उद्योगो (Manufacturing Industries) मे बड़े पैमाने की उत्पत्ति के अन्तर्गत प्रति इकाई उत्पादन की मात्रा कृषि उद्योग की तुलना मे बहुत अधिक होती है। भूतकाल में अधिकांश उत्पत्ति प्रायः छोटे पैमाने पर ही होती थी। कृषि मे भी उत्पत्ति का पैमाना छोटा था और अधिकांश औद्योगिक उत्पादन कुटीर उद्योगो (Cottage Industries) द्वारा किया जाता था। कालान्तर में उत्पत्ति का पैमाना बढ़ता गया है। आधुनिक युग बड़े पैमाने का ही युग है और यह आशा की जाती है कि भविष्य मे उद्योगों की उत्पत्ति के पैमानों का और भी अधिक विस्तार होगा।

बड़े पैमाने की उत्पत्ति मे बचत (Economies of Large Scale Production)—

बड़े पैमाने पर उत्पत्ति करने की प्रवृत्ति बराबर बढती जा रही है। मशीनो के आविष्कार और बैंकिंग के विकास ने इस प्रवृत्ति को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया है, परन्तु बड़े पैमाने की उत्पत्ति की लोकप्रियता के प्रमुख कारण आर्थिक है। ऐसे पैमाने की उत्पत्ति का कुछ विशेष प्रकार की बचतें प्राप्त होती है, जिनके कारण इसमे लाभ होता है। ये बचत दो प्रकार की होती है:—(१) उत्पादन शक्ति की बचत (Economies of Productive Power) और (२) प्रतियोगिता शक्ति की बचत (Economies of Competitive Power)। उत्पादन शक्ति की बचत का अभिप्राय यह होना है कि बड़े पैमाने की उत्पत्ति के अन्तर्गत फर्म विशेष की उत्पादन शक्ति बढ़ जाती है।

वह कम लागत पर अधिक मात्रा मे और अधिक अच्छा माल तैयार करती है। इसके साथ ही साथ दूसरी फर्मो और पूरे सामान की भी उत्पादन शक्ति बढ जाती है। उत्पादन क्षमता की बचतो को हम निम्न दो भागो में बाट सकते है।

(१) बाह्य बचत (External Economies)—इस प्रकार की बचत मे हम उन बचतो को सम्मिलित करते है, जो एक उत्पादक को उत्पादन इकाई के बाहर से प्राप्त होती है। इस प्रकार की बचतो का फर्म के भीतरी सगठन से लगभग कुछ भी सम्बन्ध नही होता है। वे उन कारणो से उत्पन्न होती हैं, जो फर्म के अधिकार-क्षेत्र से बाहर होते हैं। ऐसी बचत का सम्बन्ध किसी विशेष फर्म से नही होता है, बल्कि सारे उद्योग से होता है। सभी फर्म या कारखाने, जो उद्योग विशेष मे भाग लेते है, इन बचतो को प्राप्त कर सकते है। ऐसी बचतो की मात्रा सारे उद्योग के विकास की स्थिति पर निर्भर होती है। उदाहरणस्वरूप, जब माल अधिक मात्रा मे खरीदा जाता है तो वह कुछ सस्ता मिल जाता है और अधिक माल ढोने के लिए यातायात कम्पनियाँ भाडे की दर नीची कर देती हैं। बाह्य बचतो मे स्थानीयकरण (Localisation) के लाभ, यातायात और सम्वादवाहन के साधनो के विकास के लाभ, बाजार और बैंकिंग के विकास के लाभ आदि भी सम्मिलित होते हैं। ऐसे लाभो की मात्रा बहुधा देश के सामान्य आर्थिक विकास पर निर्भर होती है। उन्नतिशील देशों में कम-उन्नत देशो की तुलना मे इस प्रकार की बचत अधिक होती है।

(२) अभ्यान्तरिक अथवा भीतरी बचत (Internal Economies)—इस प्रकार की बचत का सम्बन्ध कारखाने की भीतरी व्यवस्था से होता है। इस प्रकार की बचत मे उन सब सुविधाओ को सम्मिलित किया जाता है, जो कारखाने के भीतरी संगठन की दशाओ मे सुधार के कारण उत्पन्न होती है। ऐसी सुविधाओं का सम्बन्ध फर्म विशेष से होता है, सारे उद्योग से नही होता है। एक बड़े अश तक इस प्रकार की सुविधाएँ प्रबन्धक की व्यक्तिगत कुशलता और योग्यता पर भी निर्भर होती हैं। एक चतुर और अनुभवी प्रबन्धक अपने कारखाने मे उत्पादन की नई और वैज्ञानिक रीतियो का उपयोग करके उत्पत्ति की कुशलता को बढा सकता है। वह उत्पत्ति के साधनो के उपयोग की नई और अधिक मितव्ययी रीतियां निकाल सकता है। सबसे बड़ा लाभ श्रम-विभाजन (Division of Labour) के वैज्ञानिक और सूक्ष्म विकास के कारण होता है।

इस सम्बन्ध मे किंचित यह कहना असगत न होगा कि वर्तमान युग मे शिक्षा, विज्ञान तथा शिल्प ज्ञान के विकास के कारण बाह्य बचतें अभ्यान्तरिक बचतो की तुलना मे अधिक तेजी के साथ बढ रही है, यद्यपि श्रम विभाजन की उन्नति ने अभ्यान्तरिक बचत को भी प्रोत्साहित किया है। आधुनिक युग की महत्वपूर्ण बात यह है कि विशिष्ट ज्ञान और औद्योगिक रहस्य धीरे-धीरे सभी उत्पादकों को प्राप्त होते जा रहे है।

प्रतियोगी शक्ति की बचत (Economies of Competitive Power)—

इन बचतों में हम उन लाभों को सम्मिलित करते है जो एक बड़ी फर्म को छोटी फर्मों के साथ प्रतियोगिता करने में प्राप्त होते हैं। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि उत्पादन शक्ति की बचत फर्म तथा समाज दोनों को होती है, परन्तु प्रतियोगिता शक्ति की बचत केवल बड़ी-बड़ी और शक्तिशाली फर्मों को ही प्राप्त होती है। ऐसी बचत भी दो प्रकार की हो सकती है :—

(१) एक बड़ी फर्म बहुधा छोटी-छोटी फर्मों का व्यवसाय छीन लेने में सफल हो सकती है। ऐसा करने के लिए वह विस्तृत और सस्ता विज्ञापन कर सकती है। बिक्री की तुलना में उसका विज्ञापन व्यय भी नीचा होता है, क्योंकि एक ही साथ बहुत सी उपजों का विज्ञापन किया जाता है। पत्र और पत्रिकाएँ इसके विज्ञापनों के लिए कम मूल्य लेती है और बिक्री की मात्रा की तुलना में इसे कम एजेन्ट और बिक्री डिपो रखने की आवश्यकता होती है।

(२) एक बड़ी फर्म के लिए मजदूरियो को कुछ नीचे रखना और उपभोक्ताओं से ऊँची कीमतें वसूल करना भी बहुधा सम्भव होता है। इससे बड़े उत्पादक को तो लाभ होता है, परन्तु समाज को हानि होती है। इसके अतिरिक्त बड़ी फर्म को सस्ती साख की विस्तृत सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, जिसके कारण छोटी फर्मों के लिए उसकी प्रतियोगिता मे रुकना कठिन हो जाता है।

बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लाभ (Advantages of Large-Scale Production)—

बड़े पैमाने की उत्पत्ति के अधिकांश लाभ उन बचतों के कारण पैदा होते है, जो बड़े उत्पादक को प्राप्त होते है। ऐसे लाभों की सविस्तार विवेचना निम्न प्रकार की जा सकती है :—

(१) श्रम तथा मशीन के उपयोग में बचत—ऐसी उत्पत्ति में श्रम और मशीन दोनों का अधिक विशिष्ट उपयोग किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अथवा मशीन का सबसे अधिक लाभदायक उपयोग हो सकता है। श्रम-विभाजन को उसकी चरम सीमा तक ले जाकर प्रत्येक श्रमिक को वह काम दिया जा सकता है, जिसके लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त है। इससे उत्पादन की क्षमता बढती है और उत्पादन व्यय में कमी आती है।

(२) निपुण और योग्य कर्मचारियों का उपयोग—एक बडे उत्पादक के लिए निपुण और योग्य कर्मचारियों का रखना भी सम्भव होता है। कुछ उद्योगों में विशिष्ट प्रकार के श्रम का उपयोग महत्त्वपूर्ण होता है। ऐसे कारखानों मे साहसी कारखाने की सामान्य समस्याएँ अपने प्रबन्धक, फोरमैन (Foreman) आदि को सौंप कर स्वयं नीति निर्माण के कार्य को कर सकता है। एक छोटे पैमाने के उत्पादक

को सभी काम स्वयं ही करने पड़ते हैं। यही कारण है कि बड़े पैमाने की उत्पत्ति मे उत्पादक की कुशलता अधिक होती है। विशिष्ट श्रमिको के उपयोग से उत्पादन की कुशलता भी बढ जाती है।

(३) विशिष्ट यन्त्रों का उपयोग—बड़े पैमाने के कारखानो मे विशिष्ट मशीनो और यन्त्रो का भी उपयोग हो सकता है। अधिकतर ऐसी मशीनें अधिक मूल्यवान होती हैं और छोटा उत्पादक या तो धनाभाव के कारण उनका उपयोग नही कर सकता है या उसके लिए उनका उपयोग लाभदायक नही होता है।

(४) नये यन्त्रों का उपयोग—बड़े पैमाने का उत्पादक नई से नई मशीनो और यन्त्रो का उपयोग कर सकता है। उसके लिए नये आविष्कारो और उत्पत्ति सम्बन्धी नई से नई खोज (Research) का उपयोग सम्भव हो सकता है, क्योंकि उसके पास धन का अभाव नही होता है। इसी प्रकार मरम्मत के लिए भी बड़ा उत्पादक अपने निजी कारखाने खोल सकता है।

(५) आविष्कार और अनुसंधान—एक बड़े पैमाने का उत्पादक अपने कारखाने के लिए आविष्कार और अनुसन्धान का भी प्रबन्ध कर सकता है। वह ऐसे वैज्ञानिकों और शिल्प विशेषज्ञो की सेवाएँ प्राप्त कर सकता है जो उत्पादन की नई रीतियो द्वारा उसके उत्पादन की क्षमता को बढा सकें।

(६) अविशिष्ट पदार्थों का उपयोग—बड़े पैमाने की उत्पत्ति म अविशिष्ट पदार्थों (bye products) को भी फेंक देने की आवश्यकता नही होती है। प्रत्येक उत्पादन कार्य मे किसी न किसी प्रकार की अविशिष्ट उपज अथवा बेकार का सामान अवश्य निकलता है। छोटे छोटे कारखाने ऐसी उपज का कोई उपयोग नही कर पाते हैं। बड़े-बड़े कारखाने इसका भी उपयोग कर लेते हैं। एक बड़ा सूती कपड़े का कारखाना टूटे-फूटे सूत के धागो को दरियाँ बनाने के काम ला सकता है। बड़े कारखाने के पास यह टूट फूट इतनी निकलती है कि एक दूसरा कारखाना इसी के उपयोग के लिये खोला जा सकता है।

(७) शक्ति के उपयोग में बचत—बड़ा उत्पादक शक्ति के उपयोग मे भी बचत कर सकता है। बड़ी तथा नवीन प्रकार की मशीनो मे प्रति उत्पादन इकाई कम शक्ति का व्यय होता है।

(८) माल खरीदने और बेचने मे बचत—बड़े कारखाने को माल के खरीदने और बेचने मे भी बचत होती है। विभिन्न उत्पादक बड़े कारखानेदार को माल बेचने और उसे अपना ग्राहक बनाने के लिए इच्छुक रहते हैं। इस कारण माल अच्छा मिल जाता है और कम दाम पर भी मिलता है। इसके विपरीत बड़ी फर्म के पास विस्तृत बाजार होता है। वह तुरन्त और नियमित रूप मे माल सप्लाई कर सकती है। उसके लिए ग्राहकों के आदेशों को शीघ्र तथा कम व्यय पर पूरा करना सम्भव होता है। यही नहीं, एक बड़ी फर्म योग्य विक्रेताओ, एजेन्टो और बिक्री

विशेषज्ञों की भी सेवाएँ प्राप्त कर सकती है। इससे बाजार की स्थिति का सही ज्ञान मिलता रहता है और बिक्री व्यय कम होता है।

(६) विशाल साधन—बडी फर्म के साधन विशाल होते हैं। सकट के काल में भी ऐसी फर्म के लिए छोटे उत्पादकों की तुलना मे अपने पैरों पर खडे रहना अधिक सरल होता है।

(१०) विज्ञापन-लाभ—बडी फर्म विज्ञापन तथा बिक्री सगठन पर अधिक व्यय कर सकती है। इससे बिक्री बढती है और लाभ अधिक हो जाते है।

(११) पूँजी के उपयोग में बचत—बडे पैमाने के उत्पादक को पूँजी के उपयोग मे भी बचत होती है। ऐसे उत्पादक का आर्थिक मान ऊँचा होता है। उसे कम ब्याज पर और अधिक मात्रा मे ऋण मिल जाते है।

(१२) नीचा यातायात व्यय—यातायात कम्पनियाँ अधिक माल मँगाने वालों और भेजने वालो को भाड़े की दर मे छूट दे देती है। दूसरे लोग भी अधिक माल की सप्लाई और निकासी के लिए नीची दरें रखते है।

(१३) ऊपरी व्यय मे कमी—बड़े कारखानो मे उत्पत्ति की प्रति इकाई के पीछे अनुपूरक व्यय (Supplementary cost) अथवा ऊपरी व्यय (Overhead charges) कम आते हैं। ऐसे व्यय मे हम उद्योग के प्रशासन सम्बन्धी व्यय, जैसे—प्रबन्धकों तथा कार्यालय का व्यय, भूमि या फैक्टरी का लगान, विज्ञापन व्यय आदि को सम्मिलित करते हैं। ऐसे व्यय साधारणतया निश्चित अथवा स्थिर होते है। उत्पत्ति के पैमाने के विस्तार के साथ-साथ यह निश्चित व्यय उत्पत्ति की अधिक इकाइयों पर फैलता जाता है, इसलिए प्रति इकाई उत्पादन व्यय नीचा रहता है। इसी प्रकार उत्पत्ति मे कुछ अविभाज्य (Indivisible) साधनो का भी उपयोग होता है। इनका व्यय न्यूनतम् उसी दशा मे होता है, जबकि उत्पत्ति का पैमाना बडा होता है।

(१४) नीचा पैकिंग व्यय—पैकिंग (Packing) के सम्बन्ध मे भी बडे पैमाने के उत्पादक को लाभ होता है। पैकिंग का काम मशीनो की सहायता से शीघ्रतापूर्वक, कम व्यय पर तथा जल्दी हो जाता है। वैसे भी बड़े पैकिंग (Packing) मे खर्च कम पडता है, जिससे उपभोक्ताओं अथवा ग्राहकों को भी माल कम दाम पर मिल जाता है।

बडे पैमाने की उत्पत्ति सम्बन्धी उपरोक्त लाभ उत्पादक को होते हैं, परन्तु ऐसी उत्पत्ति से श्रमिकों, उपभोक्ताओं तथा जन-साधारण को भी लाभ होता है। बडे पैमाने मे वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन व्यय कम होता है, जिससे वे सस्ती बिकती हैं। इससे उपभोक्ताओं को लाभ होता है और सारे समाज का जीवन-स्तर ऊँचा उठ जाता है। बडे कारखानो के श्रमिकों को भी अनेक सुविधायें मिल जाती है, जैसे—ऊँचे वेतन, अच्छे मकान, चिकित्सा की सुविधा आदि। श्रम विभाजन की सुविधा के

बढ़ जाने के कारण, श्रमिक को उसकी योग्यता और निपुणता के अनुसार काम मिल जाता है। मशीनों के उपयोग के कारण श्रमिकों की गतिशीलता बढ़ जाती है, क्योंकि विभिन्न प्रकार की मशीनों में कोई विशेष अन्तर नहीं होते हैं। बहुत से श्रमिकों के एक साथ रहने के कारण श्रम-संघों का भी विकास होता है, जो श्रमिकों के कल्याण को बढ़ाने में सहायक होता है।

बड़े पैमाने के उत्पादन की सीमाएँ (Limits to Large-scale Production)—

उपरोक्त लाभों के कारण एक फर्म अपना विस्तार करती जाती है। जैसे-जैसे उत्पत्ति का पैमाना बढ़ता जाता है, आन्तरिक और बाह्य बचतें और अधिक मात्रा में फर्म विशेष को प्राप्त होती जाती हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि उत्पत्ति के पैमाने का यह विस्तार कहाँ रुकेगा ? यह जानना आवश्यक है कि इन बचतों की भी एक सीमा होती है, जिसके आगे वे प्राप्त नहीं होती हैं। बड़े पैमाने की उत्पत्ति की दो सीमाएँ होती हैं :—(१) साहसी की योग्यता और शक्ति तथा (२) बाजार की प्रकृति। कभी-कभी बढ़ते-बढ़ते व्यवसाय इतना बड़ा हो जाता है कि वह सेवायोजक (Employer) की शक्ति से बाहर हो जाता है। प्रबन्ध की कठिनाइयों के कारण पैमाने का विस्तार रुक जाता है। इसी प्रकार किसी फर्म के विस्तार की सीमा इस बात पर भी निर्भर होती है कि उपज की माँग की क्या स्थिति है ? साधारणतया बाजार जितना ही अधिक विस्तृत होगा और वस्तु की माँग जितनी ही स्थायी होगी, उतनी ही उत्पत्ति के पैमाने के विस्तार की सम्भावना भी अधिक होगी। प्रो० चैपमैन ने किसी फर्म के विस्तार की अन्तिम सीमाएँ निम्न प्रकार बताई हैं :—*

(१) व्यवस्था की भीतरी जटिलता।
(२) उपज की किस्म का महत्त्व।
(३) मशीनों की मँहगाई।
(४) बाहरी सम्बन्ध, जो बाजारों की प्रकृति पर निर्भर होते हैं।
(५) वस्तु की माँग का स्थायित्व।
(६) उत्पादन विधि की तुलना में उद्योग की स्थिरता।
(७) बड़े पैमाने के उत्पादन की बचतें।

---

* "(i) The internal complexity of arrangement, (ii) the importance of the quality in the output, (iii) the expensiveness of the machinery used, (iv) external relations depending on the nature of the markets touched, (v) stability in the demand for the output, (vi) the stationary character of the industry in relations to methods or otherwise and (vii) the extent of the economies to be secured by producing on a large scale."—Chapman : *The Lancashire Cotton Industry*, p. 169.

बड़े पैमाने की उत्पत्ति के सामाजिक दुष्परिणाम—

बड़े पैमाने के उत्पादन के दोष भी महत्त्वपूर्ण हैं। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

प्रथम, *बड़े उत्पादक के पास विशाल साधन होते हैं।* वह छोटे उत्पादकों के साथ सरलतापूर्वक प्रतियोगिता करके धीरे-धीरे उन्हें समाप्त कर देता है। धन और उत्पत्ति के साधन थोड़े से व्यक्तियों के पास एकत्रित हो जाते हैं। इससे अन्त में एकाधिकार (Monopoly) स्थापित हो जाते हैं, उपभोक्ताओं और जनसाधारण का शोषण होने लगता है और सारे समाज को हानि होती है। एकाधिकारी राजनीतिक भ्रष्टाचार को भी बढ़ाते हैं, क्योंकि उनके पास विशाल आर्थिक शक्ति होती है, जिसका वे दुरुपयोग करते हैं।

दूसरे, *बड़े पैमाने का उत्पादक सभी श्रमिकों से व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं रख सकता है।* इसका परिणाम अन्त मे यह होता है कि मालिक और कर्मचारियों के बीच मन-मुटाव होता है। दोनों ही एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने में असमर्थ रहते हैं, इससे औद्योगिक विवाद (Industrial Disputes) बढ़ते हैं, जो हड़तालों (Strikes) और तालाबन्दी (Lock-outs) के रूप में प्रकट होते हैं तथा देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन की शान्ति भंग कर देते हैं।

तीसरे, *बहुत सी वस्तुएँ और सेवाएँ ऐसी होती हैं, जिनका उत्पादन बड़े पैमाने पर सफल नहीं होता है।* जिन वस्तुओ मे व्यक्तिगत रुचि (Taste) को पूरा करने का गुण आवश्यक होता है, जिनका प्रमापीकरण (Standardisation) नहीं हो सकता है। इसी प्रकार जिन सेवाओ का उत्पादक द्वारा सम्पन्न करना आवश्यक होता है उनका उत्पादन भी बड़े पैमाने पर सफल नही हो सकता है।

चौथे, बड़े पैमाने के उत्पादन के फलस्वरूप देश के भीतर *उत्पादित धन के वितरण में असमानतायें आ जाती हैं।* इससे एक ओर तो देश मे आर्थिक कल्याण घट जाता है और दूसरी ओर समाज मे भारी असन्तोष फैलता है।

पाँचवे, *बड़े पैमाने का उत्पादक बहुधा माँग का सही अनुमान नहीं लगा पाता है।* इसका परिणाम यह होता है कि देश का उत्पादन प्रभाविक माँग (Effective Demand) से कम या अधिक हो सकता है। इससे अति-उत्पादन (Over-production) और न्यून-उत्पादन (Under-production) की समस्याएँ उत्पन्न होती है और आर्थिक जीवन मे संकट (Crisis) आते हैं।

छठे, बड़े पैमाने का उत्पादन *पूँजीवाद और उसकी बुराइयों को प्रोत्साहन देता है।* वह उत्पादक द्वारा समाज का शोषण करने की शक्ति को बढ़ा देता है।

यहाँ पर यह जानना असगत न होगा कि बड़े पैमाने के उत्पादन के अधिकांश दोष यथार्थ मे पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के उपयोग के दोष हैं। वास्तव में स्वयं बड़े पैमाने के उत्पादन मे कोई गम्भीर दोष नही है। यदि ऐसे उद्योगों के बाग

व्यक्तियो को न मिलकर सारे समाज को मिलें तो कोई दोष उत्पन्न न होगा। इस प्रकार यदि बड़े पैमाने का उत्पादन व्यक्तिगत न होकर सामाजिक हो तो कोई भी महत्त्वपूर्ण दोष न रह सकेगा।

छोटे पैमाने के उत्पादन की आवश्यकता—

अनुभव बताता है कि यद्यपि वर्तमान युग बड़े पैमाने के उत्पादन का युग है, परन्तु संसार के उन देशो मे भी जहाँ औद्योगीकरण की अत्यधिक उन्नति हो चुकी है, छोटे पैमाने का उत्पादन अभी तक शेष है, बल्कि कुछ दशाओ में तो उसकी और अधिक उन्नति ही हुई है। निम्न दशाओ मे छोटे पैमाने का उत्पादन लाभदायक होता है :—

(१) उन उद्योगो मे जहाँ विशिष्टीकरण, मशीन और बड़े पैमाने के उत्पादन की दूसरी बचतें प्राप्त नही होती हैं अथवा बहुत ही कम होती हैं वहाँ छोटे पैमाने का उत्पादन ही अधिक सफल होता है। यही कारण है कि अधिकांश देशो मे कृषि उद्योग छोटे ही पैमाने पर चलता है।

(२) जिन उद्योगो मे विशेष निपुणता, सावधानी, योग्यता और देख-रेख की आवश्यकता पड़ती है, जैसे—जेवरात बनाने, मकान बनाने आदि मे, वहाँ बड़े पैमाने पर उत्पत्ति नही हो सकती है। बड़े पैमाने का उत्पादन तभी हो सकता है, जबकि प्रमापीकृत वस्तुओ का उत्पादन हो।

(३) कारीगर अपने व्यवसाय को और अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक समझ सकता है कि थोड़े वेतन तथा छोटा लाभ होते हुये भी छोटे पैमाने पर ही उत्पादन करे। बड़े पैमाने के उत्पादन मे उसकी स्वतन्त्रता और उसका व्यक्तित्व समाप्त हो जाते हैं।

(४) जिन वस्तुओ का बाजार सीमित होता है, उसका उत्पादन सदा ही छोटे पैमाने पर होता है।

(५) जिन वस्तुओ की माँग स्थिर नही होती है, वहाँ भी छोटे पैमाने का उत्पादन ही अधिक सफल होता है।

(६) जिन व्यवसायो मे ग्राहकों की रुचि का विशेष ध्यान रखा जाता है, वहाँ भी छोटे पैमाने का उत्पादन ही अधिक सफल होता है।

(७) जिन उद्योगो की माँग स्थानीय होती है अथवा जहाँ बाजार की निकटता अधिक महत्त्वपूर्ण होती है, वहाँ भी छोटे पैमाने का उत्पादन ही लाभदायक होता है।

छोटे पैमाने के उत्पादन के लाभ—

छोटे पैमाने के उत्पादक को समायोजन (Adjustment), व्यक्तिगत निरीक्षण तथा व्यक्तिगत सम्पर्क के महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त होते हैं। ऐसे उत्पादन के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) लोच और परिवर्तनशीलता—छोटे उत्पादक के उत्पादन में लोच और परिवर्तन करने के भारी गुण होते है। छोटा उत्पादक बाजार की स्थिति के परिवर्तनो के अनुसार अपने उत्पादन मे तुरन्त ही आवश्यक परिवर्तन कर लेता है। उसके व्यवसाय मे विभाजित उत्तरदायित्व (Divided Responsibility) का भी दोष नही होता है।

(२) निरीक्षण की सुविधा—छोटे उत्पादक के लिये व्यक्तिगत निरीक्षण सम्भव होता है। वह माल का अपव्यय अधिक सफलता के साथ रोक सकता है और श्रमिको की कठिनाइयो को समझने तथा आपसी मन-मुटाव को रोकने में अधिक सफल रह सकता है।

(३) व्यक्तिगत सम्पर्क—छोटा उत्पादक ग्राहको से भी व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रख सकता है। उसे ग्राहको की सद्भावना भली भाँति प्राप्त हो सकती है।

(४) सीमित माग—यदि वस्तु विशेष की माँग सीमित होती है तो छोटे उत्पादक को विशेष लाभ प्राप्त होता है।

(५) व्यक्तिगत रुचि—छोटा उत्पादक अपने व्यवसाय का अकेला मालिक होता है। उसे अपने व्यवसाय मे व्यक्तिगत रुचि होती है। इसी कारण वह उत्पादन मे अधिक कुशलता प्राप्त कर सकता है।

(६) धन का न्यायपूर्ण वितरण—छोटे पैमाने के उत्पादन से समाज मे धन का अधिक न्यायपूर्ण तथा समान वितरण होता है। इससे एक ओर तो सामाजिक कल्याण मे वृद्धि होती है और दूसरी ओर सन्तोष और सहयोग को प्रोत्साहन मिलता है, जिसका देश के राजनीतिक जीवन मे भारी महत्त्व होता है।

(७) स्वतन्त्रता एवं उत्साह—छोटे पैमाने के उत्पादन मे श्रमिको की स्वतन्त्रता और उनका उत्साह बना रहता है। अत्यधिक श्रम-विभाजन के दोष यहाँ नही रहते है और न काम नीरस ही रहता है।

(८) मशीन की आवश्यकता नही होती—ऐसे उत्पादन में मशीनों के अत्यधिक उपयोग से सम्बन्धित दोष भी नही रहते है। श्रमिक मशीन का दास बनकर बेकार नही हो जाता है।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति से हानियाँ—

(१) बडी उत्पत्ति वालो को जो भिन्न प्रकार की बचत प्राप्त हैं, वे छोटी उत्पत्ति वालो को उपलब्ध नही होती है जिसके कारण छोटी उत्पत्ति वालो का प्रति इकाई उत्पादन व्यय अधिक होता है। उदाहरणार्थ, नवीनतम मशीनो के उपयोग से बचत, अवशिष्ट पदार्थो का उपयोग, सूक्ष्म श्रम विभाजन से बचत, कार्यालय मे बचत, विक्रय विभाग से बचत, मरम्मत की दुकानों मे बचत, कच्चा माल स्वय तैयार करने से बचत, शक्ति के साधनो के स्वयं स्वामी होने से बचत, अपने ही यातायात के साधनों से बचत,

आदि सुविधायें केवल बड़ी उत्पत्ति वालों को ही उपलब्ध हो सकती हैं, जिनके फल-स्वरूप उनका प्रति इकाई उत्पादन व्यय कम होता है।

(२) प्रति इकाई उत्पादन व्यय अधिक होने से छोटी उत्पत्ति वालों की प्रति-योगिता शक्ति अपेक्षतन कम होती है।

(३) बहुत से व्यवसाय ऐसे हैं जिनमें बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यवसाय केवल बड़ी पूँजी वाले ही कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, यातायात उद्योग, खानों की खुदाई, थोक व्यापार और बहुत से निर्माण सम्बन्धी उद्योग छोटी पूँजी वालों के लिये असम्भव ही हैं।

QUESTIONS

1. आधुनिक उद्योग-धन्धे बड़े पैमाने पर क्यों संगठित किये जाते हैं? बड़े पैमाने पर उत्पत्ति की क्या सीमाएं हैं? (Agra, B. A., 1959)
2. आधुनिक आर्थिक संगठन में छोटे पैमाने के उद्योगों का अस्तित्व बने रहने के आप क्या कारण बतलायेंगे? (Vikram, B. A., 1958)
3. Explain the meaning of internal and external economies of production. Explain the part played by them in bringing about increasing returns. (Delhi, B. A., 1954; Agra, B. Com., 1953; Alld, B. Com, 1954)
4. Discuss the relative importance of Large scale production and Small-scale production. Under what conditions would both scales of production continue in any given country? (Raj., B. A., 1959)
5. Write a short note on—Internal and External Economies. (Alld, B. A., 1957; Alld., B. Com., 1955; Agra, B. A., 1953)
6. Account for the survival of small-scale business units inspite of the general trend towards mass production. (Delhi, B. A., 1953)

अध्याय २३

श्रम-विभाजन

(Division of Labour)

श्रम विभाजन का अर्थ—

मानव जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में श्रम-विभाजन नही था। पारिवारिक जीवन के विकास के साथ-साथ कुछ अंश तक श्रम-विभाजन होने लगा, किन्तु फिर भी श्रम-विभाजन अपनी बिल्कुल प्रारम्भिक अवस्था मे ही रहा। प्रत्येक मनुष्य को अपनी आवश्यकता पूर्ति से सम्बन्धित सभी प्रकार के कार्य करने पडते थे। एक व्यक्ति एक ही साथ किसान, शिकारी, जुलाहा और मिस्त्री सभी कुछ होता था। आर्थिक जीवन और मानव आवश्यकताओं के विकास के साथ-साथ इसमे कठिनाई अनुभव होने लगी और मनुष्यो ने विभिन्न कार्यों को आपस में बांटना आरम्भ कर दिया। कोई किसान का काम करने लगा, कोई लुहार का और कोई जुलाहे का। इस प्रकार श्रम विभाजन का आरम्भ हुआ है। इसी प्रकार यह काम का बँटवारा बढता गया तथा एक-एक काम को और छोटे-छोटे टुकडों मे बाँटा गया, यहाँ तक कि आज के औद्योगिक युग में प्रत्येक कार्य को बहुत ही छोटी छोटी सरल-क्रियाओं (Processes) में बांट दिया जाता है। *काम का इस प्रकार बँटवारा ही आर्थिक भाषा में श्रम-विभाजन कहलाता है। प्रत्येक वस्तु का निर्माण छोटी-छोटी क्रियाओं में बाँट दिया जाता है* और प्रत्येक क्रिया अलग-अलग व्यक्तियो द्वारा सम्पन्न की जाती है, यही श्रम-विभाजन है। अधिक सही भाषा मे इसे विशिष्टीकरण (Specialisation) कहना अधिक उपयुक्त होगा। श्रम-विभाजन या तो साधारण होता है, जबकि एक क्रिया को बहुत से व्यक्ति मिलकर करते हैं और यह कहना कठिन होता है कि प्रत्येक ने कितना काम किया है, परन्तु श्रम-विभाजन जटिल भी हो सकता है, जबकि एक व्यक्ति केवल एक छोटे से काम को ही करता है और सब व्यक्तियों का काम अलग अलग होता है। कभी-कभी श्रम-विभाजन (Occupational Division of Labour) भी होता है, जबकि कुछ व्यक्ति एक व्यवसाय को करते हैं और कुछ किसी दूसरे व्यवसाय को। इसी प्रकार श्रम-विभाजन प्रादेशिक भी हो सकता है, जिसमें अलग-अलग क्षेत्रों या स्थानों में अलग अलग काम या व्यवसाय सम्पन्न किये जाते हैं।

श्रम-विभाजन की दशाएँ (Conditions of Division of Labour)—

श्रम-विभाजन से उत्पत्ति सम्बन्धी बचतें कुछ विशेष दशाओं में ही प्राप्त होती हैं। इन दशाओं का वर्णन हम निम्न प्रकार कर सकते हैं :—

*(१) श्रम विभाजन का विस्तार बाजार के विस्तार पर निर्भर होता है।** श्रम-विभाजन उसी दशा मे सम्भव होता है, जब कि उत्पत्ति का पैमाना बड़ा हो और बड़ी संख्या मे श्रमिकों को काम पर लगाया जाता हो। यह निश्चय है कि बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करने के लिये विस्तृत बाजार की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि श्रम-विभाजन की सफलता के लिए विस्तृत बाजार आवश्यक होता है।

(२) श्रम-विभाजन की सफलता के लिये यह भी आवश्यक है कि उत्पादन निरन्तर अथवा बराबर होता रहे। यदि काम लगातार नहीं होता है और श्रमिक को बीच-बीच में और काम ढूंढने पड़ते हैं तो वह अपने को एक ही काम तक सीमित नहीं रख सकता। यही कारण है कि निर्माण उद्योग मे कृषि उद्योग की तुलना में श्रम विभाजन के विस्तार की सम्भावना अधिक होती है।

(३) श्रम-विभाजन तभी सम्भव हो सकता है, जबकि श्रमिक भी अधिक संख्या में हों। थोड़े से श्रमिकों के बीच सूक्ष्म श्रम-विभाजन सम्भव नहीं हो सकता है। जब बहुत से श्रमिक होते हैं तो प्रत्येक को उसकी योग्यता और निपुणता के अनुसार काम दिया जा सकता है।

(४) श्रम-विभाजन और विनिमय का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। जिस समाज मे प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक दृष्टिकोण से स्वावलम्बी होता है, वहाँ श्रम-विभाजन *का प्रश्न ही नहीं उठता है, अतः जितना ही किसी देश में विनिमय का कार्य अधिक* महत्त्वपूर्ण होगा, उतनी ही वहां श्रम-विभाजन की सम्भावना भी अधिक रहेगी।

श्रम-विभाजन के लाभ—

२. श्रम-विभाजन के आविष्कार का कारण उसके लाभ ही हैं। अनुभव बताता है कि श्रम-विभाजन ने मनुष्य के आर्थिक जीवन की उन्नति और उनके विकास में भारी सहायता दी है। श्रम-विभाजन के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) यन्त्रों के उपयोग मे बचत (Economy in the use of Tools)—श्रम-विभाजन मे कम मात्रा मे यन्त्रों और मशीनों की आवश्यकता पड़ती है। काम को इस प्रकार छोटे-छोटे टुकड़ों मे बाँट दिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग औजारों का उपयोग करता है। एक ही आदमी के लिये सारे औजारों की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

(२) मशीनों के उपयोग मे वृद्धि (Increase in the use of Machinery)—श्रम-विभाजन मशीनों और कलों के उपयोग को प्रोत्साहन देता है। इससे मशीनों के उपयोग के सभी लाभ प्राप्त हो जाते है, जैसे—प्रमापीकृत उत्पादन, शीघ्र और सस्ता उत्पादन आदि।

---

* "Division of labour is limited by the extent of the market."—Adam Smith.

(३) श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि (Increase in the Efficiency of Labour)—श्रम-विभाजन के अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक को उसकी रुचि, योग्यता और निपुणता के अनुसार काम मिल जाता है। प्रत्येक श्रमिक वही काम करता है, जिसके लिए वह सबसे योग्य है, इससे श्रमिकों की कुशलता बढती है और उत्पादन व्यय घट जाता है तथा स्वयं श्रमिक के लिए भी कार्य का उत्साह बना रहता है।

(४) विशेष ज्ञान की प्राप्ति (Acquirement of Special Skill)—जब एक व्यक्ति निरन्तर एक ही काम करता रहता है तो उसमें उस काम के करने की विशेष दक्षता आ जाती है। एक अभ्यस्त दफ्तरी कागजों को मोडने का काम साधारण लोगों की तुलना मे अधिक जल्दी और अधिक अच्छी तरह कर सकता है।

(५) समय की बचत (Saving in Time)—जब एक आदमी एक से अधिक काम करता है तो समय की हानि होती है। एक काम को छोडकर दूसरे को आरम्भ करने मे कुछ समय अवश्य नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरे काम को सीखने मे भी समय का व्यय होता है। श्रम-विभाजन से समय की यह दोनो ही प्रकार की हानियाँ बच जाती हैं।

(६) शारीरिक परिश्रम में बचत (Economy in Manual Effort)—आधुनिक कारखानो मे उत्पादन क्रियाओ को सूक्ष्म विभागो में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक श्रमिक एक छोटा सा सरल काम ही करता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक श्रमिक को कम शारीरिक परिश्रम करना पडता है। मानसिक परिश्रम की आवश्यकता भी श्रम विभाजन के अन्तर्गत कम होती है।

(७) आविष्कार को प्रोत्साहन (Encouragement to Invention)—यह निश्चय है कि जब एक व्यक्ति बराबर एक ही काम करता रहता है तो वह उस काम से सम्बन्धित सारी बातो से भली-भाँति परिचित हो जाता है। वह उत्पादन की नई रीतियो, कच्चे माल के अधिक मितव्ययी उपयोग और नये आविष्कारो की खोज निकालता है। दीर्घकाल मे इससे उद्योग और समाज दोनो ही को लाभ होता है।

(८) पूँजी के उपयोग मे मितव्ययिता (Economy in the use of Capital)—श्रम-विभाजन पूँजी के उपयोग मे भी बचत करता है, जितना कि श्रम-विभाजन का विकास अधिक होता है, विशिष्ट प्रकार की मशीनो का उपयोग बढता है। निरन्तर ऐसी मशीनो का उपयोग होता जाता है, जिनमें प्रति इकाई पूँजी व्यय कम होता है।

(९) रोजगार के दृष्टिकोण से धन्धों के भेद को मिटाना (Elimination of Differences in Industry)—आधुनिक श्रम-विभाजन मे मशीनो का उपयोग बहुत अधिक होता है। इन मशीनो की यन्त्र-रचना मे अधिक अन्तर नही होता है। जैसी मशीन का जूट के कारखाने मे उपयोग होता है, लगभग वैसी ही मशीन

कपड़ा बुनने के कारखाने में भी काम आती है। इस प्रकार श्रम-विभाजन द्वारा भिन्न-भिन्न धन्धो का भेद मिट जाता है।

(१०) श्रम की गतिशीलता में वृद्धि (Increase in the Mobility of Labour)—जब धन्धो का भेद मिट जाता है तो श्रमिक एक धन्धे से दूसरे धन्धे मे सरलता से जा सकते है। आवागमन अधिक मजदूरी, काम की सरलता अथवा अन्य सुविधाओ के कारण होता है।

(११) सभ्यता का विकास (Development of Civilization)—श्रम-विभाजन के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रमिको की माँग होती है। इस प्रकार एक कारखाने में सहस्रो व्यक्ति काम करते हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रान्तो और देशो से आते हैं। उनके रीति-रिवाज, चाल-चलन, रहन-सहन, आचार-विचार, बोलचाल, आदि मे भी अन्तर होता है। जब इस प्रकार के लोग एक साथ काम करते हैं तो यह स्वाभाविक ही है कि वे एक-दूसरे से कुछ न कुछ सीखते है, आचार-विचारो का आदान-प्रदान होता है, सद्भावना और सहयोग की भावना जाग्रत होती है और एकता की नींव पड जाती है। एकता, सहयोग और सद्भावनाओ का जाग्रत हो जाना प्रगतिशीलता का द्योतक है।

(१२) नई-नई वस्तुओं की उत्पत्ति (Production of New Products)—श्रम विभाजन आविष्कारो को प्रोत्साहन देता है। नये-नये आविष्कारो से नई-नई वस्तुयें उत्पन्न होती हैं। विचारो के आदान-प्रदान से कल्पना-शक्ति भी बढती है, जो नई-नई वस्तुओ की जननी है। इसके अतिरिक्त श्रम-विभाजन मे एक व्यक्ति वही वस्तु तैयार करता है, जिसमे वह निपुण होता है। इस प्रकार भी हजारो नई-नई वस्तुयें तैयार होती है।

(१३) उत्पादन की वृद्धि तथा ऊँचा जीवन-स्तर (Increase of Production and Standard of Living)—श्रम-विभाजन द्वारा उत्पत्ति मे वृद्धि होती है। हम देखते हैं कि एक मनुष्य मशीन द्वारा एक दिन मे चार हजार आठ सौ पिन बना सकता है। अखबार छापने की मशीन एक घण्टे मे बीस मील लम्बा अखबार छापती है। सिगरेट बनाने की मशीन एक मिनट मे दो लाख पचास हजार सिगरेट बनाती हैं, इत्यादि। यदि श्रम विभाजन न होता तो सम्भवतः एक व्यक्ति एक दिन मे एक पिन भी नही बना सकता था। जब एक देश में उत्पत्ति इतने तीव्र वेग से होती है तो स्पष्ट है कि प्रति व्यक्ति आय मे भी वृद्धि होगी और जीवन-स्तर भी ऊँचा हो जायगा।

(१४) बेकारी की समस्या सुलझती है (Relief to Unemployment)—श्रम विभाजन मे सभी प्रकार के काम होते हैं। कुछ तो ऐसे होते है, जिनके लिये बलवान व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, अन्य ऐसे कार्य होते है जिन्हे की,

बच्चे और अपाहिज व्यक्ति भी सरलता से कर सकते है। इस प्रकार कुछ न कुछ कार्य प्रत्येक व्यक्ति को मिल जाता है और बेकारी कम हो जाती है।

(१५) व्यावसायिक प्रगति और पूँजी की वृद्धि (Technical Progress and Growth of Capital)—श्रम विभाजन से विशिष्टीकरण (Specialisation) को प्रोत्साहन मिलता है। विशिष्टीकरण से भौतिक प्रगति में वृद्धि होती है। इन दोनों (विशिष्टीकरण और भौतिक प्रगति) से उत्पत्ति की कुशलता बढ़ती है, अर्थात् वस्तुएँ अधिक मात्रा में बनती हैं। धनोत्पत्ति में वृद्धि होने से पूँजी मे भी वृद्धि होती है।

श्रम विभाजन की हानियाँ—

श्रम-विभाजन के लाभ काफी महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु अधिकांश दशाओं में इन लाभों का परिणाम यह होता है कि समाज की उत्पादकता (Productivity) बढ़ जाती है। यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि केवल समाज की उत्पादकता बढ़ाना ही हमारा उद्देश्य नही हो सकता है। असली उद्देश्य तो मनुष्य को लाभ पहुँचाना होना चाहिए। हमें देखना यह है कि श्रम-विभाजन का मनुष्य और उसके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है? इस सम्बन्ध में श्रम-विभाजन की अनेक हानियाँ हैं। प्रमुख हानियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) नीरसता (Monotony)—श्रम-विभाजन मनुष्य के कार्य को नीरस बना देता है। यदि हमें लगातार एक ही छोटा सा काम प्रत्येक दिन करना पड़ता है, तो उस काम के प्रति हमारी अरुचि हो जाती है। इसके उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि श्रम-विभाजन नीरसता उत्पन्न करता है, परन्तु यह समय की बचत करता है और मनुष्य के लिए विश्राम और मनोरंजन के लिए अधिक समय देकर उसकी नीरसता को काफी अंश तक दूर कर देता है।

(२) उत्तरदायित्व की कमी (Lack of Responsibility)—श्रम-विभाजन मे श्रमिक एक काम को आरम्भ से अन्त तक नही करता है। वह उसके केवल एक छोटे से ही भाग को पूरा करता है। वह इस बात के लिए बहुत चिन्तित नहीं रहता है कि वस्तु अच्छी बनती है या खराब, क्योंकि वस्तु अन्त मे कैसी बनती है, यह किसी एक आदमी की जिम्मेदारी नही होती है।

(३) आनन्द की कमी (Lack of Pleasure)—जब एक व्यक्ति किसी वस्तु को तैयार करता है तो तैयार वस्तु को देख कर उसे विशेष आनन्द मिलता है। जब हम अपने सम्पूर्ण कार्य को पूरा होते हुए देखते हैं तो हमें विशेष प्रसन्नता होती है। श्रम-विभाजन के अन्तर्गत ऐसी सम्भावना उत्पन्न ही नहीं होती है। क्योंकि जो उपज तैयार होती है, वह किसी भी एक श्रमिक द्वारा तैयार नहीं की जाती है।

(४) कार्यक्षमता में कमी (Reduction in Efficiency)—श्रम-विभाजन के अन्तर्गत श्रमिक प्रति दिन एक ही छोटे से काम को करता है। वह काम

उसके लिए एक प्रकार का बँधा कार्य (Routine Work) हो जाता है, श्रमिक को सुधार करने अथवा कार्य की नई विधियाँ सोचने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। इससे अन्त मे श्रमिक की कुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त श्रम-विभाजन मनुष्य के शारीरिक और मानसिक विकास मे भी शिथिलता लाता है। उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ एक ही दिशा मे काम करती हैं।*

(५) मनुष्य का पतन (Neglect of Human Element)—श्रम-विभाजन मे मनुष्य का सारा उत्तरदायित्व और उसकी सारी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। मशीन उसकी गुलाम नही रहती है, बल्कि वह स्वयं मशीन का गुलाम हो जाता है। इससे मनुष्य का पतन होता है।

(६) श्रम की गतिशीलता में कमी (Reduction in the Mobility of Labour)—श्रम विभाजन मे एक श्रमिक किसी एक काम के एक छोटे से भाग मे ही दक्षता प्राप्त करता है। उसे न तो पूरा काम ही आता है और न कोई दूसरा काम ही। उसे अपना व्यवसाय बदलने में भारी कठिनाई होती है। इसका उसकी प्रगतिशीलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। गतिशीलता की कमी श्रमिक की सौदा करने की शक्ति (Bargaining Power) को घटाती है और मजदूरी की वृद्धि मे बाधक होती है।

(७) निपुणता की हानि (Loss of Skill)—श्रम-विभाजन के अतर्गत निपुण से निपुण श्रमिक भी अपनी निपुणता खो देता है। उसे केवल एक छोटा सा ही काम आता है, जिसमे उसे निपुणता को बढाने का अवसर बहुत ही कम मिल पाता है।

(८) बेरोजगारी का भय (Risk of Unemployment)—एक काम का एक ही भाग श्रमिक जानता है इसलिए इस बात का भय सदा ही बना रहता है कि श्रमिक अपना रोजगार खो बैठे। एक बार रोजगार छूट जाने पर श्रमिक को काम कठिनाई से मिलता है, क्योंकि कोई दूसरा काम वह जानता ही नहीं है।

(९) स्त्री और बालक श्रम का शोषण (Exploitation of Female and Child Labour)—श्रम-विभाजन कामों को इतना सरल बना देता है कि स्त्री और बच्चे भी कामों को करने लगते हैं। इससे दो हानियाँ होती है : एक ओर तो पारिवारिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जाता है तथा दूसरी ओर स्त्री और बच्चों के काम करने से देश के मानवीय साधनों का अपव्ययी और हानिकारक उपयोग होता

---

* "The man whose whole life is spent in performing a few simple operations......has no occasion to exert his understanding......He generally becomes as stupid and ignorant as is possible for a human creature to become."—Adam Smith.

है। स्त्री और बालक श्रम का शोषण भी होता है, क्योंकि उसे मजदूरी कम दी जाती है।[1]

(१०) मशीनों के उपयोग के दोष (Evils of Mechanisation)—श्रम-विभाजन तभी सम्भव होता है, जबकि उत्पत्ति बड़े पैमाने पर होती है और मशीनों का विस्तारपूर्वक उपयोग होता है। इस कारण बड़े पैमाने की उत्पत्ति और यन्त्रीकरण (Mechanisation) के सभी दोष श्रम-विभाजन में पाये जाते हैं। इस प्रणाली मे उत्पादन की फैक्ट्री प्रणाली के सभी दोष पाये जाते है।

श्रम-विभाजन की सीमायें (Limits of the Division of Labour)—

श्रम विभाजन सभी दशाओ मे सम्भव नही होता है। कुछ ऐसी बातें होती हैं, जिन पर श्रम-विभाजन का विस्तार बडे अश तक निर्भर होता है। ये बातें निम्न प्रकार हैं:—

(१) बाजार का विस्तार (Extent of the Market)—बहुत पहले ही एडम स्मिथ ने कहा था कि श्रम-विभाजन बाजार के विस्तार द्वारा सीमित होता है।[2] जिस वस्तु का बाजार सकुचित होता है, उसकी उत्पत्ति भी कम मात्रा मे होती है, उसमे मशीनो के उपयोग की सम्भावना कम रहती है और श्रमिकों को भी थोड़ी सख्या मे लगाया जाता है। जब माँग थोडी होती है और तदनुसार उत्पत्ति की मात्रा भी कम रहती है तो श्रम-विभाजन को बहुत आगे नही बढाया जा सकता है।

(२) व्यवसाय अथवा उद्योग की प्रकृति (The Nature of the Business)—श्रम-विभाजन का अश व्यवसाय की प्रकृति पर निर्भर होता है। जिन व्यवसायो मे ग्राहक की रुचि, व्यक्तिगत सम्पर्क अथवा अत्यधिक निपुणता की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ उत्पत्ति का पैमाना भी छोटा रहता है और श्रम-विभाजन भी बहुत दूर तक नहीं जा सकता है।

(३) माँग की स्थिरता और उत्पादन की नियमितता (The Stability of Demand and Regularity of Production)—जिन उद्योगो की उपज की माँग मे सामयिक (Seasonal) अथवा अन्य प्रकार के परिवर्तन बहुत होते है, वहाँ न तो उत्पत्ति के पैमाने का ही विस्तार किया जा सकता है और न श्रम-विभाजन ही आगे बढ सकता है। इसी प्रकार यदि उत्पादन मे नियमितता नही है और वह रुक-रुक कर होता है तो श्रम-विभाजन के लिए कम अवकाश रहेगा।

(४) व्यापार सम्बन्धी सुविधाएं (Trade Facilities)—ऐसी सुविधाओं मे यातायात और सम्वादवाहन के साधनो का विकास, बैंकिंग की उन्नति

---

1. "Division of labour in the workshop of the capitalist leads to the exploitation of women and children."—Karl Marx.

2. "Division of Labour is limited by the extent of the market."—Adam Smith.

तथा व्यापारिक सूचनाओं का आयोजन सम्मिलित होते हैं। इन सबका विकास बाजार का विस्तार करके श्रम-विभाजन को प्रोत्साहन देता है।

QUESTIONS

1. *श्रम-विभाजन के लाभों तथा हानियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। इस नियम की प्रगति बाजार के विस्तार से किस प्रकार सीमित होती है?*
   (Agra, B. A , 1957)

2. Explain division of labour and give its advantages, disadvantages and limitations. (Raj., B. Com , 1959)

3. Write a short note on—Division of Labour and its Efficiency. (Agra, B. Com., 1955)

4. What is meant by division of labour. Give examples. Discuss its advantages and limitations. (Agra, B. Com., 1946)

5. Explain the advantages and disadvantages of Division of Labour. How is its operation limited by the Extent of Market? (Agra, B. A., 1943)

6. Explain the connection between Division of Labour, transportation, extension of market and large-scale production. *Illustrate your answer by taking examples from India.*
   (Agra, B. A , 1945)

अध्याय २४

उत्पत्ति में मशीनों का उपयोग

(Use of Machinery in Production)

विषय प्रवेश—

आधुनिक युग यन्त्रीकरण (Mechanisation) का युग है। उत्पत्ति मे मशीनो का उपयोग निरन्तर बढ़ रहा है। नई-नई और विशालकाय मशीनो का आविष्कार होता जा रहा है। आधुनिक प्रवृत्ति बराबर यही है कि और अधिक बडी मशीनों का उपयोग किया जाय और यथासम्भव मानव श्रम के स्थान पर मशीनो को काम मे लाया जाये। शिल्प-विज्ञान (Technology) का विकास भी हमें इसी दिशा मे प्रेरित करता है। अनुभव से पता चलता है कि मशीनो के उपयोग से उत्पत्ति अधिक शीघ्रता के साथ तथा बहुत अधिक मात्रा में होती है। यान्त्रिक शक्ति के रूप मे मनुष्य को एक ऐसा दास मिल गया है, जिसकी सहायता से मानव-जीवन की नीरसता और मानव-कार्य की थकान बहुत कम हो जाती है। मशीनो की सहायता से कठिन, जटिल तथा सूक्ष्म कार्य को भी सरल और सुखद बनाया जा सकता है। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के पश्चात् मशीनो का उपयोग बराबर बढता चला जा रहा है। अधिकांश विद्वानो का विचार है कि यान्त्रिक शक्ति का विकास निस्सन्देह ही मानव-जीवन की अधिकाश समस्याओ को सुलझा देगा और मानव-जीवन को अधिक सुखी, सम्पन्न और सार्थक बना देगा, परन्तु मशीनो के उपयोग के आलोचकों की भी कमी नही है। बहुधा ऐसा कहा जाता है कि वर्तमान औद्योगिक काल की अधिकाश बुराइयाँ मशीनो के उपयोग द्वारा ही उत्पन्न हुई है। उनके विचार मे मशीनो का उपयोग हमे बराबर पतन की ओर ले जा रहा है।

इस सम्बन्ध मे हम केवल इतना कह सकते है कि स्वयं मशीन मे कोई दोष नही है। वे तो एक प्रकार की आर्थिक शक्ति को सूचित करती है, जिसका अच्छा और बुरा दोनो प्रकार का उपयोग सम्भव होता है। कठिनाई यह है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत यह विशाल आर्थिक शक्ति कुछ थोड़े से व्यक्तियो के हाथ में होती है, जो इसका दुरुपयोग करते है और इसे समाज के शोषण का साधन बना लेते हैं। यदि पूँजी पर सारे समाज का अधिकार है और मशीनों का उपयोग सामाजिक शोषण के स्थान पर सामाजिक कल्याण के लिए किया जाता है तो मानव जाति को पर्याप्त लाभ मिल सकता है। समाजवादी देशों मे मशीनो के उपयोग ने मनुष्य को ऊँचा

जीवन-स्तर, अधिक अवकाश (Leisure) तथा अधिक सम्पन्नता एक ही साथ प्रदान की है। पूँजीवादी देशों में मशीनों के उपयोग के लाभ पूँजीपति के ही पास रह जाते हैं, इसलिये सारे समाज का भला कम अंश तक ही हो पाता है।

मशीनों के आर्थिक लाभ (The Economic Advantages of Machinery)—

मशीनों के उपयोग ने उत्पादन प्रणाली में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। इसने उत्पादन की क्रिया को सरल, सुगम और शीघ्रगामी बना दिया है। मशीनों के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) मशीन भारी और कठिन काम को भी सरल तथा सीधा बना देती है (Machinery Renders Difficult and Heavy Works Simple and Easy)—कुछ काम इतने भारी तथा अधिक परिश्रम चाहने वाले होते हैं कि श्रमिकों के लिए उनका सम्पन्न करना बहुत ही कठिन होता है। एक क्रेन (Crane) की सहायता से हजारों मन बोझा एक दम बड़ी आसानी के साथ उठाया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार एक बुलडोजर (Bull-dozer) मिनटों में हजारों मन मिट्टी खोद कर फेंक देता है। मनुष्य का अथाह परिश्रम इन मशीनों के उपयोग के कारण बच जाता है। कितने ही काम, जो मनुष्य के लिए लगभग असम्भव समझे जाते थे, जैसे—पहाड़ों को तोड़ना, सुरङ्ग खोदना, आदि, वे अब मशीनों की सहायता से आसानी के साथ किए जा सकते हैं। एक छापेखाने की मशीन हजारों लिखने वालों का काम एक ही साथ करती रहती है।

(२) चालक शक्ति का उपयोग (Use of Motive Power)—मशीन हमें इस योग्य बनाती है कि हम प्राकृतिक साधनों का समुचित, उपयुक्त और लाभदायक उपयोग कर सकते हैं। मशीनों को चलाने में हवा, पानी, भाप, पैट्रोल, बिजली और कोयला जैसी प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग किया जाता है। मशीनों ने मनुष्य को प्रकृति पर विजय प्रदान करके उसका मानव हित के लिए उपयोग करने का अवसर दिया है। इस प्रकार चालक शक्ति ने उत्पादन और मानव सभ्यता दोनों का एक ही साथ विस्तार किया है।

(३) उत्पादन शक्ति और कार्यक्षमता में वृद्धि (Increase of the Productive Power and Efficiency)—मशीनों की सहायता से उत्पत्ति तेजी के साथ तथा बहुत अधिक मात्रा में की जा सकती है। मनुष्य जिस काम को हाथ से महीनों में कर सकता है, वह मशीन की सहायता से घण्टों में हो जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य की उत्पादन शक्ति बढ़ गई है। साथ ही, मशीनों ने काम को सरल बना दिया है। नीरस, अरुचिकर और कठिन काम मशीनों की सहायता से किये जा सकते हैं। इससे श्रमिक की कार्य कुशलता और उत्पादन शक्ति बढ़ी है। मशीनों की सहायता से बारीक और अत्यधिक निपुणता चाहने वाले काम भी बड़ी

आसानी के साथ हो जाते हैं और मनुष्य को थोड़े से फल के लिए काफी लम्बे काल तक घोर प्रयत्न करने की आवश्यकता नही पडती है।

(४) प्रमापीकृत,- अनुरूपी तथा उत्तम वस्तुओं का उत्पादन (The Production of Standardised, Uniform and Fine Articles)– एक श्रमिक हाथ से काम करके अत्यधिक सावधानी और निपुणता रखते हुए भी बिल्कुल एक जैसी वस्तुएं तैयार नही कर सकता है। हाथ की बनी वस्तुओ मे प्रमापीकरण (Standardisation) का भारी अभाव होता है। मशीन की सहायता से बिल्कुल एक नमूने की वस्तुयें बनाई जा सकती हैं। मशीन द्वारा बनाई गई वस्तु के अंशो को भी आसानी के साथ बदला जा सकता है। इसके अतिरिक्त बहुधा मशीनो की सहायता से अधिक साफ और उत्तम वस्तुओ का उत्पादन किया जा सकता है।

(५) मशीनों द्वारा गन्दे, खतरनाक और अति नीरस कार्य भी किये जा सकते हैं (Dirty, Dangerous and Monotonous Works can be easily performed)—कुछ काम गन्दे होते है, जैसे—मेहतर का काम। कुछ काम खतरनाक होते हैं और कुछ काम बहुत ही नीरस होते हे। उन कार्यों को जिन्हे करने मे मनुष्य को विशेष कष्ट और अरुचि होती है, मशीनो की सहायता से सरलता के साथ किया जा सकता है और मानव कष्ट को बचाया जा सकता है।

(६) बडे पैमाने के उत्पादन और श्रम-विभाजन के लाभ (The Advantages of Large Scale Production and Division of Labour)—मशीन द्वारा किये जाने वाले उत्पादन मे उत्पत्ति का पैमाना बढ़ाया जा सकता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म श्रम-विभाजन को लागू किया जा सकता है। इन दोनो से सम्बन्धित लाभ मशीन के उत्पादन मे पाये जाते हैं।

(७) श्रम की गतिशीलता मे वृद्धि (Increase in the Mobility of Labour)—मशीनो का उपयोग श्रमिको की गतिशीलता को बढा देता है। विभिन्न कारखानो मे उपयोग की जाने वाली मशीनो मे कोई आधारभूत अन्तर नही होता है। जो श्रमिक एक प्रकार की मशीन पर काम कर चुकता है, उसके लिए दूसरे प्रकार की मशीन पर काम करना बहुत कठिन नहीं होता है। मशीनो के उपयोग ने विभिन्न उद्योगो को भिन्नता धीरे-धीरे पर्याप्त अंश तक दूर कर दी है। इसका परिणाम यह होता है कि श्रमिक आसानी के साथ अपने वर्तमान व्यवसाय का परिवर्तन कर लेता है। गतिशीलता की वृद्धि उसे उसकी मजदूरी बढाने और अच्छी कार्य की दशाएं प्राप्त करने मे सहायता देती है।

(८) सस्ती वस्तुओं का उत्पादन (Production of Cheap Commodities)—मशीनो का उपयोग उद्योग के लिए बाह्य और आन्तरिक बचत प्राप्त करना है। इससे वस्तुओ के दाम घटते है। दामो की यह कमी उत्पादक और समाज दोनो के लिए लाभदायक होती है। उत्पादक के लिए माँग बढ़ जाती है

और उसे अधिक उत्पत्ति करके अधिक लाभ कमाने का अवसर मिल जाता है। समाज के लिए सभी वस्तुएं सस्ती हो जाती हैं और उसका जीवन-स्तर ऊपर उठता है।

(६) समय और दूरी की समस्या का हल (Solution of the Problems of Time and Distance)—मशीनों के उपयोग ने मानव जीवन मे समय और दूरी की समस्या को हल कर दिया है। इनकी सहायता से उत्पादन शीघ्रतापूर्वक हो जाता है और बहुमूल्य समय की बचत होती है। आवश्यकता पड़ने पर पूर्ति की मात्रा बढाने मे अधिक समय नही लगता है। इसी प्रकार मशीनो की सहायता ने यातायात और सम्वादवाहन को सस्ता, शीघ्रगामी तथा सरल बना दिया है। धीरे-धीरे दूरी की समस्या समाप्त होती जा रही है। इससे आर्थिक क्षेत्र मे व्यापार और वाणिज्य का विस्तार हुआ है। अन्य क्षेत्रों में इसने राजनीतिक मैत्री और सांस्कृतिक विकास मे सहायता दी है।

(१०) ज्ञान और निपुणता की वृद्धि (Inventive genius and Technical Efficiency)—मशीनो के उपयोग से श्रमिको की बुद्धि का विकास हुआ है। मशीन पर काम करने वाला श्रमिक अधिक चतुर, बुद्धिमान तथा निपुण हो जाता है। जन-साधारण की बुद्धि के विकास मे भी इसने भारी सहायता दी है।

(११) नीरसता का अन्त (End of Monotony) कुछ लेखकों का विचार है कि मशीनो का उपयोग बडे अंश तक मानव जीवन की नीरसता को भी समाप्त कर देता है। मनुष्य के लिये गन्दे, खतरनाक और अरुचिकर कार्य मशीन कर देती है। इसके अतिरिक्त मशीनो का उपयोग कार्य करने की अवधि को घटाकर मनुष्य को अधिक अवकाश प्रदान करता है।

(१२) मानव जीवन में नियमितता (Regularity in Human Life)—मशीन मनुष्य मे निश्चितता, नियमितता और धैर्य जैसे महत्वपूर्ण गुण उत्पन्न करती है।*

मशीनों के उपयोग की हानियाँ—९

इसमे कोई सन्देह नही है कि मशीनो के लाभ महत्वपूर्ण है, परन्तु लाभों के साथ-साथ उनकी हानिया भी उतनी ही गम्भीर हैं। प्रमुख हानियां निम्न प्रकार है :-

(१) बेरोजगारी का भय (The Danger of Unemployment)—मशीनो के उपयोग से बेरोजगारी फैलने का भय रहता है। एक मशीन हजारो श्रमिकों का काम कर सकती है। प्रतिस्थापन नियम के अन्तर्गत वैसे ही उत्पादक श्रमिको के स्थान पर मशीनो का उपयोग करता है, जिससे बहुत से श्रमिक बेकार हो जाते हैं।

* "Machinery like everything else can only teach what it practises—order, exactness, *persistence*, *conformity* to unbending laws—these are the lessons which must emanate from the machine."—Hobson.

इस प्रकार मशीनो का उपयोग रोजगार को घटाता है और श्रमिको के लिये चिन्ताजनक स्थिति उत्पन्न कर देता है। कार्ल मार्क्स का विचार है कि मशीनें कारीगरी के काम को समाप्त कर देती है।* मशीनों के सम्बन्ध मे इस प्रकार की विचारधारा बहुत व्यापक है। श्रम सघ (Trade Unions) बहुधा इसी आधार पर उद्योग-धन्धो के आधुनिकरण (Modernisation) का विरोध करते हैं। इस सम्बन्ध मे यह जानना आवश्यक है कि मशीनो के उपयोग का रोजगार पर सदा ही बुरा प्रभाव नही पड़ता है। मशीनें अधिक उत्पादन द्वारा माग को बढाकर अधिक बिक्री कराने मे सफल हो सकती है। इससे प्राकृतिक साधनो का अधिक अश तक विदोहन होता है और रोजगार बढ़ता है। दूसरे, स्वय मशीनो का उत्पादन करने के लिये भी अधिक श्रमिकों की आवश्यकता पडती है। तीसरे, मशीनो द्वारा उत्पादित वस्तुओं की कीमत नीची होती है, जिससे समाज की क्रय: शक्ति बढती है और उसके लिये उत्पादन और सम्बन्धित रोजगार को भी बढाया जा सकता है। चौथे, मशीनों के द्वारा बेरोजगारी की वृद्धि उसी दशा मे होती है, जबकि यन्त्रीकरण (Mechanisation) के साथ-साथ काम करने के घन्टो मे कमी करके श्रमिको के लिये विश्राम की अवधि नही बढाई जाती है। समाजवादी देशों का अनुभव यह है कि यदि कोई बेरोजगारी का भय उत्पन्न होता है तो काम के घन्टो में कमी करके उसे दूर किया जा सकता है।

सब कुछ देखते हुए हमे इतना अवश्य मानना पडेगा कि पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली मे मशीनो के उपयोग से बेरोजगारी के बढने का भय अवश्य रहता है। सामान्य अनुभव हमे बताता है कि मशीन उत्पादन ने कुटीर उद्योगों और छोटे उत्पादकों को समाप्त करके लाखो कारीगरो और श्रमिकों के रोजगार का अन्त कर दिया है। पूँजी-वाद मे यन्त्रीकरण की प्रगति की तुलना मे काम करने के घन्टों की कमी बहुत ही कम अश तक हुई है। श्रमिकों को किसी भी प्रकार यह विश्वास नही होता है कि मशीनो के उपयोग ने उनकी बेरोजगारी मे वृद्धि नही की है।

(२) मशीने मजदूरियों को कम करती है (Machines Reduce Wages)—मशीनो के पक्ष म बहुधा यह कहा जाता है कि उन्होने श्रमिको की कुशलता और उत्पादन शक्ति मे वृद्धि की है। इसका मजदूरियो पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। विभिन्न उद्योगो में मजदूरियो का अध्ययन बहुधा यही दिखाता है कि जैसे-जैसे यन्त्रीकरण की उन्नति हुई है, मजदूरियाँ भी बराबर बढी है, परन्तु मजदूरियो की वृद्धि यन्त्रीकरण की तुलना मे पीछे हो रही है। यह निश्चय है कि मशीन उत्पादन के अधिकाश लाभ श्रमिको को प्राप्त नही हुए है, वल्कि इसके विपरीत पूँजीपतियो को प्राप्त हुए है। मशीन प्रवीण श्रमिक की निपुणता को घटाती हैं और उसे नीची मजदूरी स्वीकार करने

---

* "It is they that sweep away the handicraftman's work as the regulating principle of social production."—Karl Marx.

पर प्रभाव करती है। यह दोष श्रमिक, उसके परिवार और सारे समाज के लिए दुखदाई है।*

(३) मशीनों ने औद्योगिक नगरों के जीवन को दूषित किया है (Machines have spoiled the life in Industrial Towns)—कुछ लोग मशीनों के उपयोग को इस कारण बुरी दृष्टि से देखते हैं कि मशीनों के उपयोग का परिणाम यह होता है कि नगरों में बहु संख्या में श्रमिक एकत्रित हो जाते हैं, जिसका उनके स्वास्थ्य और नैतिक स्तर पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि इन दशाओं में सुधार हो सकता है और पूँजीवादी देशों में भी नगर नियोजन (Town Planning) योजनाओं द्वारा इन्हें सुधारने का प्रयत्न किया जा रहा है, परन्तु यह सन्देहपूर्ण है कि ऐसे उपाय पूँजीवाद में कहाँ तक सफल हो सकेंगे।

(४) शिल्पकला की हानि (The Loss of Artistic Skill)—मशीन उत्पादन का अभिप्राय यह होता है कि सस्ती और प्रमापीकृत वस्तुओं का निर्माण हो। ऐसी वस्तुएँ मजबूत हो सकती हैं, परन्तु इनमें कारीगर के व्यक्तिगत शिल्प ज्ञान और उसकी योग्यता की झलक नहीं मिलेगा। अनुभव बतलाता है कि मशीनों की प्रतियोगिता के कारण कलाकारों को अपना काम बन्द करना पड़ा है और कारखानों में नौकरी करके जीवन निर्वाह करना पड़ा है। भारत के कितने ही उच्च कोटि के धन्धे इसके कारण ठप्प हो गये हैं। ससार के सभी देशों में मशीन उत्पादन ने हस्तकला का अन्त कर दिया है।

इस सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शिल्प ज्ञान और निपुणता की आवश्यकता मशीन उत्पादन में भी उतनी ही होती है जितनी कि हस्त-कला में। अन्तर केवल इतना होता है कि मशीन उत्पादन में दूसरी प्रकार की निपुणता की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ भी माँग के परिवर्तनों की दिशा में वस्तुओं के रूप और डिजाइन को बदलने की आवश्यकता पड़ती है।

(५) अति-उत्पादन का भय (The Danger of Over-production)—मशीनों के उपयोग का अभिप्राय यह होता है कि बड़ी मात्रा में उत्पत्ति की जाय। ऐसी उत्पत्ति भावी माँग के अनुमान पर ही की जाती है, परन्तु इस प्रकार का अनुमान बहुधा गलत भी होता है। भय यह रहता है कि कहीं आवश्यकता से अधिक उत्पादन न हो जाय। पूँजीवाद में निरन्तर अति-उत्पादन के कारण आर्थिक संकट आते रहते हैं। इन संकटों के लिए मशीनों का उपयोग भी एक बड़े अंश तक उत्तरदायी है।

---

* "Let us return to the increasing tendency of machinery to supplant the skilled hand, which is greatly increasing man's power over nature and his material wealth, though it is not an unmixed benefit from the social point of view."—Marshall.

इसके उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि अति-उत्पादन व्यवस्थापक की भूल से उत्पन्न होता है, न कि मशीनों के उपयोग से। समाजवादी देशों में, जहाँ उत्पत्ति एक पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार होती है, अति उत्पादन की सम्भावना भी नहीं होती है।

(६) धन का केन्द्रीयकरण और सामाजिक संघर्ष (The Concentration of Wealth and Social Conflict)—मशीन द्वारा उत्पादन पूँजीवाद में पूँजीपति की आर्थिक शक्ति को और भी बढ़ा देता है। धन निरन्तर थोड़े हाथों में केन्द्रित होता चला जाता है और थोड़े से व्यक्ति सारे समाज का शोषण करते रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि धनी लोग और अधिक धनी होते चले जाते हैं तथा निर्धन लोग और भी निर्धन। इससे सामाजिक कल्याण घट जाता है और समाज दो प्रति-विरोधी दलों में बँट जाता है। इस सम्बन्ध में हम केवल यह कह सकते हैं कि यह दोष पूँजीवाद से सम्बन्धित है, न कि मशीनों के उपयोग से, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं है कि पूँजीवाद की प्रगति और उसके वर्तमान प्रताप का प्रमुख कारण मशीनों द्वारा उत्पादन ही है।

(७) कार्य की नीरसता (Monotony of Work)—मशीनों का काम नीरस होता है। श्रमिक को अपने व्यक्तिगत गुणों को दिखाने, अपने व्यक्तित्व का प्रदर्शन करने और अपनी शिल्प योग्यता का उपयोग करने का अवसर बहुत ही कम मिलता है। धीरे-धीरे उसका कार्य-उत्साह मारा जाता है और काम उसके लिए अत्यधिक नीरस और फीका हो जाता है। उसे मानसिक और शारीरिक थकावट अधिक अनुभव होती है। इसके सम्बन्ध में भी हम यही कह सकते हैं कि इस नीरसता का प्रमुख कारण पूँजीवाद है, जिसके अन्तर्गत काम के घण्टों को कम करके नीरसता को दूर करने का प्रयत्न नहीं किया जाता है और श्रमिक को एक वस्तु मात्र समझ लिया जाता है।

(८) राजनीतिक झंझट (Political Complications)—मशीन के उपयोग ने विभिन्न देशों के पारस्परिक सहयोग पर आघात किया है। प्रत्येक देश नई मशीनों का उपयोग करके अपनी उपज को सस्ते दामों पर बेचना चाहता है और दूसरे देशों को बाजार से निकाल देने का प्रयत्न करता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष और पारस्परिक मन मुटाव बढ़ता है तथा विभिन्न देशों के बीच आर्थिक और राजनीतिक झगड़े आरम्भ हो जाते हैं, जिनका अन्त में बुरा परिणाम होता है। सैनिक सेवाओं में मशीनों के उपयोग ने विभिन्न देशों के बीच युद्ध की सम्भावना को और भी बढ़ा दिया है।

(९) स्त्री और बालक श्रम का शोषण (Exploitation of Female and Child Labour)—मशीनों का उपयोग और श्रम-विभाजन क्रियाओं को इतना सरल बना देते हैं कि स्त्री और बच्चे भी उन कामों को करने लगते

हैं, जो साधारणतया वयस्क पुरुष श्रमिकों द्वारा किये जाते थे। पूँजीपति के लिए यह सुनहरा अवसर होता है। वह नीची मजदूरियो पर स्त्रियों और बालकों को काम पर लगाता है। इससे इन लोगो का शोषण तो होता है, परन्तु साथ ही साथ आगे की पीढ़ियों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव भी पड़ता है और देश का सारा सामाजिक जीवन दूषित हो जाता है। यह एक आशाजनक बात है कि अब सभी प्रगतिशील देशों में इस प्रवृत्ति को रोकने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(१०) श्रमिक मशीन का दास बन जाता है (The Worker becomes a Slave of the Machine)—मशीन पर काम करने वाला श्रमिक मशीन की भांति स्वयं भी एक निर्जीव यन्त्र बन जाता है। मशीन को अपना दास बनाने के स्थान पर वह स्वयं मशीन का दास बन जाता है। वैसे भी मशीन श्रमिक की कुशलता का स्थान स्वयं ग्रहण कर लेती है।

इस प्रकार मशीनों के उपयोग के लाभ और हानियाँ दोनों ही गम्भीर हैं, परन्तु इसमे सन्देह नहीं है कि हानियों की तुलना में लाभों की सूची अधिक लम्बी है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि स्वयं मशीन के भीतर कोई दोष नहीं है। यदि मशीनों पर व्यक्तियों का अधिकार न होकर सारे समाज का अधिकार हो तो मशीनों के अधिकांश दोष समाप्त हो जायेंगे। दोषों के कारण मशीनों के उपयोग को छोड़ देने की सलाह नहीं दी जा सकती है। हम केवल यही कह सकते हैं कि यह विशाल आर्थिक शक्ति का साधन यदि सामाजिक हित में काम करे तो अच्छा है।

QUESTIONS

1. Discuss the economic effects of the introduction of machinery. Does machinery create unemployment? (Agra, B. A., 1955)
2. (a) Discuss the advantages of machines.
   (b) Under what conditions would the use of labour saving machines not be desirable? (Raj., B. A., 1958)
3. Consider briefly the effects of the introduction of machinery on employment, wages, hours of work and profit of employers. (Alld., B. Com., 1954; Agra, B. Com., 1951)
4. Examine the influence of inventions and improvements in machinery on (a) wages of labour, (b) employment and (c) economic progress in general. (Agra, B. Com., 1954, 1953)

5. Machinery is the symbol of capitalistic society and leads to many ills. How far do you agree with this view? Would you abolish or, at any rate, minimize the use of machinery for a better service to society? (Agra, B. Com., 1958 S)
6. Estimate the effects of the use of machinery on labour, employment and production. (Agra, B. Com., 1957 S)

अध्याय २५

उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण

(The Localisation of Industries)

स्थानीयकरण का अर्थ (The Meaning of Localisation)—
स्थानीयकरण से हमारा अभिप्राय उद्योग-धन्धों का किसी एक स्थान में केन्द्रित अथवा एकत्रित हो जाने से होता है। बहुत बार ऐसा होता है कि कोई उद्योग एक ही स्थान में आकर केन्द्रित हो जाता है। सारी की सारी उत्पादन इकाइयाँ एक ही स्थान पर एकत्रित हो जाती हैं। उद्योगों के इस प्रकार एक स्थान पर इकट्ठा हो जाने को हम केन्द्रीयकरण (Centralisation) अथवा स्थानीयकरण कहते हैं। उदाहरण के लिए, लगभग सारा का सारा जूट उद्योग पश्चिमी बङ्गाल में केन्द्रित है। इसी प्रकार चीनी उद्योग उत्तर-प्रदेश और बिहार में केन्द्रित है तथा सूती कपड़ा उद्योग बम्बई में। इन सभी उद्योगों का स्थानीयकरण हो गया है। इस प्रकार यदि एक उद्योग की बहुत सी फर्में एक ही स्थान अथवा क्षेत्र में स्थित हों तो उस उद्योग का वहाँ पर स्थानीयकरण हो जाता है। भारत के अतिरिक्त संसार के अन्य देशों से भी स्थानीयकरण के उदाहरण मिलते हैं। इङ्गलैंड के सूती कपड़ा उद्योग का लङ्काशायर में और लोहे के छोटे औजारों के उद्योग का शेफील्ड में स्थानीयकरण हो गया है।

यह प्रश्न एक उत्पादक के दृष्टिकोण से बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है कि कारखाना कहाँ खोला जाय? प्रत्येक स्थान को स्थिति सम्बन्धी एक से ही लाभ प्राप्त नहीं होते हैं। कहीं की जलवायु उपयुक्त होती है तो कहीं पर बाजार समीप होता है। इसी प्रकार कहीं कच्चा माल पास में होता है तो कहीं शक्ति के साधन। एक उद्योगपति बड़े सोच-विचार के पश्चात् यह निर्णय करता है कि वह अपने कारखाने को किस स्थान पर खोलेगा। बहुधा ऐसा भी होता है कि जब एक कारखाना किसी कारण से एक

स्थान में खुल जाता है तो उस जैसे और भी बहुत से कारखाने वहां खुल जाते है और धीरे-धीरे उद्योग का वहीं स्थानीयकरण हो जाता है।

प्राचीन काल से स्थानीयकरण के उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं। औद्योगिक विकास की प्रत्येक उन्नति के साथ स्थानीयकरण की प्रवृत्ति भी अधिक बलवान होती हुई दिखाई देती है। औद्योगिक विकास श्रम, पूंजी और स्थान के विशिष्टीकरण (Specialization) पर निर्भर होता है। जब किसी देश की औद्योगिक प्रणाली *पूर्णतया सगठन नहीं होती है,* जैसे कि भारत में, तो वहां *स्थानीयकरण भी अपूर्ण* ही होता है। इस सम्बन्ध में हाबसन का विचार है कि साधारणतया आवश्यकताओं को पूरा करने वाली वस्तुओं के उत्पादन का स्थानीयकरण बहुत ही कम होता है। ऐसे उद्योग साधारणतया सारे देश में फैले रहते हैं।* क्योंकि प्राचीन काल में अधिकांश उद्योग जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं को ही पूरा करते थे, इसलिए स्थानीयकरण के उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं, परन्तु जैसे-जैसे विशिष्ट प्रकार का उत्पादन आरम्भ होता गया है, उद्योगों के स्थानीयकरण की प्रवृत्ति और अधिक बलवान होती गई है।

स्थानीयकरण के कारण (Factors Influencing the Localization of Industries)—

उद्योग धन्धों का स्थानीयकरण अनेक बातों पर निर्भर होता है। प्रमुख कारणों को हम पांच श्रेणियों में बांट सकते हैं :—(क) प्राकृतिक कारण, (ख) आर्थिक कारण, (ग) राजनीतिक और सैनिक कारण, (घ) सामाजिक तथा धार्मिक कारण और (ङ) अन्य कारण। इन कारणों का विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है :—

(क) प्राकृतिक कारण (Natural Causes)—

इन कारणों से हमारा अभिप्राय स्थिति, जलवायु अथवा *अन्य ऐसे कारणों से* है, जो प्रकृति पर निर्भर होते हैं। क्षेत्र की भौगोलिक दशाएं, जमीन की बनावट, खनिज पदार्थ, शक्ति के साधन आदि उद्योग की स्थिति को निर्धारित करते हैं। प्रमुख कारण इस प्रकार हैं :—

(१) जलवायु (Climate)—बहुत से उद्योगों के स्थानीयकरण पर क्षेत्र विशेष की जलवायु का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये, सूती कपड़ा उद्योग को नम (Damp) जलवायु की आवश्यकता होती है। सूखी जलवायु में सूत के धागे जल्दी-जल्दी टूटते रहते हैं। ऐसी जलवायु में कारखाने के भीतर नमी रखने की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि भारत में सूती कपड़ा *उद्योग बम्बई के आस*-पास के इलाके में केन्द्रित है और इङ्गलैंड में लङ्काशायर में।

* "The staple industries, tillage, stock raising and those connected with the supply of the common articles of clothing, furniture, fuel and other necessaries were spread *over* the whole country."—Hobson.

(२) कच्चे माल का पास में मिलना (Nearness to Raw Materials)—बहुत से उद्योगो के स्थानीयकरण पर इस बात का प्रभाव पड़ता है कि कच्चा माल पास मे मिलता है । कुछ उद्योग ऐसे होते है जिनमे ऐसे कच्चे माल का उपयोग किया जाता है कि कच्चे माल की तुलना मे तैयार माल का बोझा बहुत ही कम होता है। गन्ने में से १०-१२% ही चीनी निकलती है । ऐसे उद्योगो को उन स्थानो पर स्थापित करना लाभदायक होता है, जहाँ कच्चा माल पास मे मिल जाता है । इसी प्रकार जिन उद्योगों को नियमित रूप म काफी मात्रा मे कच्चे माल की आवश्यकता पडती रहती है, उन्हें भी कच्चा माल उत्पन्न करने वाले क्षेत्रो मे स्थापित करना बहुधा लाभदायक होता है । हमारे देश मे चीनी उद्योग और जूट उद्योग ऐसे स्थानीयकरण के अच्छे उदाहरण है ।

(३) शक्ति के साधनों की समीपता (Nearness to Power)—कुछ उद्योगो का स्थानीयकरण शक्ति के साधनो की समीपता द्वारा निश्चित होता है । जिन उद्योगो मे शक्ति का उपयोग अधिक होता है, उन्हे कोयले की खानो अथवा विद्युत-घरो के पास ही खोलना लाभदायक होता है । भारत मे टाटा नगर म लोहे और स्पात का कारखाना खुलने का एक महत्त्वपूर्ण कारण कोयले का पास ही मे बहुमात्रा मे मिलना है । बगलौर मे हवाई जहाज के कारखाने का स्थानीयकरण सस्ती जल-विद्युत शक्ति की प्राप्ति से प्रभावित हुआ है ।

(ख) आर्थिक कारण (Economic Causes)—

आर्थिक कारणो मे हम उन कारणों को शामिल करते हैं, जिन पर किसी उद्योग की मितव्ययिता निर्भर होती है । प्रत्येक उद्योग ऐसे स्थान पर केन्द्रित होने का प्रयत्न करता है, जहाँ पर उसका उत्पादन व्यय न्यूनतम् होता है । प्रमुख आर्थिक कारण निम्न प्रकार है :—

(१) बाजार की निकटता (Nearness to the Market)—बहुत से उद्योगो में बाजार के निकट स्थापित होने की प्रवृत्ति होती है । जिन उद्योगो मे कच्चे माल और तैयार माल के बोझ का अन्तर बहुत ही कम होता है अथवा तैयार माल को दूर के स्थानो पर भेजने में टूट-फूट द्वारा नुकसान का भय होता है, वे बाजार के पास ही खोले जाते है, जैसे—कांच का सामान बनाने का उद्योग । इसी प्रकार जिस वस्तु की मांग मे तेजी के साथ परिवर्तन होते रहते है, उसे भी बाजार के पास ही स्थापित करना लाभदायक होता है, ताकि मांग की प्रवृत्तियो का सही ज्ञान तुरन्त ही प्राप्त हो सके ।

(२) श्रम की प्राप्ति की सुविधा (Availability of Labour)—कुछ उद्योगो में विशिष्ट अथवा अति कुशल श्रम की आवश्यकता पडती है । ऐसे उद्योग उन्ही स्थानो पर खोले जाते है, जहाँ उपयुक्त श्रम सस्ता और पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है । बनारस का जरी का काम इसका अच्छा उदाहरण है । इसी प्रकार जिन

क्षेत्रों में सस्ते और पर्याप्त श्रमिक मिल जाते है, वहाँ भी उद्योग को स्थापित करके उत्पादन व्यय को कम किया जा सकता है, यदि उत्पादन व्यय का काफी बड़ा भाग मजदूरी के रूप मे होता है।

(३) पूँजी की सुविधा (Availability of Capital)—बहुत से उद्योगों का स्थानीयकरण पूँजी की उपलब्धता पर निर्भर होता है। बम्बई और कानपुर मे अनेक उद्योगो के जमा हो जाने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि बैंको और दूसरी सुविधाओ के कारण वहाँ सस्ते ब्याज पर और काफी मात्रा मे ऋण मिल जाते है। आधुनिक उद्योगो को काफी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए ऐसे स्थानो पर उद्योग के खोलने का प्रश्न कम ही उठता है, जहाँ पूँजी की सुविधायें प्राप्त न हो।

(४) यातायात और संचार सुविधायें (The Facilities of Transport and Communications)—उद्योगो के स्थानीयकरण पर यातायात और सम्वादवाहन का भी गहरा असर पड़ता है। यदि सस्ते, शीघ्रगामी और पर्याप्त यातायात और सम्वादवाहन के साधन मौजूद है तो बाजार की निकटता, कच्चे माल की समीपता और शक्ति के साधनो के पास मे होने की विशेष चिन्ता नहीं की जायगी। पुराने काल मे भी यातायात और सम्वादवाहन के साधनो के केन्द्र उद्योग के स्थानीयकरण के उपयुक्त स्थान समझे जाते थे।

(ग) राजनीतिक और सैनिक कारण (Political and Strategical Factors)—

कुछ उद्योगो के स्थानीयकरण पर राजनीतिक और सैनिक कारणो का भी प्रभाव पड़ता है। कुछ उद्योगो का सैनिक महत्त्व होता है, उन्हे ऐसे स्थानो पर खोला जाता है, जहाँ उन्हे युद्ध की दशा मे शत्रु के आक्रमणो से बचाया जा सके और जहाँ उनके कार्यवाहन को गुप्त रखा जा सके। हमारे देश मे गोला और बारूद के कारखाने देहात के छोटे छोटे कस्बों मे ऐसे स्थानो पर खोले गये है जहाँ उनकी रक्षा के लिए पास में कोई न कोई हवाई जहाज का अड्डा अथवा सैनिक केन्द्र मौजूद हो।

राजनीतिक कारणो में सरकार का सरक्षण आदि भी शामिल होते हैं। प्राचीन काल में बहुत से उद्योगो को राजा अथवा दरबार का सरक्षण प्राप्त होता था और अधिकतर उद्योग धन्धे राजधानी मे खोले जाते थे। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत मे अधिकांश उद्योग-धन्धो मे ब्रिटिश भारत के स्थान पर देशी राज्यो मे खुलने की प्रवृत्ति पैदा हो गई थी, क्योकि इन राज्यो मे फैक्टरी नियम नही थे। मजदूरी की दरो और कार्य की दशाओ से सम्बन्धित किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नही थे और देशी राज्य उद्योगों को विशेष सुविधायें देकर उनको प्रोत्साहन देते थे।

(घ) सामाजिक और धार्मिक कारण (Social and Religious Factors)—

बहुत से उद्योगों का स्थानीयकरण सामाजिक और धार्मिक कारणों पर भी

निर्भर होता है। बहुत से उद्योग-धन्धे ऐसे स्थानों पर खुलते हैं, जो तीर्थ-स्थान होते हैं अथवा किसी सामाजिक क्रिया के केन्द्र होते हैं। हरिद्वार और मथुरा में मूर्ति और मालायें बनाने के उद्योगों का स्थानीयकरण इसी कारण हुआ है। आगरे में खिलौने बनाने और पत्थर का काम इसलिये होता है कि प्रति दिन काफी लोग दूर-दूर से ताज को देखने के लिये आते रहते है।

(ङ) अन्य कारण (Other Causes)—

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण और भी बहुत सी बातों पर निर्भर होता है।

(१) शीघ्र आरम्भ का आवेग (Momentum of Early Start)—बहुत बार ऐसा होता है कि आरम्भ मे कोई उद्योग किसी कारण से किसी स्थान में स्थापित हो जाता है। तत्पश्चात् वह उस स्थान पर ख्याति प्राप्त कर लेता है और अपनी व्यावसायिक साख (Goodwill) बना लेता है। इस ख्याति और साख का लाभ उठाने के लिए बाद मे जो कारखाने खोले जाते है, वे भी उसी स्थान पर खोले जाते हैं। अलीगढ़ का ताला बनाने का उद्योग इसका अच्छा उदाहरण है। इसके अतिरिक्त आरम्भ में कोई उद्योग जिस स्थान पर खुल जाता है, वहाँ धीरे-धीरे श्रम और पूँजी तथा यातायात और सम्वादवाहन की सुविधाओं के लाभ प्राप्त हो जाते हैं। बाद को और उद्योगों को भी वहीं पर खोलना लाभदायक होता है।

(२) नियमों की सुविधा (Better Laws)—बहुत बार उद्योगों के स्थानीयकरण पर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि क्षेत्र विशेष के नियम कैसे हैं ? यदि उद्योगपति को सुविधायें उपलब्ध हैं तो वह कारखाना खोलना पसन्द करेगा। यदि उसके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं तो वह उद्योग को कहीं और ले जायगा।

(३) सरकारी नीति (Government Policy)—सरकारी नीति का भी उद्योगों के स्थानीयकरण पर प्रभाव पड़ता है। बहुत बार सरकार किसी उद्योग को किसी विशेष स्थान पर स्थापित करना चाहती है। व्यापार, प्रशुल्क (Tariff) और करारोपण नीति का उद्योगों के स्थानीयकरण पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। आर्थिक नियोजन (Economic Planning) के अन्तर्गत स्थानीयकरण सोच-समझ कर निश्चित किया जाता है।

स्थानीयकरण से लाभ—

जब एक उद्योग किसी स्थान मे केन्द्रित हो जाता है तो फिर सरलता से वहाँ से हटता नहीं है। इसका मुख्य कारण वे सब सुविधायें और लाभ हैं, जो उस उद्योग को स्थानीयकरण से प्राप्त होते हैं। ये लाभ निम्नलिखित हैं:—

(१) प्रसिद्धि (Fame)—वह स्थान जहाँ कोई उद्योग केन्द्रित हो जाता है उस उद्योग के लिये प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है, जिससे फलस्वरूप वहाँ की वस्तुएं सरलता से बिक जाती है। मुरादाबाद के बर्तन, लखनऊ का तम्बाकू, कन्नौज का इत्र,

सूरत की जरी का काम, आगरे के संगमरमर के खिलौने, आदि इसी कारणवश सरलता से बिक जाते हैं।

(२) श्रमिकों की कार्य-कुशलता में वृद्धि (Increase in the Efficiency of Labour)—जब किसी उद्योग का किसी स्थान में बड़े पैमाने पर स्थानीयकरण हो जाता है तो वहाँ के श्रमिकों को उस उद्योग सम्बन्धित कार्यों का विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यही नहीं, उनकी सन्तान को भी वह काम सीखने में सुविधा रहती है और यह क्रम इस प्रकार बहुत पीढ़ियों तक चलता रहता है। इससे निर्माणकर्त्ताओं और श्रमिकों दोनों को लाभ होता है। निर्माणकर्त्ता, जो उस वस्तु के उत्पादन के लिये नये कारखाने खोलना चाहते हैं, वे इसी स्थान में खोलेंगे, क्योंकि वे जानते हैं कि ऐसे स्थान में उनको उस वस्तु की उत्पत्ति में जानकारी रखने वाला श्रम सरलता से मिल सकता है। श्रमिक भी ऐसे स्थान पर दूर-दूर से आते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि वहाँ भिन्न भिन्न प्रकार के श्रम की आवश्यकता होती है और इसीलिये उनको काम सरलता से मिल सकता है।

(३) पूँजी मिलने की सुविधा (Availability of Capital)—यदि किसी स्थान में किसी वस्तु विशेष के उत्पादन से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से कारखाने खुल जाते हैं तो उनको बैंकों आदि की सुविधा के कारण कम सूद पर पर्याप्त पूँजी सरलता से प्राप्त हो जाती है।

(४) विशिष्ट यन्त्रों और मशीनों का उपयोग (Use of Specialised Machinery and Plant)—एक उद्योग के एक स्थान में केन्द्रित हो जाने से उत्पत्ति बड़े पैमाने पर होने लगती है और इसके फलस्वरूप श्रम-विभाजन बहुत उच्च सीमा पर पहुँच जाता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न निर्माणकर्त्ताओं में भी कभी कभी तो सहयोग और कुछ क्षेत्रों में स्पर्धा होने लगती है। फिर उस उद्योग में लगा हुआ श्रम भी अपने काम में पूर्णतया दक्ष हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उनमें मशीनों और यन्त्रों में उन्नति करने की क्षमता आ जाती है। इन सबका फल यह होता है कि विशिष्ट यन्त्रों और मशीनों का प्रयोग बढ़ता है और नई-नई मशीनों का आविष्कार होता है। एक और प्रकार भी नवीनतम् यन्त्रों और मशीनों के प्रयोग को प्रोत्साहन मिलता है। प्रमुख उद्योग के साथ-साथ बहुत से पूरक उद्योग भी खुल जाते हैं। यदि एक पूरक उद्योग बहुत से कारखानों की सहायता करता है तो यह स्पष्ट है कि इस पूरक उद्योग में भी काम बड़े पैमाने पर होगा और विशिष्ट से विशिष्ट मशीनों के उपयोग से लागत मूल्य में कमी होगी।

(५) गौण और पूरक उद्योग धन्धों की स्थापना (Starting of Subsidiary Industries)—स्थानीयकरण से एक और भी लाभ होता है प्रमुख उद्योग के साथ बहुत से गौण और पूरक धन्धों की भी स्थापना हो जाती है। गौण उद्योग प्रमुख उद्योग की कई प्रकार सहायता करते हैं, जैसे—उद्योग को कच्चा

माल देना, इत्यादि । इसी प्रकार पूरक धन्धे भी प्रमुख उद्योगों की सहायता करते है, यद्यपि यह सहायता परोक्ष रूप से होती है । उदाहरण के लिए, लोहे के कारखानो के पास कपड़े बुनने की मिलें खुल जाती है, जिसमे स्त्रियों और बच्चो को भी नौकरी मिल जाती है । इसके फलस्वरूप श्रमिक की कुल आय मे वृद्धि हो जाती है और निर्माणकर्त्ता को यह लाभ होता है कि उसे श्रम सस्ती मजदूरी पर मिल जाता है ।

(६) औद्योगिक सगठन और यन्त्रो तथा मशीनों के सम्बन्ध मे नये विचार (New Ideas Regarding Industrial Organisation and Machinery)—जब कोई उद्योग किसी स्थान पर केन्द्रित हो जाता है तो उससे सम्बन्धित कारखानो के निर्माणकर्त्ता, इञ्जीनियर तथा अन्य कर्मचारी समय-समय पर आपस मे मिलते रहते हैं और एक दूसरे की कठिनाइयो का अध्ययन करके उन्हे सुलझाने का प्रयत्न करते है, जिससे सम्पूर्ण उद्योग की सामूहिक रूप से उन्नति होती है । वे यह प्रयत्न करते है कि वस्तु के निर्माण का व्यय कम हो और इसके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के आविष्कार तथा उत्पत्ति प्रणाली में परिवर्तन होते रहते है । इस प्रकार प्रत्यक्ष लाभ के अतिरिक्त प्रबन्धक-तथा साहसियो में आपस मे सहयोग और एकता के भाव भी जाग्रत होते है । साथ ही, औद्योगिक तथा वैज्ञानिक अनुसन्धान को भी प्रोत्साहन मिलता है ।

(७) अवशिष्ट पदार्थो का उपयोग (Use of Bye products)—स्थानीयकरण मे अवशिष्ट पदार्थों (Waste matters) का भी उचित उपयोग होता है । बहुधा हर एक उद्योग मे कुछ न कुछ अवशिष्ट पदार्थ निकलता है, जिसका उचित उपयोग तभी हो सकता है, जब यह पदार्थ पर्याप्त मात्रा मे हो । पर्याप्त मात्रा मे यह तभी हो सकता है, जब ऐसी वस्तु के निर्माण के बहुत से कारखाने एक ही स्थान पर हो ।

(८) व्यापारिक सुविधाये (Business Facilities)—जब कोई स्थान किसी उद्योग का केन्द्र बन जाता है तो उद्योग के लिए उपयुक्त यातायात तथा सवादवाहन के साधनो का विकास होता है और ऐसी सस्थायें भी खुल जाती हैं जो व्यापार मे पूँजी लगा सकें ।

(९) विज्ञान और यन्त्र सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओ का प्रकाशन (Advertisement Facilities)—ऐसी जगह विज्ञान सम्बन्धी पत्र और पत्रिकायें भी निकलती है, जिनसे इञ्जीनियर आदि को अपने काम मे सहायता मिलती है और वे उत्पत्ति की क्रिया तथा मशीनो और यन्त्रो मे नये-नये सुधार करते रहते हे ।

(१०) मरम्मत करने के कारखानों की सुविधा (Increase of Workshop Facilities)—केन्द्रीयकरण उद्योगो के लिए इस प्रकार की सुविधायें आसानी व साथ तथा काफी मात्रा मे उत्पन्न हो जाती है ।

स्थानीयकरण की हानियाँ—

जहाँ स्थानीयकरण के इतने लाभ है, वहाँ कुछ हानियाँ भी है। ये हानियाँ निम्न प्रकार है :—

(१) श्रमिक की कार्यक्षमता की कमी (Loss of Worker's Efficiency)—उद्योग के स्थानीयकरण से उस उद्योग मे काम करने वाले श्रमिक उस उद्योग मे तो पूर्णतया दक्ष अवश्य हो जाते है, परन्तु उनका ज्ञान केवल एक ही उद्योग तक सीमित रह जाता है। इस प्रकार उनकी कार्यक्षमता सकुचित हो जाती है। दूसरे शब्दो मे, विशिष्टीकरण की समस्त हानियाँ उद्योगों के स्थानीयकरण में पाई जाती हैं।

(२) आर्थिक सङ्कट का भय (Fear of Economic Crisis)—स्थानीयकरण मे एक प्रदेश अथवा स्थान एक ही उद्योग पर निर्भर रहता है। यदि किसी प्रकार दुर्भाग्यवश इस व्यवसाय मे मदी आ जाती है तो उन सब व्यक्तियों को जो इस व्यवस्था पर निर्भर रहते है, महान् आर्थिक कष्ट उठाना पड़ता है। कारखाने बन्द हो जाते हैं, बेकारी फैलती है और सम्पूर्ण वातावरण अत्यन्त ही निराशाजनक हो जाता है।

(३) श्रम महगा पड़ता है (Dearness of Labour)—यदि किसी केन्द्रित उद्योग में काम ऐसा है, जिसको केवल विशेष प्रकार का ही श्रमिक कर सकता है तो ऐसी दशा मे निर्माणकर्त्ताओ को मजदूरी अधिक देनी पडेगी। उदाहरणार्थ, लोहे के कारखानो मे काम अधिकतर बलवान् मनुष्य ही कर सकते है, इसलिए यह स्पष्ट है कि किसी पूरक उद्योग के अभाव मे, जहाँ स्त्रियो और बच्चो को भी काम मिल सकता है, श्रमिक अधिक मजदूरी की माँग करेंगे। इसके अतिरिक्त यद्यपि निर्माणकर्त्ताओ को तो मजदूरी पर अधिक व्यय करना पडेगा, तथापि मजदूरो को इतनी मजदूरी नही मिलेगी कि उनके परिवार का काम अच्छी तरह चल सके।

(४) श्रम की गतिशीलता मे कमी (Reduction in the Mobility of Labour)—स्थानीयकरण से निपुण श्रम की गतिशीलता मे कमी आ जाती है, क्योकि वे एक ही उद्योग के कार्य मे विशेषज्ञ होते हैं और उन्हे अन्य उद्योगो का सामान्य ज्ञान भी नही होता है।

उद्योगो का विकेन्द्रीयकरण (De-localisation or Decentralization of Industries)—

विगत वर्षों मे औद्योगिक जगत मे एक दूसरी प्रकार की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। उद्योग-धन्धो के केन्द्रीयकरण होने के स्थान पर उनका विकेन्द्रीयकरण हो रहा है, अर्थात् उद्योगो के एक स्थान पर जमा होने के स्थान पर वे उल्टे फैलते जा रहे हैं। बहुत से उद्योग अपने पुराने स्थानो को छोड कर नये-नये स्थानो को जा रहे हैं। क्षेत्रवर्ती आर्थिक नियोजन (Regional Planning) के विचार के अभ्युदय

का इस प्रकार प्रमापीकरण कर दिया जाता है कि यह जानना सम्भव हो जाता है कि कोई श्रमिक औसत से कम काम कर रहा है अथवा अधिक। मजदूरी चुकाने की भी ऐसी रीतियो का उपयोग किया जाता है कि श्रमिक का कार्य-उत्साह बना रहे। इसके अन्तर्गत यह भी आवश्यक होता है कि औद्योगिक इकाई मे नियोजन और अनुसन्धान (Planning and Research) के विभाग हो।

इस प्रकार विवेकीकरण मे औद्योगिक कुशलता की समस्या को भीतरी और बाहरी दोनों ही दिशाओं से हल करने का प्रयत्न किया जाता है। एक ही साथ श्रम और प्रबन्ध की कुशलता बढाने का भी प्रयत्न किया जाता है और वित्तीय प्रश्नो तथा अनुसन्धान की समस्याओ को सुलझाया जाता है। विवेकीकरण तभी पूरा होता है, जबकि अति पूँजियन (Over capitalisation) और अल्प-पूँजियन (Under-capitalisation) की समस्यायें भी सुलझा दी जाती है, उपज की माँग और पूर्ति के बीच समायोजन कर दिया जाता है और उद्योग के आर्थिक आधार को मजबूत बना दिया जाता है।

विवेकीकरण के लाभ—

विवेकीकरण की लोकप्रियता काफी बढ रही है। इसके निम्नलिखित महत्त्व-पूर्ण कारण है :—

(१) काम के घन्टों में कमी—अनुभव बताता है कि विवेकीकरण ने काम करने के घन्टो मे कमी की है। इसने शक्ति, कच्चे मालो और दूसरे राष्ट्रीय साधनों के उपयोग मे बचत की है।

(२) उत्पादन व्यय मे कमी—उत्पादन व्यय मे कमी करके विवेकीकरण ने जन-साधारण के लिए कीमतो को नीचा किया है और उसकी क्रयशक्ति को बढ़ाया है। इसके अतिरिक्त इसने मुद्रा-प्रसार (Inflation) को भी रोकने मे सहायता दी है।

(३) प्रमापीकरण—मशीनो और उत्पादन क्रियाओं का प्रमापीकरण करके इसने श्रमिको की कुशलता और गतिशीलता दोनो ही को बढ़ा दिया है। इसका परिणाम ऊँची मजदूरियो और अच्छी कार्य की दशाओ के रूप मे प्रकट हुआ है।

(४) अच्छे औद्योगिक सम्बन्ध—विवेकीकरण ने मजदूरी की दरो और कार्य की दशाओ मे सुधार करके श्रमिकों और उद्योगपतियो के सम्बन्धो को अच्छा बना दिया है। इस प्रकार यह औद्योगिक शान्ति स्थापित करने मे सहायक रहा है।

(५) अनुसन्धान—विवेकीकरण अनुसन्धान, वैज्ञानिक प्रबन्ध और आधुनिकीकरण के लाभो का प्रदान करके उद्योगो की उन्नति मे सहायक होता है। किसी भी देश का औद्योगिक विकास विवेकीकरण के बिना उपयुक्त तजी के साथ तथा उपयुक्त दिशाओ मे कठिनाई से ही होता है।

(६) प्रतियोगिता मे कमी—विवेकीकरण उत्पत्ति की इकाइयो के बीच

अपव्ययी तथा अनार्थिक प्रतियोगिता को समाप्त कर देता है। यह अनेक प्रकार की दोबारगी (Duplication) का अन्त करता है और अन्त में औद्योगिक विकेन्द्रीयकरण को सफल बनाता है।

(७) बहु-मात्रा उत्पादन—विवेकीकरण उद्योगों और समाज को बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लाभ प्रदान करता है।

(८) सहयोग—उत्पत्ति की इकाइयों के बीच सहयोग की भावना उत्पन्न होती है। उनके बीच की हानिकारक प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है। इससे उद्योग को ही नहीं, सारे समाज को भी लाभ होता है।

विवेकीकरण की हानियाँ—

सभी कुछ होते हुए भी विवेकीकरण के दोष भी काफी गम्भीर हैं। श्रमिकों की ओर से इसका लगभग सभी जगह विरोध किया गया है। छोटे व्यवसायी और उत्पादक भी इसका विरोध करते हैं। श्रम संघों ने तो इसे दूषित करने में कमी नहीं रखी है। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) औद्योगिक संघबन्दी—विवेकीकरण औद्योगिक संघबन्दी को प्रोत्साहन देकर तथा प्रतियोगिता को मिटा कर उद्योग में एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करता है। एकाधिकारी उत्पादक अपने ही लाभ की ओर देखता है और उपभोक्ता, समाज और राष्ट्र के हितों पर ध्यान नहीं देता है एकाधिकार और औद्योगिक संघबन्दी के सभी दोष इस प्रणाली में पाये जाते हैं।

(२) बेरोजगारी—विवेकीकरण बहुधा बेरोजगारी को बढ़ाता है। श्रम-संघ इसका इसी कारण विरोध करते हैं कि यह श्रमिकों के स्थान पर मशीनों का उपयोग बढ़ाकर रोजगार का संकुचन करता है। यही नहीं, प्रत्येक श्रमिक से अधिक उत्पत्ति प्राप्त की जाती है, जिससे भी अन्त में बेरोजगारी बढ़ती है। उद्योगपति बहुधा ऐसा समझते हैं कि यह तर्क गलत है, क्योंकि विवेकीकरण माँग को बढ़ाकर अधिक उत्पादन की आवश्यकता पैदा करता है, जिससे रोजगार घटने के स्थान पर उल्टा बढ़ जाता है।

(३) पूँजीवाद को बल—विवेकीकरण पूँजीवाद की जड़ों को मजबूत कर देता है। उद्योग का व्यक्तिगत लाभों को बढ़ाने के लिए ही उपयोग होता है, न कि समाज के कल्याण की उन्नति करने के लिए। साथ ही इससे अति-पूँजियन (Over-capitalisation) का भय बढ़ जाता है और आर्थिक संकटों (Economic Crises) की सम्भावना काफी बढ़ जाती है।

(४) विकास में शिथिलता—विवेकीकरण औद्योगिक विकास की गति में शिथिलता लाता है। संघबन्दी और बड़ी-बड़ी औद्योगिक इकाइयों के निर्माण के कारण एक ओर तो छोटे छोटे उत्पादक समाप्त हो जाते हैं और दूसरी ओर नये व्यवसायी उद्योग में नहीं आ पाते हैं।

(५) बहु-उत्पादन के दोष—विवेकीकरण में बड़े पैमाने के उत्पादन, श्रम-विभाजन तथा मशीनों के उपयोग के सभी दोष पाये जाते हैं। इसमे विशिष्टीकरण के भी दोष रहते हैं।

QUESTIONS

1. Write short note on—Rationalisation of Industries.
   (Agra, B. A., 1958, 57 ; Raj , B. A., 1953 ; Alld., B. A., 1956, 55, 52 ; Delhi, B. A., 1956)
   Scientific Management. (Agra, B. A., 1958 ; Raj., B. A., 1953, 51 ; Alld., B. A., 1959)
2. Explain the term "Rationalisation of Industries." What are its merits and demerits ? (Raj., B. A., 1953)
3. What is meant by Rationalisation ? Examine its effects on (a) employment, (b) wages and (c) economic progress in general.
   (Raj., B. Com., 1956)
4. वैज्ञानिक प्रबन्ध से आपका क्या तात्पर्य है ? यह युक्तिकरण से किस प्रकार भिन्न है ?
   (Alld., B. A., 1957)
5. What do you understand by Scientific Management ? What are its advantages ? How does it differ from Rationalisation ?
   (Lucknow, B. A., 19+7)
6. Discuss the principle of rationalisation as applied to modern factory industry and indicate its usefulness.
   (Agra, B. A., 1955 S)

अध्याय २८

आर्थिक प्रणालियाँ

(Economic Systems)

पूँजीवाद क्या है (What is Capitalism) ?—

संसार में इस समय दो प्रकार की आर्थिक प्रणालियाँ प्रचलित है :—(१) पूँजीवाद (Capitalism) और (२) समाजवाद (Socialism)। समाजवाद के अनेक रूप देखने मे आते है और ठीक इसी प्रकार पूँजीवाद के भी अनेक रूप है। इस समय के संसार का राजनीतिक इतिहास वास्तव में पूँजीवादी और समाजवादी विचार-धाराओं के ही संघर्ष का इतिहास है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि ये दोनों प्रकार की आर्थिक प्रणालियाँ एक ही साथ संसार में चालू नहीं रह सकती है, यद्यपि समाजवादी नेताओं ने विगत वर्षों में यह विश्वास प्रकट किया है कि दोनों प्रणालियाँ शान्तिमय रीति से एक साथ प्रचलित रह सकती हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि पूँजीवाद की अब प्रौढ़ अवस्था है और वह धीरे-धीरे बलहीन होता जा रहा है, परन्तु समाजवाद शिशु अवस्था को पार करके युवा अवस्था की ओर अग्रसर है। साधारण अनुभव इसके विपरीत यह बताता है कि कुछ देशों को छोड़कर अधिकांश देशों मे पूँजीवाद के विकास का काल भी अभी तक जारी है। कुछ भी हो, वर्तमान संसार और उसके आर्थिक तथा राजनीतिक इतिहास को समझने के लिए पूँजीवाद और समाजवाद को ठीक-ठीक समझ लेना चाहिये। यह विश्वास तो स्वाभाविक है कि पूँजीवाद और समाजवाद के संघर्ष मे विजय अन्त मे समाजवाद की ही होगी, परन्तु फिर भी पूँजीवाद और उसकी विशेषताओं का समझ लेना अच्छा ही होगा।

पूँजीवाद वह आर्थिक प्रणाली है, जिसमें उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार होता है। यह प्रणाली व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private Property) को स्वीकार करती है और उसकी रक्षा भी करती है। इस प्रणाली की प्रमुख विशेषता यह होती है कि कुछ ऐसे प्रतिबन्धों को छोड़कर जिनका कि सामाजिक महत्त्व होता है, किसी व्यक्ति द्वारा उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति के उपयोग पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है। वह अपनी सम्पत्ति का किसी भी प्रकार उपयोग कर सकता है। पीगू के अनुसार *"एक पूँजीवादी उद्योग वह है जिसमें उत्पत्ति के भौतिक साधनों का स्वामित्व अथवा उपयोग अधिकार निजी व्यक्तियों के पास होता है*, और इन साधनों का उपयोग कार्य इन्हीं व्यक्तियों के आदेशानुसार होता है और उद्देश्य यह

होता है कि इनकी सहायता से जो वस्तुएँ अथवा सेवाएँ उत्पन्न की जाती हैं उन्हें लाभ पर बेचा जाय। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अथवा पूँजीवादी प्रणाली वह है जिसके उत्पादक साधनों का प्रमुख भाग पूँजीवादी उद्योगों में लगा हुआ है।"[१] ऐसी दशा में एक व्यक्ति स्वभाव से ही अधिकतम् लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से कार्य करता है। बेनहाम के अनुसार—"पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था आर्थिक तानाशाही की प्रतिविरोधी है। पूरे उत्पादन का कोई केन्द्रीय नियोजन नहीं होता है।..........राज्य द्वारा लगाये हुये प्रतिबन्धों को छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिये लगभग स्वतन्त्र होता है। समाज की आर्थिक क्रियाओं का निर्धारण विभिन्न प्रकार के बहुत से व्यक्तियों एवं व्यक्ति समूहों के समन्वय रहित निर्णयों द्वारा होता है, क्योंकि प्रत्येक उत्पत्ति के साधन का स्वामी (जिसमें दास प्रथा के न होने के कारण श्रमिक भी शामिल होता है) उस साधन को अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग कर सकता है और अपनी आय को मनचाही रीति से व्यय कर सकता है।[२] *पूँजीवाद की सबसे अच्छी परिभाषा वैब (Webb) ने की है।* "*पूँजीवाद या पूँजीवादी प्रणाली अथवा यदि हम चाहें तो पूँजीवादी सभ्यता से हमारा अभिप्राय औद्योगिक और वैधानिक संस्थाओं के विकास की उस अवस्था से है, जिसमें अधिकांश श्रमिकों के पास उत्पत्ति के साधनों का स्वामित्त्व इस प्रकार नहीं होता है कि वे मजदूर वर्ग में गिने जाते हैं और जिनका जीवन-निर्वाह, जिनकी सुरक्षा और जिनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राष्ट्र के छोटे से ही जनसमूह की इच्छा पर निर्भर होते है, अर्थात् उन लोगों पर जो अपने वैधानिक स्वामित्त्व द्वारा भूमि, मशीनरी और समाज की श्रम शक्ति के मालिक होते हैं और उनके*

1. "A capitalist industry is one in which the material instruments of production are owned or hired by private persons and are operated at their orders with a view to selling at a profit the goods and services that they help to produce. A capitalist economy, or capitalist system, is one the main part of whose productive resources is engaged in capitalist industry."—A. C. Pigou : *Socialism Versus Capitalism.*

2. "A capitalist economy is the antithesis of an economic dictatorship. There is no central planning of production as a whole ....Subject to the limitations imposed by the State, everybody is more or less free to do what he likes The economic activities of the community are determined by the apparently uncoordinated decisions of a multitude of different persons, since each owner of a factor of production (including workers—who in the absence of slavery—own their own labour) is free to use it as he pleases, and to dispose of its earnings as he wishes."—Benham : *Economics*, p. 155.

*संगठन पर नियन्त्रण रखते हैं तथा ऐसा करने में उनका उद्देश्य निजी तथा व्यक्तिगत लाभ कमाना होता है।"**

पूँजीवाद के लक्षण—

वेब और बेनहाम दोनों ही की परिभाषाओं से पता चलता है कि *पूँजीवाद में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत पूँजी और उससे प्राप्त आय को अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग करने की स्वतन्त्रता होती है।* इस स्वतन्त्रता से सम्बन्धित पूँजीवाद की तीन विशेषताएँ होती हैं :—(१) व्यक्तिगत सम्पत्ति, (२) उपक्रम अथवा व्यवसाय की स्वतन्त्रता (Freedom of Enterprise) और (३) उपभोक्ताओं के लिए चुनाव की स्वतन्त्रता। व्यक्तिगत सम्पत्ति को संस्था का अर्थ यह होता है कि ऐसी सम्पत्ति का स्वामी, राज्य के नियमों का पालन करते हुए ऐसी सम्पत्ति को किसी भी प्रकार उपयोग कर सकता है अथवा दूसरों को उपयोग करने के लिए किराये पर दे सकता है। यही नहीं, उसे एक प्रकार की सम्पत्ति को किसी दूसरे प्रकार की सम्पत्ति में बदल लेने की भी स्वतन्त्रता होती है। व्यावसायिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह होता है कि राज्य के नियमों का उलंघन न करते हुए एक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी व्यवसाय चलाने की पूरी स्वतन्त्रता होती है। वह अपने वर्तमान व्यवसाय को बन्द करके नया व्यवसाय खोल सकता है अथवा अपनी सेवाएँ किसी भी सेवायोजक को बेच सकता है, यदि चाहे तो वह बेकार भी रह सकता है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि ऐसी स्वतन्त्रता अनेक कारणों से सीमित होती है। पूँजी की कमी व्यावसायिक स्वतन्त्रता की सीमा निश्चित कर देती है, इसी प्रकार निपुणता, योग्यता और व्यवसाय में रोजगार की स्थिति भी व्यावसायिक स्वतन्त्रता की सीमाएँ निश्चित करती है, परन्तु इन सीमाओं के भीतर प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण व्यावसायिक स्वतन्त्रता होती है। उपभोक्ता को चुनाव की स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह होता है कि राज्य के नियमों का पालन करते हुए उसे अपनी आय को किसी भी प्रकार व्यय करने की स्वतन्त्रता होती है। उसे यह भी स्वतन्त्रता होती है कि आय के एक भाग को बचा ले तथा उसका और अधिक आय प्राप्त करने के लिए विनियोग (Investment)

* "By the term capitalism or the capitalistic system or as we prefer the 'capitalist civilization' we mean the particular stage in the development of industry and legal institutions in which the bulk of the workers find themselves divorced from the ownership of the instruments of production in such a way as to pass into the position of wage earners whose subsistence, security and personal freedom seem dependent on the will of a relatively small proportion of the nation, namely those who own and through their legal ownership, control the organisation of the land, the machinery and the labour force of the community and do so with the object of making for themselves individual and private gains."—Sidney and Beatrice Webb.

करे। यहाँ भी आय की मात्रा उपभोक्ता के चुनाव को सीमित कर देती है, परन्तु ऐसी सीमाओं के भीतर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होते हैं।

पूँजीवाद की आधारभूत आर्थिक विशेषताएँ (The Basic Economic Features of Capitalism)—

पूँजीवाद की परिभाषा से ही उसकी कुछ विशेषताओं का पता चल जाता है। यहाँ पर इन विशेषताओं की विवेचना आवश्यक प्रतीत होती है। प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं:—

(१) व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private Property)—पूँजीवाद की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था और उससे सम्बन्धित उत्तराधिकारी प्रणाली होती है। प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत सम्पत्ति को जमा करने तथा अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग करने की स्वतन्त्रता होती है। वह इस सम्पत्ति को और आगे उत्पत्ति करने और अधिक आय प्राप्त करने का साधन बना सकता है—जिसके कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति स्वयं अपने विस्तार में सहायक होती है। यह व्यक्तिगत सम्पत्ति एक व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी को पहुँच जाती है, जो इसे और बढ़ा सकता है। इस प्रणाली का परिणाम यह होता है कि देश में आय अथवा धन के वितरण में घोर असमानताएँ पैदा हो जाती हैं और उत्तराधिकारी प्रणाली इन असमानताओं को और भी बढ़ा देती है। पूँजीवादी प्रणाली की प्रवृत्ति अमीरों को और भी अमीर तथा गरीबों को और भी गरीब बनाने की होती है।

(२) स्वार्थी नीति (Self-interest)—व्यक्तिगत सम्पत्ति प्रणाली का ही एक परिणाम यह होता है कि उत्पत्ति के साधन व्यक्तिगत अधिकार में होते हैं, जो उन्हें अपने लाभ के लिए ही उपयोग करते हैं। भूमि और पूँजी व्यक्तिगत लोगों के हाथों में होती है। ये लोग समाज के हितों पर ध्यान दिये बिना ही केवल अपने स्वार्थों को ध्यान में रखकर उत्पादन कार्यों को चलाते हैं और कुल उत्पादन का अधिकांश भाग अपने लिए ही रख लेते हैं। इस प्रकार जन-साधारण, विशेषतया श्रमिक, को उत्पत्ति में से उचित हिस्सा नहीं मिल पाता है और उसका शोषण होता है। इस प्रकार पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली उन व्यक्तिगत उत्पादकों (पूँजीपतियों) के लाभ के लिए चलती है, जिनका उत्पत्ति के साधनों पर अधिकार है। यह सार्वजनिक लाभ के लिए नहीं चलती है और अधिकतर समाज और श्रमिकों के शोषण का कारण बनती हैं।

(३) वर्ग-संघर्ष (Class conflict)—पूँजीवादी प्रणाली की तीसरी विशेषता वर्ग संघर्ष है। यह विशेषता इसलिए उत्पन्न होती है कि पूँजीपति और श्रमिक अथवा जन साधारण के हितों में अनुरूपता नहीं होती है। दोनों के हित साधारणतया एक-दूसरे के प्रति-विरोधी होते हैं। इस प्रणाली में समाज का दो स्पष्ट भागों में विभाजन हो जाता है:—(१) पूँजीपति (Capitalist) और (२) श्रमिक

(Wage earner)। पूँजीपति के पास उत्पत्ति के साधन होते हैं और वह रोजगार पर अधिकार रखता है। श्रमिक को अपना श्रम बेचने पर बाध्य होना पड़ता है। पूँजीपति का हित इसी मे होता है कि श्रमिक का अधिक से अधिक शोषण करके अपने लाभो को बढाए, जबकि श्रमिक का हित इसमे होता है कि पूँजीपति द्वारा किये हुये शोषण को कम करके अपनी मजदूरी बढ़ाये और अच्छी कार्य की दशाएँ प्राप्त करे। दोनो वर्गों के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। यह संघर्ष बहुधा औद्योगिक विवादो (Industrial Disputes) तथा हड़तालो और तालाबन्दियो (Lockouts) के रूप मे दृष्टिगोचर होता है।

(४) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Freedom)—पूँजीवाद की चौथी विशेषता आर्थिक स्वतन्त्रता है। इस आर्थिक स्वतन्त्रता में तीन प्रकार की स्वतन्त्रता शामिल होती है—(अ) व्यावसायिक स्वतन्त्रता (Freedom of Enterprise), (ब) प्रसंविदे करने की स्वतन्त्रता (Freedom of Contract) और (स) चुनाव की स्वतन्त्रता (Freedom of Choice)। इन तीनो प्रकार की स्वतन्त्रता का विश्लेषण पूँजीवाद की परिभाषा के सम्बन्ध में किया जा चुका है। इन स्वतन्त्रताओ पर कुछ प्रकार के प्रतिबन्ध होते हैं, परन्तु इन प्रतिबन्धो के भीतर सभी व्यक्तियो को व्यवसाय चुनने, दूसरो से आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करने और अपनी आय को अपनी इच्छा के अनुसार व्यय करने का पूरा अधिकार होता है। विगत वर्षों मे राज्य द्वारा इस सम्बन्ध मे काफी प्रतिबन्ध लगाये गये हैं, परन्तु फिर भी पूँजीवाद की सामान्य प्रवृत्ति इन स्वतन्त्रताओ को बनाये रखना ही होती है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो इस प्रकार की स्वतन्त्रता सभी को होती है, परन्तु व्यावहारिक जीवन में स्वतन्त्रता केवल पूँजीपति को ही होती है। श्रमिक और जन-साधारण के पास साधन बहुत ही सीमित होते हैं और उन्ही के अनुपात में उनकी स्वतन्त्रता भी सीमित होती है।

(५) लाभ उद्देश्य (Profit Motive)—पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली लाभ उद्देश्य पर आधारित होती है। कोल (Cole) के शब्दो मे "सम्भावित लाभ ही वह धुरी है जिसके ऊपर यह प्रणाली घूमती है।"* जॉन स्ट्रेची ने इसे लाभ प्रणाली (Profit System) कहा है। किस वस्तु का उत्पादन होगा, किस प्रकार होगा, कितनी मात्रा मे होगा, किस किस्म का उत्पादन होगा, कितनी पूँजी लगाई जायगी और उत्पत्ति का पैमाना कितना रहेगा? ये सब निर्णय लाभ को ध्यान मे रख कर किये जाते हैं। उत्पादन तभी किया जाता है, जबकि वह पूँजीवादी उत्पादक के लिए लाभदायक होता है। इसका एक गम्भीर परिणाम यह होता है कि उत्पादन की मात्रा, उत्पादन की किस्म और रोजगार का अंश राष्ट्रीय आवश्यकता (National Need)

---

* "Expected profit is the pivot on which the entire system turns."—G. D. H. Cole.

पर आधारित नही होते है, बल्कि लाभ के अंश पर निर्भर होते हैं। इसी कारण राष्ट्रीय उत्पादन और राष्ट्रीय आवश्यकताओं के बीच समायोजन नहीं हो पाता है। उत्पत्ति आवश्यकता से अधिक भी हो सकती है और आवश्यकता से कम भी। पूँजीवाद में अति-उत्पादन (Over-Production) और न्यून-उत्पादन (Under-Production) की समस्याएँ बराबर बनी रहती है। यही कारण है कि पूँजीवाद मे आर्थिक संकट (Economic Crisis) बराबर बने रहते हैं। अनुभव बताता है कि पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ आर्थिक संकटो की क्रूरता और व्यापकता बराबर बढ़ती गई है। व्यापार चक्रो (Business Cycles) के उत्पन्न होने का भी प्रमुख कारण यही है।

(६) समन्वय का अभाव (Lack of Coordination)—पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली समन्वय-रहित प्रकृति की होती है। व्यवसायों का कोई भी विचारयुक्त नियमन (Conscious Regulation) नहीं होता है और उत्पादन कार्य किसी भी केन्द्रीय निर्देशन (Central Direction) के अन्तर्गत नही चलता है। ऐसा कहा जाता है कि सारी आर्थिक क्रियायें स्वयं चालित (Automatic) रूप मे चलती हैं। व्यक्तिगत साहसियों के निर्णयों द्वारा ही उत्पादन चलता है और ये व्यक्तिगत उत्पादक एक-दूसरे के साथ विचार-परामर्श भी नहीं करते हैं। अन्तिम दशा मे उपभोक्ता ही सम्राट होता है और उसी की रुचि, मांग और क्रय: शक्ति को ध्यान मे रखकर पूँजीवादी उत्पादक उत्पादन-कार्य करता है। इसी के आधार पर किसी प्रकार मांग और पूर्ति का एक-दूसरे के साथ समायोजन हो जाता है। उपभोक्ताओं की मांग वस्तुओं की कीमत पर निर्भर होती है और ठीक इसी प्रकार उत्पादकों द्वारा की हुई पूर्ति भी कीमत पर निर्भर होती है। कीमत ही मांग और पूर्ति के बीच समायोजन करती है। इसी आधार पर हम कहते है कि पूँजीवाद में उत्पादन पर कीमत यन्त्र (Price Mechanism) का आधिपत्य रहता है। कीमत ही मांग और पूर्ति की मात्राएँ आदि निश्चित करती है।

(७) साहसी का महत्त्व (Importance of the Entrepreneur)—पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में साहसी और जोखिम उठाने का भारी महत्त्व होता है। साहसी ही इस उत्पादन प्रणाली की जान होता है, क्योंकि सभी उत्पत्ति के साधनों का एकत्रण, निर्देशन और काम पर लगाये रखने का काम वही करता है। साहसी के बिना यह उत्पादन प्रणाली नहीं चल सकेगी। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली सदा ही मांग के अनुमान पर चलती है। पूरे प्रयत्न के पश्चात भी मांग के अनुमान मे अनिश्चितता अवश्य रहती है। यही कारण है कि पूँजीवाद में जोखिम उठाने की आवश्यकता बराबर रहती है। समाजवाद मे सारा का सारा उत्पादन-कार्य पूर्व निश्चित योजना और पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों के अनुसार चलता है, इसलिए जोखिम का प्रश्न ही नही उठता है।

(८) प्रतियोगी भावना (Competitive Spirit)—पूँजीवादी

उत्पादन प्रणाली की अगली विशेषता प्रतियोगिता की उपस्थिति होती है। कभी-कभी तो इस प्रणाली में कंठछेदी प्रतियोगिता (Cut-throat Competition) पाई जाती है। साधारणतया अपूर्ण प्रतियोगिता (Imperfect Competition) मिलती है। यह प्रतियोगिता उत्पादको अथवा विक्रेताओ के बीच भी पाई जाती है और ग्राहको अथवा उपभोक्ताओ के बीच भी पाई जाती है। साथ ही साथ, प्रतियोगिता के साथ-साथ संघबन्दी द्वारा प्रतियोगिता को कम करने का भी प्रयत्न किया जाता है। विक्रेता आपस मे सङ्घबन्दी करके प्रतियोगिता को सीमित करने का प्रयत्न करते है और इसी प्रकार श्रमिक श्रम संघो की स्थापना करके आपसी प्रतियोगिता को कम करने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार सङ्घबन्दी और प्रतियोगिता दोनो साथ-साथ चलती रहती है।

(६) नाशवान प्रकृति (Destructive Nature)—पूँजीवाद की अन्तिम विशेषता इसकी नाशवान प्रवृत्ति है। यह आर्थिक प्रणाली स्वय ही अपने विनाश की दशाये उत्पन्न करती है। इस प्रणाली मे ऐसा गुण है कि यह अन्त मे स्वयं अपनी जड़ें खोदती है। कारण यह है कि जैसे-जैसे पूँजीवाद का विकास होता जाता है, छोटे-छोटे उत्पादक बडे उत्पादको की प्रतियोगिता के कारण बाजार से भागते जाते हैं। इस प्रकार पूँजीपतियो की संख्या घटती जाती है। इसके विपरीत श्रमिको की (उन व्यक्तियों की, जिन्हे अपना श्रम दूसरों को बेचने पर बाध्य होना पडता है) संख्या बराबर बढती जाती है। आर्थिक आवश्यकता और पूँजीपति का शोषण श्रमिको को संगठित होने के लिए भी बाध्य करता है। वैसे भी इस उत्पादन प्रणाली मे भारी सख्या में श्रमिक औद्योगिक केन्द्रो पर एकत्रित हो जाते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे पूँजीपतियो की तुलना मे श्रमिको की सगठित शक्ति बढती जाती है और क्योंकि दोनो एक प्रकार से एक-दूसरे के शत्रु होते हैं, इसलिए अन्त मे वर्ग सघर्ष (Class Struggle) मे श्रमिको की ही विजय होती है। इस दृष्टिकोण से पूँजीवाद का अन्त निश्चय है। समाजवादियो का यह नारा (Slogan)—"ससार के श्रमिको आपस मे मिल जाओ, तुम अपनी शृङ्खलाओ के अतिरिक्त और कुछ नही नही खोओगे"* वास्तव मे सार्थक है।

पूँजीवाद के पक्ष में—

काफी लम्बे काल से पूँजीवाद ने संसार की सेवा की है और संसार के अधिकांश देशो मे यह आर्थिक प्रणाली अभी तक भी लाभदायक कार्य कर रही है। पूँजीवाद की सफलता की सूची काफी लम्बी है और पूँजीवाद के कडे आलोचको ने भी पूँजीवाद की महान् देन को स्वीकार किया है। इस आर्थिक प्रणाली की प्रमुख सफलताएँ निम्न प्रकार है :—

* "Workers of the world unite ; you have nothing to lose but your chains."

(१) उत्पादन में वृद्धि (Increase in Production)—पूँजीवाद के समर्थकों का कहना है कि इस प्रणाली ने वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति में गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों ही दृष्टिकोणों से काफी वृद्धि की है। लाभ के लोभ में पूँजीपति ने अनेक प्रकार की जोखिम उठाई है और उत्पत्ति के नये-नये क्षेत्रों की खोज की है। वर्तमान युग में वस्तुओं और सेवाओं की विविधता और प्रचुरता का प्रमुख श्रेय पूँजीवाद को ही है। इस प्रणाली ने समाज के जीवन-स्तर और सन्तोष-स्तर को निरन्तर ऊपर उठाया है और मानव जीवन की सम्पन्नता बढ़ाई है। इस सम्बन्ध में हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि पूँजीवाद के ऋण से तो कोई भी इन्कार नहीं करेगा, परन्तु यह भी निश्चित है कि यदि पूँजीवाद के स्थान पर समाजवाद होता तो मानव जीवन की सम्पन्नता और अधिक हो जाती। पूँजीवाद ने तो धन के वितरण में असमानता लाकर जीवन स्तर की सामान्य उन्नति में बाधा डाली है।

(२) साधनों का मितव्ययी उपयोग (Economical Use of Resources)—ऐसा कहा जाता है कि पूँजीवाद उत्पत्ति के साधनों का अत्यधिक मितव्ययितापूर्ण उपयोग करता है और सभी प्रकार के अपव्यय को समाप्त कर देता है। लाभ को अधिकतम् करने के लिए पूँजीपति स्वयं मितव्ययिता का मार्ग अपनाता है और प्रत्येक साधन का सबसे उपयुक्त रीति से उपयोग करता है। इससे उत्पादक, समाज और राष्ट्र को लाभ होता है। इस सम्बन्ध में भी हम ऐसा कह सकते है कि यथार्थ में पूँजीवाद में राष्ट्रीय साधनों का अपव्यय काफी होता है। व्यक्तिगत उत्पादक अपने लाभ के लोभ में सामाजिक अथवा राष्ट्रीय हितों की ओर ध्यान नहीं देता है। कितने ही राष्ट्रीय साधनों का तो केवल इसी कारण उपयोग नहीं हो पाता है कि उनके उपयोग से उत्पादक को यथेष्ठ लाभ नहीं हो पाता है।

(३) योग्यतम् की विजय (Survival of the Fittest)—पूँजीवाद योग्यतम् जीवन (Survival of the Fittest) के सिद्धान्त पर चलता है। अधिकतम् पारितोषण सबमें योग्य, सबमे अधिक जोखिम उठाने वाले तथा सबमे अधिक परिश्रमी साहसी को ही मिलता है। न्यायशीलता इसी मे है कि सबसे योग्य व्यक्ति को ही अधिक से अधिक लाभ हो। इसके सम्बन्ध मे भी हम यह कह सकते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्तराधिकार प्रणाली के फलस्वरूप पूँजीवाद योग्य लोगों को आगे बढ़ने का अवसर नही देता है, बल्कि वही लोग आगे बढ़ते हैं, जिनके पास पहले से ही विद्यमान आर्थिक साधन मौजूद हो।

(४) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Freedom)—पूँजीवाद का सबसे बड़ा महत्वपूर्ण गुण यह बताया जाता है कि इसमें आर्थिक स्वतन्त्रता बहुत रहती है। उपभोक्ता का तो राज्य ही रहता है, वही यह निश्चित करता है कि उत्पादन का रूप क्या होगा। इसी प्रकार उपभोक्ता अपनी इच्छा के अनुसार उपभोग करता है और पूँजीपति उत्पादक को उपभोक्ता की माँग के अनुसार ही उत्पादन करना पड़ता

है। सभी व्यक्तियों को व्यवसाय चुनने की भी पूरी पूरी स्वतन्त्रता होती है। इस सम्बन्ध में भी हम यही कह सकते हैं कि वास्तव में स्वतन्त्रता उतनी अधिक नहीं होती है, जितनी कि पूँजीवाद के प्रशसक समझते हैं। प्रभावशाली विज्ञापन द्वारा पूँजीपति माँग को बहुत बड़े अंश तक प्रभावित कर सकता है। एकाधिकारी पूँजीपति उपभोक्ताओं को काफी अंश तक बाध्य कर सकता है। इसी प्रकार व्यावसायिक स्वतन्त्रता भी केवल सैद्धान्तिक है, क्योंकि व्यवसायों और रोजगारों का निर्माण पूँजीपति अपने लाभ को ध्यान में रख कर करता है।

(५) व्यक्तिगत रुचि (Personal Interest)—पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली को व्यक्तिगत रुचि, उत्तरदायित्व और हित के लाभ प्राप्त होते हैं। व्यवसाय पर साहसी का नियन्त्रण होने के कारण उसका सचालन बड़ी बुद्धिमानी और बड़ी जिम्मेदारी के साथ होता है, जिससे उसकी कुशलता बढती है। यह निस्सन्देह इस उत्पादन प्रणाली का महत्त्वपूर्ण गुण है, परन्तु समाजवादी देशों का अनुभव हमें बताता है कि वहाँ भी कुशलता या अश किसी प्रकार कम नहीं होता है, यद्यपि प्रत्यक्ष व्यक्तिगत रुचि का अभाव हो सकता है।

(६) लोच का गुण (Flexibility)—पूँजीवाद में परिस्थितियों का सामना करने और उनके अनुसार अपनी उत्पादन विधियों, प्रबन्ध और कार्य-प्रणाली को बदलने का भारी गुण होता है। इसने भारी सकटों का सामना किया है, परन्तु लगभग सदा ही यह विजयी रहा है। वास्तविकता यह है कि अपनी इस प्रगतिशील प्रवृत्ति के कारण ही पूँजीवाद जीवित रहने और बराबर उन्नति करने में सफल रहा है। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रत्येक सकट ने पूँजीवाद की कमर कमजोर की है। राज्य द्वारा आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप बराबर बढ़ते जा रहे हैं, जिससे यही पता चलता है, कि पूँजीवाद बिना बाहरी रक्षा के जीवित रहने योग्य नहीं है।

पूँजीवाद के दोष (The Demerits of Capitalism)—

पूँजीवाद के दोष भी बड़े गम्भीर हैं। इसकी स्थापना के काल से लेकर अब तक बराबर ही पूँजीवाद की आलोचनाएँ हुई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ उसके दोष अधिक स्पष्ट और अधिक गम्भीर रूप धारण करते चले आ रहे हैं। समाजवादी लेखक आरम्भ से ही यह चेतावनी देते आये हैं कि समय के साथ-साथ पूँजीवाद के दोष बढ़ते ही जायेंगे। वर्तमान युग में आर्थिक संकटों ने बड़ा ही गम्भीर, व्यापक और क्रूर रूप धारण कर लिया है। व्यापारिक तेजी और मन्दी तथा उनसे सम्बन्धित कष्टों से आज का संसार भलीभाँति परिचित है। इस प्रणाली ने सामाजिक और आर्थिक कलह उत्पन्न करके विश्व युद्धों को उत्पन्न किया है। जनसाधारण के कष्ट और उनकी दरिद्रता इतनी बढ़ गई है कि पूँजीवाद के विरुद्ध एक आन्दोलन सा खड़ा हो गया है। इस प्रणाली के आलोचकों की सख्या बराबर बढ़ती जा रही है और कुछ देशों में तो क्रान्ति द्वारा इसे समाप्त भी कर दिया गया है। आज का

संसार तेजी के साथ समाजवाद की ओर आ रहा है। पूँजीवाद के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) आर्थिक संकट (Economic Crises)—पूँजीवाद आर्थिक सकटों को जन्म देता है। इस प्रणाली मे राष्ट्रीय उत्पादन और राष्ट्रीय आवश्यकता के बीच किसी भी प्रकार का समायोजन नहीं होता है। उत्पत्ति लाभ को ध्यान मे रखकर की जाती है, न कि राष्ट्रीय आवश्यकता को ध्यान में रखकर। इसका परिणाम यह होता है कि राष्ट्रीय आवश्यकता से उत्पत्ति कम भी हो सकती है और अधिक भी। अति-उत्पादन और न्यून-उत्पादन के कारण व्यापार-चक्र और उनसे सम्बन्धित आर्थिक संकट पैदा होते हैं। तेजी और मन्दी के चक्र चलते रहते हैं और आर्थिक जीवन कष्टमय होता जाता है। जैसे-जैसे पूँजीवाद की प्रगति होती जाती है, इन व्यापार चक्रों की क्रूरता और नियमितता बढ़ती जाती है। लगभग सभी पूँजीवादी देश इनसे व्याकुल हैं और प्रयत्न करने पर भी इनको दूर करने मे सफल नहीं हो पाये है। आर्थिक सकट पूँजीवाद की प्रकृति मे ही शामिल है। लार्ड कीन्ज (Lord Keynes) ने भी यह स्वीकार किया है कि अत्यधिक प्रयत्न के द्वारा भी पूँजीवाद मे व्यापार चक्रों की केवल क्रूरता ही कम की जा सकती है। उन्हे समाप्त करना सम्भव नहीं है।

(२) वर्ग-संघर्ष (Class Conflict)—पूँजीवाद वर्ग संघर्ष को उत्पन्न करता है और जैसे-जैसे पूँजीवाद का विकास होता जाता है, वर्ग युद्ध (Class war) का भी विकास होता जाता है। यह प्रणाली समाज को दो प्रतिविरोधी वर्गों मे बाँट देती है—पूँजीपति और श्रमिक अथवा धनवान और निर्धन (Haves and have-nots)। इससे सामाजिक और आर्थिक जीवन दूषित हो जाता है। धनी लोग बराबर और अधिक धनवान होते जाते हैं तथा निर्धन और भी अधिक निर्धन।

(३) अपव्ययी प्रकृति (Wastefulness)—पूँजीवाद का भारी दोष अपव्यय है। प्रतियोगिता ही पूँजीवाद की प्रमुख विशेषता है और यह प्रतियोगिता भारी अपव्यय का कारण होती है। प्रत्येक उत्पादक को विज्ञापन तथा बिक्री व्यय के रूप मे भारी व्यय करना पड़ता है, जिसका उद्देश्य प्रतिद्वन्द्वियो को बाजार से समाप्त करना होता है। इस प्रकार का सारा व्यय अपव्यय ही होता है। यही नहीं, असफल प्रतियोगियो का लगाया हुआ सारा धन, शक्ति और साधन बेकार हो जाते हैं। राष्ट्रीय साधनों का भी अपव्यय होता है। पूँजीपति साधनो का इस प्रकार व्यय करता है कि उसके लाभ अधिकतम हों, चाहे इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय साधनो का कितना ही अपव्यय क्यो न हो।

(४) वास्तविक स्वतन्त्रता का अभाव (Lack of Real Freedom)—पूँजीवाद मे आर्थिक स्वतन्त्रता केवल सैद्धान्तिक होती है और इसी प्रकार समाज और उत्पादको के हितो की अनुरूपता भी केवल कोरी कल्पना होती है। पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव, उत्पादक का विज्ञापन और उसकी धोखेबाजी तथा उपभोक्ताओ की अज्ञानता और शक्तिहीनता सभी मिलकर उपभोक्ता को पूँजीपति का

दास बना देते हैं। व्यावसायिक स्वतन्त्रता केवल दिखावटी होती है। रोजगार का अंश और रोजगार का रूप पूँजीपति ही निश्चित करता है। यह अवश्य निश्चित है कि पूँजीवाद में एक व्यक्ति को भूखो मरने, बिना औषधि के मरने अथवा बेकार रहने की स्वतन्त्रता रहती है।

(५) शोषण पर आधारित (Based on Exploitation)—पूँजीवाद श्रमिकों और उपभोक्ताओं के शोषण पर आधारित है। श्रमिकों के लिए जो धन के वास्तविक उत्पादक होते हैं, किसी भी प्रकार की सुरक्षा नहीं होती है। उनके लिए रोजगार छूटने का भय बराबर बना रहता है। लगभग सभी पूँजीवादी देशों में राज्य प्रेरणा द्वारा संचालित सामाजिक सुरक्षा योजनायें इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि पूँजीवाद में सामाजिक सुरक्षा की भारी कमी रहती है।

(६) कुशलता काल्पनिक होती है (Efficiency is Imaginary)—पूँजीवाद में उत्पादन सम्बन्धी कुशलता भी भ्रमात्मक होती है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि व्यक्तिगत उत्पादन इकाइयों में उत्पादन व्यय स्तर साधारणतया नीचा होता है, परन्तु नीचे उत्पादन व्यय का कारण पूँजीवाद की कुशलता नहीं होती है, बल्कि समाज का शोषण होता है। पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में मजदूरी और कार्य की दशाएँ समाजवादी उत्पादन प्रणाली से बहुत नीची होती हैं। इसके अतिरिक्त यद्यपि यह सम्भव है कि पूँजीवाद में मौद्रिक उत्पादन व्यय नीचा हो, परन्तु सामाजिक व्यय (Social Cost) बहुत ऊँचा होता है। समाज अथवा राज्य को स्वास्थ्य, मनोरंजन, सामाजिक सुरक्षा और नैतिक तथा सांस्कृतिक उत्थान के लिए बहुत व्यय करना पड़ता है। शायद हम यह कह सकते हैं कि सभी प्रकार के व्यय को जोड़ कर समाजवादी उत्पादन में उत्पादन व्यय पूँजीवाद से नीचा ही रहता है।

(७) व्यक्तिगत सम्पत्ति का दोष (Defect of Private Property)—पूँजीवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्तराधिकारी अधिकारों की रक्षा करता है। प्रूदों (Proudon) ने ठीक ही कहा है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति एक प्रकार की चोरी है, जो समाज को धोखा देकर अथवा उसका शोषण करके पैदा की जाती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्तराधिकारी नियमों ने योग्यतम् जीवन के सिद्धान्त को तोड़ दिया है। इस प्रणाली में मनुष्य को केवल एक वस्तु की ही भाँति समझा जाता है। उसे उसकी वास्तविक स्थिति के अनुसार आदर नहीं मिल पाता है।

(८) धन के वितरण की असमानताएँ (Inequalities in the Distribution of Wealth)—पूँजीवाद धन और आय के वितरण की असमानताओं को बढ़ाता है। इस प्रणाली में धनियों का धन और निर्धनों की दरिद्रता दोनों बराबर बढ़ते रहते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम धन के वितरण की इस असमानता को और भी बढ़ा देते हैं। आय के वितरण की इस असमानता के गम्भीर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिणाम होते हैं।

इसके फलस्वरूप आर्थिक कल्याण में कमी आती है, सामाजिक जीवन में कलह पैदा होती है और राजनैतिक जीवन में भ्रष्टाचार फैलता है।

(९) सामाजिक विषाद (Social Contradictions)—पूँजीवाद मे सामाजिक जीवन विषाद और विरोधों (Contradictions) से भरा रहता है। इसमे प्रचुरता और दरिद्रता, विलास और भुखमरी, शासन और दासता, दुर्लभता और बेकारी साथ ही साथ देखने को मिलते हैं।

(१०) साधनों की बेकारी (Idleness of Resources)—पूँजीवाद मे देश के साधनो का विकास उचित दिशाओ तथा उचित अंश तक नही हो पाता है। यह सम्भव है कि कुछ उद्योग सामाजिक दृष्टिकोण से बहुत ही आवश्यक हो, परन्तु यदि उनसे लाभ पर्याप्त नही है तो उनका कभी भी विकास नही हो पावेगा।

(११) स्त्रियों और बालकों का शोषण (Exploitation of Women and Children)—पूँजीवाद मे स्त्री और बच्चो का शोषण होता है, वृद्धि, बीमार और बेरोजगार की ओर ध्यान नही दिया जाता है, मनुष्य केवल धनोत्पत्ति का उद्देश्य बनाकर कार्य करता है। वर्तमान काल मे तो इस प्रणाली के दोष इतने बढ गये है कि ससार बड़ी तेजी से इसे बदलने के लिए उत्सुक है। ससार के बहुत से देशो मे तो पूँजीवाद का अन्त हो चुका है, कुछ देशो मे इसकी कमर टूट चुकी है और शेष मे भी शायद यह बहुत समय तक टिक न सके।

समाजवाद क्या है ?—

वास्तविक जीवन मे समाजवाद के नाम से वर्तमान युग में सभी परिचित हैं। हम सभी बिना यह जाने कि समाजवाद क्या है, समाजवादी बनने का दावा करते रहते है। कठिनाई यह है कि समाजवाद के अनेक रूप हैं। इन रूपों मे भारी अन्तर है और कुछ के दृष्टिकोण तो एक-दूसरे के प्रतिविरोधी प्रतीत होते हैं। जोड (Joad) के इस वाक्य मे पर्याप्त सत्यता है कि समाजवाद एक ऐसी टोपी है, जिसका रूप इसीलिए बिगड़ गया है कि सभी ने उसे पहनना आरम्भ कर दिया है।[1] श्रम सघवाद (Trade Unionism) से लेकर साम्यवाद तक समाजवाद के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ लोग तो ऐसा भी समझते है कि समाजवाद केवल एक भावना है, जो प्रत्येक हृदय मे आवश्यक रूप मे उत्पन्न होती है और अन्त मे आयु के बढने और समझ आ जाने के पश्चात् समाप्त हो जाती है।[2] समाजवाद के निश्चित अर्थ से सम्बन्धित कठिनाई के विषय मे शाडवैल (Shadwell) ने कहा है—"यह (समाजवाद) सैद्धान्तिक और

1. "Socialism, in short, is a hat which has lost its shape because everybody wears it."—C. E. M. Joad : *Modern Political Theory* (1953), p. 40.

2. "If one is not a socialist upto the age of twenty five, it shows that he has no heart ; but if he continues to be a socialist after the age of 25, he has no head." Remark of a Swedish king, quoted by K. K. Dewett in *Modern Economic Theory*, p. 613.

रचनात्मक, भौतिक और अभौतिक, विचारात्मक, अति प्राचीन और बहुत ही आधुनिक दोनों एक ही साथ है, इसका अस्तित्व एक कोरी भावना से लेकर एक ठोस रचनात्मक कार्यक्रम तक फैला हुआ है, इसके विभिन्न समर्थक इसे एक जीवन दर्शन, एक प्रकार का धर्म, एक नैतिक नियम, एक आर्थिक प्रणाली, एक ऐतिहासिक पद्धति और एक वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह एक लोकप्रिय आन्दोलन तथा एक वैज्ञानिक विवेचना है, यह भूतकाल की एक टिप्पणी और भविष्य का एक दिग्दर्शन है, यह युद्ध का नारा है और युद्ध को रोकना चाहता है, यह एक हिंसात्मक क्रान्ति तथा रक्तहीन क्रान्ति है, यह प्रेम और सत्यता का महा ग्रन्थ है और घृणा तथा लालच के विरुद्ध आन्दोलन है, यह मनुष्य की भावी आशा है और सभ्यता का अन्त है, यह एक अति-आकर्षक भविष्य का आरम्भ है और भयपूर्ण संकट की चेतावनी है।"[1] शायद समाजवाद के विभिन्न रूपों को समझ लेने के पश्चात् शाडवेल के इस कथन को समझने मे सहायता मिल सके।

आरम्भ में इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि समाजवाद एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है, जिसमें उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व और नियन्त्रण के स्थान पर सारे समाज का स्वामित्व और नियन्त्रण होता है।[2] साधारणतया यह सामाजिक स्वामित्व और नियन्त्रण राज्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार समाजवाद में उत्पत्ति के साधनों पर राज्य का सामूहिक रूप मे अधिकार होता है और राज्य उनसे पूरे समाज के लिए अधिकतम् लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। परिणाम यह होता है कि मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण नहीं हो पाता है। डॉ० तुगन-बारानोवस्की (*Tugan-Baronowsky*) का विचार है—"समाजवाद का सार यह है कि उसके अन्तर्गत समाज के किसी व्यक्ति का शोषण नहीं हो सकता है। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था लाभ की प्रेरणा के आधार पर चल रही है, परन्तु समाजवाद के अन्तर्गत उसका उद्देश्य अधिकतम् कल्याण प्राप्त करना

1. "It is both abstract and concrete, theoretical and practical, idealist and materialist, very old and entirely modern; it ranges from a mere sentiment to a precise programme of action; different advocates present it as a philosophy of life, a sort of religion, an ethical code, an economic system, a historical category, a juridical principle, it is a popular movement and a scientific analysis, an interpretation of the past and a vision of the future, a war cry and a negation of war, a violent revolution and a gentle revolution, a gospel of love and altruism, and a compaign of hate and greed, the hope of mankind and the end of civilisation, the dawn of the millimennium and a fightful catastrophe."—Shadwell.

2. "The only essential feature in socialisation is that industries and services with the instruments of production which they require should not be owned by individuals and that industrial and social administration should not be organised for the purpose of obtaining private profit." Webbs.

होता है।.......वस्तुओं का उत्पादन समाज के लिए उनकी उपयोगिता के आधार पर होता है।[1] वैब्स (Webbs) ने एक समाजवादी उद्योग की परिभाषा इस प्रकार है—एक समाजवादी उद्योग *(Socialised Industry)* वह होता है, जिसमें उत्पत्ति के राष्ट्रीय साधनों पर सार्वजनिक सत्ता अथवा ऐच्छिक संघ का स्वामित्व होता है और जिसका संचालन उपज को दूसरे व्यक्तियों को बेचकर लाभ कमाने के लिए नहीं होता है, बल्कि उन व्यक्तियों की प्रत्यक्ष सेवा के लिए होता है जिनका वह सत्ता अथवा वह संघ प्रतिनिधित्व करता है।[2] समाजवाद की यह परिभाषा बहुत समय तक लोकप्रिय रही है, परन्तु यह परिभाषा समाजवाद से सम्बन्धित आधुनिक विचार के अनुकूल नहीं है, क्योंकि एक ओर तो वह बहुत विस्तृत है और सहकारी उपभोक्ता भण्डार भी इसके भीतर आ जाते हैं और दूसरी ओर यह आर्थिक नियोजन की ओर संकेत नहीं करती है, जो वर्तमान समाजवाद की आवश्यक विशेषता है। डिकिनसन की परिभाषा इससे अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। उनके अनुसार—"समाजवाद समाज का एक ऐसा आर्थिक संगठन है, जिसमें उत्पत्ति के भौतिक साधनों पर सारे समाज का स्वामित्व होता है और उनका संचालन ऐसी संस्थाओं द्वारा एक निश्चित योजना क्रम के अनुसार किया जाता है; जो कि सारे समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं और सारे समाज के प्रति उत्तरदायी होती हैं, समाज के सभी सदस्य समान अधिकारों के आधार पर ऐसे सामाजीकृत आयोजित उत्पादन के परिणामों के फलों के अधिकारी होते हैं।"[3] इससे भी अच्छी परिभाषा लुडकस् और हूट (Louks and Hoot) ने की है, क्योंकि उनकी परिभाषा में समाजवाद की सभी विशेषताएँ स्पष्ट रूप में दिखलाई गई हैं। इन विद्वानों के अनुसार-"समाजवाद

1. "The essence of socialism lies in the absence of exploitation of any individual in the society. The present economic system is based on the profit motive. But under socialism it aims at the maximum welfare of all........The production of commodities is on the basis of their utility to the community."—Tugan-Baranowsky.

2. "A socialised industry is one in which the national instruments of production are owned by public authority or voluntary associations and operated not with a view to profiting by sale to other people, but for the direct service of those whom the authority or association represents."—Webbs.

3. "Socialism is an economic organisation of society in which the material means of production are owned by the community and operated by organs representative of, and responsible to, the community according to a general plan, all members of the community being entitled to benefits from the results of such socialised planned production on the basis of equal rights."—H. D. Dickenson : *Economics of Socialism*, p. 11.

होता है । मार्क्स ने इतिहास की आर्थिक विवेचना (Economic Interpretation) की है । संसार के सारे युद्ध, उपद्रव, राजनैतिक आन्दोलन, आदि आर्थिक कारणों से उत्पन्न होते हैं । किसी विशेष काल में शासन प्रणाली कैसी होगी, यह भी उस समय की आर्थिक अवस्था और आर्थिक संगठन के रूप पर ही निर्भर होता है । आर्थिक कारणों का प्रत्येक परिवर्तन राजनैतिक कलेवर में भी परिवर्तन उत्पन्न कर देता है । संसार में साम्राज्यवाद (Imperialism) तथा उपनिवेशवाद (Colonialism) के विकास को समझने के लिए भी आर्थिक कारणों की ही विवेचना आवश्यक होगी । पूँजीवाद में शासन प्रणाली ऐसी होगी कि व्यक्तिगत पूँजी सम्बन्धी अधिकारों की रक्षा की जाय और व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार को दृढ़ बनाया जाय । इसके विपरीत समाजवाद में शासन प्रणाली पूर्णतया भिन्न होगी ।

कार्ल मार्क्स का विचार है कि पूँजीवाद में ऐसे विरोध मौजूद हैं, जिनके कारण पूँजीवाद का अन्त अवश्य होकर रहेगा । पूँजीवाद स्वयं ही ऐसी दशायें और प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करता है, जो उसके विनाश का कारण बनती हैं और समाजवाद की स्थापना को प्रोत्साहित करती हैं । जैसे-जैसे पूँजीवाद का विकास होगा, एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ बलवान होती चली जायेंगी । बड़ी-बड़ी मछलियाँ छोटी छोटी मछलियों को निगल जाती हैं । इसी प्रकार बड़े-बड़े पूँजीपति छोटे-छोटे पूँजीपतियों को समाप्त करके स्वयं अपनी सख्या और शक्ति को घटा देंगे । इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों के पूँजीपति एकाधिकारी आधार पर विदेशों में बाजारों की खोज करेंगे । इसके लिए साम्राज्यवादी युद्ध होंगे, जो एक के बाद दूसरा निरन्तर ही होते रहेंगे । प्रत्येक अगला युद्ध पहले से अधिक भीषण होगा और यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा, जब तक कि स्वयं पूँजीवाद समाप्त होकर उसके स्थान पर श्रमिकों की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat) स्थापित नहीं हो जायगी । इसके अतिरिक्त पूँजीवाद में आर्थिक संकट आते रहेंगे और प्रत्येक संकट के पश्चात् पूँजीवाद पहले से अधिक कमजोर होकर निकलेगा । साथ ही, पूँजीवाद श्रमिकों की सख्या को बढ़ाता है । बहुत से श्रमिक एक ही स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं । आर्थिक कठिनाइयाँ श्रमिकों के संगठन को प्रोत्साहित करती हैं और अन्त में श्रमिक संगठित रूप में पूँजीपति और पूँजीवाद को समाप्त कर देते हैं । इस प्रकार पूँजीवाद का अन्त और समाजवाद की विजय निश्चित है ।

मार्क्स का समाजवाद मूल्य के श्रम सिद्धान्त (The Labour Theory of Value) तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) पर आधारित है । मार्क्स का विचार है कि मूल्य का आदि कारण श्रम है । प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन में लगे हुये श्रम की मात्रा द्वारा निश्चित होता है । इस सिद्धान्त को स्पष्ट बनाने के लिए मार्क्स ने समाज के लिए आवश्यक श्रम (Socially Necessary Labour) का विचार उत्पन्न किया है । मूल्य समाज के लिए आवश्यक श्रम की समय अवधि की इकाइयों में नापा जाता है । इसकी परिभाषा मार्क्स

ने इस प्रकार की है कि यह वह श्रम-अवधि है "जो किसी वस्तु को उत्पत्ति की सामान्य दशाओं के अन्तर्गत उत्पन्न करने के लिए उस समय मे प्रचलित निपुणता और परिश्रम के साधारण अंश के अनुसार आवश्यक होती है।"[1] मार्क्स का विचार है कि पूँजीपति श्रमिकों को श्रम की सारी कीमत नही चुकाता है। वह वस्तु को बेचकर उससे अधिक प्राप्त करता है, जो उसने श्रमिकों को दिया है। यथार्थ मे क्योंकि सारा का सारा मूल्य श्रम द्वारा उत्पन्न होता है, इसलिये वह सारा का सारा श्रमिक को ही मिलना चाहिए, परन्तु पूँजीपति सारा मूल्य श्रमिक को नही देता है और उसके एक भाग को अपने पास रख लेता है। इस प्रकार श्रमिक कुछ समय तक तो अपने लिए कार्य करता है, अर्थात् उस मूल्य का निर्माण करता है जो मजदूरी के रूप मे उसे पूँजीपति से मिल जायगा, परन्तु बाद को ऐसे मूल्य का निर्माण करता है, जो पूँजीपति अपने पास रख लेगा। इस प्रकार श्रम अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) उत्पन्न करता है, जो वास्तव मे उस शोषण (Exploitation) को दिखाता है, जो पूँजीपति करता है। अतिरिक्त मूल्य पूँजीपति की हड़प है और श्रमिक का शोषण है, क्योंकि वास्तव मे इसे श्रमिक ने पैदा किया है और यह उसी को मिलना चाहिये था। अतिरिक्त मूल्य पैदा ही इसलिए होता है कि श्रमिक को उससे कम दिया जाता है, जितना कि उसे मिलना चाहिये था। यही अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त है और वैज्ञानिक समाजवाद इसी अतिरिक्त मूल्य को समाप्त करके उसे श्रमिको को दिलाना चाहता है। वैसे वैज्ञानिक समाजवाद के अनेक अर्थ (Interpretations) लगाये गये हैं।

[2](२) सामूहिकवाद अथवा राज्य समाजवाद (Collectivism or State Socialism)—राज्य समाजवाद के जन्मदाता रोडबर्टस (Rodbertus) हैं। *ऐसे समाजवादी वैधानिक प्रजातन्त्रवाद में विश्वास रखते हैं। उनका उद्देश्य उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीयकरण (Naitonalisation) करना होता है।* कार्यविधि यह होती है कि राज्य के शासन यन्त्र पर अधिकार स्थापित करके शासन शक्ति को मजबूत किया जाय और उसका समाजवादी उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उपयोग किया जाय। राज्य का यन्त्र ही उत्पत्ति को बढाने तथा उत्पादित धन का अधिक समान और अधिक न्यायपूर्ण वितरण करने के लिए उपयोग किया जाता है। इस प्रणाली मे राज्य को अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया जाता है और जैसे ही समाजवादियों का राज्य पर अधिकार हो जाता है, उनके लिए लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग खुल जाता है। धीरे-धीरे व्यक्तिगत सम्पत्ति समाप्त कर दी जाती है, यद्यपि बहुधा सरकार मुआवजा (Compensation) देती है और व्यक्तिगत उपक्रमों का राष्ट्रीयकरण कर लिया जाता है राष्ट्रीयकृत उद्योगों का सचालन सरकार के वेतनभोगी अधि-

1. "Labour time required to produce an article under the normal conditions of production, and with the average degree of skill and intensity prevalent at the time."—Marx.

2. Democratic Socialism (Europe and Asia) Indian Brand of Socialism—P. S. P., I. S P., Congress

कारी और कर्मचारी करते हैं और जो कुछ भी लाभ होते हैं वे सरकारी खजाने मे जाते हैं, जहां से उनका उपयोग जनसाधारण अर्थात् सारे समाज के कल्याण के लिए होता है। सरकारी उपक्रमो को प्रकृति एकाधिकार की होती है और सभी प्रकार की अनार्थिक और हानिकारक प्रतियोगिता समाप्त कर दी जाती है। यह प्रणाली पूँजी-वाद पर थोड़ा सा ही सुधार है। इसके आलोचकों ने इसे राज्य समाजवाद के स्थान पर राज्य पूँजीवाद (State Capitialism) कहा है। इसमे और व्यक्तिगत पूँजीवाद में केवल इतना ही अन्तर होता है कि पूँजीपति और साहसी का स्थान राज्य ग्रहण कर लेता है, जिससे उत्पत्ति के साधनो के सारे उपयोग समाज के लाभ लिए करने की सम्भावना पैदा हो जाती है, राष्ट्रीय आवश्यकताओं और राष्ट्रीय उत्पादन के बीच अधिक अच्छा समायोजन हो जाता है और आर्थिक व्यवस्था का विकास साधारणतया एक निश्चित योजना क्रम के अनुसार किया जाता है। इसमें भय इस बात का रहता है कि राज्य इतना शक्तिशाली हो जाता है कि आर्थिक तानाशाही (Economic Dictatorship) स्थापित हो जाने का भय उत्पन्न हो जाता है। राज्य समाजवाद का ही बिगड़ा हुआ रूप राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) भी है, जिसने नात्सीवाद (Nazism) तथा फासिज्म (Fascism) के रूप मे संसार का भारी अनहित किया है। फिर भी इस प्रणाली मे पूँजीवाद के अधिकांश दोषो को दूर करने और समाजवाद के बहुत से लाभो को प्राप्त करने की सम्भावना शेष रहती है, क्योंकि इसमे उत्पत्ति के साधनो पर व्यक्तियों के स्थान पर राज्य का अधिकार होता है, राष्ट्रीय आय का न्यायपूर्ण पुनर्वितरण होता है, आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाया जाता है और आर्थिक प्रणाली का शान्तिमय तथा प्रजातन्त्रीय आधार पर विकास किया जाता है।

(३) मजदूर संघवाद (Syndicatism)—इस क्रान्तिकारी आन्दोलन का अधिक प्रचार फ्रान्स मे हुआ है। इस प्रकार के समाजवाद मे समाजवाद (Socialism) तथा श्रम संघवाद (Trade Unionism) का मिश्रण होता है। *इस विचारधारा के अनुसार उद्योगों पर राज्य के स्वामित्व और अधिकार के स्थान पर मजदूर संघों (Syndicates of Trade Unions) का नियन्त्रण और प्रबन्ध अधिकार स्थापित होगा।* इस विचारधारा मे यह मान लिया गया है कि राज्य समाज-वाद स्थापित करने का अच्छा साधन नही है। राज्य के अधिकारियों की पूँजीवादी और तानाशाही मनोवृत्ति को समाप्त कर देना सम्भव नहीं है। वे जनता के सच्चे सेवक और हितैषी नही हो सकते हैं, क्योंकि वे स्वभाव से ही तानाशाही प्रकृति रखते हैं। राज्य को शक्तिशाली बनाने का अर्थ तो यही हो सकता है कि अनेक अत्याचारी (Tyrants) पैदा कर दिये जाएँ और वास्तविक प्रजातन्त्रवाद समाप्त हो जाय। वास्तविक मार्ग यह होगा कि श्रम संघो का विस्तार करके और इन संघो को उद्योगों का संचालन सौंप कर नये सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक संगठन का निर्माण किया जाय। इस प्रकार स्थानीय उद्योगों पर स्थानीय श्रम संघो का अधिकार होगा।

राज्य इन्हीं श्रम-सघो का, जो अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र होगे, एक बड़ा संघ (Federation) होगा। इसमे स्थानीय, विकेन्द्रित तथा वास्तविक प्रजातन्त्रवाद की स्थापना सम्भव हो सकेगी।

जहाँ तक व्यावहारिक नीति का सम्बन्ध है, मजदूर संघवाद शान्तिपूर्ण तथा वैधानिक उपायो मे विश्वास नही करता है। ऐसी रीतियो के उपयोग से लाभ न होगा, क्योंकि शक्तिशाली सरकारी अधिकारी प्रत्येक प्रजातन्त्रवादी आन्दोलन को कुचल देंगे। उद्देश्य केवल प्रत्यक्ष और क्रान्तिकारी कार्यवाही से ही पूरा हो सकता पूँजीवाद तथा सरकार के अत्याचार को समाप्त करने का सबसे महत्वपूर्ण अस्त्र हड़ताल होगी। सङ्गठित रूप मे की गई हड़तालो की सफलता बहुत कुछ निश्चित सी होती है। यदि हड़ताल असफल भी होती है तब भी श्रमिको मे आर्थिक लडाई लडने, आपस में मिल कर काम करने और अपने वर्ग हितो (Class interests) को समझने के महत्वपूर्ण गुण पैदा होने हैं। मजदूर सघवादियो का विचार है कि हड़तालें बराबर होती रहनी चाहिए, जिससे कि श्रमिको का वर्ग युद्ध सम्बन्धी जोश ठण्डा न होने पाये। अन्तिम उद्देश्य यह है कि अन्त में एक सामान्य हड़ताल (General Strike) की जाय, जिससे देश का राजनैतिक शासन यन्त्र अस्त-व्यस्त हो जाय और श्रमिक राजनैतिक शक्ति छीन सकें।

यह विचारधारा बहुत वैज्ञानिक प्रतीत नही होती है। मजदूर सङ्घवादी वर्तमान आर्थिक कलेवर को तोडना चाहते हैं और उसके स्थान पर एक नई क्रान्तिकारी व्यवस्था स्थापित करना चाहते है। भावी आर्थिक व्यवस्था साधारणतया अस्पष्ट, किन्तु आकर्षक रखी जाती है। वर्तमान मशीनो की तोड़-फोड भी उनके कार्यक्रमों के अन्तर्गत आती है। शॉ (Bernard Shaw) ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है—"श्रम-संघवाद समाजवाद नही है, यह तो श्रमिको का पूँजीवाद है।"*

(४) कारीगर संघवाद (Guild Socialism)—कारीगर संघवाद और मजदूर सघवाद दोनो मे काफी समानता है। *यह समाजवाद भी राज्य को घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। इनका विचार है कि राज्य उत्पादन प्रणाली को कुशलतापूर्वक कभी नहीं चला सकता है। इस विचारधारा के अन्तर्गत* सबसे पहला काम तो पूँजीपति को समाप्त करना है। उसके बाद उत्पादन इकाइयाँ *श्रमिक संघों या कारीगरों के संघों को सौंपी जायेगी, जो निश्चय ही उनके संचालन* और प्रबन्ध में दक्ष और कुशल होंगे। इस प्रकार उद्योगो मे प्रजातन्त्रीय शासन स्थापित हो जायगा। राज्य भी बना रहेगा परन्तु राज्य का कार्य केवल निरीक्षण का रहेगा। वह उपभोक्ताओं के हितो को ध्यान में रखकर कीमतो के निर्धारण और उत्पादित वस्तुओं की किस्मों के निश्चित करने का काम करेगा। इस प्रणाली की

* "Trade unionism is not socialism, it is the capitalism of the proletariat."—George Bernard Shaw : *Intelligent Women's Guide to Socialism, Communism, etc.*

विशेषता यह है कि इसमे राज्य समाजवाद और मजदूर संघवाद का मिश्रण है। उत्पत्ति के साधनो तथा उद्योग और व्यवसायो का स्वामित्व तो राज्य के पास रहेगा, परन्तु उनका संचालन स्वयं श्रमिको के संघ करेंगे। राज्य का कर्त्तव्य मुख्यतया यह रहेगा कि उपभोक्ताओं का शोषण न होने दे।

इस प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य औद्योगिक प्रबन्ध के केन्द्रीयकरण को रोकना और औद्योगिक प्रजातन्त्रवाद (Industrial Democracy) स्थापित करना है। इनका विचार है कि इस प्रकार संगठित उद्योगो मे प्रजातन्त्रवाद और कुशलता दोनो रहेंगे। इस प्रणाली का भी दोष यही है कि श्रमिको और श्रम सघो को उच्चतम प्रबन्ध के योग्य मान लिया गया है।

(५) साम्यवाद (Communism)—साम्यवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स हैं। उन्होने इसे वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) का नाम दिया है।-मार्क्स ने पहली समाजवादी विचारधाराओ की कड़ी आलोचना की है। उनका विचार है कि अधिकतर समाजवादी विचारधाराएँ कल्पना मात्र हैं। तर्क के आधार पर केवल साम्यवाद ही वैज्ञानिक समाजवाद हो सकता है। मार्क्स और ऐंजिलस् (Engels) का विचार है कि साम्यवाद का पहला काम श्रमिको को संगठन द्वारा ऊपर उठा कर उन्हे शासको में परिवर्तित करना है, जिससे कि वे प्रजातन्त्रवाद के युद्ध को जीत सकें। साम्यवादी घोषणा (Communist Manifesto) मे उन्होने साम्यवाद की स्थापना की निम्न विधि बताई है* :—

(१) भूमि मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन और भूमि के सभी लगानो को सार्वजनिक उद्देश्यों के लिये उपयोग करना।

(२) एक बहुत ही प्रगामी (Progressive) अथवा ऊपर उठता हुआ आय कर।

(३) सभी प्रकार के उत्तराधिकारों का समाप्त करना।

(४) देश को छोड़ जाने वाले सभी व्यक्तियो तथा विद्रोहियो की सम्पत्ति का जब्त कर लेना (Confiscation)।

(५) साख (Credit) का राज्य के हाथो मे केन्द्रीयकरण। इसके लिए एक राष्ट्रीय बैंक की स्थापना होगी, जिसे साख के सम्बन्ध मे एकाधिकार प्राप्त होगा।

(६) यातायात और सम्वादवाहन के साधनों का राज्य के हाथो में केन्द्रीयकरण।

(७) राज्य के स्वामित्व में फैक्ट्रियों और उत्पत्ति के साधनों का प्रसार (Extension) करना, बंजर भूमि को खेती के योग्य बनाना

* Karl Marx and Frederick Engels : *Manifesto of the Communist Party*, Marx Engels Selected Works vol. 1, pp 50-51.

और एक निश्चित सामूहिक योजना के अनुसार भूमि सम्बन्धी सुधार करना।

(८) सभी प्रकार के श्रम का समान उत्तरदायित्व और श्रम सेना (Labour Army) की स्थापना, मुख्यतया कृषि के लिए।

(९) कृषि का निर्माण उद्योगो से मिलाना (Combination), धीरे-धीरे नगर और देहात के भेद को मिटाना और देहातो मे जन-संख्या का अधिक समानता से वितरण करना।

(१०) सभी बच्चो को सार्वजनिक स्कूलो मे निःशुल्क शिक्षा देना, बालको के फैक्ट्री श्रम को समाप्त करना, शिक्षा का औद्योगिक उत्पादन से मिलान करना।

आगे चल कर उन्होंने लिखा है—"जब विकास के अन्तर्गत वर्ग भेद समाप्त हो जायेंगे और सारा उत्पादन सारे राष्ट्र के एक विशाल संघ के हाथ मे केन्द्रित हो जायगा तो सार्वजनिक शक्ति की राजनीतिक प्रकृति का अन्त हो जायगा। राजनीतिक शक्ति वास्तव में एक वर्ग की दूसरे वर्ग को दमन करने की संगठित शक्ति होती है। यदि श्रमिक संगठित रूप मे वर्ग युद्ध मे भाग लेते हैं और विजयी होकर उत्पत्ति की पुरानी दशाओं को समाप्त कर देते है तो वे साथ मे वर्ग-विरोध की दशाओ को भी समाप्त कर देंगे और इस प्रकार एक वर्ग के रूप में स्वयं अपने भी प्रभुत्व को समाप्त कर देंगे।"* इस प्रकार साम्यवाद का अन्तिम उद्देश्य वर्ग सघर्ष को समाप्त करके राज्य के राजनीतिक आधार को भी समाप्त कर देना है।

साम्यवादियों की कार्य विधि इस प्रकार है कि देश भर में साम्यवादी सगठन का एक जाल सा बिछा दिया जाय। जब साम्यवादी सगठन शक्तिशाली हो जायगा तो पूंजीपतियों को समाप्त करके शासन के अधिकार को छीना जायगा और इस प्रकार श्रमजीवियो (Proletariat) का राज्य स्थापित किया जायगा। आरम्भ मे श्रमिकों की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat) स्थापित होगी और इस तानाशाही का उद्देश्य सभी विरोधियों और पूंजीपतियो को समाप्त करना होगा। अन्त मे एक वर्गहीन समाज (Classless Society) का निर्माण किया जायगा, जिसमें ऊंचे-नीचे तथा धनवान और निर्धन का भेद नहीं रहेगा। इसके पश्चात् राज्य

* "When in the course of development, class distinctions have disappeared, and all production has been concentrated in the hands of a vast association of the whole nation, the public-power will lose its political character. Political power properly so called is merely the organised power of one class for oppressing another. If the proletariate......sweeps away by force the old conditions of production, it will, along with these conditions have swept away the conditions for the existence of class antagonism and will thereby have abolished its own supremacy as a class."—*Ibid*. p. 51.

की आवश्यकता नहीं रहेगी और राज्य स्वयं ही समाप्त हो जायगा। साम्यवाद का आधार अन्तर्राष्ट्रीय है तथा यह जाति, धर्म, रंग और राष्ट्रीयता के भेदों को स्वीकार नहीं करता है। "उद्देश्य सामान्य रूप में सम्पत्ति को समाप्त करना नहीं है, बल्कि पूँजीपति की सम्पत्ति को समाप्त करना है.........जो कि वर्ग विरोध पर आधारित है और कुछ लोगों को अधिकांश लोगों के शोषण का अवसर देती है।[1] साम्यवाद किसी भी व्यक्ति द्वारा समाज की उत्पत्ति का उपयोग करने के अधिकार को छीनना नहीं चाहता है। यह केवल उस शक्ति को छीनना चाहता है, जिसके कारण एक व्यक्ति दूसरों के श्रम का उपयोग करता है।[2] जहाँ तक साम्यवाद को स्थापित करने के उपायों का प्रश्न है, साम्यवाद यह स्वीकार करता है कि परिस्थितियों के अनुसार उपाय भी अलग-अलग रहेंगे। इनमें हिंसात्मक अथवा क्रान्तिकारी और अहिंसात्मक अथवा वैधानिक सभी प्रकार के उपायों को उचित बताया जाता है। ऐंजिल्स् का विचार है कि अन्तिम उद्देश्य यह है कि श्रमिक राज्य पर अधिकार करके पूँजी को सार्वजनिक सम्पत्ति में परिवर्तित कर देते हैं। "इसके पश्चात् समाजीकृत उत्पादन के एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। ऐसी उत्पत्ति का विकास समाज के विभिन्न वर्गों के भेद को स्वयं मिटा देगा। जैसे-जैसे उत्पादन में सामाजिक विरोध समाप्त होता जाता है, राज्य की राजनीतिक सत्ता मिटती जाती है, मनुष्य अन्त में अपने सामाजिक संगठन के रूप का स्वामी बनकर प्रकृति का भी स्वामी बन जाता है—वह स्वयं अपना स्वामी होता है—स्वतन्त्र।"[3]

साम्यवाद किस प्रकार के समाज का निर्माण करेगा, इसके सम्बन्ध में कुछ सैद्धान्तिक अस्पष्टता का आभास कुछ लोगों ने किया है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह अस्पष्टता अब समाप्त सी हो गई है। साम्यवाद को उसके आलोचकों ने एक विनाश

---

1. "The distinguishing feature of communism is not the abolition of property generally, but the abolition of bourgeois property......that is based on class antagonism, on the exploitation of the many by the few"—*Ibid*, p. 45.

2. "*Communism deprives no man of the power to appropriate the products of society, all that it does is to deprive him of the power to subjugate the labour of others by means of such appropriation*"—*Ibid*, p. 47.

3. "*Socialised production upon a predetermined plan henceforth becomes possible. The development of production makes the existence of different classes of society thenceforth an anarchism. In proportion as social anarchy in production vanishes, the political authority of the state dies out. Man at last the master of his own form of social organisation, becomes at the same time the lord over nature, his own master—free.*"—Frederick Engels: *Socialism Utopian and Scientific*, Marx Engels Selected Works Vol. II, p 142.

खूनी राक्षस के रूप में चित्रित किया है। वास्तव में ऐसी कोई बात दिखाई नहीं पड़ती है। साम्यवाद सभी प्रकार की सम्पत्ति और स्वतन्त्रता को समाप्त नहीं करता है। वह केवल दूसरों के शोषण को सम्भव नहीं होने देता है। अन्तिम उद्देश्य यह है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुसार काम लिया जाय और उसे उसकी आवश्यकता के अनुसार उत्पत्ति में से हिस्सा दिया जाय। साम्यवाद आय की समानता की ओर प्रयत्न नहीं करता है, परन्तु वह आय के अन्तरों को कम से कम करने का प्रयत्न करता है। कार्य-उत्साह को बनाये रखने के लिये आय की असमानता आवश्यक हो है। साम्यवाद प्रत्येक को समान अवसर (Equality of Opportunity) देने की गारन्टी देता है। किसी के भी विकास के मार्ग में किसी दूसरे की तुलना में कोई बाधा नहीं रखी जाती है। इस आर्थिक प्रणाली के अन्तर्गत भोजन, मकान, रोजगार और चिकित्सा की राज्य की ओर से गारन्टी होती है परन्तु बिना उपयुक्त कारण के कोई भी व्यक्ति बिना काम किये नहीं रह सकता है।

साम्यवाद की आलोचना—

साम्यवाद के प्रशंसकों और आलोचकों की कमी नहीं है। आलोचकों का विचार है कि यह मनुष्य की सारी स्वतन्त्रताओं को कुचल देता है और उससे एक मशीन अथवा पशु को भांति व्यवहार करता है। साम्यवाद में तानाशाही (Dictatorship) और सैनिकरण (Regimentation) के सभी दोष बताये जाते है। यह मानव जीवन के सभी उच्चतम् मूल्यों को समाप्त कर देता है। पूँजीपतियों और उनके पैमों पर चलने वाले राजनीतिज्ञों ने साम्यवाद को कलङ्कित करने में कोई कसर नहीं रखी है। आर्थिक लेखकों ने प्रायः साम्यवादी ग्रन्थों को पढे बिना और वास्तविक स्थिति का पता लगाये बिना ही पूँजीपतियों की आलोचनाओं को दोहराया है। वास्तव में ऐसी कोई बात दृष्टिगोचर नहीं होती है। साम्यवाद के लगभग सभी सिद्धान्तों को परोक्ष रूप में पूँजीवादी देशों ने भी स्वीकार कर लिया है। साम्यवाद पारिवारिक जीवन, उपयुक्त स्वतन्त्रता, मुद्रा का उपयोग तथा अन्य सभी बातों को रखता है। केवल दूसरों के शोषण पर जीवित रहने की स्वतन्त्रता को समाप्त कर देता है।

(६) रूसी साम्यवाद अथवा बोलशेविज्म (Bolshovism)—सन् १९१७ में रूस में साम्यवादी क्रान्ति की विजय हुई और साम्यवादियों के हाथ में शासन सत्ता आ गई। सबसे पहला कार्य भूमि का राष्ट्रीयकरण था। किसानों की भूमि उन्हीं के पास रहने दी गई थी। शर्त केवल यह थी कि उन्हें अपनी अतिरिक्त उपज सरकार को बेचनी पड़ती थी। सन् १९१९ तक खानों, कारखानों, बैंक, यातायात सेवाओं और विदेशी वाणिज्य का भी राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। आरम्भ में अनुभवहीनता और पूँजीवादी देशों की विरोधी नीति के कारण राज्य को काफी कठिनाइयाँ हुईं। भूमि के राष्ट्रीयकरण ने कृषि उत्पादन को घटा दिया। उद्योगों में भी कार्य उत्साह के अभाव ने शोचनीय दशा उत्पन्न कर दी, अतः एक नई आर्थिक नीति ग्रहण की गई। सन् १९२८ तक यह नीति रही कि किसान अपनी अतिरिक्त

उपज स्वयं बेच सकते थे और उद्योगों में भी मिश्रित पूंजी कम्पनियों को रियायत दी गई थी। सन् १६२८ में नीति में फिर महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। आर्थिक नियोजन का क्रम प्रारम्भ हुआ और कृषि और उद्योगो के विकास की लम्बी चौडी योजनाएं बनाई गईं। सन् १६२६ मे कृषि मे सामूहिक खेती (Collective Farming) की नीति अपनाई गई। साथ ही साथ, कृषि का यन्त्रीकरण (Mechanisation) भी किया गया। सन् १६३३ में दूसरा पंच-वर्षीय आयोजन लागू किया गया। इस बार उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। सन् १६३५ में राशनिंग व्यवस्था समाप्त कर दी गई। इस प्रणाली के अन्तर्गत उत्पादन का भारी विकास हुआ।

रूसी साम्यवादी ऐसा समझते हैं कि अभी वे पूर्ण रूप मे समाजवाद स्थापित नही कर पाये हैं। अभी तो संक्रान्ति काल (Transitional Period) ही चल रहा है और समाजवाद की स्थापना की ओर प्रयत्न किया जा रहा है। इस संक्रान्ति काल में श्रमिकों की तानाशाही का युग चल रहा है।

(७) अराजकतावाद (Anarchism)—इस आर्थिक प्रणाली का विचार साम्यवाद से ही उत्पन्न हुआ है। इसके जन्मदाता प्रिंस रोपोटकिन (Prince Kropotkin) हैं। अराजकतावाद के साधारण अर्थ व्यवस्थाहीनता (Disorder) अथवा सत्ताहीनता (Lack of Authority) होते है, परन्तु आर्थिक दर्शन के रूप में अराजकतावाद बिल्कुल अलग ही चीज है। *अराजकतावाद समाजवाद में केवल राज्य अथवा शासन के अभाव को सूचित करता है।* जब साम्यवाद के द्वारा पूंजीवाद मे सम्बन्धित स्वार्थ, लोभ, शोषण, धोखा आदि बुराइयो का अन्त हो जायगा तो मनुष्य का दृष्टिकोण दूसरो से कुछ लेने के स्थान पर दूसरो को कुछ देने का हो जायगा। उस समय पुलिस, सेना, न्यायालय और राज्य सभी अनावश्यक हो जायेंगे। आर्थिक और सामाजिक जीवन का सगठन स्वस्थ शासन-प्रणाली के आधार पर पारस्परिक समझौतों और सहयोग के आधार पर होगा। प्रत्येक व्यक्ति दूसरो के अधिकारों का सम्मान करेगा, इसलिए किसी प्रकार की कोई कठिनाई न होगी। राज्य का उद्देश्य अगर कोई हो सकता है तो यही कि वह समाजवाद में शोषण को न होने दे और लोगो के अधिकारो की रक्षा करे। इन सब बातो की आवश्यकता उसी समय तक रहती है, जब तक कि पूर्ण रूप मे समाजवाद स्थापित न हो। समाजवाद की स्थापना पर राज्य की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। रोपोटकिन ने एक बड़े अच्छे उदाहरण मे अपने दृष्टिकोण का चित्रण किया है। यदि हम पत्थर के टुकडों को किसी सन्दूक में रख कर हिला दें तो वे इतनी अच्छी तरह जुड़ जायेंगे कि मनुष्य का हाथ कभी भी ऐसा नहीं कर पायेगा। ठीक इसी प्रकार शान्ति मानव समाज का भी संगठन कर देगी।

(८) फेबियन समाजवाद (Fabian Socialism)—यह समाजवाद एक प्रकार से राज्य समाजवाद ही है। इसका विकास इङ्गलैंड में हुआ है। इसके समर्थकों मे वैब्स (Sydeny Webb and Beatrice Webb), बर्नार्ड शॉ

(G. B. Shaw), कोल (J. D. H. Cole), आदि विद्वान सम्मिलित हैं। इन लोगो का विचार है कि समाजवाद का लोगो मे प्रचार किया जा सकता है और प्रजातन्त्रीय धारा सभा व्यवस्था के अन्तर्गत शान्तिमय और वैधानिक उपायो से समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। *समाजवाद की स्थापना की कार्य-विधि उद्योग और व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण ही होगी।* इङ्गलैंड की लेबर पार्टी (Labour Party) इसी प्रकार की समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न कर रही है।

(६) राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism)—इस प्रकार के समाजवाद के दो रूप मुख्यतया देखने मे आये हैं :—(१) जर्मनी का नात्सीवाद (Nazism) और इटली का फासिज्म (Facism)। इनमे भी परस्पर सूक्ष्म अन्तर हैं। समाजवाद का दृष्टिकोण सकुचित होता है। राज्य को सर्वशक्तिशाली बनाया जाता है और उसका तानाशाही शासन आधार पर सगठन किया जाता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त कर दी जाती है और सभी कुछ राज्य के लिए किया जाता है। यह समाजवाद जाति श्रेष्ठता (Race Superiority) को आधार बना कर आगे बढ़ता है।

समाजवाद की प्रमुख विशेषतायें (The Main Features of Socialism)—

समाजवाद के विभिन्न रूपों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् अब हमारे लिए समाजवादी व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का पता लगाना सरल होगा। ये विशेषतायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन—सभी समाजवादी उत्पत्ति के साधनो मे व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन के समर्थक हैं। इनका स्वामित्व राज्य के पास रहना चाहिए। उत्पादन सम्बन्धी लाभ राज्य के पास रहने चाहिये, जो उनका उपयोग सार्वजनिक हितो की उन्नति के लिए करेगा। स्मरण रहे कि कुछ समाजवादियो को छोड़कर लगभग सभी मकान, फर्नीचर, घरेलू सामान, आदि मे व्यक्तिगत सम्पत्ति की आज्ञा देते हैं।

(२) अनुत्पादित आय की समाप्ति—समाजवाद अनुत्पादित आय (Unearned Income) पर रहने की आज्ञा नही देता है, काम प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिये। सबका पारितोषण भी समान नही होगा। योग्यता और निपुणता तथा कार्य की प्रकृति के अनुसार पारितोषण अलग-अलग रहेगा। सभी व्यक्तियों की उन्नति, विकास, रोजगार आदि का समान अवसर दिया जायगा।

(३) राज्य का महत्व—समाजवादी अर्थव्यवस्था में राज्य का भारी महत्व है। राज्य उत्पादन और वितरण दोनो पर ही आधिपत्य रखता है। साम्यवाद और अराजकतावाद मे भी कम से कम सक्रान्ति काल मे राज्य ही सारी आर्थिक क्रिया का केन्द्र होता है। उत्पादन सम्बन्धी सभी लाभ व्यक्तिगत जेबो मे न जाकर सरकारी

खजाने मे जाते हैं, जहाँ से उनका उपयोग जन साधारण, अर्थात् सारे समाज के लाभ के लिए किया जाता है । उद्योग और व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण समाजवाद का आधारभूत सिद्धान्त होता है ।

(४) आर्थिक नियोजन—समाजवाद सदा ही आर्थिक नियोजन (Economic Planning) का मार्ग अपनाता है । आर्थिक जीवन का सचालन एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार एक केन्द्रीय सत्ता द्वारा किया जाता है ।

(५) आधारभूत गारन्टी—समाजवाद कुछ प्रकार की आधारभूत गारन्टी देता है । देश के प्रत्येक नागरिक को भाव से स्वतन्त्रता (Freedom from Want) का आश्वासन दिलाया जाता है । सामाजिक सुरक्षा की उन्नति की जाती है, सबको उन्नति करने के समान अवसर दिये जाते हैं ।

(६) असमानताओं की कमी—आय के वितरण की असमानताओं को कम करने और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को रोकने को समाजवाद एक आवश्यक नीति समझता है ।

(७) सामाजिक कल्याण उद्देश्य—समाजवाद का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक कल्याण (Social Welfare) होता है । मानव-जीवन के सभी अङ्गो की उन्नति की जाती है और राज्य एक कल्याणकारी राज्य (Welfare State) होता है ।

(८) नवीन व्यवस्था—समाजवाद एक ऐसी नई सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था स्थापित करना चाहता है, जिसमे मानव जाति के सम्मान और उसके अधिकतम् विकास की दशाएँ रह सकें ।

समाजवाद के विरोधियों के तर्क (Arguments Against Socialism)—

समाजवाद के विरुद्ध अधिकाश आलोचनाएँ बहुत सही नहीं हैं । ये आलोचनाएँ पूँजीपतियो अथवा उनके सिखाये हुये अर्थशास्त्रियो ने की हैं । विगत वर्षों में समाजवाद को समझने और उससे सम्बन्धित सही कठिनाइयो को समझने का भी प्रयत्न किया गया है । इस सम्बन्ध में प्रमुख कठिनाइयाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) तानाशाही और गैर जिम्मेदार औद्योगिक शासन—ऐसा कहा जाता है कि समाजवाद मे उद्योग धन्धो का राष्ट्रीयकरण हो जाता है । सारे के सारे उद्योग धन्धों और व्यवसायो का संचालन सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जाता है । सरकारी अधिकारियो की मनोवृत्ति मनमानी करने और बेकार की धौंस डालने की होती है । वैसे भी ये वेतनभोगी अधिकारी व्यक्तिगत उत्साह, स्वार्थ और जिम्मेदारी के आधार पर काम नही कर पाते है । इससे अकुशलता बढती है, बेकार का विलम्ब होता है और औद्योगिक प्रजातन्त्रवाद समाप्त हो जाता है । यही कारण है कि राष्ट्रीयकृत उद्योगो मे उत्पादन व्यय प्रायः ऊँचा ही रहता है ।

(२) शीघ्र निर्णय तथा बलवान निर्णय का अभाव—ऐसा कहा जाता है कि सरकारी उत्पादन केवल उन्ही व्यवसायो मे सफल हो सकता है, जहाँ काम

क्रमबद्ध (Routine Type) होता है। जिन व्यवसायों में शीघ्र निर्णय अथवा बलवान निर्णय आवश्यक होते हैं, वहाँ सरकारी उत्पादन कठिनाई से ही सफल हो पाता है।

(३) समाजवाद में उपभोक्ता की स्वतन्त्रता का अभाव—समाजवाद मे उपभोक्ता की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। सारी उत्पादन प्रणाली एक निश्चित योजना क्रम के अनुसार चलाई जाती है। उपभोक्ताओं को वही खरीदने और उपयोग करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, जो उनके लिए उत्पन्न किया गया है। मूल्य नियन्त्रण और राशनिंग (Price Control and Rationing) भी बहुधा समाजवाद के साथ-साथ चलते हैं। प्रारम्भिक अवस्थाओं मे तो ऐसा लगभग आवश्यक ही होता है।

(४) कार्य-प्रेरणा की कमी—कुछ विद्वानो का मत है कि जब स्वार्थ तथा व्यक्तिगत लाभ की आशा ही समाप्त हो जायगी तो अधिक काम करने तथा अपने मे सुधार करने का उत्साह भी समाप्त हो जायगा। प्रत्येक व्यक्ति अपना अधिक से अधिक योगदान उत्पत्ति मे नही देगा। सरकारी कामो मे नियमितता तो रहेगी, परन्तु नई खोज का उत्साह नही रहेगा।

(५) व्यावसायिक स्वतन्त्रता का लोप—समाजवाद में सरकार ही यह निश्चित करती है कि कौनसी वस्तु कितनी मात्रा मे, कब, कहाँ और किस किस्म की उत्पत्ति की जायगी। ऐसी दशा मे व्यावसायिक स्वतन्त्रता का प्रश्न ही नही उठता है। इसके सम्बन्ध मे हम केवल यही कह सकते हैं कि हमें यह भी देखना, चाहिए कि क्या व्यावसायिक स्वतन्त्रता सदा ही उचित होती है ?

(६) अनुभव अच्छा नही है—कुछ लोग समाजवाद की निन्दा इस कारण करते हैं कि रूस के अनुभव से ऐसा कुछ भी सिद्ध नही होता है कि आय के वितरण में समानता आई है अथवा वास्तविक अर्थ मे समाज का कल्याण हुआ है। ऐसे आलोचको से यही कहा जा सकता है कि प्रथम तो, शायद उन्हे रूस की प्रगति का अनुमान नहीं है। दूसरे, अभी पूँजीवादी शत्रु देशो ने रूस द्वारा पूर्ण समाजवाद की स्थापना को सफल नही होने दिया है।

समाजवाद के आलोचकों को उत्तर (Answer to the Critics of Socialism)—

वर्तमान ससार को समाजवाद के लाभो को समझाने की शायद आवश्यकता नही है। पूँजीवाद ने ऐसी आर्थिक और सामाजिक दशाएँ उत्पन्न कर दी है कि अब उसका अन्त ही हो जाय तो अच्छा होगा। पूँजीवाद ने संसार को आर्थिक सकटो में फँसा दिया है, जिससे नियमित रूप मे अभिवृद्धि (Boom or Prosperity) और मन्दी अथवा अवसाद (Slump or Depression) के काल आते रहते हैं। इन्होने मानव समाज को घोर कष्टो मे फँसा दिया है। पूँजीवाद आर्थिक स्थिरता

स्थापित नही कर पाया है। इसमें देश के साधनों का केवल व्यक्तिगत हितों को उन्नत करने मे उपयोग किया जाता है। इसमें स्त्री और बच्चों का शोषण होता है। निर्धन व्यक्तियों को दिन-रात परिश्रम करने के पश्चात् भी भर-पेट भोजन नही मिलता है तथा अमीर लोग निकम्मे और निठल्ले रह कर भी आराम से रहते हैं। श्रमिकों और दूसरे निर्धन लोगो की दशा मानवता के पतन का दिग्दर्शन कराती है। ऐसा मालूम पड़ता है कि पूँजीवाद मे निर्धन मनुष्य शायद मनुष्य रहता ही नहीं है।

इसके विपरीत समाजवाद इन सब बुराइयों को दूर कर देता है और मनुष्य की मानवता का आदर करता है। वहाँ व्यापार चक्रो का आतङ्क नही होता है। वहाँ धनवान और निर्धन की समस्या नहीं होती है। वहाँ दूसरों का शोषण असम्भव होता है और वहाँ निकम्मों और निठल्लों का आदर नही होता है। किन्तु समाजवाद का आधार केवल यही नही है कि वह पूँजीवाद के दोषों को दूर कर देता है, वास्तव मे समाजवाद के धनात्मक लाभ और भी महत्त्वपूर्ण है। यहाँ उत्पादन का विस्तार होता है, आर्थिक कल्याण का स्तर ऊँचा उठता है, बेरोजगारी का प्रश्न नही उठता है और मनुष्य को मनुष्य का ही सम्मान मिलता है। शोषण की सम्भावना न रहने के कारण सहयोग और सद्भावना बढ़ती है। ऐसी दशा मे समाज सम्भवतः शीघ्र ही एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना कर सकेगा।

समाजवाद के पक्ष में निम्न तर्क दिये जा सकते है :—

(१) समाजवाद पूँजीवाद के दोषों को समाप्त कर देता है।

(२) सार्वजनिक प्रबन्ध का व्यक्तिगत प्रबन्ध की तुलना मे अकुशल होना आवश्यक नही है।

(३) पूँजीवाद मे उपभोक्ता की स्वतन्त्रता केवल एक भ्रम है। एकाधिकारी उसका शोषण करते हैं और झूठे विज्ञापन द्वारा उसे धोखे मे डाल देते हैं। समाजवाद मे केवल उन्ही वस्तुओं का उत्पादन होता है जो लाभदायक है। इसलिए अन्त में उपभोक्ता को लाभ होता है।

(४) समाजवाद मे उत्पत्ति के साधनो का विभिन्न उपयोगो मे अधिक उपयुक्त वितरण होता है, क्योकि यह वितरण लाभ पर आधारित न होकर उपयोगिता पर आधारित होता है।

(५) समाजवाद मे उपयुक्त प्रचार, पारितोषण तथा मनोवैज्ञानिक उपायों द्वारा श्रमिकों के कार्य-उत्साह को बनाये रखना सम्भव होता है।

(६) समाजवाद जनता को कार्य का अधिकार और न्यूनतम जीवन-स्तर प्रदान करके आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। श्रमिक की निर्धनता तथा कमजोर सौदा करने की शक्ति के कारण पूँजीवाद मे व्यावसायिक स्वतन्त्रता केवल सैद्धान्तिक ही होती है।

(७) शुमपीटर का विचार है कि निम्न चार कारणों से समाजवादी प्रणाली पूँजीवादी प्रणाली से उत्तम है :—[1]

(क) अधिक आर्थिक कुशलता,
(ख) अधिक कल्याण,
(ग) एकाधिकारी व्यवहारों का अभाव, और
(घ) व्यापार चक्रों की अनुपस्थिति ।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy)—

प्रथम महायुद्ध से पूर्व तक संसार में स्वतन्त्र उपक्रम (Free Enterprise) व्यवस्था का जोर रहा था, जिसके अन्तर्गत कुछ बहुत ही विशेष दशाओं को छोड़कर राज्य द्वारा आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप को बुरा समझा जाता था। प्रथम महायुद्ध के काल में युद्ध के सफल संचालन के लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक हो गया था। युद्ध के उपरान्त अर्थ-व्यवस्था के नियन्त्रण की एक विश्वव्यापी प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई थी, जिसे सन् १९२९ में आरम्भ होने वाले महान् अवसाद (Great Depression) ने और भी अधिक बल दिया था। इसके पश्चात् दूसरे महायुद्ध के काल में तथा युद्धोत्तर काल (Post-war period) में सरकारी हस्तक्षेप ने एक महान् तथा सप्रभाविक रूप धारण कर लिया था। आज तो संसार का कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ सरकारी हस्तक्षेप तथा राजकीय नियन्त्रण आर्थिक नीति के आवश्यक अंग न हों। किन्तु संसार के विभिन्न देशों में सरकारी हस्तक्षेप और नियन्त्रण का अंश अलग-अलग है। साम्यवादी देशों में सरकारी नियन्त्रण सर्वव्यापी है, यद्यपि कुछ साम्यवादी देशों ने स्वतन्त्र साहस अथवा स्वतन्त्र उपक्रम के लिए भी कुछ अवकाश अवश्य रखा है। संसार के अधिकांश देशों ने वर्तमान युग में स्वतन्त्र उपक्रम और सरकारी नियन्त्रण का मिश्रण करने का प्रयत्न किया है और इस दिशा में बड़े अंश तक सफलता भी प्राप्त की है। इस मिश्रण के फलस्वरूप एक नये प्रकार की अर्थ-व्यवस्था का जन्म हुआ है, जिसे मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy) कहा जाता है। इस प्रकार मिश्रित अर्थ-व्यवस्था एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है, जिसमें पर्याप्त अंश तक *स्वतन्त्र उपक्रम व्यवस्था तथा नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था दोनों का मिश्रण पाया जाता हो।*[2] एक दूसरे दृष्टिकोण से हम यह कह सकते हैं कि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में पूँजी-

1. Socialist pattern of society is superior to the capitalist pattern because of the following four features of socialism :—
 (i) Greater economic efficiency—increased productivity can be secured under state management.
 (ii) Greater welfare due to less inequality.
 (iii) Absence of monopolistic practices.
 (iv) Absence of business fluctuations.

2. Mixed economy is an economic system combining both free enterprise and controlled economy to a sufficient extent.

वाद और समाजवाद दोनों ही के अंश पाये जाते हैं। ऐसी अर्थ व्यवस्था न तो पूर्णतया समाजवादी होती है और न पूर्णतया पूँजीवादी।

मिश्रित अर्थ व्यवस्था में समाजवादी तथा पूँजीवादी अंश किस सीमा तक रहेंगे, इस बात का निर्णय थोड़ा कठिन होता है, क्योंकि यदि हम उन विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्था का अवलोकन करते हैं जो अपने को इस अर्थ-व्यवस्था के समर्थक मानते हैं तो हमें पता चलता है कि यद्यपि इन सभी देशों ने सरकारी हस्तक्षेप के विस्तृत आधार को स्वीकार किया है, प्रत्येक ने हस्तक्षेप की अलग अलग सीमाएँ निश्चित की हैं। इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान देने की है कि सरकारी हस्तक्षेप स्वयं भी दो प्रकार का हो सकता है: (१) प्रत्यक्ष हस्तक्षेप (Direct Intervention) तथा (२) परोक्ष हस्तक्षेप (Indirect Intervention)। प्रथम प्रकार के हस्तक्षेप में तो सरकार सक्रिय रूप में अर्थ-व्यवस्था के विकास और संरक्षण में भाग लेती है, परन्तु दूसरी प्रकार का हस्तक्षेप प्रकृति में केवल नियन्त्रक अथवा अवरोधक (Restrictive) होता है। इस सम्बन्ध में करारोपण, अनुज्ञापन तथा प्रचार की विधियों को अपनाया जाता है। विस्तृत अर्थ में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था होगी, जिसमें स्वतन्त्र उपक्रम के अतिरिक्त परोक्ष सरकारी हस्तक्षेप भी विद्यमान हो। परन्तु संकुचित अर्थ में वही अर्थ-व्यवस्था मिश्रित कहलायेगी, जिसमें पूँजीवाद के साथ-साथ प्रत्यक्ष सरकारी हस्तक्षेप भी हो। विस्तृत अर्थ में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था आज के संसार के सभी देशों में पाई जाती है, परन्तु संकुचित अर्थ में ऐसा नहीं है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का संकुचित अर्थ ही अधिक सही प्रतीत होता है। ऐसी आर्थिक प्रणाली में अर्थ-व्यवस्था को बहुधा दो क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है:—(१) लोक अथवा सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector), जिसमें सम्मिलित उद्योगों और आर्थिक क्रियाओं का सञ्चालन, विकास तथा संरक्षण सरकार करती है और (२) निजी अथवा व्यक्तिगत क्षेत्र (Private Sector), जो पूँजीपतियों अथवा निजी व्यक्तियों पर छोड़ दिया जाता है, यद्यपि यहाँ भी सरकारी नियमन अथवा नियन्त्रण रहता है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की सफलता—

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था समाजवादी आर्थिक प्रणाली के वैकल्पिक रूप में उपयोग की जा रही है। वर्तमान संसार तेजी के साथ समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। पूँजीवादी प्रणाली इस प्रवृत्ति से कुछ भयभीत सी हो गई है और उसे समाजवादी दृष्टिकोण को कुछ अंश तक ग्रहण करने पर बाध्य होना पड़ा है। साथ ही साथ पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक सङ्कट इतनी शीघ्रता तथा इतनी कठोरता के साथ आने लगे हैं कि कुछ निवारक उपायों का करना आवश्यक हो गया है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि बिना सरकारी सहायता और सरकारी हस्तक्षेप के स्वयं पूँजीवाद को बनाए रखना कठिन है। इसी कारण मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के कुछ आलोचक इस प्रणाली को प्रतिगामी प्रवृत्ति कहते हैं। उनका विचार है कि ऐसी अर्थ-व्यवस्था

पूँजीवाद को जीवित रखने के लिए स्थापित की जा रही है, न कि समाजवादी प्रणाली की स्थापना के लिए। इस प्रकार यह एक धोखा है और पूँजीवाद के समर्थकों की अन्तिम चेष्टा है।

किन्तु क्या वास्तव मे ऐसा है ? ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि संसार के कुछ देशों, जैसे भारत में इस प्रकार की प्रणाली का उपयोग दूसरे ही दृष्टिकोण से किया जा रहा है। यहाँ अन्तिम लक्ष्य समाजवादी व्यवस्था की स्थापना है, परन्तु इसे शान्तिमय तथा वैधानिक उपायों से सम्पन्न किया जायेगा। भारत सरकार ने आर्थिक नियोजन के मार्ग को अपनाया है, जिसके अन्तर्गत औद्योगिक और व्यावसायिक विकास के क्षेत्र मे लोक क्षेत्र को निश्चित किया गया है और सरकार सक्रिय रूप मे देश के उत्थान और विकास के कार्य में भाग ले रही है। किन्तु इसके साथ ही साथ निजी उपक्रम को भी बनाये रखा गया है। यद्यपि यह उपक्रम निर्धारित योजना के अनुसार आर्थिक नियोजन की आवश्यकताओं के हित में संगठित किया जायेगा।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के समर्थकों का विचार है कि यह प्रणाली व्यक्तिगत तथा सामूहिक हितों के समायोजन पर आधारित है। वास्तव में सरकारी नियन्त्रण के कारण लोक और व्यक्तिगत हितों का पारस्परिक विरोध मिटाया जा सकता है। कहा जाता है कि इसमें समाजवाद और पूँजीवाद दोनों के गुणों का सम्मिश्रण सम्भव होता है। इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत सम्पर्क तथा सामूहिक हित दोनों ही के लाभ प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु हमें यह नही भूलना चाहिए कि गुणों के साथ ही साथ दोनों के दोषों के आ जाने का भी भय रहता है। वैसे भी शुद्धता के पुजारी इससे सन्तुष्ट नहीं हो सकते हैं, क्योंकि इसमें न समाजवाद है और न पूँजीवाद ही। यह तो दो प्रतिविरोधी प्रवृत्तियों का विचित्र मिश्रण है।

QUESTIONS

1. "मिश्रित अर्थ-व्यवस्था" से क्या तात्पर्य है ? भारतीय परिस्थितियों की दृष्टि में रखते हुए इसके लाभों और हानियों पर प्रकाश डालिए।
(Agra, B. A., 1959)
2. मुक्त प्रतियोगिता के गुण और अवगुण बताइये। क्या सरकारी हस्तक्षेप न करने की नीति उचित है ?
(Agra, B. A., 1958)
3. समाजवादी व्यवस्था से क्या-क्या बातें उपलक्षित हैं ? स्पष्टतया समझाइये। इस प्रकार की व्यवस्था भारतवर्ष के लिए क्यों उचित समझी गई है ?
(Agra, B. A., 1958)
4. Discuss the merits and demerits of Socialism. Which form of Socialism is most suited to Indian conditions ?
(Raj., B. A., 1959)

5. What are the main features of Capitalism ? Discuss its main defects. (Raj., B. A., 1958)

6. Argue from a strictly economic point of view, the case for the adoption of Socialism in India. (Alld., B. A. 1955)

7. पूंजीवाद के मुख्य लक्षणों का उल्लेख कीजिये। इसके गुणों और दोषों को समझाइये। (Sagar, B. A., 1959)

8. समाजवाद की विशेषताएं क्या हैं ? इसके गुण-दोष बताइये। (Sagar, B. A., 1958)

9. पूंजीवाद से क्या अभिप्राय है ? इसकी मुख्य विशेषताएं बताइये। क्या भारत में समाजवाद लागू करने का आप समर्थन करते हैं ? (Sagar, B. Com., 1957)

10. "समाजवाद आलसियों का दर्शनशास्त्र है।" इस वक्तव्य की टीका-टिप्पणी कीजिए। (Vikram, B. A., 1959)

11. What do you understand by the Gold Rule of Capitalism ? Show how it is infringed in the case of joint-stock form of business. (Bihar, B. A., 1959)

12. What are the essential conditions for the ideal allocation of productive resources in a capitalist regime ? To what extent are these conditions satisfied in a capitalist regime ? Can socialism tackle the problem more successfully ? (Bihar, B. A., 1958)

13. Write short notes on—
    - समाज की समाजवादी व्यवस्था (Agra, B. A., 1959)
    - Syndicalism (Gorakhpur, B. A., 1958)
    - Mixed Economy (Alld., B. A., 1954)
    - समाजवाद (Jabalpur, B. A., 1959)
    - पूँजीवाद (Jabalpur, B. A., 1958)
    - समाजवादी समाज रचना (Jabalpur, B. Com., 1958)

14. समाजवाद के विभिन्न रूपों की व्याख्या कीजिए और उनके मुख्य-मुख्य लक्षणों को पूर्ण रूप से समझाइये। (Agra, B. A., 1958 S)

15. "The most serious evil in the capitalist economic system is the evil of unemployment." Examine this statement and suggest methods to reduce the volume of unemployment. (Bihar, B. A., 1959)

चौथा भाग

विनिमय

(EXCHANGE)

अर्थशास्त्र में विनिमय कहते हैं। कुछ विद्वान इस सम्बन्ध मे एक और विश्लेषण काम मे लाते हैं। उनका मत है कि कोई भी ऐसी क्रिया जिसे समाज अथवा शासन द्वारा स्वीकृति प्राप्त न हो, आर्थिक क्रिया नहीं हो सकती। अभिप्राय यह है कि यह आदान-प्रदान का कार्य और सब बातो के साथ-साथ वैधानिक (Legal) भी होना चाहिये, परन्तु इस सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि किसी कार्य का सामाजिक होना एक बात है और वैधानिक होना दूसरी बात। वैधानिकता का मान या आदर्श सामान्य नही है। यह समय, स्थान तथा दूसरी परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। वैधानिकता का निर्णय न्यायाधीशों का कार्य है, जिस पर साधारण व्यक्ति के लिए अपना मत देना उचित नहीं है। करारोपित माल को चोरी से मँगाने वाले और बाहर भेजने वाले व्यक्ति (Smugglers) प्रति-दिन ही वस्तुओ और सेवाओ का परस्पर आदान-प्रदान करते रहते हैं। इस आदान-प्रदान मे विनिमय के सभी गुण होते है और विनिमय से सम्बन्धित सभी नियम भी इस पर लागू होते हैं। साथ ही साथ, इस प्रकार के विनिमय का सामाजिक और आर्थिक महत्त्व भी है, परन्तु सभी जानते है कि यह अवैध है। किन्तु इसके अवैध होने पर भी कोई भी अर्थशास्त्री इसके अध्ययन को नही छोड़ सकता। इससे सिद्ध होता है कि विनिमय के साथ वैधानिकता का आदर्श लगाना उचित नहीं है।

अब हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि ऐच्छिक और स्वतन्त्र आदान-प्रदान से हमारा क्या अभिप्राय होता है। ऐच्छिक से हमारा आशय ऐसे कार्य से है, जो जान-बूझकर किया गया हो, अर्थात् जो विचारयुक्त (Deliberate) हो, अकस्मात अथवा अज्ञान-वश न हो। इसी प्रकार स्वतन्त्र कार्य वह होता है जो स्वेच्छा से किया गया हो। ऐसा कार्य किसी दबाव अथवा किसी विवशता के कारण नहीं किया जाता। मान लीजिये कि कोई विद्यार्थी कुछ किताबें लिए हुए कॉलिज आ रहा है। रास्ते मे कोई आदमी उसकी किताबें छीन कर भाग जाता है, किन्तु भागने मे उसका बटुवा गिर जाता है, जिसमे इतने पैसे हैं कि उन किताबो का पूरा मूल्य मिल जाता है और वह विद्यार्थी उस बटुवे को पा जाता है। इस दशा में किताबो का पूरा मूल्य विद्यार्थी को मिल जाता है और किताबो के बदले मे बटुवा प्राप्त हो जाता है, परन्तु किताबो को बटुवे में बदल लेने की यह क्रिया आर्थिक अर्थ मे विनिमय नहीं है, क्योंकि यह ऐच्छिक नहीं है। इसी प्रकार यदि किसी मनुष्य को बदला करने के लिए बाध्य किया जाय तब भी बदलने की क्रिया विनिमय नहीं होगी। जमीदारों को मुआवजा (Compensation) देकर विभिन्न राज्य सरकारो ने जमींदारियो को ले लिया है, परन्तु यह भी आर्थिक अर्थ मे विनिमय नही है, क्योंकि इसमें एक पक्ष की स्वेच्छा प्राप्त नहीं है। विनिमय केवल उसी पारस्परिक विनिमय को कहते है, जो दोनो पक्षो ने समझ सोच कर स्वेच्छा से किया हो। जब हम अपनी किसी वस्तु को दूसरे की किसी वस्तु से

बदलते है अथवा अपनी किसी सेवा को मुद्रा में बेचते हैं तो हमारा कार्य विनिमय का कार्य होता है।

विनिमय क्यों किया जाता है?—

इस प्रश्न का उत्तर बहुत कठिन नही है। यह तो हम पहिले ही देख चुके हैं कि आधुनिक युग मे एक मनुष्य अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए अपने ही परिश्रम पर निर्भर नही रह सकता, उसे दूसरो की उत्पन्न की हुई वस्तुओं अथवा दूसरे मनुष्य की सेवाओ की आवश्यकता पड़ती है। ये वस्तुएँ या सेवायें उसे तभी मिल सकती हैं, जबकि इनके बदले मे वह अपनी उत्पन्न की हुई वस्तुएँ या सेवायें दे। अभिप्राय यह है कि यह विनिमय द्वारा ही सम्भव हो सकता है। प्रकृति ने भी सभी मनुष्यों को समान शारीरिक और मानसिक गुण नही दिये हैं। स्वभाव से ही अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग कार्यो के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं। यदि विनिमय न हो और प्रत्येक मनुष्य अपनी उपयोगी वस्तुओ को स्वय ही उत्पन्न करे, तो कुल मानव उत्पादन में कमी हो जायगी। उस दशा में श्रम-विभाजन (Division of Labour) न होने के कारण निपुणता की उन्नति नही होगी। श्रम-विभाजन उत्पादन-कार्य का एक बड़ा लाभप्रद और महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, जिसके कारण वस्तुएँ हमे सस्ती और अधिक मात्रा मे प्राप्त हो जाती हैं।

विनिमय से हमें जो लाभ होता है वह यही पर समाप्त नहीं हो जाता है। सत्य यह है कि *विनिमय से विनिमय करने वाले दोनों पक्षों को लाभ होता है।* विनिमय करने से पहले वस्तुओ और सेवाओ के रूप में हमारे पास जितनी कुल उपयोगिता होती है, विनिमय कर लेने से उसमे वृद्धि हो जाती है। अभिप्राय यह है कि विनिमय कर लेने पर दोनो पक्षों को प्राप्त होने वाली उपयोगिता बढ जाती है। सभी जानते है कि जब किसी व्यक्ति के पास कोई एक वस्तु बहुत अधिक मात्रा मे होती है तो उसकी अन्तिम इकाइयो से बहुत कम उपयोगिता मिलती है, अर्थात् उसकी सीमान्त उपयोगिता बहुत कम होती है। इसके विपरीत जो वस्तु बहुत थोड़ी मात्रा मे होती है अथवा होती ही नही, उसकी पहली इकाइया बहुत अधिक उपयोगिताएँ प्रदान करती है। विनिमय म हम उस वस्तु को देते है जो हमारे पास अधिक मात्रा मे है और उस वस्तु को लेते है जो हमारे पास कम है। इस प्रकार की दानो वस्तुओ को एक-दूसरे से बदल लेने पर कम उपयोगिता देकर अधिक उपयोगिता मिल जाती है और इसीलिए विनिमय करने वाले दोनो पक्षो को प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता पहले से अधिक हो जाती है। नीचे दिये हुये उदाहरण मे क और ख दो ऐसे व्यक्ति है, जो परस्पर विनिमय करना चाहते है। मान लीजिए कि क के पास १० मन चावल है और ख के पास १० मन गेहूँ। अब मान लीजिए कि चावल और गेहूँ की उपयोगिताओ का क्रम क और ख के लिए निम्न प्रकार है:—

इकाइयाँ	सीमान्त उपयोगिताएँ क के लिए		ख के लिए	
	चावल	गेहूँ	चावल	गेहूँ
१	१५	१२	१४	१६
२	१४	११	१३	१५
३	१३	१०	१२	१४
४	१२	९	११	१३
५	११	८	१०	१२
६	१०	७	९	१०
७	९	६	८	८
८	८	५	६	६
९	७	४	५	४
१०	६	२	४	२
योग	१०५		९२	

इस दशा में क को १० मन चावलों से कुल मिला कर १०५ के बराबर उपयोगिता मिलती है। अब यदि वह चावल को गेहूँ से बदलता है, अर्थात् एक मन चावल के बदले में एक मन गेहूँ ले लेता है तो ऐसी दशा में एक मन चावल के रूप में ६ के बराबर उपयोगिता उसके पास से निकल जाती है, क्योंकि चावल की सीमान्त उपयोगिता क के लिए ६ ही है। अब यदि इस एक मन चावल के बदले में एक मन गेहूँ मिल जाता है तो क्योंकि वह गेहूँ की प्रथम इकाई प्राप्त कर रहा है इसलिए उसे गेहूँ की प्रथम इकाई की उपयोगिता अर्थात् १२ के बराबर उपयोगिता का लाभ होता है, क्योंकि गेहूँ की पहली इकाई की उपयोगिता क के लिए १२ है। इस प्रकार पहले की अपेक्षा १२ – ६ = ६ उपयोगिता क के पास अधिक हो जाती है। चावल के दूसरे मन के बदले में गेहूँ के दूसरे मन से इसी प्रकार ११ – ७ = ४, तीसरे मन से १० – ८ = २ अधिक उपयोगिता मिलती है। चावल के चौथे मन की उपयोगिता ९ है और गेहूँ के चौथे मन की उपयोगिता भी इतनी ही है। यहाँ पर विनिमय करने से न तो कुल उपयोगिता में वृद्धि ही होती है और न हानि ही। इसके आगे विनिमय करने से क को लाभ के स्थान पर हानि होगी, क्योंकि गेहूँ के पाँचवें मन से केवल ८ उपयोगिता मिलेगी, जबकि १० उपयोगिता एक मन चावल के रूप में देनी पड़ेगी, इसलिए क का विनिमय कार्य ४ मन गेहूँ प्राप्त कर लेने से आगे नहीं बढ़ेगा। विनिमय के पश्चात् क को ६ + ४ + २ = १२ उपयोगिता का लाभ होगा और उसको प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता १०५ के स्थान पर १५ + १४ + १३ + १२ + ११ + १० + १२ + ११ + १० + ९ = ११७ हो जायगी। निश्चय है कि इस विनिमय में क का लाभ ही रहा और विनिमय उसके लिए हितकर है।

ठीक इसी प्रकार ख को भी विनिमय करने से लाभ होगा। गेहूँ के दसवें मन की उपयोगिता उसके लिए केवल २ है, जबकि चावल के पहले मन की उपयोगिता १४ है। इस प्रकार पहले मन के विनिमय में उसे १४—२=१२ उपयोगिता अधिक प्राप्त हो जाती है। दूसरे मन के विनिमय से १३—४=९, तीसरे मन में १२—६ =६ और चौथे मन से ११—८=३ अधिक उपयोगिता मिलती है। पाँचवें मन के बदले में न लाभ है और न हानि, क्योंकि १० के बराबर उपयोगिता देकर उतनी ही उपयोगिता बदले में मिल जाती है। ४ मन गेहूँ के बदले में ४ मन चावल पाकर ख को १२+९+६+३=३० उपयोगिता का लाभ हो जाता है और उसको मिलने वाली कुल उपयोगिता ९२ के स्थान पर ९२+३०=१२२ हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विनिमय से क और ख अर्थात् विनिमय करने वाले दोनों ही पक्षों को लाभ होता है।

ऊपर के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विनिमय लाभ की दशा में ही किया जाता है। जिस समय तक किसी पक्ष को लाभ होता रहता है उस समय तक वह विनिमय करने के लिए तैयार रहता है। जिस बिन्दु पर विनिमय द्वारा प्राप्त लाभ की अन्तिम सीमा आ जाती है, अर्थात् उपयोगिता के व्यय के बदले में समान ही उपयोगिता मिलती है उसके आगे विनिमय का कार्य नहीं बढ़ता है। यही पर विनिमय की अन्तिम सीमा आ जाती है, क्योंकि आगे विनिमय के कार्य से लाभ के स्थान पर हानि होने लगती है और उपभोग अथवा संचय द्वारा प्राप्त कुल उपयोगिता घटने लगती है। इससे सिद्ध होता है कि विनिमय केवल लाभ की दशा में ही होता है। ऊपर दिये हुए उदाहरण में क व्यक्ति चौथी इकाई के आगे विनिमय के कार्य को नही ले जाता, क्योंकि गेहूँ के चौथे मन से केवल ९ उपयोगिता मिलती है और यह उस उपयोगिता के बराबर है, जो इसके बदले में उसके द्वारा दिये हुए चावल के छठवें मन से प्राप्त हो जाती है।

इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि विनिमय एक उत्पादन क्रिया है। उत्पादन का अर्थ किसी वस्तु की उपयोगिता में वृद्धि करना होता है और यह वृद्धि कई रीतियों से की जा सकती है, जैसे—स्थान परिवर्तन द्वारा, उपभोग के समय के परिवर्तन द्वारा, हस्तान्तरण करके, इत्यादि। विनिमय द्वारा स्थान परिवर्तन तथा हस्तान्तरण (Transferability) हो जाने के कारण विनिमय की हुई वस्तुओं की उपयोगिता बढ़ जाती है और इसी कारण विनिमय भी एक उत्पादक कार्य है। ऊपर के उदाहरण में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार विनिमय के पश्चात् क को प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता १०५ से बढ़कर ११७ हो जाती है। इसी प्रकार ख को प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता ९२ से बढ़कर १२२ हो जाती है। क और ख विनिमय के दोनों ही पक्ष उत्पत्ति करते हैं, क्योंकि प्रत्येक ने उपयोगिता को बढ़ाया है।

विनिमय का प्रारम्भ क्यों और कैसे हुआ?—

आदिकाल के मनुष्य का जीवन बड़ा ही सरल था। सामाजिक जीवन प्रारम्भ

नही हुआ था। मनुष्य जड़ों और फलों अथवा मछलियों और जंगली जानवरों को खाकर अपना जीवन निर्वाह करता था। आरम्भ मे पारिवारिक जीवन की व्यवस्था भी नहीं थी। प्रत्येक मनुष्य को आवश्यकता पूर्ति के लिए अपने ही परिश्रम पर निर्भर रहना पडता था। ऐसे समय मे विनिमय का प्रश्न ही नही उठता था। इस युग के बाद विशेष रूप से दो आर्थिक परिस्थितियो ने मनुष्यो को सामाजिक जीवन बिताने के लिए बाध्य किया। पहली तो यह कि धीरे-धीरे मनुष्यो की जन सख्या बढती गई। प्रकृति का नियम है, जिसके अनुसार बलवान् ही जीवित रह सकते है। मनुष्य दूसरे जानवरो की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होने के कारण जीवन के सघर्ष मे सबसे आगे बढ गया। दूसरा कारण यह था कि धीरे-धीरे आवश्यकता की पूर्ति के साधनो मे कमी होने लगी। जगली जानवर, फल और जड, इत्यादि अपरिमित मात्रा मे तो थे नही। धीरे-धीरे उनके अभाव का अनुभव होने लगा और मनुष्य के सामने पहली बार गम्भीर आर्थिक समस्या उत्पन्न हुई कि प्राप्त साधनो से किस प्रकार अधिक से अधिक लाभ उठाया जाय। यही से जानवर पालने के (Pastoral) युग का आरम्भ हुआ। जगली जानवरो का शिकार करने के स्थान पर उनमे से कुछ का पालना आरम्भ हो गया, क्योकि मनुष्य ने यह अनुभव किया कि इस रीति से इन जानवरो से अधिक मात्रा मे तथा लम्बे समय तक काम लिया जा सकता था। इस युग के आरम्भ होते ही उत्पादन क्रिया के रूप मे भी एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। सबसे पहले श्रम-विभाजन इसी युग मे दृष्टिगोचर होता है। यह विभाजन पारिवारिक जीवन के विकास से सम्बन्धित था। सबसे पहले श्रम-विभाजन कदाचित इस प्रकार हुआ होगा कि एक कुटुम्ब के सदस्यो ने समस्त आवश्यकता-पूर्ति के कार्य को बाँट लिया। पारिवारिक जीवन ने ग्राम जीवन अथवा सामाजिक जीवन की नीव डाली। जब कई छोटे छोटे परिवार एक स्थान पर मिलकर रहने लगे तो गाव बन गया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि आरम्भ मे परिवार या परिवारो के समूह किसी एक स्थान पर नही रहते थे, वरन् अस्थिरवासी या खानाबदोश (Nomadic) जीवन व्यतीत करते थे, परन्तु जैसे जैसे मनुष्यो की सख्या बढती गई, घास और जानवरो के दूसरे चारों मे क्रमशः बढता हुआ अभाव अनुभव होता गया और मनुष्य ने इस बात का अनुभव किया कि प्रकृति के दिये हुए घास और चारों पर ही पूर्णतया निर्भर रहना ठीक नही था। यहाँ से कृषि युग (Agricultural Stage) का आरम्भ होता है और मनुष्य धीरे-धीरे स्थिरवासी बन जाता है। आरम्भ मे सब स्थानों पर पानी के पर्याप्त मात्रा मे न मिलने के कारण अधिकतर आबादियाँ नदियो के किनारे या पानी के सोतो के पास बसाई गई। इस युग मे सबसे पहले हमें सच्चा सामाजिक जीवन दिखाई पडता है। मनुष्य की स्वावलम्बता (Self sufficiency) का जीवन, जो पहले ही धीरे-धीरे टूट रहा था, एक अश तक और कम हो जाता है। श्रम विभाजन मे महत्त्वपूर्ण उन्नति होती है। फिर यही युग धीरे-धीरे औद्योगिक और व्यापारिक युगो को जन्म देता है।

विनिमय की समस्या श्रम-विभाजन के विकास और आर्थिक स्वावलम्बता के

विभाजन से सम्बन्धित है। जैसे-जैसे श्रम-विभाजन उन्नति करता गया, विनिमय की प्रथा बढ़ती गई। अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने वाली सारी वस्तुओं का उत्पादन स्वय ही करना धीरे-धीरे मनुष्य ने छोड दिया। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों के उत्पादन पर निर्भर रहने लगा। श्रम विभाजन जैसे-जैसे और अधिक बढ़ता गया तथा जैसे जैसे मनुष्य की आवश्यकताओं का और अधिक सख्यावर्द्धन होता गया, विनिमय का महत्त्व भी बढता गया। प्रारम्भिक श्रम-विभाजन बड़ा सीधा-सादा था। फिर धीरे धीरे व्यावसायिक श्रम-विभाजन (Occupational Division of Labour) आरम्भ हुआ। अन्त मे जाकर एक व्यवसाय को और भी छोटे-छोटे अशो मे बाँटा गया तथा फिर इन अंशों के भी और न्यूनतम् टुकडे किये गये। आधुनिक युग मे श्रम-विभाजन का उच्चतम् उदाहरण पेटा की उत्पादन प्रणाली (Grid system of Production) म मिलता है। इस प्रणाली मे श्रम का विभाजन इतना सूक्ष्म हो जाता है कि एक कर्मचारी को एक बहुत ही छोटा सा काम करना पड़ता है। निश्चय ही ऐसे युग मे विनिमय का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है।

अर्थशास्त्र में विनिमय का अध्ययन—

बडे लम्बे समय से विनिमय का अध्ययन अर्थशास्त्र का एक आवश्यक अङ्ग माना गया है। प्राचीन काल मे, जबकि अर्थशास्त्र का सम्बद्ध अध्ययन आरम्भ भी नही हुआ था, विनिमय सम्बन्धी समस्याओ पर विचार किया जा चुका था। प्राचीन हिन्दू और यहूदी ग्रन्थों मे न्यायपूर्ण दाम या कीमत का विचार इस मत की पुष्टि करता है, यद्यपि न्यायपूर्ण कीमत सम्बन्धी विचार का पूर्ण रूप से स्पष्टीकरण नही किया गया था, फिर भी ये लोग विनिमय और उसके महत्त्व से परिचित थे और विनिमय को समाज के लिये अधिक हितकारी बनाने का प्रयत्न करते थे। न्यायपूर्ण कीमत के विषय मे यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु (Aristotle) ने भी बहुत कुछ लिखा है। इसके पश्चात् वाणिज्यवादी (Mercantalist) अर्थशास्त्रियो ने विनिमय का महत्त्व अर्थशास्त्र मे बहुत बढा दिया। उन्होने इस बात पर जोर दिया कि किसी देश के लिए धन संचय का सबसे अच्छा उपाय यही है कि वह विदेशी विनिमय तथा व्यापार को बढावे। दूसरे देशों को अपने यहाँ उत्पन्न किया हुआ माल भेजे और उसके बदले में सोना और चाँदी विदेशों से ले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके द्वारा अनेक उपायो का सुझाव दिया गया था। वाणिज्यवादी अर्थशास्त्रियों के बाद विनिमय का अध्ययन अर्थशास्त्र में बराबर चलता रहा और प्रत्येक आर्थिक लेखक ने इस सम्बन्ध में अपने विचार रखे। विशेष रूप से एडम स्मिथ और रिकार्डो (Ricardo) ने विनिमय के नियमो की विवेचना की और मूल्य के सिद्धान्त (Theory of Value) का निर्माण किया। जे० बी० से (J. B. Say) सबसे पहले आर्थिक लेखक थे, जिन्होने विनिमय को अर्थशास्त्र का एक विभाग बनाया, परन्तु उन्होने विनिमय को उत्पत्ति से मिला दिया। यह तो हम पहले ही देख चुके है कि विनिमय की प्रत्येक क्रिया उत्पादक (Productive) होती है। इसी कारण से (Say) ने विनिमय को

उत्पत्ति का ही एक रूप मान लिया। इसके उपरान्त भी धीरे-धीरे विनिमय का महत्व बढ़ता ही गया। उपयोगिता विवेचना (Utility Analysis) प्रणाली के उपयोग से तो इस अध्ययन का रूप और भी विस्तृत हो गया। इस दिशा में आस्ट्रियन (Austrian) अर्थशास्त्रियों का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक अर्थशास्त्र में तो विनिमय को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। नवीन मत के अनुसार वितरण विनिमय की ही एक विशेष दशा है। मूल्य के सिद्धान्त द्वारा हम वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य का निर्धारण करते है, जबकि वितरण सिद्धान्त (Theory of Distribution) में उत्पत्ति के साधनों के मूल्य का निर्धारण किया जाता है। यथार्थ में वस्तुओं, सेवाओं और उत्पत्ति के साधनों में कोई भी अन्तर नहीं है, जिसके कारण मूल्य का सिद्धान्त ही वितरण पर भी लागू होता है। वस्तुएँ और सेवाएँ जब उपभोग के स्थान पर उत्पादन कार्य मे प्रयोग होती है तो उत्पत्ति के साधन बन जाती है। साथ ही साथ, आधुनिक काल मे कुछ ऐसे भी अर्थशास्त्री देखने में आते है, जो अर्थशास्त्र को मूल्य के सिद्धान्त का ही एक विस्तृत रूप मानते है उनके विचार मे विनिमय आर्थिक अध्ययन का ही एक दूसरा नाम है। सर विलियम बीवरिज (Sir William Beveridge) ऐसा ही समझते है।

विनिमय का वर्गीकरण (Classification of Exchange)—

विनिमय के दो प्रधान रूप माने गये हैं :—(१) अदला बदली विनिमय प्रणाली अथवा वस्तु विनिमय प्रणाली (Barter System of Exchange) और (२) क्रय विक्रय अथवा मुद्रा-विनिमय (Money Exchange)। जब किसी वस्तु या सेवा का विनिमय किसी अन्य वस्तु या सेवा के साथ किया जाता है तो इसे वस्तु-विनिमय कहते है। यह विनिमय प्रत्यक्ष (Direct) होता है और इसमे किसी मध्यस्थ (Intermediary) की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरणार्थ, जब एक किसान गेहूँ के बदले मे कपडा लेता है तो उसकी यह क्रिया वस्तु-विनिमय होगी।

जब विनिमय परोक्ष (Indirect) रीति से किया जाता है और मुद्रा को मध्यस्थ के रूप मे प्रयोग किया जाता है तो विनिमय की क्रिया क्रय-विक्रय अथवा मुद्रा-विनिमय कहलाती है। यदि यह किसान गेहूँ के बदले मे सीधे कपड़ा न लेकर पहले गेहूँ को रुपयों मे बेचता है और फिर उन रुपयों से कपडा खरीदता है तथा इस प्रकार गेहूँ का बदला कपडे मे करता है तो यह क्रय विक्रय विनिमय हुआ। ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि क्रय-विक्रय विनिमय यथार्थ मे दो अलग-अलग विनिमय क्रियाओं का योग होता है। विशेषता यह होती है कि इन दोनों क्रियाओं में विनिमय की एक वस्तु मुद्रा होती है, जो दोनों मे सम्मिलित होती है और मध्यस्थ का कार्य करती है।

विनिमय का महत्त्व (Importance of Exchange)—

(१) विनिमय के विषय मे यह साधारण सत्य है कि विनिमय से दोनों पक्षों को लाभ होता है। यह हम पहले देख चुके हैं कि किस प्रकार विनिमय क्रिया के

पश्चात् विनिमयकर्त्ताओं के पास कुल उपयोगिता बढ़ जाती है। यह निश्चय है कि विनिमय न करने की दशा में जो कुल उपयोगिता मिलती है, वह उस कुल उपयोगिता से कम होती है जो विनिमय करने के उपरान्त मिलती है। विनिमय भी एक उत्पादन कार्य है, जिसके द्वारा उपयोगिता में वृद्धि की जा सकती है। इससे पता चलता है कि विनिमय द्वारा मानव व्यवहार अधिकतम् सन्तोष नियम के अधिक अनुकूल हो जाता है।

(२) विनिमय के द्वारा श्रम विभाजन और विशेषीकरण सम्भव हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अथवा राष्ट्र वह कार्य करता है, जिसमें उसे अत्यधिक योग्यता अथवा क्षमता प्राप्त होती है। इसमें मानव तथा राष्ट्रीय शक्तियों का सर्वोत्तम उपयोग होता है और उत्पादन शक्ति तथा उत्पत्ति की मात्रा दोनों बढ़ जाती हैं।

(३) विनिमय द्वारा हमारी आवश्यकता पूर्ति का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाता है। इसके द्वारा बहुत सारी ऐसी वस्तुओं का उपयोग सम्भव हो जाता है जिन्हें एक व्यक्ति अपने स्वयं के परिश्रम द्वारा प्राप्त करने की कभी आशा भी नहीं कर सकता है। इसके अतिरिक्त विनिमय द्वारा सस्ती और अच्छी वस्तुएँ मिल जाती हैं।

(४) आधुनिक उत्पादन प्रणाली विनिमय पर ही आधारित है। उत्पत्ति मुख्यतया बाजार के लिए की जाती है। विस्तृत विनिमय क्षेत्र के बिना बड़े पैमाने की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है।

QUESTIONS

1. Prove with the help of an example that both parties to an exchange (विनिमय) gain in utility and transactions stops when one of the parties begins to lose. (Raj., B A., 1957)
2. What is meant by Excharge in Economics? Why is it necessary?
3. Show how both parties gain in Exchange.
4. Write a note on—Gains of Exchange (Raj., B. A., 1956)

———

अध्याय २

विनिमय सिद्धान्त सम्बन्धी कुछ आधारभूत विचार

(Some Fundamental Concepts in the Theory of Exchange)

प्रारम्भिक—

विनिमय मे हमे बहुत से पारिभाषिक शब्दो का उपयोग करना पड़ता है। ऐसे प्रत्येक शब्द का कुछ विशेष अर्थ होता है। साधारण बोल-चाल मे भी इस प्रकार के अनेक शब्दो का उपयोग होता है, किन्तु इस सम्बन्ध मे एक बडी कठिनाई है। अर्थशास्त्र के अधिकाश शब्द साधारण बोल-चाल स लिए जाते है, परन्तु इन शास्त्र मे प्रचलित हो जाने के पश्चात् इन साधारण शब्दो के अर्थ विशेष हो जाते है। दुर्भाग्यवश अर्थशास्त्र मे शब्दों के चुनने म विशेष सावधानी से काम नही लिया गया और बहुत सारे विवाद केवल इसी कारण से चलते रहते है कि अलग-अलग लेखक एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों मे उपयोग करता है। विनिमय के अध्ययन मे इस प्रकार के बहुत से शब्द काम में लाये जायेंगे, इसलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि आरम्भ म ही ऐसे शब्दो के अर्थ स्पष्ट कर दिये जायें। इस स्पष्टता से इन शब्दा के अर्थ मे पूर्ण निश्चितता तो नही आ सकती, परन्तु फिर भी इनसे सम्बन्धित अस्पष्टता एक बडे अंश तक दूर की जा सकती है। इस प्रकार के कुछ शब्द निम्न प्रकार हैः—

मूल्य (Value)—

प्राचीन लेखको ने मूल्य को दो प्रकार का बताया है:—(१) उपयोगी मूल्य (Value-in use) और (२) विनिमय मूल्य (Value-in-exchange)। *उपयोगी मूल्य किसी वस्तु की आवश्यकता पूर्ति की शक्ति पर निर्भर होता है।* जितनी ही कोई वस्तु मनुष्य का आवश्यकता पूर्ति की अधिक सामर्थ्य रखती है उतना ही उसका उपयोगी मूल्य अधिक माना जाता है। दूसरे शब्दो मे, *उपयोगी मूल्य के वही अर्थ होते हैं, जो उपयोगिता शब्द के होते हैं। विनिमय मूल्य इसके विपरीत वस्तुओं और सेवाओं की उस मात्रा को सूचित करता है जो किसी वस्तु के बदल में विनिमय द्वारा प्राप्त की जा सकती है,* अर्थात् वह किसी वस्तु अथवा सेवा की विनिमय शक्ति (Power of Exchange) की माप होता है। उदाहरणार्थ, हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि एक गज कपडे के बदले मे ३ सेर गेहूँ मिल सकता है तो एक गज कपडे का मूल्य ३ सेर गेहूँ होगा। व्यावहारिक जीवन मे लगभग सभी वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मुद्रा मे नापा जाता है। अब यदि एक गज कपड़े का मूल्य एक रुपया है, जिसके अर्थ यह होते हैं कि एक गज कपड़े के

बदले में एक रुपया विनिमय द्वारा प्राप्त होता है तो मुद्रा में एक गज कपड़े के मूल्य की माप एक रुपये के बराबर होगी। मूल्य जब मुद्रा में नापा जाता है तो उसे हम कीमत अथवा दाम (Price) कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि मूल्य और कीमत में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है।

मूल्य की मुद्रा में माप को कीमत कहते हैं। मूल्य और कीमत दोनों शब्द प्रायः एक ही अर्थ में उपयोग किये जाते है। विनिमय के सिद्धान्त तथा विनिमय के नियमो की विवेचना में भी हम दोनो के बीच भेद नही करते और एक शब्द को दूसरे के स्थान पर स्वतन्त्रतापूर्वक काम मे लाते है। यथार्थ मे ऐसा करने से कोई हानि भी नही होती।

विनिमय के अध्ययन में मूल्य सदा ही विनिमय मूल्य के अर्थ में प्रयोग किया जाता है, अतः आगे चलकर जहाँ कही भी मूल्य शब्द आयेगा, उसका अर्थ विनिमय मूल्य ही होगा। उपयोगी मूल्य अर्थात् उपयोगिता का अध्ययन उपभोग में ही समाप्त कर दिया जाता है। विनिमय मूल्य पर भी उपयोगिता का पर्याप्त प्रभाव होगा। विनिमय उन्ही वस्तुओं और सेवाओ का किया जाता है जो उपयोगी होती हैं। समस्त विनिमय कार्य ही अधिक उपयोगिता प्राप्त करने के उद्देश्य पर आधारित होता है। साथ ही साथ, विनिमय मूल्य किसी मण्डी अथवा बाजार से सम्बन्धित होता है। मंडी से अलग न तो इसका कोई अर्थ ही होता है और न अस्तित्व ही।

उत्पादन परिव्यय (Cost of Production)—

अर्थशास्त्र मे परिव्यय अथवा व्यय (Cost) शब्द के अर्थ थोड़े विस्तृत होते है, बहुधा व्यय और लागत में भेद किया जाता है। लागत की माप करते समय हम उद्योग के मालिक के स्वयं के पारितोषण (Remuneration) को नहीं जोड़ते है, जबकि व्यय मे यह पारितोषण भी जोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार उत्पादन-व्यय और निर्माण व्यय (Cost of Manufacture) में भी अन्तर होता है। निर्माण द्वारा केवल रूप-उपयोगिता का निर्माण किया जाता है, अर्थात् वस्तु के रूप मे परिवर्तन करके उसकी उपयोगिता बढ़ा दी जाती है। उत्पादन उपयोगिता की वृद्धि की क्रिया का नाम है, चाहे यह वृद्धि किसी भी प्रकार की गई हो। यह पहले बताया जा चुका है कि विनिमय द्वारा भी उपयोगिता मे वृद्धि की जा सकती है, किन्तु इसे हम निर्माण (Manufacture) नहीं कह सकते। उत्पादन व्यय में निर्माण व्यय के अतिरिक्त और भी खर्चे शामिल होने हैं, जैसे कि विज्ञापन व्यय, इत्यादि। इस प्रकार उत्पादन व्यय में उत्पादन सम्बन्धी सभी प्रकार के खर्चे सम्मिलित होते हैं।

मौद्रिक व्यय और वास्तविक व्यय में भेद—

उत्पादन व्यय का वर्गीकरण कई रीतियों से किया जाता है। मार्शल ने मौद्रिक व्यय (Money Cost) और वास्तविक व्यय (Real Cost) में भेद किया है।*

* Marshall : *Principles of Economics*, p. 334.

मौद्रिक व्यय से अभिप्राय मुद्रा की उस कुल मात्रा से होता है, जो किसी वस्तु के उत्पादन करने में व्यय की जाती है। इस व्यय में निम्न प्रकार के खर्च सम्मिलित होते हैं :—(१) कच्चे माल के खरीदने पर व्यय किया हुआ धन, (२) श्रमिकों की मजदूरी, (३) पूँजी पर दिया हुआ ब्याज, (४) व्यवस्थापक का पारितोषण, (५) जोखिम उठाने का बदला, (६) मशीनों और दूसरी उत्पादन कलाओं के घिसने और मरम्मत सम्बन्धी तथा मूल्य ह्रास (Depreciation) सम्बन्धी खर्च, (६) बीमे का खर्च और (८) सरकारी कर। दूसरे शब्दों में, यह उत्पादन पर व्यय किए समस्त व्यय की मुद्रा मे माप है।

वास्तविक व्यय उनके विचार में एक प्रकार का सामाजिक व्यय (Social Cost) है। यह उस कुल त्याग, अनुपयोगिता तथा कष्ट की माप है जो समाज को उत्पादन करने के अन्तर्गत सहन करने पड़ने है। इस व्यय मे निम्न प्रकार के खर्चे सम्मिलित होते हैं :—(१) विभिन्न प्रकार के उन श्रम-जीवियों के परिश्रम (Exertions) जो कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उत्पादन क्रिया मे भाग लेते हैं और (२) पूँजी का संचय करने से उत्पन्न होने वाला कष्ट अथवा प्रतीक्षा (Waiting)। यह सब परिश्रम तथा कष्ट मिलकर वस्तु का वास्तविक उत्पादन-व्यय कहलाते हैं। यह तो सभी जानते है कि कुछ काम अधिक कठिन अथवा अधिक दुखदाई होते हैं, जबकि कुछ कामों के करने में उतने कष्ट का अनुभव नहीं होता। कुछ उत्पादन क्रियायें स्वभाव से ही ऐसी होती हैं कि उनके करने में अरुचि बहुत अधिक होती है और विशेष प्रयत्न करने पर ही कार्य-उत्साह को स्थिर रखा जा सकता है। इसी प्रकार कुछ कामों के करने पर श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है और भविष्य के लिए उसकी कार्य-शक्ति अथवा कार्य-कुशलता कम हो जाती है। ऐसी दशाओं मे सामाजिक अथवा वास्तविक व्यय बहुत अधिक होता है। इसके विपरीत जिन कामों के करने में आनन्द मिलता है तथा स्वास्थ्य और अच्छा हो जाता है, उनमे सामाजिक व्यय बहुत कम होता है। सामाजिक अथवा वास्तविक व्यय समाज को भुगतना पड़ता है और मुद्रा मे इसकी माप करना कठिन होता है।

अवसर व्यय (Opportunity Cost)—

आधुनिक अर्थशास्त्र मे इसी प्रकार के एक और व्यय का उल्लेख किया जाता है, जिसे अवसर व्यय (Opportunity Cost) कहते है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस व्यय को हस्तान्तरण आय (Transfer earning) का नाम भी दिया है।* अवसर व्यय मुद्रा की उस मात्रा द्वारा सूचित किया जाता है, जिसका एक व्यक्ति को किसी काम को करते समय परित्याग करना पड़ता है। निश्चय है कि प्रत्येक मनुष्य अपने समय और शक्ति का एक से अधिक काम करने में व्यय कर सकता है। एक

* Mrs. Robinson : *Economics of Imperfect Competitions,* P. 132.

कॉलिज का प्रोफेसर २ घण्टे समय गप्प मारने में बिता सकता है अथवा इन दो घण्टों में एक लेख भी लिख सकता है, जिसका मूल्य २० रुपये के बराबर है। अब यदि वह प्रोफेसर गप्प लगाने में इस समय का उपयोग करता है तो गप्प लगाने का अवसर व्यय एक लेख लिखने अथवा २० रुपये के बराबर हुआ।

कुल व्यय, मध्य या औसत व्यय और सीमान्त व्यय (Total Cost, Average Cost and Marginal Cost)—

कुल उत्पत्ति में जो समस्त धन व्यय होता है, उसी को कुल व्यय कहते हैं। मौद्रिक व्यय में दिए हुए सातों प्रकार के खर्चे कुल उत्पादन व्यय में सम्मिलित कर लिए जाते हैं। दूसरे शब्दों में, उत्पत्ति की सारी इकाइयों के सब खर्चों का जोड़ कुल व्यय के बराबर होता है। जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ता जाता है, कुल उत्पादन व्यय भी बढ़ता चला जाता है।

कुल उत्पादन व्यय को उत्पत्ति की इकाइयों से भाग देने पर औसत व्यय निकल आता है। मान लीजिए कि १,००० जोड़ी जूतों का उत्पादन किया जाता है और इस कार्य में सब प्रकार के खर्चों को जोड़ कर ५,००० रुपये व्यय होता है। इसका अर्थ यह होता है कि १,००० जोड़ी जूतों का कुल उत्पादन व्यय ५,००० रुपये होता है। तो इस दशा में १ जोड़ी जूते का औसत व्यय ५,०००÷१,०००=५ रुपये हुआ। स्मरण रहे कि उत्पादक के लिए उत्पत्ति की प्रत्येक इकाई पर होने वाला व्यय समान नहीं होता। कुछ समय तक उत्पत्ति में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है, जिसके अनुसार उत्पत्ति की प्रत्येक अगली इकाई के उत्पादन पर पहली इकाई की अपेक्षा कम व्यय होता है। फिर बहुधा कुछ समय तक स्थिर उत्पत्ति नियम दृष्टिगोचर होता है और अधिक उत्पत्ति करने पर भी अगली इकाइयों का व्यय बढ़ता नहीं है। अन्त में उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है और प्रत्येक अगली इकाई का उत्पादन व्यय बढ़ता जाता है। उत्पत्ति की प्रत्येक मात्रा से सम्बन्धित औसत व्यय निकाला जा सकता है। उस मात्रा के उत्पादन व्यय को उत्पत्ति की कुल इकाइयों से भाग दे देने से यह निकल आता है। जब कुल व्यय उत्पत्ति की मात्रा की अपेक्षा अधिक वेग से बढ़ता है तो औसत व्यय भी बढ़ने लगता है, क्योंकि ऐसी दशा में प्रत्येक अगली इकाई के उत्पादन पर पहली इकाई से अधिक व्यय होता है।

विभिन्न सिद्धान्तों के दृष्टिकोण से सबसे अधिक महत्त्व सीमान्त व्यय का है। *उपज की अन्तिम इकाई को सीमान्त उपज कहते हैं। इस उपज के निर्माण पर जो व्यय होता है, उसे हम सीमान्त व्यय कहते हैं।* इस प्रकार सीमान्त व्यय उपज की अन्तिम इकाई के उत्पादन का व्यय होता है। दूसरी रीति से सीमान्त व्यय की परिभाषा इस प्रकार भी की जा सकती है कि यह एक अधिक या एक कम इकाई के उत्पादन की लागत है। जब हम मुद्रा में सीमान्त व्यय की माप करते हैं तो इसी रीति को अपनाते हैं। मान लीजिए कि उत्पत्ति की १,००० इकाइयों का कुल व्यय ५,००० रुपया है। अब यदि १,००० से एक कम इकाई की उत्पत्ति की

जाय तो कुल व्यय ४,९९६ रुपया होता है। इससे पता चलता है कि एक इकाई कम के उत्पादन से कुल व्यय में ४ रुपये की कमी पड़ती है, अतः हम कह सकते है कि १,००० वी इकाई का व्यय ४ रुपया है। यही सीमान्त व्यय है। इसी प्रकार एक हजार से एक अधिक इकाई के उत्पादन से कुल व्यय मे जो वृद्धि होगी, वह भी सीमान्त व्यय की माप कहलायेगी। जब हम उत्पत्ति नियमो की व्याख्या करते हैं और उत्पत्ति पर क्रमशः वृद्धि या ह्रास नियम लागू होते हुए देखते हैं तो हम भी देखते हैं कि इनमे से पहली दशा मे उत्पादन व्यय क्रमशः घटता चला जाता है, जबकि दूसरी दशा मे बराबर बढता जाता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह कमी अथवा वृद्धि सीमान्त व्यय मे ही होती है, किसी और प्रकार के व्यय मे इसका होना आवश्यक नही है। विशेष रूप से अधिक उत्पादन के साथ-साथ कुल व्यय तो बराबर बढता ही रहता है।

नीचे दी हुई तालिका मे कुल व्यय, मध्य व्यय और सीमान्त व्यय के भेद को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है:—

उत्पादन की इकाइयाँ	सीमान्त व्यय (रुपयो मे)	औसत व्यय (रुपयो मे)	कुल व्यय (रुपयो में)
१	११	१०	१०
२	१२	११	२२
३	१४	१२	३६
४	१६	१३	५२
५	१८	१४	७०

इत्यादि

इस तालिका मे उत्पत्ति-ह्रास-नियम का उदाहरण लिया गया है। जैसे जैसे उत्पादन बढाया जाता है, प्रत्येक अगली इकाई के उत्पादन पर उससे पहली इकाई की अपेक्षा अधिक व्यय होता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि कुल व्यय बराबर बढता चला जाता है। साथ ही साथ, सीमान्त व्यय और औसत व्यय भी बराबर बढते जाते हैं, परन्तु सीमान्त व्यय औसत व्यय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढता है। जब उत्पादन पर उत्पत्ति वृद्धि-नियम लागू होता है तो सीमान्त व्यय घटता चला जाता है, औसत व्यय भी घटता जाता है, परन्तु कम वेग से और कुल व्यय बढ़ता ही चला जाता है। नीचे की तालिका मे उत्पत्ति वृद्धि-नियम के अनुसार तीनो प्रकार के व्यय दिखाये गये हैं:—

उत्पादन की इकाइयाँ	सीमान्त व्यय (रुपयों मे)	औसत व्यय (रुपयों में)	कुल व्यय (रुपयो में)
१	. १०	१०	१०
२	९	९.५	१९
३	८	९	२७
४	७	८.५	३४
५	६	८	४०

इत्यादि

नीचे के चित्रो मे इन दोनो दशाम्रो की वक्र रेखायें खीची गई हैं। चित्र १ पहली दशा को दिखाता है और चित्र २ दूसरी को।

चित्र नं० १
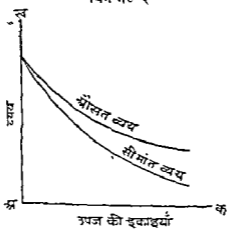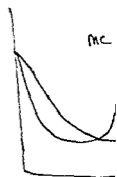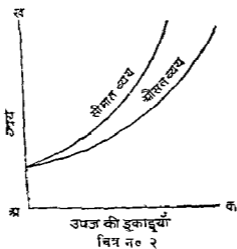
प्रधान व्यय तथा अनुपूरक व्यय (Prime Cost and Supplementary Cost)—

इन व्ययों को हम क्रमशः अस्थिर तथा स्थिर (Fixed and Variable) अथवा चल तथा अचल (Circulating and Fixed) व्यय भी कहते हैं।

एक उत्पादक अथवा उपक्रमी या साहसी (Enterpreneur) के दृष्टिकोण से व्यय का वर्गीकरण प्रधान और अनुपूरक व्यय में भी किया जा सकता है। *कुछ व्यय इस प्रकार के होते है कि वे उत्पत्ति की मात्रा के साथ-साथ घटते-बढ़ते रहते हैं और उनमें इस प्रकार जो परिवर्तन होता है, वह लगभग उत्पत्ति की मात्रा का अनुपाती (Proportional) होता है, जबकि कुछ प्रकार के व्यय ऐसे होते हैं कि वे स्थिर रहते है और उत्पादन की मात्राओं के परिवर्तन का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इनमें से पहले प्रकार का व्यय प्रधान व्यय कहलाता है।* उदाहरण के लिए, एक चीनी बनाने के कारखाने को लीजिये। चीनी बनाने के लिए गन्ने की आवश्यकता पड़ती है, इसके अतिरिक्त गन्ने के रस को पकाने के लिये कोयले या किसी दूसरे ईंधन की जरूरत होती है, मैल को साफ करने के लिए कुछ रसायनिक पदार्थ उपयोग में लाये जाते हैं और साथ ही साथ रस निकालने, पकाने इत्यादि के लिए मजदूर चाहिए। इन सब कामों पर जो व्यय होता है, वह चीनी के उत्पादन की मात्रा के साथ-साथ बढ़ता जाता है। अधिक चीनी बनाने के लिए अधिक गन्ने, अधिक ईंधन, अधिक मजदूर, इत्यादि की आवश्यकता पड़ती है। इन सब वस्तुओं पर व्यय की हुई मुद्रा प्रधान व्यय मे सम्मिलित होगी। गणित की भाषा मे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रधान व्यय वह व्यय है जिसकी माप, उस दशा मे जबकि उत्पादन की मात्रा शून्य के बराबर हो, शून्य (Zero) के बराबर होती है। इस व्यय के परिवर्तन उत्पादन की मात्रा के अनुकूल होते है, परन्तु उनका सदैव उत्पादन की मात्रा का अनुपाती होना आवश्यक नही है।

अनुपूरक व्यय उत्पादन की मात्रा के साथ-साथ घटता-बढ़ता नहीं है, वरन् स्थिर रहता है। उत्पादन के बढ़ा देने पर भी इस व्यय मे परिवर्तन नहीं होते हैं। एक कारखाने के मालिक को कच्चे माल और मजदूरों के अतिरिक्त मशीनों, औजारों, कारखाने की बिल्डिङ्ग, व्यवस्थापक के खर्च और मुनीम इत्यादि के रखने पर भी व्यय करना पड़ता है। ये सब व्यय इस प्रकार के हैं कि जिन पर व्यय की जाने वाली राशि निश्चित होती है। चाहे कम उत्पत्ति की जाय और चाहे अधिक, इन सभी शीर्षकों पर दोनों दशाओं में लगभग समान ही व्यय करना पड़ता है। इस प्रकार के सब व्यय अनुपूरक व्यय (Supplementary Cost) मे सम्मिलित किए जाते हैं। गणित की भाषा मे अनुपूरक व्यय की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है : यह वह व्यय है, जिसकी माप उस दशा मे भी अनुलोम (Positive) होती है, जबकि उत्पत्ति की मात्रा शून्य के बराबर हो। निर्माण उद्योगों (Manufacturing Industries) मे बहुधा अनुपूरक व्यय बहुत अधिक होता है, जिसके कारण आरम्भ मे उत्पादन

व्यय अधिक होता है। जैसे-जैसे उत्पत्ति की मात्रा बढ़ती जाती है, उत्पत्ति की अधिक इकाइयों पर अनुपूरक व्यय फैलता जाता है, जिसके कारण आरम्भ में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है। नीचे के चित्र में उत्पादन व्यय की वक्र रेखा को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि यह वक्र कभी भी अ बिन्दु से आरम्भ नहीं होता, वरन् अ ख रेखा पर अ से थोड़े ऊपर से आरम्भ होता है। ऐसा अनुपूरक व्यय की उपस्थिति के कारण ही होता है।

नीचे के चित्र में औसत व्यय तथा सीमांत व्यय दोनों की वक्र रेखायें च बिन्दु से आरम्भ होती हैं, जो इस बात को सूचित करती हैं कि जब उत्पत्ति की मात्रा शून्य (Zero) है, तब भी अ च के बराबर व्यय होता है। साधारण ज्ञान से यह समझना कठिन होता है कि उत्पत्ति के न होते हुये भी व्यय कैसे हो जाता है, परन्तु अनुपूरक व्यय का ज्ञान होने पर इस प्रकार का भ्रम निर्मूल प्रतीत होने लगता है, क्योंकि इस प्रकार का व्यय उत्पादन के आरम्भ से पहले ही करना पड़ता है। अ च ही अनुपूरक व्यय की माप है।
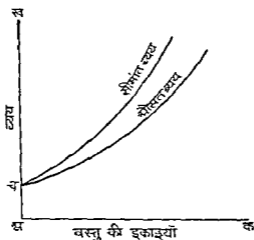
कुल, औसत तथा सीमान्त आगम (Total, Average and Marginal Revenue) —

किसी वस्तु की कुल इकाइयों के बदले में जो आय अथवा आगम (Revenue) प्राप्त होती है, उसी की मुद्रा में माप को हम कुल आगम (Total Revenue) कहते हैं। मान लीजिये कि एक दूकानदार कपड़े के ५०० थान बेचता है और इन थानों के मूल्यस्वरूप उसे १०,००० रुपया मिलता है तो कपड़े की कुल आगम उस दूकानदार के लिए १०,००० रुपये होगी। दूसरे शब्दों में, कुल बिक्री मूल्य तथा कुल आगम दोनों के एक ही अर्थ होते हैं।

जिस प्रकार कुल व्यय को उत्पत्ति की इकाइयों से भाग देने पर माध्य या औसत व्यय निकल आता है, उसी प्रकार *कुल आगम को बिक्री की इकाइयों से*

माग देने पर औसत आगम मिल जाती है। ऊपर के उदाहरण मे थान की औसत आगम १०,०००÷५००=२० रुपया है। यथार्थ मे औसत आगम और दाम या कीमत दोनो बराबर होते हैं। मूल्य की मुद्रा मे माप, दाम या कीमत कहलाती है। जिस वस्तु के प्राप्त करने के लिए हम दस रुपये देने को तैयार होते हैं, उसके मूल्य की मौद्रिक माप दस रुपये के बराबर होगी और यही उस वस्तु की कीमत होगी। स्मरण रहे कि कीमत सदैव औसत प्रकार की होती है, इसलिए औसत आगम और कीमत दोनो शब्द एक दूसरे के स्थान पर उपयोग मे लाये जा सकते है।

किसी वस्तु की एक अधिक या एक कम इकाई बेचने पर कुल आगम में जो वृद्धि अथवा जो कमी होती है, उसको सीमांत आगम (Marginal Revenue) कहते हैं। सीमात आगम वस्तु की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली कीमत के बराबर होती है। अनुभव हमे बताता है कि अधिक इकाइयो को बेचने के लिये वस्तु के दामो को घटाना आवश्यक होता है। प्रत्येक अगली इकाई से पहली की अपेक्षा कम कीमत अथवा आगम मिलती है। जिस इकाई पर आकर विक्रेता बिक्री बन्द कर देता है, उसकी बिक्री के फलस्वरूप प्राप्त मूल्य सीमात आगम कहलाते है। यदि कोई विक्रेता किसी वस्तु की ३० इकाइयाँ बेचता है और ३० वी इकाई १० रुपये मे बिकती है तो इस दशा मे सीमात आगम १० रुपये होगी।

पूर्ति तथा उसका नियम (Supply and the Law of Supply)—

विनिमय की क्रिया दो पक्षो के मध्य होती है। एक पक्ष किसी वस्तु या सेवा को खरीदता है तथा दूसरा पक्ष उसको बेचता है। विनिमय उसी दशा मे सम्भव होता है, जबकि बेचने वालो और खरीदने वालो मे आपस मे सम्पर्क बना रहे। किसी निश्चित कीमत पर एक वस्तु की जितनी इकाइयाँ खरीदी जाती है, वे उस वस्तु की माँग को दिखाती है। माँग के नियम मे हम देख चुके हैं कि वस्तु के कीमतो मे परिवर्तन होने के साथ साथ माँग की मात्रायें भी बदलती रहती है। ठीक इसी प्रकार *एक निश्चित कीमत पर जितनी इकाइयाँ बेची जाती है, वे वस्तु विशेष की पूर्ति को दिखाती है।* माँग की भाँति पूर्ति भी दाम या कीमत से सम्बन्धित होती है और उसका भी बिना कीमत के कोई अर्थ नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि हम सदैव इस प्रकार कहते है कि अमुक कीमत पर पूर्ति इतनी है।

पूर्ति का नियम—

ऐसा देखने में आता है कि जब किसी वस्तु या सेवा की कीमत ऊँची चढ़ जाती है तो बेचने वाले उसको पहले से अधिक मात्रा में बेचने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत जब दाम गिर जाते हैं तो कम इकाइयाँ बेचने के लिये प्रस्तुत की जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि ऊँचे दामो पर विक्रेताओ तथा उत्पादको को अधिक लाभ होता है, जबकि नीची कीमतो पर बेचने से या तो लाभ कम होता है या होता ही नही है। एक ही वस्तु के सभी उत्पादको का उत्पादन व्यय समान नही होता। कुछ उत्पादक अधिक कुशल होते है और कम लागत पर उत्पत्ति कर सकते है।

ऐसे उत्पादक नीची कीमत पर बेच कर भी लाभ उठा लेते हैं, परन्तु जो उत्पादक इतने कुशल नहीं होते उन्हें नीची कीमतों पर बेचने से हानि रहती है। इसी कारण नीची कीमतों पर कम मात्राएँ बेची जाती हैं। कम कुशल उत्पादक भी ऊँची कीमतों पर अपने माल को बेच कर लाभ उठा सकते है, इसलिए ऊँची कीमतों पर अधिक मात्राएँ बिक्री के लिए आती है। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते है कि ऊँची कीमत पर पूर्ति अधिक होती है और नीची कीमत पर कम। <u>पूर्ति में कीमतों के परिवर्तनों के साथ-साथ बदलने की जो प्रवृत्ति (*Tendency*) है, उसी को अर्थशास्त्रियों ने पूर्ति के नियम (*Law of Supply*) का नाम दे दिया है।</u>

कीमतों मे परिवर्तन होने पर पूर्ति मे जो परिवर्तन होते हैं उनकी दिशा कीमत के परिवर्तन के अनुकूल होती है। कीमत बढती है तो पूर्ति भी बढती है और इसी प्रकार कीमत घटती है तो पूर्ति भी घट जाती है। किसी मन्डी अथवा बाजार मे भिन्न-भिन्न कीमतों पर पूर्ति की मात्रायें कितनी होती हैं, इसकी यदि हम एक सूची बना लें तो तो इस सूची को पूर्ति की अनुसूची (Supply Schedule) कहा जाता है। इस सूची को देखने से पूर्ति का नियम स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। नीचे की तालिका मे चाय की पूर्ति की अनुसूची दिखाई गई है। सूची बाजार क तथा अगस्त सन् १९५६ से सम्बन्धित है। वह इस प्रकार होगी :—

कीमत प्रति पौंड (रुपयों मे)	पूर्ति की मात्रा (पौंड मे)
२	४००
३	५००
४	६००
५	८००
७	१,०००

इत्यादि

इस अनुसूची के अनुसार पूर्ति के नियम की वक्र रेखा निम्न प्रकार होगी:—
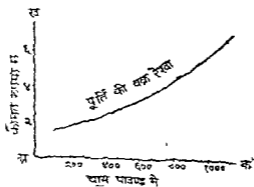
नोट—इस रेखा की प्रकृति नीचे से ऊपर की ओर जाने की होती है, जिससे कीमत और पूर्ति दोनों का एक साथ बढ़ना सिद्ध होता है।

अल्प तथा दीर्घ काल (Short and Long Periods)—

दाम अथवा कीमत में परिवर्तन होने से माँग और पूर्ति दोनों में ही परिवर्तन होते हैं। साधारणतया माँग पर कीमत के परिवर्तन का प्रभाव शीघ्र ही दृष्टिगोचर होने लगता है। इसकी अपेक्षा पूर्ति पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका अनुभव थोड़ा देर में होता है। जब भी माँग में परिवर्तन होते हैं, पूर्ति को माँग के अनुसार बदलना पड़ता है, जिसमें समय लगता है। इस प्रकार माँग और पूर्ति का समायोजन (Adjustment) समय लेता है। पूर्ति अथवा प्रदाय के माँग के अनुसार बदलने में जो समय लगता है, उसको ध्यान में रखते हुए अर्थशास्त्रियों ने समय को दो भागों में बाँटा है, जिनको अल्प और दीर्घकाल (Long Period) कहते हैं। *अल्पकाल (Short Period) से हमारा अभिप्राय इतने कम समय से होता है, जिसमें पूर्ति या प्रदाय में लेशमात्र भी परिवर्तन कर देना सम्भव नहीं होता है।* अल्पकाल में माँग में तो परिवर्तन हो सकते हैं, परन्तु यह समय इतना कम होता है कि पूर्ति को घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता है। *दीर्घकाल उतने समय को कहते हैं जिसमें पूर्ति पूर्ण रूप से माँग के अनुसार बदली जा सकती है।* यदि माँग कम हो जाती है तो ठीक उसी अंश तक पूर्ति भी घटा दी जायगी। इसी प्रकार यदि माँग बढ़ जाती है तो उसी के अनुपात में पूर्ति भी बढ़ाई जा सकती है। *कुछ लेखकों ने एक तीसरे प्रकार का काल भी बनाया है, जिसको आभास-दीर्घकाल (Quasi-Long Period) कहा जाता है। इस काल की परिभाषा इस प्रकार की जाती है कि यह उस समय को सूचित करता है, जिसमें माँग में परिवर्तन होने के साथ-साथ पूर्ति में परिवर्तन तो हो सकते हैं, किन्तु ये परिवर्तन माँग के परिवर्तन के अनुपातिक नहीं होते, वरन् पूर्ति का परिवर्तन ऋर्घ (Rate of Change in Supply) माँग के परिवर्तन अर्घ से कम होता है।* माँग और पूर्ति में पूर्ण रूप से समायोजन (Adjustment) नहीं हो पाता, केवल अपूर्ण अथवा आंशिक समायोजन ही हो पाता है।

एक छोटे से उदाहरण द्वारा हम इस प्रकार कह सकते हैं कि मान लीजिए यदि बाजार में चाय की कीमत ५ रुपये प्रति पौन्ड से घटकर ४ रुपये प्रति पौन्ड हो जाती है और इस दशा में चाय की माँग ३०० पौन्ड के स्थान पर ५०० पौन्ड हो जाती है। अल्प काल में चाय की पूर्ति पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वह जितनी पहले थी, उतनी ही बनी रहेगी। दीर्घकाल में पूर्ति में इस प्रकार परिवर्तन हो जायेंगे कि माँग से पूर्णतया समायोजन हो जाय अर्थात् वह माँग के बराबर हो जाय। आभास दीर्घकाल में इस प्रकार कीमत के घटने पर पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन तो अवश्य होगा, परन्तु इस प्रकार परिवर्तन नहीं होगा कि पूर्ति की मात्रा भी ५०० पौण्ड के बराबर हो जाय, जबकि दीर्घकाल में पूर्ति अवश्य ही ५०० पौन्ड अर्थात् माँग के बराबर हो जायेगी। नीचे के चित्रों में अल्प, दीर्घ और आभास दीर्घकाल में पूर्ति का रूप दिखाया

गया है। तीनों दशाओं में माँग बढ़ती है और माँग का वक्र (Demand Curve) ऊपर को खिसक जाता है। ट ट माँग का प्रारम्भिक वक्र है, जो माँग बढ़ने के पश्चात् ल ल का रूप धारण कर लेता है। द द पूर्ति का वक्र है, जो माँग में परिवर्तन हो जाने के उपरान्त बिन्दुदार रेखा का रूप धारण कर लेता है।
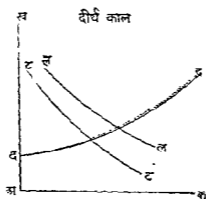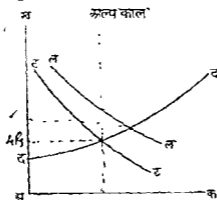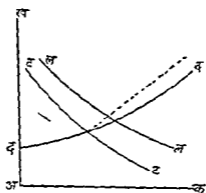
प्रतियोगिता अथवा स्पर्धा (Competition)—

एक मनुष्य में दूसरे मनुष्य या मनुष्यों की तुलना में आगे बढ़ने की जो प्रवृत्ति होती है, इसी को साधारण बोलचाल में प्रतियोगिता कहते हैं। दौड़ की बाजी मे प्रत्येक दौडने वाला दूसरो को पीछे छोड़ कर आगे बढने का प्रयत्न करता है। सरकारी नौकरियो के सम्बन्ध मे होने वाली परीक्षाओं मे प्रत्येक परीक्षार्थी दूसरो से अधिक अङ्क प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इन दोनो दशाओ मे हम यह कहते हैं कि दौड़ने वालो में और इसी प्रकार परीक्षार्थियो मे परस्पर स्पर्धा अथवा प्रतियोगिता है। अर्थशास्त्र मे भी प्रतियोगिता शब्द का लगभग यही अर्थ होता है। यदि हम बाजार मे जाकर देखें, तो हमे दिखाई पडेगा कि अधिकाश विक्रेता इस बात का प्रयत्न करते हैं कि अपना माल अधिक से अधिक बेचें और अपने अधिक से अधिक ग्राहकों को बनाये रखें। इस कारण प्रत्येक विक्रेता दूसरो की अपेक्षा अपने ग्राहकों को अधिक सुविधाएँ देने को तैयार रहता है और कुछ दशाओ मे कम दामो पर भी बेच देता है। इसी प्रकार विक्रेताओ और ग्राहकों के बीच भी प्रतियोगिता होती रहती है। विक्रेता अधिक से अधिक कीमत लेने का प्रयत्न करता है, जबकि ग्राहक कम से कम कीमत देना चाहता है। प्रतियोगिता का सबसे अच्छा उदाहरण नीलामघर मे मिलता है, जहाँ पर प्रत्यक इच्छुक ग्राहक दूसरो से बढकर बोली बोलता है।

पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition)—

अर्थशास्त्र मे दो प्रकार की प्रतियोगिता का उल्लेख किया जाता है, अर्थात् पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition) और अपूर्ण प्रतियोगिता (Imperfect Competition)। *पूर्ण प्रतियोगिता उस दशा को सूचित करती है जबकि प्रत्येक ग्राहक को सभी विक्रेताओं द्वारा माँगी हुई कीमत ज्ञात होती है और प्रत्येक विक्रेता एक सी ही प्रमापीकृत वस्तु को बेचता है।*[1] प्रोफेसर चैम्बरलेन (Chamberlain) ने शुद्ध प्रतियोगिता (Pure Competition) और पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition) मे भी भेद किया है। उनके विचार मे शुद्ध प्रतियोगिता वह है, जिसमे किसी भी प्रकार की एकाधिकारी रुकावट न हो।[2] यह निम्न दशाओ मे प्रचलित होती है :—

(१) वस्तु का प्रमापीकरण (Standardisation) हो, जिससे इसकी सभी इकाइयाँ प्रत्येक विक्रेता और ग्राहक के लिए पूर्ण रूप से समान हो और जिसके

---

1. Perfect competition represents a state in which every buyer knows the price of every seller and every seller sells the same standardised commodity.

2. "Competition is pure when it is unalloyed with monopoly element.........It may imply perfect knowledge of the future and the consequent absence of uncertainty."—Chamberlain : *Theory of Monopolistic Competition*,

फलस्वरूप तनिक दाम परिवर्तन के होने ही ग्राहक दूसरे बेचने वालों की ओर झुक पड़ें।

(२) वस्तु के बेचने वालों और खरीदने वालों की संख्या इतनी अधिक होनी चाहिये कि उनमें से किसी एक के व्यवहार का कीमत पर कोई भी प्रभाव न पड़े।

(३) वस्तु की किस्म अथवा गुण और कीमतों के सम्बन्ध में बेचने वालों में कोई समझौता नहीं होना चाहिये।

चैम्बरलेन के अनुसार पूर्ण प्रतियोगिता के लिए नीचे दी हुई बातों का होना आवश्यक है :—

(१) शुद्ध प्रतियोगिता सम्बन्धी तीनों गुण।

(२) विक्रेता और ग्राहक दोनों को वस्तु तथा उसकी माँग और पूर्ति के विषय में पूर्ण ज्ञान।

(३) इस प्रकार का संगठन बाजार कि जिसमें वर्तमान तथा भविष्य की माँग और पूर्ति के आधार पर तुरन्त ही कीमतों में परिवर्तन हो जाये।

(४) विक्रेताओं की संख्या बहुत अधिक हो।

(५) सब ग्राहक तथा विक्रेताओं को बाजार में आने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो तथा पूँजी के स्थान अथवा उपयोग परिवर्तन पर कोई रुकावट न हो।

(६) प्रत्येक विक्रेता को बाजार छोड़ने की पूरी स्वतन्त्रता हो और जो फर्म अथवा व्यवसायी अपने पैरों पर खड़ा न रह सके, उसे अपने को दिवालिया (Bankrupt) घोषित करने का पूर्ण अधिकार हो।

दूसरे शब्दों में, पूर्ण प्रतियोगिता में शुद्ध प्रतियोगिता के साथ-साथ उत्पत्ति के साधनों की पूर्ण गतिशीलता (Mobility) भी होनी चाहिये। इस विषय में प्रोफेसर मेहता का मत भी ध्यान देने योग्य है। इन्होंने शुद्ध और पूर्ण प्रतियोगिता में भेद नहीं किया है और पूर्ण प्रतियोगिता से उनका वही अभिप्राय है, जो चैम्बरलेन का शुद्ध प्रतियोगिता से है।* *पूर्ण प्रतियोगिता केवल उसी दशा में सम्भव हो सकती है जबकि वस्तु विशेष के विक्रेताओं की संख्या असीमित होती है और प्रत्येक विक्रेता का वस्तु की कुल पूर्ति के केवल एक बहुत छोटे भाग पर ही अधिकार होता है।* पूर्ण प्रतियोगिता की विशेषता यह होती है कि अन्तिम दशा में दीर्घकाल में किसी बाजार में वस्तु की केवल एक ही कीमत प्रचलित होती है, जो साधारणतया उत्पादन व्यय

---

* "In the foregoing discussion we have used the word perfect competition to connote what Professor Chamberlain calls pure competition."—J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory*, pp. 76-77.

के बराबर होती है। कीमत के उत्पादन व्यय के बराबर होने के कारण विक्रेता को केवल लागत ही वसूल होती है, लाभ नहीं होता है, परन्तु उसे हानि भी नहीं होती है।

अपूर्ण प्रतियोगिता—

व्यावहारिक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता का उदाहरण मिलना कठिन ही है। प्रत्येक ग्राहक को प्रत्येक विक्रेता के दाम ज्ञात नहीं होते और इसी प्रकार वस्तुओं का प्रमापीकरण भी नहीं होता, जिसके कारण एक ही वस्तु की विभिन्न इकाइयों में थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य रहता है। इसी कारण प्रतियोगिता अपूर्ण या अशुद्ध रहती है। ऐसी प्रतियोगिता में ग्राहकों को कीमत का केवल अधूरा ज्ञान होता है और विभिन्न विक्रेता एक ही वस्तु को अलग-अलग दामों पर बेचते हैं। बहुत बार तो एक विक्रेता अपने अलग-अलग ग्राहकों से भी एक ही वस्तु की अलग-अलग कीमत वसूल करता है। *अपूर्ण प्रतियोगिता उस दशा को सूचित करती है जिसमें कि सभी ग्राहकों को या तो सभी विक्रेताओं के द्वारा माँगी हुई कीमतें ज्ञात नहीं होती हैं अथवा वस्तु की विभिन्न इकाइयों के बीच वास्तविक अथवा कल्पित (Imaginary) अन्तर होते हैं।** इसका परिणाम यह होता है कि वस्तु की कीमत में समानता नहीं आने पाती है। अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में विक्रेताओं की संख्या भी सीमित होती है।

साम्य (Equilibrium)—

साधारण भाषा में साम्य के अर्थ तुल्य भारता (State of equal balance), संतुलन अथवा मध्यमता (Neutrality) के होते हैं। गणित शास्त्र में इस शब्द का उपयोग अधिक होता है और यह उस दशा को सूचित करता है जिसमें विभिन्न आकर्षण अथवा शक्तियाँ (Forces) एक-दूसरे पर इस प्रकार प्रभाव डालती है कि एक-दूसरे का बल समाप्त कर दें और यथास्थिरता बनी रहे। यदि एक कण (Particle) को कई शक्तियाँ विभिन्न दिशाओं में अपनी ओर इस प्रकार खींचने का प्रयत्न करें कि इन शक्तियों के खींचने पर भी वह कण यथास्थान बना रहे, तो हम कहते हैं कि वे शक्तियाँ साम्य (Equilibrium) की दशा में हैं। अर्थशास्त्र में यह शब्द गणित से ही लिया गया है और ठीक इसी अर्थ में प्रयोग होता है। *विनिमय के सिद्धान्त में माँग और पूर्ति की दो अलग-अलग शक्तियाँ कीमत को अपनी ओर विपरीत दिशाओं में खींचती हुई दिखाई पड़ती हैं। जिस दशा में ये शक्तियाँ एक-दूसरे के बल को नष्ट कर देती हैं, जिसके कारण मूल्य स्थिर हो जाता है, उसी को साम्य की दशा कहते हैं।*

स्थिर तथा प्रवैगिक अथवा चल साम्य (Static and Dynamic Equilibrium)—

साम्य सदैव समय से सम्बन्धित होता है। साम्य के माप का वर्णन समय का

---

* Imperfect competition refers to a state in which either every buyer does not know the price which each one of the sellers is charging or there are real or imaginary differences in the different units of the commodity sold.

उल्लेख करके किया जाता है, परन्तु समय से अलग करके साम्य का अर्थ कुछ भी नही होता है। साम्य दो प्रकार के होते हैं—स्थिर और प्रवैगिक। *जो साम्य निश्चित समय के उपरान्त भी बना रहता है, वह स्थिर साम्य कहलाता है, परन्तु यदि निश्चित समय के पश्चात् यह भंग हो जाता है तो इसे प्रवैगिक या चल साम्य कहते हैं।** उदाहरणस्वरूप, यदि हम एक सप्ताह का समय लेते है और यदि सप्ताह के प्रारम्भ का साम्य सप्ताह के अन्त मे भी साम्य बना रहता है, तो यह स्थिर साम्य है, परन्तु यदि सप्ताह के अन्त मे यह साम्य भंग होकर नया साम्य बनने लगता है, तो यह प्रवैगिक अथवा चल साम्य है।

QUESTIONS

1. Distinguish between prime costs and supplementary costs and bring out the significance of this distinction in the theory of value (Alld., B. A., 1954 ; Raj , B. A., 1955)
2. Distinguish between the Real Cost of Production and the Money Cost of Production. On what principle is the division between Prime Costs and Supplementary Costs based ? (Agra, B. A., 1953)
3. Analyse costs of production so as to bring out the meaning and significance of opportunity costs. (Agra, B. A., 1956)
4. Explain what is meant by "Prime Costs" and "Supplementary Costs." Discuss their importance in the determination of price. (Vikram, B. Com , 1958)
5. Distinguish between money cost of production, real cost of production and opportunity cost. Which cost of production is relevant from the point of view of society ? (Agra, B A , 1956 S)
6. Write short note on :—
   Prime and Supplementary Costs. (Bihar B. Com., 1958 ; Agra, B. A., 1958 S, 1956 S ; Delhi, B. A., 1950)
   अवसर व्यय (Jabalpur, B. A , 1959, B Com., 1958 ; Delhi, B. A., 1955 , Bihar, B. Com., 1959)
   प्रधान परिव्यय (Prime Costs) (Sagar, B Com , 1955)

---

* J. B. Clark : *Essentials of Economic Theory*.

अवसर लागत (Sagar, B. A. and B. Com., 1958)
वास्तविक लागत (Sagar, B. A., 1957)
मध्य लागत तथा सीमान्त लागत (Sagar, B. Com., 1957)
Equilibrium of a Firm (Jabalpur, B. A., 1959)
प्रधान तथा अनुपूरक लागत (Vikram, B. A., 1959)

7. Write a short note on the following so as to bring out clearly the distinction between them :—
   (a) Marginal and Average Costs.
   (b) Real and Opportunity Costs. (Raj, B. A., 1955)
8. साम्यावस्था किसे कहते हैं ? पूर्ण प्रतियोगिता में साम्यावस्था कैसे स्थापित होती है।
   (Sagar, B. A., 1959)
9. Write a note on Elasticity of Supply.
   (Delhi, B. A., 1952)
10. पूर्ण स्पर्धा का अर्थ समझाइये। (Sagar, B. A., 1957)
11. नोट लिखिए—सीमान्त आय (Marginal Revenue).
   (Sagar, B. A., 1957, Jabalpur, B. A., 1958)
12. Write a note–Total Revenue, Average Revenue and Marginal Revenue. (Bihar, B. Com., 1959)
13. Write short note on—Imperfect Competition.
   (Agra, B. A., 1951)
14. Bring out the salient features of Imperfect Competition. How does Imperfect Competition differ from Perfect Competition ?
   (Bombay, B. Com., 1953)

अध्याय ३

बाजार अथवा मण्डी

(Markets)

बाजार के अध्ययन का महत्त्व—

आर्थिक सिद्धान्तों के अध्ययन मे बाजार के विचार का बड़ा महत्त्व है। विशेष रूप से विनिमय सिद्धात मे इस विचार का विस्तृत उपयोग हुआ है। इस विचार से सम्बन्धित कई शब्दों का उपयोग होता है, जैसे—बाजार मूल्य, पूर्ण बाजार, अपूर्ण बाजार, विस्तृत बाजार, बाजार माँग, बाजार पूर्ति, इत्यादि। विनिमय के सभी कार्य प्रारम्भ से ही बाजारो या बिक्री के केन्द्रो में होते आये है। उद्योगीकरण (Industrialisation) की उन्नति उसी दशा मे हो सकती है, जबकि बाजारो का अधिक विकास हो चुका हो। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने श्रम विभाजन की एक महत्त्वपूर्ण परिसीमा का उल्लेख किया है। उनका विचार है कि श्रम-विभाजन का विस्तार बाजार के विकास से सीमित होता है,* इसलिए मूल्य सिद्धान्त (Theory of Value) के अध्ययन से पहले बाजार के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेना अति आवश्यक है।

बाजार शब्द का अर्थ—

साधारण बोल-चाल मे बाजार से अभिप्राय उस स्थान अथवा केन्द्र से होता है, जहाँ पर किसी वस्तु अथवा वस्तुओं के ग्राहक और विक्रेता जमा हो जाते हैं और खरीदने तथा बेचने का कार्य होता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण गाँव की पेठ अथवा हाट मे मिलता है। सप्ताह मे एक निश्चित दिन एक निश्चित स्थान पर विक्रेता और ग्राहक एकत्रित हो जाते हैं और बेचने-खरीदने का क्रम चलता रहता है। यही स्थान साधारण बोल-चाल मे बाजार कहलाता है। किन्तु अर्थशास्त्र में बाजार शब्द का अर्थ साधारण अर्थ से थोड़ा भिन्न होता है। कठिनाई यह है कि विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इस शब्द की अलग-अलग परिभाषायें की हैं और इन परिभाषाओ मे परस्पर अधिक विरोध पाया जाता है। इस शब्द का अर्थ करते समय दो मुख्य दृष्टिकोणो की सन्तुष्टि करना अति आवश्यक है :—प्रथम, यह देखना पड़ता है कि जो भी परिभाषा की जाय वह इस प्रकार की हो कि बाजार सम्बन्धी दूसरे विचारों से इसका विरोध न हो। विशेष रूप से मूल्य सिद्धान्त के तो यह परिभाषा अनुकूल ही होनी

---

* 'Division of labour is limited by the extent of the market.'—Adam Smith : *An Enquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations.*

चाहिये। दूसरे, यह ध्यान रखना पड़ता है कि हमारा विचार इस विचार की प्रारम्भिक आवश्यकता की पूर्णतया सन्तुष्टि करे।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों के मत—

भिन्न-भिन्न लेखकों ने बाजार की परिभाषायें इस प्रकार की हैं—सिजविक (*Sidgwick*) के *अनुसार बाजार मनुष्यों के उस समूह या समुदाय को सूचित करता है, जिनमें परस्पर इस प्रकार के वाणिज्य सम्बन्ध हों कि प्रत्येक को सुगमता से इस बात का पता चल जाय कि दूसरे मनुष्य समय-समय पर कुछ वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय किन मूल्यों पर करते रहते हैं।*[1] फ्रांसीसी लेखक कूर्नो (Cournot) का विचार है कि—"*बाजार कोई ऐसा विशेष स्थान नहीं कि जहाँ पर वस्तुयें बेची और खरीदी जाय, वरन् ऐसा कुल क्षेत्र है जिसमें विक्रेताओं और ग्राहकों के मध्य परस्पर इस प्रकार का सम्पर्क हो कि एक वस्तु की कीमत सुगमता तथा शीघ्रता से समान हो जाय।*"[2] जेवन्स (Jevons) का कथन है कि— बाजार शब्द के सामान्य अर्थ किये गये हैं, जिससे इसका अभिप्राय मनुष्यों के किसी ऐसे समुदाय से होता है, जिनके बीच घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध हो और जो किसी वस्तु में विस्तृत व्यवसाय करते हों।"[3] ऐली (Ely) के अनुसार—"बाजार वह साधारण क्षेत्र है, जिसके भीतर किसी वस्तु विशेष की कीमतों का निर्धारण करने वाली शक्तियाँ कार्यशील होती हैं।"[4] मार्शल ने बाजार की परिभाषा ही नहीं दी है। पीगू (Pigou) ने जेवन्स के दृष्टिकोण को अपनाया है। उनके विचार मे बाजार मे प्रतियोगिता का होना आवश्यक नहीं है। केवल माँग और पूर्ति का ज्ञान होना पर्याप्त है। एकाधिकारी बाजार में ही होता है और विक्रेताओं और ग्राहकों के बीच सभी प्रकार का व्यापार

1. "..... a body of persons in such commercial relations that each can easily acquaint himself with the rates at which *certain kinds of exchanges of goods or services are from time to time made* by others"—*Quoted by* J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 87.

2. "Economists understand by the term market, *not any* particular market place in which things are bought and *sold*, but the *whole of any region in which buyers and sellers are* in such free intercourse with one another that the prices of the same goods tend to equality, easily and quickly." *Quoted by* Marshall : *Principles of Economics*, p. 324.

3. "Originally, a market was a public place in a town where provisions and other objects were exposed for sale but the word has been generalised so as to mean any body of persons who are in intimate business relations and carry on extensive transactions in any commodity."—Jevons : *Theory of Political Economy*. pp. 84-85.

4. "We mean by market the general field within which the forces determining the price of a particular commodity operate."—Ely.

बाजार में ही होता है। प्रो० चैपमैन का विचार है कि—"बाजार शब्द का किसी स्थान की ओर संकेत करना आवश्यक नहीं है, परन्तु यह सदा वस्तु अथवा वस्तुओं और उनके ग्राहकों और विक्रेताओं की ओर संकेत करता है, जो कि प्रत्यक्ष एक-दूसरे से प्रतियोगिता करते हैं।"[1]

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि ऊपर दी हुई बाजार की परिभाषाओं में परस्पर महान् अन्तर है। सिजविक (Sidgwick) के अनुसार बाजार का अर्थ विक्रेताओं (Sellers) से है, जिनके मध्य प्रतियोगिता का होना आवश्यक नहीं है, केवल पूर्ण ज्ञान (Perfect Knowledge) होना चाहिए। करनो (Cournot) के विचार में बाजार एक प्रदेश (Region) को सूचित करता है, जहां पूर्ण प्रतियोगिता होनी चाहिए। जेवन्स् का अभिप्राय उन विक्रेताओं से है, जिनके बीच प्रतियोगिता सम्भव हो। ऐली का बाजार क्षेत्र को सूचित करता है, जहाँ प्रतियोगिता का होना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार पीगू (Pigou) के विचार में बाजार और एकाधिकार (Monopoly) दोनों एक साथ स्थित हो सकते हैं। ये अन्तर इतने विशाल और महत्त्वपूर्ण है कि इन पर विचार न करना भूल होगी।

ऊपर दी हुई परिभाषाओं में छः शब्दों का विशेष रूप से उपयोग किया गया है, जो इस प्रकार है—(१) स्थान या क्षेत्र, (२) ग्राहक और विक्रेता, (३) वस्तु, (४) प्रतियोगिता या स्पर्धा, (५) पूर्ण ज्ञान और (६) एक दाम। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इन सब शब्दों में से कौन-कौन से शब्द किस अंश तक तथा किस प्रकार बाजार सम्बन्धी विचार से सम्बन्धित हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र में बाजार शब्द किसी ऐसी वस्तु को सूचित करता है जिसके विक्रेताओं और ग्राहकों के बीच इस प्रकार की प्रतियोगिता हो कि जिससे उस वस्तु के दाम सभी स्थानों पर समान हो जाने की प्रवृत्ति हो।[2] इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि स्थान या क्षेत्र बाजार का एक आवश्यक अंग नहीं है, यद्यपि साधारण बोल-चाल में बाजार से अभिप्राय स्थान या जगह से ही होता है। आज-कल ग्राहकों और विक्रेताओं का किसी स्थान पर एकत्रित होना आवश्यक नहीं है। यातायात और सम्वादवाहन के साधन अब इतने बढ़ गये हैं तथा क्रमबन्धन (Grading) और निदर्शन (Sampling) के क्षेत्र में इतनी उन्नति हुई है कि विक्रेताओं और ग्राहकों के व्यक्तिगत सम्पर्क की कुछ भी आवश्यकता नहीं रही है। भारत का एक व्यापारी अपने देश से बाहर जाए बिना भी करोड़ों रुपये का माल विदेशों से मँगा सकता है।

---

1. "The term refers not necessarily to a place but always to a commodity or commodities and the buyers and sellers of the same who are in direct competition with one another."—Chapman.

2. "The term market refers to a commodity, the buyers and sellers of which are in such competition that its price tends to be the same everywhere."

के अनुसार बहुत शीघ्र परिवर्तन नहीं किये जा सकते हैं, उनका बाजार अल्पकालीन होता है।

स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजार—

स्थान के अनुसार बाजार तीन प्रकार के होते हैं—स्थानीय बाजार (Local Markets), राष्ट्रीय बाजार (National Markets) और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार (International Markets)। कुछ वस्तुओं के बाजार की सीमा बहुत संकीर्ण होती है तथा कुछ वस्तुओं के बाजार बहुत विस्तृत होते हैं। जिन वस्तुओं की मांग स्थानीय (Local) होती है या जिनके ग्राहकों और विक्रेताओं के बीच की स्पर्धा छोटे से ही क्षेत्र तक सीमित होती है, उनके बाजार स्थानीय बाजार कहलाते हैं। कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनकी मांग किसी देश या राष्ट्र भर में फैली होती है। या तो यह वस्तुयें ऐसी होती हैं कि किसी देश विशेष के लोग ही इनका उपयोग करते हैं या प्रतियोगिता का क्षेत्र विविध कारणों से देश या राष्ट्र तक ही सीमित होता है। ऐसी वस्तुओं का बाजार राष्ट्रीय बाजार (National Market) कहलाता है। उदाहरणस्वरूप, साड़ियों और धोतियों का बाजार भारतवर्ष का राष्ट्रीय बाजार है। इसी प्रकार जिन वस्तुओं की मांग संसार के प्रायः सभी देशों में होती है, उनका बाजार अन्तर्राष्ट्रीय (International) होता है। सोना, चांदी और गेहूँ इसी प्रकार की वस्तुएं हैं। यह जानने के लिए कि बाजार का विस्तार कितना है, हमें यह देखना पड़ता है कि वस्तु विशेष की कीमत की समानता का क्षेत्र कितना विस्तृत है। जब यह क्षेत्र सभी देशों तक फैला होता है तो प्रायः सभी देशों में उस वस्तु की कीमत समान ही रहती है। ऐसी दशा में उस वस्तु के बाजार को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार कहते हैं।

पूर्ण और अपूर्ण बाजार—

तीसरी प्रकार से बाजार का वर्गीकरण प्रतियोगिता के अंश के अनुसार किया जाता है। जैसे कि पहले लिखा जा चुका है, स्पर्धा का अंश शून्य (Zero) से लेकर अपरिमितता (Infinity) तक होता है, जब किसी वस्तु के विक्रेताओं के बीच प्रतियोगिता बिल्कुल नहीं होती तो उस दशा को एकाधिकार (Monopoly) कहते है। जब प्रतियोगिता अपरिमित होती है, अर्थात् पूर्ण प्रतियोगिता, तो इस दशा में वस्तु का बाजार पूर्ण बाजार हो जाता है। ग्राहकों और विक्रेताओं के मध्य जब पूर्ण प्रतियोगिता होती है तो बाजार पूर्ण (Perfect) कहलाता है। बेनहाम (Benham) का विचार है—"*कोई बाजार पूर्ण उस दशा में कहलाता है, जबकि ग्राहकों और विक्रेताओं को तुरन्त ही उन कीमतों का पता चल जाता है, जिन पर सौदा हो रहा है। प्रत्येक ग्राहक और विक्रेता को दूसरों के द्वारा दी जाने वाली अथवा माँगी हुई कीमत ज्ञात होती है। ऐसी दशा में यातायात व्यय और आयात करों को निकाल कर सारे बाजार में वस्तु की कीमत समान ही*

रहेगी।"[1] किन्तु पूर्ण प्रतियोगिता एक कल्पनात्मक विचार मात्र है, जो केवल सैद्धान्तिक जगत की वस्तु है। व्यावहारिक जीवन में न तो पूर्ण एकाधिकार (Perfect Monopoly) ही होता है और न पूर्ण प्रतियोगिता ही। हमारे चारों ओर के संसार मे अपूर्ण प्रतियोगिता ही होती है। बेनहाम के *अनुसार—"बाजार अपूर्ण उस दशा में होता है, जबकि कुछ ग्राहकों अथवा विक्रेताओं अथवा दोनों को दूसरों द्वारा माँगी अथवा दी हुई कीमतों का ज्ञान नहीं होता है।"*[2] उन सब वस्तुओं का जिनके ग्राहकों और विक्रेताओं के बीच अपूर्ण स्पर्धा होती है, बाजार भी अपूर्ण बाजार (Imperfect Market) होता है। अधिकांश वस्तुओं के बाजार इसी प्रकार के होते हैं।

किसी वस्तु का बाजार विश्वव्यापी किन दशाओं में होता है?—

आधुनिक युग मे बाजारो को विस्तृत बनाने की प्रवृत्ति एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। श्रम-विभाजन विस्तृत बाजारो के बिना कभी भी उन्नति नही कर सकता है। औद्योगिक क्रान्ति की सफलता मे विस्तृत बाजारों का बहुत अधिक हाथ रहा है। इसके साथ-साथ स्वय औद्योगिक क्रान्ति ने ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दी हैं, जिनसे बाजारो का विस्तार होता चला जाता है। रेल, तार, इत्यादि की उन्नति से औद्योगिक क्रान्ति और बाजारों के विकास दोनो को ही सहायता मिली है। बाजारों का विस्तार निम्नलिखित बातो पर निर्भर होता है।

सामान्य दशाएँ (General Conditions)—

बाजार के विस्तार के लिए पहले तो दो सामान्य (General) दशाओं की आवश्यकता होती है, जो कि इस प्रकार है:—(१) बाजारो का विकास यातायात और सवादवाहन के साधनों (Means of Transport and Communications) की उन्नति पर निर्भर होता है। जब तक माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने की सस्ती और विस्तृत सुविधायें नही होंगी, बाजार छोटे ही रहेंगे। दूर परे के स्थानो मे किसी वस्तु को बेचने का प्रश्न उस समय तक उठना ही नही है, जब तक कि रेल और डाक आदि साधनों की सुविधा न हो। (२) जब तक शासन व्यवस्था ठीक नहीं होगी, अर्थात् सुरक्षा और शान्ति का प्रबन्ध ठीक नही होगा, माल

1. "A market is said to be perfect when all the potential sellers and buyers are promptly aware of the prices at which transactions take place and all the offers made by other sellers and buyers, and when any buyer can purchase from any seller and conversly. Under such conditions the price of a commodity will tend to be the same (after allowing for all costs of transport including import duties) all over the market."—Benham : *Economics*, p. 25.

2. "A market is imperfect when some buyers, or sellers, or both are not aware of the offers made by others." *Ibid*, p. 26.

के लाने और ले जाने मे बडी कठिनाई होगी और बाजार का विस्तार नही हो पायगा। प्राचीन काल में भारतवर्ष की व्यापारिक, औद्योगिक और आर्थिक उन्नति में एक बड़ी बाधा यही थी कि सुरक्षा और शान्ति के लिये समुचित व्यवस्था न थी। व्यापारियो को माल या धन एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में सदा यह भय बना रहता था कि रास्ते मे ही वे लूट न लिये जायें।

यातायात और शान्ति व्यवस्था सामान्य दशाएं हैं, इनके अतिरिक्त कुछ विशेष गुणो के होने पर किसी वस्तु विशेष का बिक्री क्षेत्र बढ जाता है। इस प्रकार विस्तृत या विश्वव्यापी बाजार के लिए निम्नलिखित विशिष्ट दशाओं का होना आवश्यक होता है। निम्न विशेषताओं के कारण एक वस्तु का बाजार विस्तृत हो जाता है:—

(१) सर्वव्यापी माँग (Universal Demand)—केवल उसी वस्तु का बाजार विस्तृत हो सकता है, जिसकी सभी स्थानो पर माँग हो। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार उन्ही वस्तुओं का हो सकता है, जिसका उपयोग सभी देशो मे होता हो। मर्दानी धोतियों का उपयोग भारतवर्ष के बाहर के देशो में लगभग नहीं होने के बराबर है, इसलिए उनका बाजार अधिक से अधिक इसी देश मे हो सकता है, परन्तु गेहूँ, सोना, चाँदी इत्यादि वस्तुएं ऐसी हैं कि प्रायः सभी देशो मे उनकी माँग होती है, इसीलिए इन वस्तुओं के बहुत विस्तृत या अन्तर्राष्ट्रीय बाजार हैं। इसी प्रकार यदि किसी वस्तु की माँग वर्ष मे केवल कुछ महीनो में ही होती है तो बाजार के विस्तार की सम्भावना कम होगी। इसके विपरीत जिन वस्तुओं की माग साल भर बराबर बनी रहती है उनका बाजार अधिक विस्तृत होता है। अभिप्राय यह है कि वस्तु विशेष की माँग का क्षेत्र जितना ही अधिक विशाल होगा और उसकी माँग का काल जितना ही अधिक लम्बा होगा उतना ही उसका बाजार भी अधिक विस्तृत होगा।

(२) सुगमता या वहनीयता (Portability)—यदि कोई वस्तु ऐसी है कि उसको सरलता से तथा कम व्यय पर एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जा सकता है तो उसका बाजार विस्तृत हो जायगा। वहनीयता दो बातो पर निर्भर होती है। प्रथम, लघुभारता, अर्थात् थोडे बोझ मे अधिक मूल्य का होना और दूसरे, अविनाशिता या टिकाऊपन (Durability)। सर्वव्यापी माँग होते हुए भी यदि वस्तु में वहनीयता का गुण नही है, तो उसका बाजार विस्तृत नही हो सकता है। कोयले की माँग ससार के सभी देशों मे है, परन्तु कोयले का बाजार विश्वव्यापी नही है, क्योंकि कोयले को एक स्थान से दूसरे दूर के स्थान तक ले जाने में कोयले के मूल्य की तुलना मे व्यय इतना अधिक हो जाता है कि कोयले को बेचकर बहुत लाभ की आशा नहीं रहती है। यही बात ईंट, चूना, लकड़ी आदि के विषय मे भी कही जा सकती है। इसी प्रकार दूध, मक्खन, अण्डा आदि वस्तुओं का भी बाजार बड़ा सीमित होता है, क्योंकि ये वस्तुएं इतनी जल्दी खराब हो जाती हैं कि इनको दूर के स्थानो पर ले जाने में लाभ के स्थान पर हानि होती है। इसके विपरीत सोना और

चाँदी मे थोड़े भार में बहुत अधिक मूल्य भी रहता है और ये वस्तुयें जल्दी खराब हो कर मूल्यहीन भी नही होती हैं, इसलिए इनका बाजार बहुत विस्तृत होता है ।

(३) निदर्शन या नमूने भेजने की सुविधा (Suitability for Sampling)—यदि एक व्यापारी किसी दूर के स्थान से माल मँगाना चाहता है तो वह यह भी जानने को इच्छुक होता है कि जो माल वह मँगाना चाहता है वह ठीक अवस्था मे भी है तथा क्या ठीक उसी प्रकार का है जैसे की कि उसे आवश्यकता है । इस इच्छा पूर्ति का सबसे सरल उपाय तो यह है कि वह या तो स्वयं जाकर माल देखकर आदेश (Order) दे या अपने किसी प्रतिनिधि को भेज कर ऐसा करे, परन्तु इसमे व्यय बहुत अधिक होने की सम्भावना रहती है । यदि वह माल या वस्तु ऐसी है कि उसके नमूने या बानगी (Samples) भेजे जा सकते हैं, तो नमूनों के द्वारा ही माल की दशा तथा गुण और प्रकृति का अनुमान लगाया जा सकता है तथा माल का स्वय निरीक्षण करने का कष्ट और व्यय बचाया जा सकता है । इस प्रकार की सभी वस्तुओं की कि जिनके नमूने भेजे जा सकते हैं, मन्डी विस्तृत हो जाती है ।

(४) वर्गीकरण की सुविधा (Suitability for Grading)—बानगी अथवा नमूनों द्वारा वस्तु के विषय मे काफी अनुमान लगाया जा सकता है, परन्तु इस काम मे भी थोडा बहुत व्यय होता है और फिर सदा नमूने के अनुसार माल नही मिलता है । यदि कोई वस्तु ऐसी है कि उसका वर्गीकरण (Grading) हो सकता है तो उसके खरीदने में और भी अधिक आसानी होती है । यह वर्गीकरण यदि किसी विश्वसनीय अधिकारी द्वारा किया गया है, तो ग्राहक केवल वर्ग का नाम लिख कर ही माल मंगा सकता है । हमारे देश में सरकार द्वारा नियुक्त कोयला वर्गीकरण समिति (Coal Grading Board) कोयले को उसकी किस्मो के अनुसार सॉफ्ट-कोक (Soft-coke), हार्ड-कोक (Hard coke), स्टीम कोक (Steam coke), आदि वर्गों मे विभाजित कर देती है और इस बात का निरीक्षण करती है कि कोयले के उत्पादक इस वर्गीकरण के अनुसार माल रखते हैं अथवा नही । कोई भी कोयले का ग्राहक केवल वर्ग का नाम देकर अपनी आवश्यकता के अनुसार कोयला मंगा सकता है । वर्गीकरण द्वारा निरीक्षण व्यय भी बच जाता है और वस्तु के गुण और किस्म के बारे मे भी विश्वास किया जा सकता है । जिन वस्तुओं का वर्गीकरण हो सकता है उनका बाजार अधिक विस्तृत होता है ।

वर्तमान युग मे बाजार के विस्तार पर तीन और भी बातों का प्रभाव पड़ता है, जो निम्न प्रकार है :—

(१) देश की मुद्रा और साख प्रणाली (The Currency and Credit System of the Country)—बाजार के विस्तार के लिए यह भी प्रायः आवश्यक होता है कि देश मे बैंकिंग और साख (Credit) सम्बन्धी विस्तृत सुविधायें उपलब्ध हो । धन को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने की भी सस्ती और

सुरक्षित सुविधाएं होनी चाहिए। आधुनिक काल में इन सुविधाओं के विकास ने बाजार के सामान्य विकास की सम्भावना को अधिक बढ़ा दिया है।

(२) राजकीय नीति (State Policy)—वर्तमान युग में राज्य द्वारा आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करने की उपयुक्तता लगभग सभी स्वीकार करते हैं। सरकारी नीति के फलस्वरूप बाजार का विस्तार भी हो सकता है और उसका संकुचन भी। यदि ऊँचे आयात कर (Import Duties) अथवा निर्यात कर (Export Duties) लगाये जाते है, तो बाजारों का संकुचन होगा। ठीक इसी प्रकार व्यापार पर लगाये गये लगभग सभी प्रकार के प्रतिबन्ध बाजार के संकुचन की प्रवृत्ति रखते हैं। यदि सरकारी नीति आन्तरिक और विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में उदारता की नीति है तो बाजारो का विस्तार होगा।

(३) श्रम-विभाजन का अंश (Degree of Division of Labour)—एक पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि श्रम-विभाजन का अंश बाजार के विस्तार पर निर्भर होता है। परन्तु इसके विपरीत यह भी सत्य है कि श्रम-विभाजन के अंश का बाजार के विस्तार पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। जितना ही श्रम-विभाजन अधिक होगा उतना ही उत्पादन बढ़ेगा और वस्तुओं की कीमत घटेगी क्योंकि श्रम-विभाजन में उत्पादन व्यय को कम करने का गुण होता है। ऐसी दशा में बाजार के विस्तार की सम्भावना स्वयं ही बढ़ जाती है।

QUESTIONS

1. Define the term 'market' and discuss the factors which determine the extent of market for a commodity. (Raj., B. Com., 1951)
2. बाजार (विपणि Market) की परिभाषा दीजिए। आधुनिक युग में बाजारों के विस्तृत होने के क्या कारण हैं? (Jabalpur, B. A., 1958)
3. बाजार शब्द की व्याख्या कीजिए। निम्नलिखित वस्तुओं के बाजार के आकार के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट कीजिए—सोना, दूध, दुर्लभ चित्र, रिजर्व बैंक के हिस्से, मकान। (Vikram, B. A., 1959)
4. What is meant by 'market' in Economics? Distinguish between a perfect and an imperfect market. (Alld., B. A., 1950)
5. Write short note on—Imperfect Markets. (Delhi, B. A., 1950)
6. Discuss the conditions for a wide market giving two illustrations each of commodities enjoying (a) Local Market, (b) Provincial Market, (c) National Market and (d) World Market. (Agra, B. A., 1955 S and 1949)
7. Write a short note on—Short and long period market. (Agra, B. A., 1952, 1950 and 1946)
8. Write a note on—Very Long Period Market. (Raj., B. A., 1957)

अध्याय ४

मूल्य का सिद्धान्त

(The Theory of Value)

एडम स्मिथ का वर्गीकरण—

एडम-स्मिथ ने दो प्रकार के मूल्य का वर्णन किया है—उपयोग का मूल्य (Value-in-use) तथा विनिमय मूल्य (Value-in-exchange)। उपयोग के मूल्य से उनका अभिप्राय किसी वस्तु की आवश्यकता पूर्ति की शक्ति (Want-satisfying power) से है। दूसरे शब्दों में, उपयोग के मूल्य का ठीक वही अर्थ है, जो उपयोगिता (Utility) शब्द का है। आधुनिक अर्थशास्त्र में इस शब्द के स्थान पर उपयोगिता शब्द ही अधिक प्रचलित है। इसके विपरीत विनिमय मूल्य का आशय वस्तु की विनिमय शक्ति से है। बहुधा यह देखा जाता है कि किसी एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तुयें और सेवायें प्राप्त की जा सकती हैं। सच तो यह है कि आजकल के युग में अधिकांश वस्तुओं और सेवाओं की उत्पत्ति उपभोग के लिए नहीं की जाती, वरन् विनिमय के लिए ही की जाती है। आधुनिक युग श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण का युग है। प्रत्येक उत्पादक इस बात का प्रयत्न करता है कि ऐसी वस्तुएँ अथवा सेवाएँ उत्पन्न करे, जिसमें उसे विशेष दक्षता अथवा सुविधा प्राप्त हो और फिर अपने उपभोग की अन्य वस्तुएँ विनिमय द्वारा प्राप्त करे। विनिमय-मूल्य से हमारा आशय किसी वस्तु की उस शक्ति से होता है, जो उसे उसके बदले में दूसरी वस्तुओं अथवा सेवाओं को प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करती है। इस मूल्य का माप बदले में मिलने वाली वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा के बराबर होता है। आधुनिक अर्थशास्त्र में विनिमय मूल्य को ही 'मूल्य' का नाम दिया गया है। इस अध्याय में तथा आगे के और सब अध्यायों में मूल्य शब्द विनिमय मूल्य के अर्थ में ही उपयोग किया जायेगा। उपयोग के मूल्य के स्थान पर केवल उपयोगिता शब्द का उपयोग होगा, क्योंकि यही शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

मूल्य तथा कीमत में भेद—

इसी सम्बन्ध में मूल्य (Value) तथा कीमत अथवा दाम का भेद बता देना भी आवश्यक है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, मूल्य शब्द केवल किसी वस्तु की विनिमय शक्ति को सूचित करता है। इसकी माप वस्तु या सेवा की उस मात्रा के बराबर होती है, जो विनिमय द्वारा किसी वस्तु के बदले में प्राप्त की जा सकती है। परन्तु यह भी सम्भव है कि किसी वस्तु अथवा सेवा के बदले में जो दूसरी वस्तु प्राप्त

की जा रही हो, वह मुद्रा (Money) हो। ऐसी दशा में मूल्य की माप मुद्रा में होगी। मूल्य की मौद्रिक माप को हम अर्थशास्त्र में कीमत कहते हैं। इस प्रकार मूल्य और कीमत में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि मूल्य की माप सदा वस्तुओं और सेवाओं में की जाती है और कीमत की मुद्रा में। अब क्योंकि मुद्रा भी एक वस्तु ही है, इसलिए कीमत मूल्य का ही एक विशेष रूप है। उदाहरणस्वरूप, यदि दो कुर्सियों के बदले में एक मेज मिलती है तो दो कुर्सी का मूल्य एक मेज होगा। अब यदि दो कुर्सी दस रुपये में बिकती हैं तो दो कुर्सी की कीमत दस रुपये कहलायेगी। स्मरण रहे कि पहली दशा में एक मेज की कीमत भी दस ही रुपये होगी। तभी जाकर वह दो कुर्सी से बदली जायेगी। इस प्रकार मूल्य और कीमत में भेद होते हुए भी इन भेद का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। लगभग सभी आर्थिक लेखकों ने एक शब्द के स्थान पर दूसरे का उपयोग करने में संकोच नहीं किया है। इस पुस्तक में भी आगे चलकर इन दोनों शब्दों के उपयोग में कोई विशेष सावधानी नहीं बरती गई है।

मूल्य का निर्धारण किस प्रकार होता है?—

बाजार में प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस वस्तु की माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होता है। एक ओर तो वस्तुओं के खरीदने वाले होते हैं, जो अपनी आवश्यकता, क्रयःशक्ति, रुचि आदि के अनुसार वस्तु को खरीदते हैं। दूसरी ओर वस्तु के बेचने वाले होते हैं, जो अपनी लागत के अनुसार वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्रायें बेचने के लिए प्रस्तुत करते हैं। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि माँग सदा भाव या कीमत (Price) से सम्बन्धित होती है। बाजार में एक निश्चित समय में किसी वस्तु की प्रत्येक इकाई की किसी एक कीमत पर माँग होती है। माँग की अनुसूचि (Demand Schedule) के देखने से हमें पता चल सकता है कि एक निश्चित माँग बाजार में किस भाव पर होगी। दूसरे शब्दों में, हमें यह पता चल जाता है कि किसी निश्चित मात्रा में वस्तु किन दामों पर खरीदी जाती है। माँग का नियम हमें बताता है कि साधारणतया ऊँचे दामों पर खरीदने वालों की संख्या कम होती है और नीचे दामों पर यह संख्या अधिक होती है। अधिक इकाइयाँ बेचने के लिये दामों का कम करना बहुधा आवश्यक होता है। एक निश्चित माँग जिस कीमत पर होती है, उस कीमत को हम माँग का भाव या माँग की कीमत (Demand Price) कहते हैं। यह माँग की कीमत, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, माँग की अधिक मात्रा के साथ-साथ घटती जाती है, यद्यपि कुछ वस्तुओं में इसके घटने की गति अधिक होती है और कुछ में कम। माँग की कीमत किस वेग से घटती है, यह वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर होता है। अधिक लोच की दशा में माँग की कीमत में अधिक तेजी के साथ परिवर्तन होते हैं।

ठीक इसी प्रकार प्रत्येक इकाई के लिए पूर्ति कीमत (Supply Price) भी होती है। किसी वस्तु की पूर्ति की कीमत उस कीमत के बराबर होती है जिस पर

बेचने वाला उस इकाई को बेचने के लिए तैयार होता है। निश्चय है कि प्रत्येक बेचने वाले का उत्पादन व्यय समान नहीं होता है, इसलिए वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्राओं की पूर्ति की कीमत में अन्तर होता है। पूर्ति का नियम हमें बताता है कि ऊँचे दामों पर पूर्ति की मात्रा अधिक होती है और दामों के गिरने के साथ-साथ पूर्ति की मात्रा कम होती चली जाती है। इसी बात को दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि अधिक मात्रा के साथ-साथ पूर्ति मूल्य घटता जाता है। पूर्ति की अनुसूचि पर एक दृष्टि डालने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। अधिक पूर्ति के साथ-साथ कीमत किस तेजी से घटती है अथवा कम पूर्ति के साथ-साथ पूर्ति मूल्य मे किस प्रकार परिवर्तन होते हैं, यह पूर्ति की लोच (Elasticity of Supply) पर निर्भर होता है। जिन वस्तुओं की पूर्ति अधिक लोचदार होती है, उनके पूर्ति मूल्य मे शीघ्र तथा अधिक वेग से परिवर्तन होते हैं और इसके विपरीत जिस वस्तु की पूर्ति बेलोच होती है उनके पूर्ति मूल्य में बहुत कम परिवर्तन होते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि बाजार मे किसी वस्तु के मूल्य का निर्धारण किस प्रकार होता है। यह तो सभी जानते हैं कि विनिमय के लिए दो पक्षों अथवा खरीदने वालों और बेचने वालो का होना आवश्यक होता है। प्रत्येक ग्राहक साधारणतया इस बात का प्रयत्न करता है कि कम से कम कीमत पर वस्तु को खरीद ले। दूसरी ओर प्रत्येक विक्रेता अपनी वस्तु की अधिक से अधिक कीमत प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार खरीदने वालों और बेचने वालों मे एक प्रकार की खींचा-तानी होती है। दोनों पक्षों में से प्रत्येक दामों को अपने लिए अधिक अनुकूल बनाना चाहता है। इस खींचा तानी मे एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। ग्राहक खाली हाथ लौटना नहीं चाहता और विक्रेता यथासम्भव वस्तु को बेचना चाहता है। *वस्तु का मूल्य या कीमत ग्राहकों और विक्रेताओं की इस खींचा-तानी द्वारा निर्धारित होती है। दूसरे शब्दों में, एक ओर तो माँग की शक्ति होती है और दूसरी ओर पूर्ति की शक्ति। ये दोनों शक्तियाँ मूल्य को अपनी अनुकूल दिशाओं में खींचती हैं और अन्त में मूल्य एक निश्चित बिन्दु पर आ टिकता है।*

साम्य की कीमत अथवा माँग और पूर्ति का नियम (Equilibrium Price or the Law of Demand and Supply)—

वह दशा जिसमे माँग और पूर्ति की शक्तियां एक दूसरे के बल को इस प्रकार नष्ट (Neutralise) कर देती हैं कि स्थिर या स्थैतिक (Static) परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, साम्य की दशा कहलाती है। साम्य की दशा में माँग और पूर्ति की मात्रायें बराबर हो जाती हैं, अर्थात् जितनी किसी वस्तु की मांग होती है उतनी ही उसकी पूर्ति भी होती है। यह उसी दशा मे सम्भव है, जबकि माँग और पूर्ति की कीमतें समान हों। ऐसी दशा में उस माँग की कीमत वाला कोई भी ग्राहक निराश नहीं लौटेगा और न ही उस पूर्ति के मूल्य पर बेचने वाले किसी विक्रेता के पास माल बिना बिके रहेगा। एक उदाहरण के द्वारा यह बात अच्छी प्रकार समझ मे आ

जाएगी। मान लीजिए कि विनिमय की जाने वाली वस्तु कपड़ा है, जिसकी मांग और पूर्ति की अनुसूचियाँ निम्न प्रकार हैं :—

मांग की अनुसूचि		पूर्ति की अनुसूचि	
कीमत प्रति गज (रुपयों में)	मांग की मात्रा (गजों में)	कीमत प्रति गज (रुपयों में)	पूर्ति की मात्रा (गजों में)
०·७५	१५,०००	२·५०	१६,०००
१·००	१४,०००	२·२५	१५,०००
१·२५	१२,०००	२·००	१३,०००
१·५०	१०,०००	१·७५	१२,०००
		१·५०	१०,०००
१·७५	७,०००	१·२५	७,०००
२·००	४,०००	१·००	४,०००
२·२५	३,०००	०·७५	२,०००
२·५०	१,०००		

इन दोनों अनुसूचियों को देखने से ज्ञात होता है कि साम्य की दशा मे मूल्य या कीमत १·५० रुपया प्रति गज होगी। इस मूल्य पर ही मांग की मात्रा पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है। ग्राहक इस कीमत पर १०,००० गज कपडा खरीदना चाहते हैं और विक्रेता भी १०,००० गज कपड़ा ही बेचना चाहते हैं, जिसका अभिप्राय यह होगा कि कोई भी ग्राहक निराश नही लौटेगा और इसी प्रकार किसी भी विक्रेता का माल बिना बिके नही रहेगा। यदि मूल्य १·५० रुपये प्रति गज मे अधिक होता है, अर्थात् मान लीजिये कि वह १·७५ रुपया प्रति गज होता है तो ऐसी दशा मे १२,००० गज कपड़ा बेचने के लिए प्रस्तुत किया जायगा, परन्तु ग्राहक केवल ७,००० गज कपड़ा ही खरीदने को तैयार होंगे, अतः दूकानदारो के पास ५,००० गज कपड़ा बिना बिके रह जायेगा, जो वे कभी भी नही चाहेंगे। इसलिए बेचने की उत्सुकता मे वह कम दाम लेने को तैयार हो जायेंगे, जिससे कीमतें गिरेंगी और मूल्य स्थिर नही रहेगा। इसके विपरीत यदि कीमत १·५० रुपया प्रति गज से कम है, अर्थात् यदि वह १·२५ रुपया प्रति गज है तो इस कीमत पर मांग १२,००० गज कपड़े की होगी, जबकि केवल ७,००० गज कपडा बिकने को आयेगा। ऐसी दशा मे कुछ ग्राहकों को निराश लौटना पड़ेगा, जो कपड़े को प्राप्त करने के लिए अधिक दाम देने को तैयार हो जायेंगे। इस प्रकार दामो के बढने की सम्भावना रहेगी और यह मूल्य भी स्थिर नही रहेगा। स्थिर मूल्य केवल १·५० रुपया प्रति गज ही होगा, क्योंकि इसी मूल्य पर मांग और पूर्ति की मात्राएँ बराबर होती हैं। इस प्रकार के मूल्य को साम्य की कीमत (Equilibrium Price) कहते हैं।

ऊपर दी हुई विवेचना से पता चलता है कि मूल्य का निर्धारण करने में मांग और पूर्ति की शक्तियों का बड़ा महत्त्व है। इन शक्तियों की परस्पर खींच-तान के कारण ही मूल्य का निर्णय होता है और फिर यह मूल्य स्थिर उस दशा में होता है, जबकि ये दोनों शक्तियां एक दूसरे के बल को पूर्णतया नष्ट करके साम्य की दशा उपस्थित कर देती हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कीमत मांग और पूर्ति द्वारा निश्चित होती है और साम्य की दशा मे यह उस बिन्दु पर निर्धारित होती है, जहां पर किसी वस्तु की मांग और पूर्ति की मात्राएं बराबर होती हैं। संक्षेप में, मूल्य का सिद्धान्त यही है। इसी सिद्धान्त को मूल्य का मांग और पूर्ति का सिद्धान्त भी कहा जाता है।

स्पष्टीकरण के लिए इस सिद्धान्त को रेखा-चित्र द्वारा भी चित्रित किया जाता है। मांग और पूर्ति की अनुसूचियों के आधार पर मांग और पूर्ति की वक्र रेखायें खींची जा सकती हैं। अब जिस स्थान पर ये दोनो रेखायें एक दूसरे को काटती हैं, उसी स्थान पर साम्य की कीमत का निर्धारण होगा, क्योंकि उसी स्थान पर वस्तु की मांग और पूर्ति बराबर होगी। इसी कारण केवल यही कीमत स्थिर होगी। अन्य किसी कीमत मे स्थिरता नही आ सकती है।

नीचे के रेखा-चित्र मे मूल्य के सिद्धान्त का चित्रण किया गया है। अ क रेखा पर वस्तु की इकाइयां नापी गई हैं और अ ख पर कीमतें।
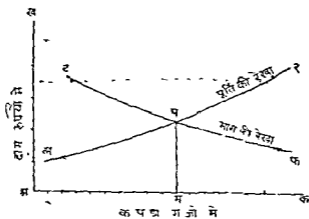
इस चित्र में मांग और पूर्ति की रेखाएं प बिन्दु पर एक दूसरी को काटती हैं, अतः साम्य की दशा में कपड़े की कीमत प म के बराबर होगी। इस कीमत पर कपड़े की अ म इकाइयों की मांग होती है, जबकि पूर्ति भी ठीक इतनी ही है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या मांग और पूर्ति की रेखाओं का एक दूसरे को काटना आवश्यक है? यदि हम मांग और पूर्ति की रेखाओं की प्रकृति और गुणों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो इस प्रश्न का उत्तर बड़ा ही सरल है। जैसा कि पिछले अध्याय में भी बताया जा चुका है कि मांग की रेखा ऊपर से नीचे की ओर जाती है।

माँग की वक्र रेखा एक गिरती हुई रेखा होती है, क्योंकि माँग का नियम हमे बताता है कि कीमत के गिरने के साथ-साथ माँग की मात्रा बढती जाती है। ऊपर के चित्र से साफ-साफ दिखाई पड़ता है कि ट फ रेखा पर ट से फ की ओर चलते समय जैसे-जैसे कीमत कम होती जाती है, माँग की मात्रा बढती जाती है। इसके विपरीत पूर्ति की रेखा की दिशा माँग की वक्र रेखा के बिल्कुल प्रतिकूल होती है। पूर्ति की रेखा एक ऊपर को उठती हुई रेखा होती है, अर्थात् वह नीचे से ऊपर की ओर जाती है। पूर्ति का नियम है कि कीमत के बढने के साथ साथ पूर्ति की मात्रा बढती चली जाती है। ल र रेखा इस बात की पुष्टि करती है। इस रेखा पर यदि हम ल से र की ओर जायें तो कीमत की प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ पूर्ति की मात्रा भी बढती जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि माँग और पूर्ति की रेखाओं की दिशा एक दूसरे के विपरीत होती है। ऐसी रेखाएं, जबकि वे एक ही सम (Plane) पर खींची जाती हैं, एक दूसरे को अवश्य काटती है और जिस बिन्दु पर ये दोनो रेखायें एक दूसरे को काटती हैं वही पर साम्य की कीमत निर्धारित होती है।

साम्य की कीमत में परिवर्तन—

इस सम्बन्ध मे इस बात को भी ध्यान मे रखना आवश्यक है कि साम्य की कीमत कभी बदलती न हो, ऐसी बात नही है। प्रत्येक वस्तु की माँग और पूर्ति में परिवर्तन होते रहते हैं। माँग अनेक कारणो से घटती-बढती रहती है और ठीक इसी प्रकार पूर्ति भी सदैव स्थिर नही रहती है। माँग और पूर्ति की रेखाओ के गुण और स्थान बदलते रहते है। इन परिवर्तनों के साथ ही साथ कीमत मे भी परिवर्तन होते रहते हैं। साम्य का मूल्य भी सदा स्थिर नही रहता। सच तो यह है कि बहुधा पुराना साम्य भङ्ग होकर नया साम्य स्थापित होता रहता है। कीमत मे कितना परिवर्तन होगा, यह माँग और पूर्ति के तुलनात्मक परिवर्तन (Relative Change) के वेग पर निर्भर रहता है और माँग और पूर्ति के बदलने का वेग उनकी लोच पर आधारित होता है। यदि माँग और पूर्ति की लोच समान है, तो दोनों मे परिवर्तन होने पर भी मूल्य स्थिर रह सकता है, किन्तु यदि माँग और पूर्ति की लोच मे भिन्नता है, जिसके कारण दोनो मे असमान परिवर्तन होते हैं तो ऐसी दशा मे निश्चय ही मूल्य या कीमत मे भी परिवर्तन हो जायेंगे। उदाहरणस्वरूप, यदि माँग बढती है और पूर्ति बेलोच है, तो वस्तु के दाम ऊपर चढ जायेंगे, क्योंकि ऐसी दशा में माँग की रेखा ऊपर की ओर खिसक जायगी, जबकि पूर्ति की रेखा अपने स्थान पर बनी रहेगी। ठीक इसी प्रकार जब पूर्ति के परिवर्तन की गति माँग के परिवर्तनो के वेग की अपेक्षा कम होती है तो माँग बढ जाने पर कीमत बढ जाती है। इसके विपरीत माँग के घटने की दशा में कीमत भी कम हो जाती है।*

* "The price may be tossed hither and thither like a shuttlecoke as one side or the other side gets the better in the higgling and bargaining of the market."—Marshall.

माँग, पूर्ति और मूल्य परस्पर सम्बन्धित हैं—

ऊपर की विवेचना से पता चलता है कि माँग और पूर्ति की आकर्षण शक्तियों के परिवर्तन के फलस्वरूप मूल्य में भी परिवर्तन होता रहता है, परन्तु यह कह देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि स्वय मूल्य का परिवर्तन भी माँग और पूर्ति पर अपना प्रभाव अवश्य डालता है। माँग और पूर्ति के नियमों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि मूल्य के बदलने के कारण माँग और पूर्ति दोनो ही बदला करते हैं। यदि किसी कारण कीमत बढ जाती है तो माँग साधारणतया कम हो जाती है और इसके विपरीत पूर्ति में बढ़ जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः इस बात का निर्णय करना कठिन होता है कि कीमत मे जो परिवर्तन होते हैं, उनका कारण माँग और पूर्ति के परिवर्तन होते हैं अथवा स्वयं माँग और पूर्ति के परिवर्तन मूल्य-परिवर्तन पर निर्भर होते हैं। कौनसा कारण है तथा कौनसा परिणाम, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता है। माँग, पूर्ति और मूल्य तीनो मे निकटतम् सम्बन्ध है। एक की दूसरे पर निर्भरता स्पष्ट है। अधिक से अधिक हम इतना कह सकते है कि ये तीनों परस्पर सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध को ध्यान मे रखना बड़ा आवश्यक है। इनमें से साधारणतया किसी भी एक का महत्त्व दूसरे से अधिक नही होता, यद्यपि परिस्थिति विशेष मे किसी एक का प्रभाव बढ सकता है।

माँग और पूर्ति सम्बन्धी नियम (Laws of Demand and Supply)—

मूल्य के निर्धारण की उपरोक्त विवेचना के पश्चात् अब हम मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध मे माँग और पूर्ति के नियमो को और अधिक व्याख्या कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में बेनहाम ने माँग और पूर्ति के चार नियमो का उल्लेख किया है, यद्यपि उन्होने स्पष्ट रूप मे यह बताया है कि अर्थशास्त्र के अन्य नियमो को भाँति ये नियम भी केवल सामान्य प्रवृत्ति को ही दिखाते हैं। नियम इस प्रकार हैं:—

(१) कीमत वस्तु की उस मात्रा मे, जो विक्रेता बेचने को प्रस्तुत करते हैं और ग्राहक खरीदने के लिए तैयार रहते हैं, समानता स्थापित करने की प्रवृत्ति रखती है।

(२) साधारणतया एक नीची कीमत पर ऊँची कीमत की तुलना मे किसी वस्तु की अधिक मात्रा की माँग की जाती है और ऊँची कीमत पर नीची कीमत की तुलना मे उसकी अधिक मात्रा विक्री के लिए प्रस्तुत की जाती है।

(३) माँग के बढ़ जाने की दशा में कीमत बढने लगती है और साथ ही पूर्ति की मात्रा भी; इसके विपरीत माँग के घटने से कीमत और पूर्ति दोनो मे घटने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

(४) पूर्ति के बढने से कीमत घटती है और माँग मे बढ़ने की प्रवृत्ति आ जाती है; पूर्ति के घटने से कीमत बढ़ती है और माँग भी घटने लगती है।

इसी बात का मेयरस् ने निम्न प्रकार स्पष्टीकरण किया है:—

"यदि अन्य बातें यथास्थित रहें तो माँग की वृद्धि कीमत तथा विनिमय की

जाने वाली वस्तु की मात्रा दोनों को बढ़ाने की प्रवृत्ति रखती है और मांग का घटना कीमत और विनिमय की मात्रा दोनों को घटा देता है। मांग के एक निश्चित परिवर्तन के फलस्वरूप जितनी ही पूर्ति अधिक लोचदार होगी, उतनी ही कीमत में अनुपाती परिवर्तन कम होगा और विनिमय की मात्रा में उतना ही अधिक अनुपाती परिवर्तन होगा। पूर्ति जितनी ही कम बेलोच होगी, कीमत का अनुपाती परिवर्तन उतना ही अधिक होगा और विनिमय की मात्रा का अनुपाती परिवर्तन उतना ही कम होगा।"* इससे स्पष्ट है कि यदि पूर्ति पूर्णतया लोचदार (Perfectly elastic) है तो ऐसी दशा में मांग के बढ़ने पर कीमत में वृद्धि नहीं होगी, केवल विनिमय की मात्रा बढ़ जायेगी। इसके विपरीत यदि पूर्ति पूर्णतया बेलोच (Perfectly inelastic) है तो मांग के बढ़ने की दशा में कीमत तो बढ़ जायेगी, किन्तु विनिमय की मात्रा यथास्थित रहेगी। इन दोनों बातों को मेयरस् ने दो रेखा-चित्रों द्वारा स्पष्ट किया है, जो निम्न प्रकार हैं :—

चित्र नं० १ चित्र नं० २
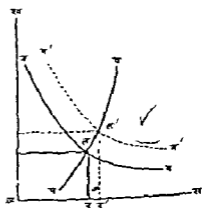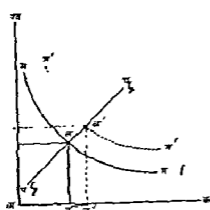
दोनों चित्रों में प प पूर्ति की रेखा है। म म मांग की प्रारम्भिक रेखा है और म′ म′ बढ़ जाने की दशा में मांग की रेखा है। दोनों ही दशाओं में मांग में समान परिवर्तन दिखाया गया है, परन्तु वस्तु की पूर्ति की लोच में अन्तर है। दोनों में कीमत का परिवर्तन ल र से ल′ र′ है और विनिमय की मात्रा का परिवर्तन अ र

* "Other conditions remaining unchanged, an increase in demand has the tendency to increase both price and quantity exchanged. With a given change in demand, the more elastic the supply, the less will be the proportionate change in price and greater the proportionate change in quantity exchanged. The less elastic the supply, the greater will be the proportionate change and less the proportionate change in quantity exchanged."—Albert Meyers : *Elements of Modern Economics*, p 130.

अ' र' । निश्चय है कि पहले चित्र में दूसरे की तुलना में कीमत का परिवर्तन कम है और मात्रा का परिवर्तन अधिक है ।

इसी प्रकार मैयरस् ने पूर्ति के परिवर्तनों के प्रभाव का भी अध्ययन किया है । वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "यदि अन्य बातें यथास्थित रहे तो पूर्ति की एक वृद्धि कीमत को घटाने और विनिमय की मात्रा को बढाने की प्रवृत्ति रखेगी; इसके विपरीत पूर्ति की कमी कीमत को बढाने तथा विनिमय की मात्रा को घटाने की प्रवृत्ति रखेगी । पूर्ति के एक निश्चित परिवर्तन के फलस्वरूप जितनी ही माँग अधिक लोचदार होगी उतना ही कीमत का अनुपाती परिवर्तन कम होगा तथा विनिमय की मात्रा का अनुपाती परिवर्तन अधिक होगा । इसके विपरीत माँग जितनी ही कम लोचदार होगी कीमत का अनुपाती परिवर्तन उतना ही अधिक होगा तथा विनिमय की मात्रा का अनुपाती परिवर्तन उतना ही कम होगा ।"* यदि माँग पूर्णतया लोचदार हो और पूर्ति बढ जाय तो इससे कीमत नही गिरेगी, बल्कि विनिमय की मात्रा बढ़ जायेगी । इसके विपरीत यदि माँग पूर्णतया बेलोच है तो पूर्ति की वृद्धि के फलस्वरूप कीमत तो घट जायेगी, परन्तु विनिमय की मात्रा में परिवर्तन नही होगा । नीचे के दोनों रेखाचित्र स्थिति को स्पष्ट करते हैं :—
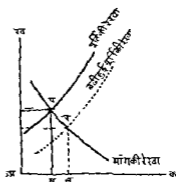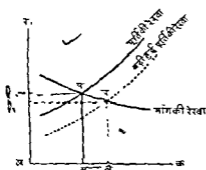
चित्र नं० १ मे लोचदार माँग की दशा मे पूर्ति की वृद्धि का प्रभाव दिखाया गया है और चित्र नं० २ मे पूर्ति की उतनी ही वृद्धि का प्रभाव बेलोच माँग के सम्बन्ध

* Other conditions remaining unchanged, an increase in supply will have a tendency to decrease price and to increase quantity exchanged, a decrease in supply will have a tendency to increase price and to decrease quantity exchanged. With a given change in supply, the more elastic the demand, the less will be the proportionate change in price and the greater the proportionate change in the quantity exchanged. The less elastic the demand, the greater will be the proportionate change in price and the less will be the proportionate change in the quantity exchanged—*Ibid*, p. 133.

में दिखाया गया है। निश्चय है कि पहले चित्र में दूसरे की तुलना में म ल (विनिमय की मात्रा) की वृद्धि अधिक होती है और कीमत में जो प म से घट कर र ल रह जाती है, कम अंश तक परिवर्तन होता है।

जब माँग और पूर्ति दोनों में परिवर्तन होते हैं—

उपरोक्त विवेचना के आधार पर प्रो० मेयरस् ने माँग और पूर्ति दोनो के परिवर्तनो के सम्बन्ध में निम्न सिद्धान्त निश्चित किये हैं :—*

(१) यदि माँग और पूर्ति दोनो मे एक ही दिशा मे परिवर्तन होते हैं तो दोनो एक दूसरे के प्रभाव को इस प्रकार नष्ट कर देंगे कि कीमत पर कोई प्रभाव न पडे, परन्तु विनिमय की मात्रा पर अधिक प्रभाव पडे।

(२) यदि माँग और पूर्ति दोनो मे एक ही दिशा में परिवर्तन होते हैं, परन्तु एक मे दूसरे से अधिक परिवर्तन होते हैं तो जिसमे अधिक परिवर्तन होते है उसका प्रभाव भी अधिक पडेगा, परन्तु यहाँ भी कीमत पर प्रभाव कम रहेगा और विनिमय की मात्रा पर प्रभाव अधिक पड़ेगा।

(३) यदि माँग और पूर्ति में प्रतिविरोधी दिशाओ मे परिवर्तन होते हैं तो परिणाम यह होगा कि दोनो एक दूसरे की कीमत पर पडने वाले प्रभाव को बढा देंगे और विनिमय की मात्रा पर पडने वाले प्रभाव को घटा देंगे।

(४) यदि माँग और पूर्ति दोनो मे प्रतिविरोधी दिशाओ मे परिवर्तन होते हैं, परन्तु एक मे दूसरे से अधिक अंश तक परिवर्तन होते है तो जिसमे अधिक अंश तक परिवर्तन होता है उसी का प्रभाव भी अधिक पडेगा। किन्तु इस दशा मे कीमत पर अधिक प्रभाव पड़ेगा और विनिमय की मात्रा पर कम।

माँग और पूर्ति की विवेचना—

यह तो हम पहले देख चुके हैं कि मूल्य के निर्धारित करने में माँग और पूर्ति दोनो का ही हाथ रहता है। अब हम यह देखेंगे कि माँग और पूर्ति स्वय किन बातो पर निर्भर रहते हैं। माँग पर वस्तु की उपयोगिता का प्रभाव पडता है। माँग उन्ही वस्तुओं की होती है जो उपयोगी होती हैं, अर्थात् जो मनुष्य की आवश्यकताओ को पूरा करती हैं। साथ ही, जितनी ही किसी वस्तु की उपयोगिता अधिक होती है, उतनी ही साधारणतया उसकी माँग भी अधिक होती है। दूसरी ओर यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि किसी वस्तु का मूल्य हम उससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता के अनुसार ही देने को तैयार होते हैं। जिस वस्तु के उपभोग से हमें कम सन्तोष मिलने की आशा होती है अथवा जिस वस्तु के लिए हमारी आवश्यकता बहुत तीव्र नही होती है, उसके लिए हमारी माँग भी अधिक आग्रहपूर्ण नही होती और न ही ऐसी वस्तु के लिए हम बहुत ऊँची कीमत देने को तैयार होते है। इसलिए कुछ लोगो का कथन है कि कीमत या दाम सदा उपयोगिता के अनुपातिक (Proportional) होते हैं।

* Albert Meyers : *Elements of Modern Economics*, pp 133-35.

परन्तु स्मरण रहे कि उपयोगिता तीन प्रकार की होती है, अर्थात् कुल, औसत और सीमान्त। कीमत पर उपयोगिता का जो प्रभाव पड़ता है, वह केवल सीमान्त उपयोगिता द्वारा ही उपस्थित किया जाता है। यह उपयोगिता उपभोग की अन्तिम इकाई द्वारा प्राप्त होती है। कीमत के निर्धारण मे इसी का महत्त्व है। जब हम इस बात का निर्णय करते हैं कि वस्तु विशेष की आठवी इकाई को खरीदें या नही, तो निश्चय ही हम आठवी इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता से ही प्रभावित होते हैं और यह भी निश्चय है कि इस दशा में आठवी इकाई ही उपभोग की अन्तिम इकाई होगी। इससे पता चलता है कि कीमत पर केवल सीमान्त उपयोगिता का ही प्रभाव पड़ता है। वस्तु की प्रत्येक इकाई की कीमत इस प्रकार उसकी सीमान्त उपयोगिता की ही अनुपातिक होती है। ग्राहक एक और इकाई द्वारा प्राप्त उपयोगिता तथा मुद्रा के रूप मे दी गई उपयोगिता की तुलना करता है और वस्तु को उसी मात्रा तक खरीदता है, जहाँ वस्तु से प्राप्त उपयोगिता बदले मे दी जाने वाली मुद्रा की उपयोगिता के बराबर हो। सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य देने की दशा में ग्राहक को उपयोगिता की हानि होती है। इस प्रकार सीमांत उपयोगिता मूल्य की ऊपरी सीमा निश्चित करती है।

इसी आधार पर मांग की वक्र रेखा के स्थान पर उपयोगिता की वक्र रेखा का उपयोग किया जाता है। यथार्थ में मांग की रेखा तथा उपयोगिता की रेखा के गुण, रूप तथा दिशा एक ही होते हैं, परन्तु इस सम्बन्ध मे एक बड़ी कठिनाई यह है कि उपयोगिता की सही माप सम्भव नही है। उपयोगिता तो एक मानसिक विचार मात्र है, जिसकी मुद्रा मे माप नही हो सकती है। हम यह तो अनुमान लगा सकते हैं कि उपयोगिता कम मिली या अधिक, किन्तु यह अनुमान लगाना कठिन है कि उपयोगिता वास्तव मे कितनी है। उपयोगिता की प्रत्येक इस प्रकार की माप बहुधा अनुमानजनक या कल्पनात्मक होती है। इस प्रकार उपयोगिता के उपयोग से मूल्य की विवेचना में अनिश्चितता आ जाने का बड़ा भय है।

सौभाग्य से इस कठिनाई का एक हल सम्भव है। यह तो सत्य है कि सीधी तथा प्रत्यक्ष रीति से हम उपयोगिता को नही नाप सकते हैं, परन्तु परोक्ष रीति से उसकी माप सम्भव है। एक उपभोक्ता वस्तु की किसी इकाई के लिए *जितना मूल्य* देने को तैयार हो जाता है, वही मूल्य उस इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का सूचक होता है। किसी इकाई के उपभोग से जितनी उपयोगिता प्राप्त होने की आशा होती है, उसी के अनुसार उसकी कीमत दी जाती है। इस कारण उपयोगिता की माप कीमत मे की जा सकती है। निश्चय है कि अलग-अलग कीमतों पर एक वस्तु की इकायो की अलग-अलग मात्राएँ खरीदी जाती हैं। जिस कीमत पर ग्राहक वस्तु को कोई विशेष इकाई खरीदने के लिए तैयार रहता है, उस कीमत को उसकी इकाई की मांग की कीमत (Demand Price) कहते हैं। यह मांग की कीमत उपयोगिता की भांति औसत या सीमान्त हो सकती है। क्रय की अन्तिम इकाई की मांग को कीमत सीमान्त

माँग की कीमत (Marginal Demand Price) कहलाती है। जितनी कुल इकाइयाँ खरीदी जाती हैं, उन सबके लिए दिए हुए कुल मूल्य को खरीदी हुई इकाइयों की सख्या से भाग देने पर औसत माँग की कीमत (Average Demand Price) निकल आती है। इस प्रकार औसत उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता की वक्र रेखाओं के स्थान पर हम औसत माँग की कीमत तथा सीमान्त माँग की कीमत की रेखाओं का उपयोग कर सकते हैं और हमारी उपयोगिता की माप सम्बन्धी कठिनाई दूर हो जाती है। नीचे की तालिका में इन दोनों प्रकार की माँग की कीमतें दिखाई गई हैं :—

तालिका

वस्तु की इकाई	कीमत जो ग्राहक देने को तैयार होता है	औसत माँग की कीमत	सीमांत माँग की कीमत
१	२० रुपये	२० रुपये	२० रुपये
२	१८ ,,	१९ ,,	१८ ,,
३	१६ ,,	१८ ,,	१६ ,,
४	१४ ,,	१७ ,,	१४ ,,
५	१२ ,,	१६ ,,	१२ ,,

इत्यादि

माँग की कीमत और आगम का सम्बन्ध—

इस सम्बन्ध में एक और बात का जान लेना भी बड़ा आवश्यक है। ग्राहक के दृष्टिकोण से जो माँग की कीमत होती है, विक्रेता या दुकानदार के दृष्टिकोण से वह बिक्री की कीमत (Selling Price) हो जाती है। एक ही कीमत को जब हम ग्राहक से सम्बन्धित करते हैं तो वह माँग की कीमत प्रतीत होती है और उसी को विक्रेता से सम्बन्धित करके बिक्री कीमत का नाम दिया जा सकता है। प्रत्येक विक्रेता अनुभव से यह जानता है कि किसी भी वस्तु की अधिक इकाइयाँ बेचने के लिये उसे कीमत को कम करना पड़ता है, अर्थात् प्रत्येक अगली इकाई के लिये बिक्री कीमत पहिली की अपेक्षा कम होती है। जिस प्रकार ग्राहक की माँग की सीमान्त कीमत घटती चली जाती है, उसी प्रकार सीमान्त बिक्री कीमत भी घटती जाती है। अब क्योंकि बिक्री कीमत तथा आगम (Revenue) दोनों एक ही विचार के दो भिन्न-भिन्न नाम हैं, जैसा कि दूसरे अध्याय मे स्पष्ट किया जा चुका है, इसलिए हम कह सकते हैं कि सीमान्त आगम बिक्री की मात्रा के बढ़ने के साथ-साथ घटती चली जाती है। ऊपर की तालिका मे दी हुई औसत माँग की कीमत औसत आगम को भी सूचित करती है। यह आगम बिक्री से प्राप्त होने वाली कुल कीमत को बिक्री की मात्रा की इकाइयों की सख्या से भाग देने से प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार सीमान्त माँग की कीमत सीमांत आगम का ही दूसरा नाम है। इस बात को समझ लेने के पश्चात् यह समझ लेना

कठिन न होगा कि उपयोगिता या माँग की कीमत की वक्र रेखाओं के स्थान पर औसत तथा सीमान्त आगम की वक्र रेखाओं का उपयोग स्वतन्त्रतापूर्वक किया जा सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्र में मूल्य के सिद्धान्त में हम ऐसा ही करते भी हैं।

पूर्ति और उत्पादन व्यय—

माँग की कीमत की भाँति पूर्ति की भी कीमत होती है। जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं, पूर्ति की कीमत उस कीमत को सूचित करती है, जिस पर एक विक्रेता या दूकानदार वस्तु की इकाई विशेष को बेचने के लिए तैयार होता है। यह बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है कि पूर्ति के नियम के अनुसार अधिक दामो, अर्थात् ऊँची कीमत पर पूर्ति की मात्रा अधिक होती है। दूसरे शब्दों मे, अगली इकाइयो को बेचने के लिए विक्रेता अधिक कीमत की आशा करता है। इसका मुख्य कारण यह है कि जैसे जैसे उत्पादन बढता जाता है, क्रमःगत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है, जिसमे उत्पादन व्यय बढने लगता है। उत्पादन व्यय के बढ जाने के कारण उत्पादक या विक्रेता अगली इकाइयो के लिये ऊँची कीमत माँगता है। इससे सिद्ध होता है कि पूर्ति की मात्रा पर उत्पादन व्यय का अधिक प्रभाव पडता है। साधारणतया जितना ही उत्पादन व्यय अधिक होता है उतनी ही पूर्ति की मात्रा कम रहने की सम्भावना रहती है। पूर्ति सदा ही उत्पादन व्यय पर निर्भर रहती है।

उत्पादन व्यय, जैसा कि एक दूसरे अध्याय मे बताया गया है, तीन प्रकार का होता है, अर्थात् कुल उत्पादन व्यय, औसत उत्पादन व्यय तथा सीमान्त उत्पादन व्यय। जहाँ तक पूर्ति का सम्बन्ध है, वह सीमान्त उत्पादन व्यय से ही प्रभावित होती है, क्योंकि यह व्यय उत्पत्ति की अन्तिम इकाई का उत्पादन व्यय होता है और उत्पादक अधिक उत्पत्ति करने का निर्णय इसी पर दृष्टि डालने के उपरान्त करता है। एक पिछले अध्याय मे हम यह भी देख चुके हैं कि उत्पादन व्यय की वक्र रेखाओं के रूप और गुण तथा पूर्ति की रेखा के रूप और गुण एक जैसे ही होते हैं। इस कारण पूर्ति की रेखा के स्थान पर उत्पादन व्यय की रेखाओं का उपयोग किया जा सकता है। मूल्य के सिद्धान्त की आगे की विवेचना मे ऐसा ही किया गया है और जिस प्रकार औसत और सीमान्त आगम की वक्र रेखायें खीची जाती हैं, ठीक उसी प्रकार औसत उत्पादन व्यय तथा सीमान्त उत्पादन व्यय की भी वक्र रेखाएँ खीची जा सकती हैं, जो पूर्ति की रेखा का स्थान ले लेती हैं।

मूल्य के सिद्धान्त का नया रूप—

ऊपर की गई माँग और पूर्ति की विवेचना के पश्चात् हमारे लिए यह सम्भव हो जाता है कि हम मूल्य के सिद्धान्त को एक दूसरे दृष्टिकोण से प्रस्तुत कर सकें। माँग के स्थान पर हम आगम की वक्र रेखाओं का उपयोग करेंगे और इसी प्रकार पूर्ति के स्थान पर उत्पादन व्यय की वक्र रेखाओं का। दूसरे शब्दों मे, हम इस प्रकार कह सकते हैं कि मूल्य या कीमत के निर्धारित करने मे आगम (Revenue) और उत्पादन

व्यय (Cost of production) की दो शक्तियाँ विपरीत दिशाओं में अपना प्रभाव डालती हैं। सीमान्त आगम (Marginal Revenue) की प्रवृत्ति घटने की ओर होती है, जबकि सीमान्त उत्पादन व्यय (Marginal cost of production) की प्रवृत्ति बढ़ने की ओर। जहाँ पर ये दोनों शक्तियाँ एक दूसरे के बल को नष्ट (Neutralize) कर देती हैं, साम्य या सन्तुलन की दशा में वहीं पर कीमत का निर्धारण होता है।

अब हमे यह देखना है कि आगम और उत्पादन व्यय की शक्तियों के सन्तुलन का क्या अर्थ होता है? औसत तथा सीमान्त आगम के अनुसार हम माँग की अनुसूचि का निर्माण कर सकते हैं और ठीक इसी प्रकार औसत और सीमान्त उत्पादन व्यय के अनुसार पूर्ति की अनुसूचि (Supply Schedule) को बनाया जा सकता है। इन दोनो अनुसूचियों से हमें आगम और उत्पादन व्यय के परिवर्तनों के विषय मे महत्त्व-पूर्ण जानकारी प्राप्त होगी और हम उस बिन्दु को खोज निकालेंगे, जहाँ पर दोनो की शक्तियों मे सन्तुलन स्थापित होता है। नीचे की दोनो तालिकाओं में क्रमशः माँग और पूर्ति की अनुसूचियाँ बनाई गई हैं:—

तालिका १

वस्तु की इकाइयाँ	कुल आगम	औसत आगम	सीमान्त आगम
१	४० रुपये	४० रुपये	४० रुपये
२	७८ ,,	३६ ,,	३८ ,,
✓३	११४ ,,	३८ ,,	३६ ,,
४	१४८ ,,	३७ ,,	३४ ,,
५	१८० ,,	३६ ,,	३२ ,,

इत्यादि

तालिका २

वस्तु की इकाइयाँ	कुल व्यय	औसत व्यय	सीमान्त व्यय
१	३० रुपये	३० रुपये	३० रुपये
२	६४ ,,	३२ ,,	३४ ,,
✓३	१०० ,,	३३⅓ ,,	३६ ,,
४	१४० ,,	३५ ,,	४० ,,
५	१८५ ,,	३७ ,,	४५ ,,

इत्यादि

सीमान्त आगम और सीमान्त उत्पादन व्यय की समानता—

ऊपर की दोनों तालिकाओं को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि तीसरी

इकाई को बेचने से विक्रेता को उतने ही दाम मिलते हैं, जितना कि उसके उत्पादन पर व्यय होता है। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि तीसरी इकाई की सीमान्त आगम उतनी ही है जितना कि उसका सीमान्त उत्पादन व्यय है। *साम्य की दशा में मूल्य का निर्धारण उसी बिन्दु द्वारा किया जाता है, जहाँ पर सीमान्त आगम (Marginal Revenue) तथा सीमांत उत्पादन व्यय बराबर होते हैं,* केवल इसी बिन्दु द्वारा निश्चित मूल्य स्थिर हो सकता है। नीचे के रेखा-चित्र में आगम और उत्पादन व्यय की रेखाओं की सहायता से इसी बात को और भी स्पष्ट किया गया है :—
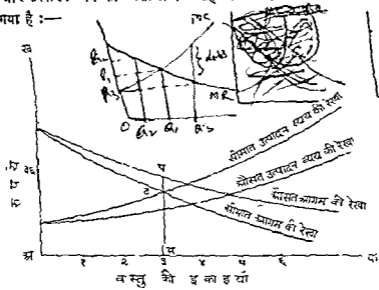
ऊपर के चित्र मे सीमान्त आगम और उत्पादन व्यय की रेखायें ट बिन्दु पर एक-दूसरे को काटती हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि ट बिन्दु पर सीमान्त आगम और सीमान्त उत्पादन व्यय बराबर हैं। मूल्य का निर्धारण ट बिन्दु द्वारा ही होता है। इस दशा मे प म वस्तु की कीमत होगी और जैसा कि स्पष्ट ही है, प म रेखा ट बिन्दु से होकर गुजरती है। जब अ म मात्रा की बिक्री होती है तो अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाले दाम उस इकाई के उत्पादन व्यय के बराबर होते हैं। इस प्रकार प म ही साम्य का मूल्य है, क्योंकि केवल इसी मूल्य मे स्थिरता आ सकती है। बहुत समय तक न तो कीमत इससे अधिक ही रह सकती है और न इससे कम ही। इसका कारण यह है कि यदि कीमत इससे अधिक होती है तो उत्पत्ति की अन्तिम इकाई पर विक्रेता को लाभ होता है अपने कुल लाभ को और अधिक करने के लिए वह बिक्री की मात्रा को बढा देता है। पूर्ति के इस प्रकार बढ जाने से कीमत नीचे गिर जाती है। इसके विपरीत यदि कीमत प म से कम होगी तो उत्पत्ति की अन्तिम इकाई पर घाटा होता है और घाटे को कम करने के उद्देश्य से विक्रेता या उत्पादक उत्पत्ति की मात्रा को कम करने की कोशिश करेगा। पूर्ति की मात्रा में इस प्रकार कमी होने से

दाम ऊपर चढ जाते हैं। इस प्रकार **प म** से अधिक या कम मूल्य स्थिर नहीं रह सकता है। केवल **प म** मूल्य ही स्थिर हो सकता है, क्योंकि इस मूल्य पर उत्पत्ति की अन्तिम इकाई को बेचने से न तो अन्तिम इकाई पर लाभ ही होता है और न हानि ही।
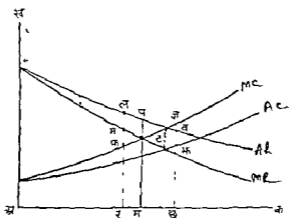
ऊपर के चित्र से पता चलता है कि जब कीमत **प म** से अधिक होती है, अर्थात् **ल र** के बराबर होती है तो उत्पत्ति की अन्तिम इकाई को बेचने पर **म र** के बराबर आय या आगम प्राप्त होती है, जबकि अन्तिम इकाई का उत्पादन व्यय **फ र** के बराबर होता है, अतः अन्तिम इकाई पर **म फ** के बराबर लाभ होता है, जिसके कारण उत्पादक द्वारा उत्पत्ति को बढाने की प्रवृत्ति होती है। इसके विपरीत जब दाम **प म** से कम, अर्थात् **ध छ** के बराबर होते हैं तो अन्तिम इकाई से **झ छ** के बराबर आगम मिलती है, जबकि **ज छ** के बराबर उत्पादन व्यय होता है। इससे पता चलता है कि इस इकाई पर **ज झ** के बराबर हानि होती है, जिससे बचने के लिए उत्पत्ति की मात्रा को कम किया जाता है और इस प्रकार की कीमत अन्त में **प म** पर ही आकर रुकती है।

अर्थशास्त्र में सीमा के अध्ययन का महत्त्व (Importance of the Study of Margin in Economics)—

ऊपर की विवेचना से पता चलता है कि मूल्य के निर्धारण करने में सीमा के अध्ययन का बडा महत्त्व है। खरीदार सीमान्त उपयोगिता के अनुसार कीमत देता है तथा विक्रेता या उत्पादक सीमान्त व्यय के अनुसार बेचता है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मूल्य का निर्णय वस्तु के सीमान्त उपयोग (Marginal use) तथा सीमान्त व्यय (Marginal cost) द्वारा होता है, अर्थात् वस्तु की कीमत सीमा पर नियत होती है, जिससे सीमान्त वस्तु की उपयोगिता और लागत समान हो सके। ऐसा न होने की दशा में कीमत में स्थिरता नहीं आती है। किन्तु कीमत सीमा पर निश्चित होती है, न कि सीमा द्वारा।

इस विषय में मार्शल का मत ध्यान देने योग्य है, उनका मत है कि *सीमान्त उपयोग और सीमान्त व्यय मूल्य को नियत नहीं करते, किन्तु ये दोनों स्वयं ही मूल्य के साथ-साथ माँग और पूर्ति के सामान्य पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा नियत होते हैं।*[1] अभिप्राय यह है कि स्वय सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत माँग और पूर्ति पर निर्भर होते है। मांग और पूर्ति के घटने बढने से उनमे परिवर्तन हो जाते है। दूसरी ओर, जिस प्रकार मूल्य के परिवर्तन मांग और पूर्ति मे परिवर्तन कर देते हैं, उसी प्रकार सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त व्यय को भी घटा-बढा देते हैं। मार्शल का विचार है कि मूल्य का निर्धारण समस्त मांग तथा समस्त पूर्ति द्वारा होता है। मांग अथवा पूर्ति अथवा दोनो मे कमी या वृद्धि होने की दशा मे सन्तुलन मूल्य में परिवर्तन हो जाता है और इस परिवर्तन के अनुसार सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त उत्पादन व्यय में भी भिन्नता आ जाती है। निश्चय ही मांग के अधिक हो जाने से सीमान्त उपयोगिता बढ जाती है और ठीक इसी प्रकार पूर्ति के बढने से सीमान्त उत्पादन व्यय मे परिवर्तन हो जाता है, अतः मूल्य के निर्धारण के साथ-साथ सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त व्यय का निर्धारण भी मांग और पूर्ति द्वारा होता है। इसमे तो कोई सन्देह नही है कि मूल्य के घटने बढने से मांग और पूर्ति मे जो परिवर्तन होते है, वे सीमान्त ग्राहक तथा सीमान्त उत्पादक द्वारा प्रस्तुत किये जाते है। सीमान्त ग्राहक तथा उत्पादक का व्यवहार मूल्य पर निर्भर रहता है, परन्तु इसका यह अर्थ नही होता कि मूल्य को सीमान्त ग्राहक और उत्पादक निश्चित करते है। सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त व्यय की समानता मूल्य को केवल सूचित (Indicate) ही करती है, निर्धारित (Determine) नही करती है। मूल्य तो समस्त ग्राहको, जिनमे सीमान्त ग्राहक भी सम्मिलित होता है तथा समस्त विक्रेताओं या उत्पादकों द्वारा, जिनमे सीमान्त उत्पादक भी शामिल होगा, नियत होता है। इस प्रकार कुल मांग तथा कुल पूर्ति द्वारा ही मूल्य का निश्चय होता है।

मार्शल के उपरोक्त मत के सही होने मे सन्देह नही है, किन्तु फिर भी सीमा के विचार का अर्थशास्त्र मे बड़ा महत्त्व है। बेनहाम ने ठीक ही कहा है—"*वे सब परिवर्तन जिनके द्वारा माँग और पूर्ति के बदले हुए सम्बन्ध दिखाई पड़ते हैं, सदा सीमा पर ही होते हैं।*"[2] सीमान्त उत्पादन व्यय को दृष्टि मे रखकर ही पुराने उत्पादक उद्योग विशेष मे बने रहने या उसको छोड देने की सोचते है तथा नये उत्पादक इस बात का फैसला करते हैं कि वे उद्योग विशेष में प्रवेश करें। ठीक इसी प्रकार उत्पत्ति के विभिन्न साधनो के सीमान्त व्यय को देख कर ही एक साधन के स्थान पर दूसरे

---

1. "Marginal use and costs do not govern value but are governed together with value by the general relations of supply and demand."—Marshall : *Principles of Economics*, p. 410

2. "It is only at the margin that any of those shiftings can occur by which the changed relations of demand and supply manifest themselves."—Benham : *Economics*, 1943, p. 224.

साधन के उपयोग की बात सोची जाती है। उत्पत्ति कितनी करनी है तथा उत्पत्ति का पैमाना कितना बड़ा रखा जायेगा, इसका निर्णय भी सीमान्त व्यय के अध्ययन के पश्चात् ही किया जाता है।*

इस विषय में सीमान्त ग्राहक का महत्त्व इतना अधिक नहीं है। प्रतियोगिता की दशा में खरीदने वालों की संख्या बहुत अधिक होती है, इसलिये किसी भी एक ग्राहक का बहुत महत्त्व नहीं होता। हर एक का महत्त्व समान ही होता है। सब ग्राहकों की संयुक्त माँग तथा सभी उत्पादकों द्वारा उपस्थित की गई कुल पूर्ति द्वारा ही मूल्य नियत होता है। सीमान्त उपयोगिता केवल माँग की मात्रा को सूचित करती है। यह माँग को नियत नहीं करती और इसी प्रकार सीमान्त व्यय उत्पत्ति अथवा पूर्ति की मात्रा को दिखाता है, इसका निर्धारण नहीं करता।

QUESTIONS

1. पूर्ति तथा माँग को घटाने व बढ़ाने तथा इस प्रकार कीमत को प्रभावित करने वाले विभिन्न तथ्यों का वर्णन कीजिए। (Agra, B. A., 1959)
2. "माँग की वृद्धि से कीमतें बढ़ती हैं।" "माँग की वृद्धि से कीमतें घटती हैं।" इन दोनों स्थितियों का स्पष्टीकरण कीजिए। (Agra, B. A., 1958)
3. Discuss the importance of marginal concept in modern economics. (Agra, B. A., 1956)
4. मूल्य का सिद्धान्त अर्थशास्त्र के अध्ययन का प्रमुख विषय है और आर्थिक तथा सामाजिक विषयों के समझने की कुँजी है। व्याख्या कीजिए। (Agra, B. A., 1958 S)
5. Examine the effect of a rise in demand on the prices of (a) radio sets (b) wheat and (c) woollen fabrics. (Agra, B. Com., 1958)
6. What do you understand by the phrase "Normal Equilibrium Value"? How is it determined. Can you account for the paradox that sometimes a rise in normal demand for a commodity may lead to a fall in price? (Agra, B. Com., 1956)

---

* "Everywhere hath she (margin) sway, there is her imperial throne. It is there that the direction of human effort is put to economic tests and thence that signals are flashed back the line, stimulating and checking the distribution of resources at every point of division."—Wicksteed : *Commonsense of Political Economy*.

7 What factors determine the value of a commodity in a competitive market ? Give suitable illustrations.
(Agra, B. Com., 1955 S)

8. "The price of a commodity prevailing in a market at a time is one at which its demand and supply are equal. This law of equilibrium of demand and supply operates under conditions of price control and rationing as much as it applies in a free economy." Explain and comment.
(Agra, B. Com., 1952)

9. How are prices determined in a competitive market ? How do conditions of supply affect these ?
(Raj., B. A., 1956, 1954, 1953)

10. How are prices determined in competitive market ? How do conditions of cost affect these. (Raj., B. A., 1949)

11. "Marginal uses and marginal costs do not govern value but are governed together with value by the conditions of demand and supply." Explain clearly. (Raj., B. Com., 1957)

12. Show how under conditions of perfect competition the price of commodity is equal both to its marginal and average costs of production. Use diagram to illustrate your answer.
(Alld., B. A., 1955)

13. "The cost of production, eagerness of demand, margin of production and price of the produce mutually govern one another." Explain. (Alld., B. A., 1953)

14. आधुनिक आर्थिक विश्लेषण में "सीमान्त धारणा" के महत्त्व की विवेचना कीजिए।
(Vikram, B. A., 1959)

15. Explain and illustrate how value is determined under competitive conditions. (Gorakhpur, B. Com., 1959)

16. "A commodity tends to be produced on a scale at which its marginal cost of production is equal to its marginal utility and both are equal to its price. Explain with the help of a diagram. (Luknow, B. A., 1956)

अध्याय ५

बाजार मूल्य और वास्तविक मूल्य

(Market Price and Normal Price)

पिछले अध्याय में हमने मूल्य निर्धारण की सामान्य दशा का अध्ययन किया है। इस अध्याय में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि काल का मूल्य या कीमत पर क्या प्रभाव पड़ता है ? माँग और पूर्ति के परिवर्तनो के कारण मूल्य मे भी परिवर्तनो का होना स्वाभाविक है, परन्तु समय के अनुसार माँग और पूर्ति मे परिवर्तनों का रूप भिन्न होता है। साधारणतया समय को हम अल्पकाल तथा दीर्घकाल में विभाजित करते हैं और जैसा कि दूसरे अध्याय मे बताया जा चुका है, अल्पकाल मे माँग मे तो परिवर्तन हो सकते हैं, परन्तु पूर्ति यथास्थिर रहती है। पूर्ति के यथास्थिर रहने का प्रधान कारण यह होता है कि अल्पकाल इतना थोड़ा समय होता है कि उसमें उत्पत्ति के विभिन्न साधनो के उपयोग बदले नही जा सकते। अल्पकाल मे उत्पत्ति का प्रत्येक साधन परिमाणिक (Specific) होता है, अतः अल्पकालीन मूल्य पर माँग के परिवर्तनो का ही प्रभाव प्रधान होता है। इसके विपरीत दीर्घकाल में उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का उपयोग बदला जा सकता है, अर्थात् हर एक साधन अपरिमाणिक (Non-specific) होता है। यह समय इतना लम्बा होता है कि माँग और पूर्ति दोनो को बदल जाने के लिए काफी समय मिल जाता है। दीर्घकाल मे माँग के अनुसार ही पूर्ति मे भी परिवर्तन हो जाते है, जिसके कारण माँग और पूर्ति मे पूर्णतया समायोजन (Adjustment) सम्भव हो जाता है। दीर्घकालीन मूल्य मे जो परिवर्तन होते है, उन पर माँग और पूर्ति दोनो का प्रभाव समान पड़ता है।

बाजार मूल्य किसे कहते हैं ?—

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, समय के अनुसार माँग और पूर्ति के पारस्परिक समायोजन (Mutual Adjustment) मे अन्तर होता है। अल्पकाल में तो यह समायोजन सम्भव ही नही है, क्योंकि पूर्ति की मात्रा मे किसी भी प्रकार के परिवर्तन नहीं किये जा सकते। यदि माग बढती है तो उसके अनुसार पूर्ति नही बढ सकती और यदि माग घटती है तो पूर्ति को घटाया भी नही जा सकता। पूर्ति की मात्रा ज्यों की त्यों बनी रहती है। *अल्पकालीन मूल्य को ही हम अर्थशास्त्र में बाजार मूल्य कहते है। जैसा कि स्पष्ट है, यह मूल्य माँग के ऊपर विशेष रूप से निर्भर रहता है और क्योंकि माँग में बड़ी शीघ्रता तथा बड़ी तेजी से परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिए यह मूल्य भी स्थिर नहीं रह पाता, वरन् जल्दी-जल्दी बदलता रहता है।* यदि माग

थोड़ी अधिक हो जाती है तो मूल्य बढ जाता है और इसके विपरीत यदि मांग मे थोड़ी कमी आ जाती है तो मूल्य नीचे गिर जाता है।

इस प्रकार हम देखते है कि बाजार मूल्य माँग और पूर्ति के अस्थाई साम्य (Temporary equilibrium) के फलस्वरूप निश्चित होता है। अस्थाई साम्य से हमारा अभिप्राय उस साम्य या सन्तुलन से है, जो बहुत देर तक स्थिर नहीं रह सकता, वरन् थोडे ही समय के पश्चात् भंग हो जाता है और फिर माँग और पूर्ति का नया साम्य स्थापित हो जाता है। इसी कारण बाजार मूल्य भी थोड़े-थोड़े समय मे बदलता रहता है। कुछ दशाओं मे तो यह कुछ घन्टो तक भी स्थिर नही रह पाता, यद्यपि कभी-कभी यह कुछ दिनो अथवा सप्ताहों के पश्चात् बदलता है। अलग अलग वस्तुओं के सम्बन्ध में अल्पकाल की अवधि (Duration) अलग-अलग होती है। कुछ वस्तुओं की पूर्ति के घटाने बढ़ाने मे केवल कुछ घण्टे या कुछ दिन लगते हैं, जबकि कुछ वस्तुओं मे महीनों का समय लगता है। जिस समय मे पूर्ति की मात्रा को बदला नही जा सकता, वह अल्पकाल ही होता है।

बाजार मूल्य का सबसे अच्छा उदाहरण शीघ्र नाशवान (Perishable) वस्तुओं के मूल्य में मिलता है। ऐसी वस्तुओं की माँग प्रायः दिन प्रति दिन कम या अधिक होती रहती है, किन्तु इनकी पूर्ति की जितनी मात्रा भण्डार (Stock) में होती है, वह घटाई-बढ़ाई नही जा सकती है। ताजा दूध, ताजा फल, अण्डे तथा ताजी सब्जियो के विषय मे यही बात है। ये सब वस्तुये ऐसी है कि इनकी माँग में तो अकस्मात ही परिवर्तन हो सकते हैं, परन्तु पूर्ति को अकस्मात बढाया नही जा सकता। साथ ही साथ, इन वस्तुओं को माँग की कमी की दशा मे भविष्य के लिए बचाकर भी नही रखा जा सकता, क्योकि ये शीघ्र ही खराब हो जाती हैं। यदि किसी दिन एक छोटे नगर मे कई बरातें आ जाती हैं या कोई बड़ा नेता आ जाता है, जिसे देखने के लिए दूर-दूर के लोग आते है तो एक दम दूध की माँग बढ जायेगी, परन्तु दूध की मात्रा उतनी ही रहेगी, जितनी कि साधारणतया रहती थी। ऐसी दशा मे सब ग्राहकों को दूध नही मिल पायगा। दूध के दाम ऊपर बढ जायेंगे और केवल उन्ही खरीदारों को दूध मिल सकेगा, जो ऊँचे दाम देने को तैयार होंगे। एक-दो दिन के बाद जब बरातों आदि का जोर कम हो जायगा तो दाम फिर नीचे उतर आयेंगे, क्योकि माँग मे कमी हो जायगी। ठीक इसी प्रकार नगर से कई बरातों के चले जाने या नगर में हड़ताल हो जाने के कारण माग मे अकस्मात कमी हो सकती है और मूल्य नीचे गिर सकता है। नीचे के चित्र मे बाजार मूल्य का रूप दिखाया गया है :—
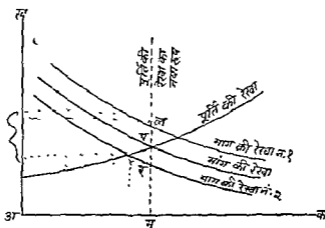
इस चित्र मे प बिन्दु पर मांग और पूर्ति की शक्तियो के बीच पहला साम्य स्थापित होता है और उस दशा मे कीमत की माप प म के बराबर होती है। मांग की रेखा नं० १ हमें अकस्मात मांग के बढ़ने को दिखाती है। अल्पकाल में मांग के बढने पर भी पूर्ति की मात्रा अ म ही रहती है और प बिन्दु से पूर्ति की रेखा नया रूप धारण कर लेती है, जो बिन्दुदार रेखा से दिखाया गया है। ल बिन्दु पर अस्थाई साम्य स्थापित हो जाता है और कीमत ल म के बराबर हो जाती है। माग की रेखा नं० २ मांग के घट जाने को दिखाती है। इस दशा मे भी र बिन्दु पर दूसरा अस्थाई साम्य बनाता है और कीमत घटकर ल म के बराबर हो जाती है। पूर्ति की मात्रा यहाँ पर भी अ म ही रहती है।

वास्तविक अथवा सामान्य मूल्य (Natural or Normal Price)—

*वास्तविक मूल्य दीर्घकालीन मूल्य होता है।** अल्पकाल मे तो पूर्ति की मात्रा को घटाना या बढाना सम्भव नही होता, परन्तु दीर्घकाल मे ऐसी बात नही होती। दीर्घकाल मे उत्पत्ति का प्रत्येक साधन अपरिमाणिक (Non specific) होता है। साधनों के उपयोग बदले जा सकते हैं, जिसके फलस्वरूप जिस वस्तु की मांग बढ़ती है उसकी उत्पत्ति भी बढा दी जाती है, क्योकि उत्पत्ति के अधिक साधन उस वस्तु के उत्पादन मे लगा दिये जाते हैं। दीर्घकाल में मांग और पूर्ति के बीच पूर्ण समायोजन (Adjustment) हो जाता है और पूर्ति भी मांग के घटने बढने के अनुसार घट-बढ़ जाती है। इस प्रकार दीर्घकाल मे साम्य बदल तो जाता है, परन्तु जो नया साम्य स्थापित होता है वह भी स्थाई होता है, अस्थाई नही होता है।

---

* "Normal or natural value of a commodity is that which economic forces would tend to bring about in the long run. It is the average value which economic forces would bring about if the general conditions of life were stationary for a run of time long enough to enable them all to work out their full effects."—Marshall.

बाजार मूल्य के सम्बन्ध में हमने देखा था कि अकस्मात दूध की मांग बढ़ जाने पर पूर्ति में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ था, किन्तु यदि यह बढ़ी हुई मांग लम्बे काल तक चलती रहे, जैसे कि मान लीजिए कि उस नगर में बाहर से आकर बहुत से लोग बस जाते हैं या किसी स्वास्थ्य आन्दोलन के फलस्वरूप लोग अधिक दूध पीने लगने हैं तो ऐसी दशा में निश्चय ही कुछ समय बाद दूध की पूर्ति भी मांग के अनुसार ही बढ़ जायगी। लोग अधिक तथा अच्छे पशु पालने लगेंगे अथवा आस-पास के गांव से अधिक दूध मंगाने लगेंगे। नये-नये दूध के व्यवसायी पैदा हो जायेंगे और दूध की पूर्ति इतनी बढ़ जायगी कि बढ़ी हुई मांग से उसका पूर्ण समायोजन (Complete Adjustment) हो जायगा। इस प्रकार मांग और पूर्ति मे एक नया स्थाई साम्य स्थापित हो जायगा, जिसमें मांग और पूर्ति दोनों की मात्राएं पहिले से अधिक होगी। ठीक इसी प्रकार यदि कुछ कारणों से दूध की मांग स्थाई रूप से कम हो जाती है तो दूध की पूर्ति की मात्रा में भी कमी हो जायगी। दूध के व्यवसायी तथा दूध देने वाले पशुओं की सख्या में कमी हो जायगी और पूर्ति की मात्रा घट कर घटी हुई मांग के बराबर हो जायगी। इस प्रकार फिर मांग और पूर्ति का नया स्थाई साम्य स्थापित हो जायगा। इससे सिद्ध होता है कि वास्तविक मूल्य के परिवर्तनों पर मांग और पूर्ति दोनों का समान ही प्रभाव पड़ता है और साथ ही साथ मूल्य अधिक स्थाई होता है। इसमें शीघ्रतापूर्वक तथा तेजी के साथ परिवर्तन नहीं होते, जो भी परिवर्तन होते हैं, वे धीरे-धीरे होते हैं।

इस कीमत की एक विशेषता यह है कि यह सदा सीमान्त उत्पादन व्यय के लगभग बराबर रहती है। अस्थाई रूप से तो यह उत्पादन व्यय से थोडी या अधिक हो सकती है, परन्तु स्थाई रूप से नही। इसका मुख्य कारण यह है कि जब यह मूल्य सीमान्त उत्पादन व्यय से ऊँचा होता है तो उत्पादकों को असाधारण लाभ होता है। उत्पत्ति की अन्तिम इकाई को बेचकर भी लाभ मिलता है, इसलिए और अधिक उत्पत्ति करके कुल लाभ मे वृद्धि करने की सम्भावना रहती है, जो उत्पादकों को उत्पत्ति बढ़ाने के लिए प्रेरित करती है और इस प्रकार पूर्ति की मात्रा बढ जाती है, जिसके फलस्वरूप कुछ ही समय के पश्चात् कीमत नीचे गिर जाती है। इसी प्रकार जब कीमत सीमान्त उत्पादन व्यय से कम होती है तो अन्तिम इकाई के उत्पादन से हानि होती है, जिसको उस इकाई के उत्पादन को बन्द करके समाप्त किया जा सकता है। इस प्रकार पूर्ति कम होती चली जाती है और यह क्रम उस समय तक चलता रहता है, जब तक कि कीमत बढ कर सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर न हो जाय, क्योंकि इसी दशा मे उत्पत्ति की अन्तिम इकाई को बेच कर हानि नही होती। इस प्रकार यह मूल्य सीमान्त व्यय पर ही आकर रुकता है और अधिक समय तक इससे कम या अधिक नही रह सकता है।

बाजार मूल्य के लक्षण—

ऊपर की गई विवेचना से बाजार मूल्य के निम्नलिखित लक्षण साफ-साफ दिखाई पड़ते हैं :—

(१) यह केवल अल्पकालीन मूल्य होता है।

(२) यह मूल्य अस्थाई साम्य के फलस्वरूप नियत होता है और क्योंकि यह साम्य बड़ी शीघ्रतापूर्वक बदलता रहता है, इसलिए यह मूल्य कभी स्थिर नहीं रह पाता, वरन् कभी घटता है और कभी बढ़ता है और इस प्रकार के परिवर्तन तीव्रता से हो जाते हैं।

(३) इस मूल्य के निश्चित करने मे माँग का कार्य प्रधान होता है। मूल्य के परिवर्तनो पर माँग का भी अधिपतित्व होता है और इन परिवर्तनों की दिशा भी माँग के परिवर्तनो के अनुकूल होती है। पूर्ति का कार्य अस्थाई साम्य को स्थापित करने मे केवल निष्क्रिय (Passive) होता है।

(४) यद्यपि इस मूल्य मे शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन होते रहते है, फिर भी इन परिवर्तनों का क्रम निश्चित होता है। मूल्य कभी बढता है और कभी घटता है, परन्तु बाजार मूल्य की जो प्रवृत्ति विशेष रूप से महत्वपूर्ण है वह यह कि यह मूल्य बार-बार लौट कर वास्तविक या सामान्य मूल्य के बराबर हो जाता है। यदि कुछ समय के लिए बाजार मूल्य सामान्य मूल्य से अधिक हो जाता है तो कुछ देर बाद यह फिर सामान्य मूल्य के बराबर हो जाता है। इसी प्रकार नीचे गिर कर भी वह मूल्य फिर ऊपर चढ़ जाता है और सामान्य मूल्य के बराबर हो जाता है। नीचे के चित्र मे बाजार मूल्य और सामान्य मूल्य के इस पारस्परिक सम्बन्ध को दिखाया गया है :—
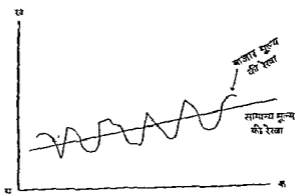
इस चित्र मे टेढ़ी-मेढ़ी रेखा बाजार मूल्य की प्रवृत्ति को दिखाती है। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, यह रेखा अनेक रूप बदल कर भी सामान्य मूल्य की रेखा से बार-बार आकर मिलती रहती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि बाजार मूल्य में इस प्रकार की प्रवृत्ति क्यों होती है ? इस प्रश्न का उत्तर समझने के लिए हमे अल्प तथा दीर्घकाल के आपसी सम्बन्ध को ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक होता है। स्मरण रहे कि दीर्घकाल यथार्थ में बहुत से अल्पकालों का ही समूह होता है। जिस प्रकार मिनट-मिनट जोड़ कर घण्टा बन जाता है अथवा दिन-दिन जोड़ कर महीना हो जाता है, ठीक उसी प्रकार कई अल्पकाल मिल कर एक दीर्घकाल बनाते हैं। दूसरी बात यह है कि समय की जो इकाई एक दृष्टिकोण से अल्पकाल को सूचित करती है, दूसरे दृष्टिकोण से दीर्घकाल को भी सूचित करती है। उदाहरण के लिए, यदि अल्पकाल की अवधि (Duration) एक घन्टा है और दीर्घकाल की ४ घण्टे तो ६ बजे का समय ५ बजे के सम्बन्ध मे अल्पकाल होगा, किन्तु २ बजे के सम्बन्ध मे यही दीर्घकाल हो जायगा। निश्चय ही ५ बजे से सम्बन्धित अल्पकालीन अथवा बाजार मूल्य २ बजे से सम्बन्धित दीर्घकालीन अथवा सामान्य मूल्य के बराबर होगा। इस प्रकार कभी न कभी बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के बराबर अवश्य होता रहता है।

वास्तविक मूल्य के लक्षण—

ये निम्न प्रकार हैं:—

(१) यह दीर्घकालीन मूल्य होता है।

(२) यह मूल्य स्थाई साम्य के फलस्वरूप नियत होता है। इस साम्य मे शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन नही होते हैं, इसलिए वास्तविक मूल्य में भी स्थिरता रहती है। यह मूल्य कम या अधिक तो हो जाता है, परन्तु इसमें किसी भी दिशा मे परिवर्तन क्यों न हो, उन परिवर्तनों की गति धीमी तथा शान्त अथवा अकर्कश होती है। इस मूल्य में अकस्माती झटके (Sudden jerks) या प्रबल उच्चावचन (Violent Fluctuation) नहीं होते हैं।

(३) इस मूल्य के नियत करने में माँग और पूर्ति दोनों ही समान रूप से महत्त्वपूर्ण होते हैं। पूर्ति का कार्य उतना ही सक्रिय होता है, जितना कि माँग का। किसी एक को अधिक महत्त्व नही दिया जा सकता। मूल्य मे जो भी परिवर्तन होते हैं, वे माँग और पूर्ति दोनों के एक ही साथ बदल जाने के फलस्वरूप होते हैं।

(४) इस मूल्य मे सीमांत उत्पादन व्यय के बराबर रहने की प्रवृत्ति रहती है। अधिक समय तक सामान्य मूल्य उत्पादन व्यय से कम या अधिक नही रह सकता है।

(५) वास्तविक मूल्य की रेखा बाजार मूल्य की रेखा का बिन्दु पथ (Locus) होती है। अभिप्राय यह है कि बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के ऊपर-नीचे घूमता रहता है और बार-बार लौटकर इसके बराबर होता रहता है।

क्या बाजार मूल्य केवल माँग द्वारा निर्धारित होता है ?—

यह तो हम देख ही चुके है कि बाजार मूल्य मे जो परिवर्तन होते हैं, वे केवल

मांग के ही घटने-बढने से होते हैं। अल्पकाल मे पूर्ति तो सदैव यथास्थिर ही रहती है, परन्तु क्या इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि बाजार मूल्य के निर्धारण में पूर्ति का कुछ भी हाथ नही होता ? क्या यह मूल्य केवल मांग द्वारा ही नियत होता है ? इसमे तो कोई सन्देह नही है कि बाजार मूल्य के नियत करने मे मांग तो सक्रिय होती है, परन्तु पूर्ति लगभग पूर्णतया निष्क्रिय रहती है। इसी सत्य को लेकर कुछ विद्वानो का विचार है कि यह मूल्य केवल मांग द्वारा ही निर्धारित होता है, किन्तु ऐसा कहना केवल एक भूल ही है। निष्क्रिय होते हुए भी पूर्ति के महत्त्व को नही भुलाया जा सकता। भूमि उत्पत्ति का एक निष्क्रिय साधन हो है, परन्तु साथ हो साथ यह उत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण ही नही, वरन् मौलिक साधन है। ठीक इसी प्रकार यद्यपि अल्पकाल में पूर्ति निष्क्रिय होती है, परन्तु उसके बिना मूल्य का निर्णय नही हो सकता। मार्शल ने एक बड़े सुन्दर उदाहरण के द्वारा पूर्ति के महत्त्व को समझाया है। उन्होंने कहा है कि माग और पूर्ति की तुलना कैंची के दोनों फलो से की जा सकती है। कैंची के एक फल को यदि हम इस प्रकार पकड़ लें कि वह हिल न सके और दूसरे फल को चलाते रहे तो इस दशा मे जो कपड़ा कटेगा, उसके विषय मे यह कहना भूल होगी कि वह केवल एक ही फल के कार्यवाहक होने से कटा है। निश्चय है कि कपड़ा दोनो फलो की सामूहिक क्रिया से कटा है, यद्यपि इनमे से एक फल सक्रिय था और दूसरा निष्क्रिय। ठीक इसी प्रकार मूल्य मांग और पूर्ति दोनो ही द्वारा नियत होती है, यद्यपि दोनो ही क्रिया भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं।*

बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्य का सम्बन्ध—

बाजार मूल्य पर अस्थाई तथा असाधारण कारणों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह अस्थाई साम्य (Temporary equilibrium) द्वारा नियत होता है, परन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है, बाजार कीमत सामान्यतः स्वाभाविक या वास्तविक कीमत के आस-पास ही रहती है। आकस्मिक और अस्थाई कारणो का प्रभाव धीरे-धीरे लोप हो जाता है और अन्त मे केवल स्थाई कारणों का प्रभाव ही शेप रहता है। जिस प्रकार घड़ी का पेन्डूलम घूमता रहता है, किन्तु उसके ठहरने का एक केन्द्रीय स्थान होता है, इसी प्रकार बाजार मूल्य का केन्द्र स्वाभाविक मूल्य ही होता है। आकस्मिक कारण इसे इसके पथ से विचलित अवश्य कर देते हैं, परन्तु इसकी प्रवृत्ति सदा स्वाभाविक मूल्य पर लौट आने की ओर ही होती है।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं हो जाता कि स्वाभाविक मूल्य बाजार मूल्य का औसत अथवा माध्य (Average) है। जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, स्वाभाविक मूल्य कुछ दीर्घकालीन निश्चित कारणों द्वारा स्थिर साम्य की दशा मे

* "We might as reasonably dispute whether it is the upper or the under blade of a pair of scissors that cuts a piece of paper as whether value is determined by utility or cost of production." (Marshall).

नियत होता है। इसके विपरीत बाजार मूल्य पूर्णतया आकस्मिक तथा अस्थाई कारणों द्वारा नियत होता है और क्योंकि इस प्रकार के कारण बहुत लम्बे समय तक कार्यशील नही रह सकते और क्योंकि साधारण तथा असाधारण परिस्थितियों का अन्तर केवल समय से ही सम्बन्धित होता है, जिसके कारण आज की असाधारण परिस्थिति कल साधारण बन सकती है या इसके विपरीत भी हो सकता है, इसलिए अस्थाई तथा स्थाई साम्य के मूल्य में समानता आ सकती है, अन्यथा दोनों में और कोई सम्बन्ध नही है।

मूल्य के सिद्धान्त में समय का महत्त्व (Importance of Time Element in Theory of Value)—

मूल्य-निर्धारण के विषय में अनेक मत हैं। एडम स्मिथ और रिकार्डो (Ricardo) जैसे विद्वानों का मत है कि मूल्य उत्पादन व्यय के द्वारा निश्चित होता है। इसका मतलब यह नही होता कि ये लोग मूल्य के निर्धारण में माँग का कुछ भी महत्त्व नही समझते। इनका विचार है कि उपयोगिता ही मूल्य को जन्म देती है। यदि किसी वस्तु मे मनुष्य की आवश्यकता पूरी करने का गुण नही है तो उसका मूल्य भी नही होगा, परन्तु इनका विचार था कि यद्यपि उपयोगिता मूल्य का कारण तो होती है, किन्तु यह उसकी माप नही होती। इसके विपरीत प्रो० जेवन्स (Jevons) तथा आस्ट्रीयन मत पक्ष (Austrian School of Thought) के अर्थशास्त्रियों का कहना है कि केवल उपयोगिता ही मूल्य को नियत करती है। उपयोगिता मूल्य का कारण तथा उसकी माप दोनो ही है। इन दोनो विचारधाराओं मे परस्पर इतना अन्तर है कि दोनो एक दूसरी की विरोधी प्रतीत होती हैं, परन्तु वास्तव मे ऐसी बात नही है। यदि हम मूल्य के सिद्धान्त मे समय के महत्त्व को समझ लें तो हमे यह जान लेने में कठिनाई न होगी कि ये दोनों विचार सही हैं, यद्यपि दोनों पूर्ण सत्य को नही बताते हैं। बात केवल इतनी ही है कि एडम स्मिथ और रिकार्डो दीर्घकालीन दृष्टिकोण से मूल्य निर्धारण का अध्ययन करते हैं, जबकि जेवन्स तथा उनके अनुयाई अल्पकालीन मूल्य की विवेचना करते हैं। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, दीर्घकाल में उत्पादन व्यय का अधिक महत्त्व होता है, जबकि अल्पकाल में माँग अथवा उपयोगिता का, यद्यपि मूल्य माँग और पूर्ति दोनों ही के द्वारा नियत होता है, किसी एक के द्वारा नही।

मूल्य माँग और पूर्ति में साम्य या सन्तुलन स्थापित हो जाने पर नियत होता है, परन्तु यह साम्य तुरन्त ही स्थापित नही हो जाता, वरन् इसमें समय लगता है। प्रारम्भ मे केवल अस्थाई अथवा अपूर्ण साम्य ही स्थापित होता है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, साम्य धीरे-धीरे स्थाई या पूर्ण होता जाता है, जिससे सिद्ध होता है कि साम्य का रूप तथा उसकी दशा समय पर निर्भर रहते हैं। इसी कारण मार्शल ने

मूल्य के सिद्धान्त में समय के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया है। उनका कथन है कि मूल्य पर मांग और पूर्ति की शक्तियों का जो प्रभाव पड़ता है, उसमें समय के अनुसार अन्तर होता है। उन्होंने समय को चार भागों में बांटा है—बहुत ही छोटा अल्पकाल, जो कुछ घण्टों, दिनों या सप्ताह तक ही सीमित रहता है। अल्पकाल, जो महीने या साल भर तक चलता है, छोटा दीर्घकाल, जो कुछ महीनों या सालों की अवधि रखता है तथा बड़ा दीर्घकाल। मार्शल का कहना है कि साधारणतया समय जितना ही कम होता है, उतना ही हमें मूल्य निर्धारण में मांग के प्रभाव पर अधिक ध्यान देना होता है और जितना ही समय अधिक होता जाता है, उतना ही उत्पादन व्यय का महत्त्व बढ़ता जाता है।[1] किसी समय विशेष का मूल्य, जिसे हम बाजार मूल्य का नाम देते हैं अर्थात् बहुत ही छोटे अल्पकाल का मूल्य, ऐसे कारणों से प्रभावित होता है जो आकस्मिक, अस्थाई तथा अल्पकालीन होते हैं और जो दृढ़तापूर्वक नहीं चलते रहते हैं, परन्तु जैसे-जैसे अधिक समय बीतता जाता है, इन कारणों में निश्चितता आती जाती है। इनका अस्थाईपन दूर होता जाता है और एक कारण दूसरे की परिवर्तनशीलता को धीरे-धीरे कम करता जाता है, जिसके फलस्वरूप लम्बे काल में पूर्ति दृढ़ तथा स्थाई कारणों से ही प्रभावित होती है, परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि दृढ़ और स्थाई कारण कभी बदलते ही न हों। बहुत लम्बे समय में उत्पादन विधि, उत्पत्ति के पैमाने तथा उत्पादन व्यय में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते हैं, जिससे स्थाई कारण भी बदल जाते हैं। बहुत लम्बे काल में मांग में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो सकते हैं। मांग आदतों, रीति-रिवाजों, आर्थिक परिस्थितियों तथा फैशन पर निर्भर होती है, जो बहुत लम्बे काल में स्वयं ही बदल जाते हैं। इस प्रकार बहुत लम्बे दीर्घकाल में मांग और पूर्ति दोनों ही बड़े अंश तक बदल जाते हैं, जिससे स्थाई साम्य भी बदल जाता है।

मार्शल की पूर्ति विवेचना—

मार्शल के अनुसार बाजार मूल्य से सम्बन्धित पूर्ति से हमारा अभिप्राय उस पूर्ति से होता है, जो इसी समय भण्डार (Stock) में होती है या जिसके इसी समय बाजार में आ जाने की आशा होती है। जहाँ तक सामान्य मूल्य से सम्बन्धित पूर्ति का सम्बन्ध है, यह चार प्रकार की हो सकती है।[2] यदि सामान्य मूल्य कुछ महीनों या

1. "As a *general* rule, the shorter the period which we are considering, the greater must be the share of our attention which is given to the influence of demand on value; and the longer the period, the more important will be the influence of cost of production on value."—Marshall : *Principles of Economics*, pp. 349—50.

2. "Four classes stand out. In each price is governed by the relations between demand and supply. As regards market prices, supply is taken to mean the stock of the commodity in question which *in hand or at all events in sight*. As regards normal prices when the term normal is taken to relate to short periods of a few months or a year, supply means broadly what *can* we produced for the price in question with the existing stock of plant, personal and impersonal in the given time. As regards normal prices when the term normal is to refer to long periods of several years, supply means what can be produced by plant which itself can be remuneratively produced within the given time ....."—Marshall : *Principles of Economics*, pp. 378 79.

एक साल की ओर संकेत करता है तो पूर्ति उस उत्पत्ति की मात्रा से निश्चित होती है, जो समय विशेष की कीमत को देखते हुए वर्तमान साधनों द्वारा उत्पन्न की जा सकती है। यदि हम कई साल के दीर्घकाल को लें तो इतने काल में नवीन मशीनों तथा उत्पत्ति के दूसरे साधनों का भी निर्माण किया जा सकता है, यदि कीमत के दृष्टिकोण से ऐसा करना लाभदायक है और इस प्रकार उत्पत्ति की मात्रा मे विशाल परिवर्तन किये जा सकते है। इसके विपरीत कई पीढ़ियों के दीर्घकालीन सामान्य मूल्य पर ज्ञान के विकास, जन सख्या, पूँजी की वृद्धि तथा बदलती हुई माँग की दशाओं का प्रभाव पड़ता है। बड़े लम्बे काल मे इन सब मे विशाल परिवर्तन हो जाते है।

प्रधान तथा अनुपूरक व्यय पर समय का प्रभाव--

समय के अध्ययन का मूल्य के सिद्धान्त मे एक और भी महत्त्व है। एक उत्पादक के कुल खर्च को हम दो भागो मे बाँट सकते है--प्रधान व्यय तथा अनुपूरक व्यय। इन दोनो के विषय मे दूसरे अध्याय में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है। अल्पकाल में एक उत्पादक के लिए यह बहुधा सम्भव नही होता कि वह कुल उत्पादन व्यय को वसूल कर सके। इस दशा मे वह केवल प्रधान व्यय (Prime Cost) तथा अनुपूरक व्यय (Supplementary Cost) के एक अंश को पा लेने पर ही सन्तोष कर लेता है, परन्तु दीर्घकाल में उत्पत्ति के कुल व्यय का वसूल हो जाना आवश्यक होता है, अन्यथा उत्पादन मे घाटा होता है और लम्बे समय तक हानि होने की दशा मे व्यवसाय को बन्द कर देना ही अधिक उचित होता है। दीर्घकाल मे प्रधान तथा अनुपूरक व्यय के वर्गीकरण मे भी अन्तर हो सकता है। अल्पकालीन अनुपूरक व्यय दीर्घकाल मे प्रधान व्यय बन सकता है।

समय और माँग--

समय का प्रभाव केवल पूर्ति पर ही नही पड़ता, परन्तु जैसा कि मार्शल की बहुत लम्बे काल की सामान्य कीमत की विवेचना से सिद्ध होता है, माग मे भी दीर्घकाल मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते है। जैसा कि हम पहले बता चुके है, माँग आदतों, रिवाजो, ज्ञान, फैशन, इत्यादि से निश्चित होती है, जो दीर्घकाल मे यथास्थिर नही रहते। जब किसी नई चीज का आविष्कार होता है तो आरम्भ मे उसकी माँग बहुत कम होती है, परन्तु धीरे-धीरे इसमे आश्चर्यजनक वृद्धि हो जाती है। रेडियो, पैनिसिलीन (Penicilline), आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है, इसलिए माँग की अल्पकालीन अनुसूचि दीर्घकाल के लिए उपयुक्त नही रहती है।

QUESTIONS

1. "We might as reasonably dispute whether it is the upper or the under blade of a pair of scissors that cuts a piece of paper

as whether value is determined by utility or cost of production." Explain. (Bihar, B. Com., 1958; Raj., B. Com., 1954; Raj., B. A., 1952; Agra, B. A., 1955 S, 1954, 1952; Agra, B. Com., 1955)

2. बाजार कीमत तथा सामान्य कीमत का अन्तर स्पष्ट कीजिये तथा समझाइये कि स्पर्धात्मक बाजार में सामान्य कीमत किस प्रकार निर्धारित (Determined) की जाती है ? (Agra, B. A., 1959 S)

3. Distinguish between 'Market' and 'Normal' Price. Explain how normal price is determined in the long period in the competitive market. (Agra, B. A., 1956 S, 1954, 1951; Agra, B. Com., 1958; Raj., B. Com., 1955)

4. What important part does the element of time play in the determination of value? Explain fully with the help of diagrams. (Agra, B. A., 1955, 1953)

5. (अ) वर्धी, (आ) ह्रासी तथा (इ) स्थिर लागतों के अन्तर्गत सामान्य मूल्य का निर्धारण कैसे किया जाता है ? अपने उत्तर को स्पष्ट करने के लिए रेखा-चित्र खींचिए। (Agra, B. Com., 1959)

6. Distinguish between Market Price and Normal Price. How is each determined. Discuss fully. (Agra, B. Com., 1946)

7. Define daily, short period, long period and secular markets. If no monopolistic influences are operating in any of them, how will prices tend to be determined in each? (Raj., B. A., 1950)

8. बाजार मूल्य तथा स्वाभाविक मूल्य का अन्तर बताइये। चित्र देकर समझाइये कि दीर्घकाल में किसी वस्तु का स्वाभाविक मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ? (Alld., B. A., 1957)

9. Differentiate between market price and normal price. Explain how normal price is determined and draw a diagram by way of illustration. (Alld., B. A., 1949)

10. (क) बाजार मूल्य और (ख) सामान्य मूल्य के विश्लेषण के प्रकरण में पूर्ति के अर्थ की व्याख्या कीजिए। (Sagar, B. Com., 1957)

11. अर्घ (Value) के निर्धारण में 'समय' के महत्त्व की विवेचना कीजिए। (Sagar, B. A., 1955)

12. प्रसामान्य मूल्य में 'समय तत्त्व' के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए। क्या उत्पादन व्यय स्थैतिक होता है ? (Jabalpur, B. Com., 1958)

13. दीर्घकालीन बाजार में मूल्य कैसे निश्चित होता है। अल्पकालीन और दीर्घकालीन बाजार के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। (Jabalpur, B. A., 1958)

14. What are the main characteristics of a long period market? How are prices determined in this market? (Raj., B. A., 1958)

अध्याय ६

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण

(Determination of Value Under Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यताएँ (Conditions of Perfect Competition)—

पूर्ण प्रतियोगिता की एक संक्षिप्त किन्तु सही परिभाषा इस प्रकार हो सकती है कि यह वह दशा है जिसमें बाजार में प्रत्येक उत्पादक की उपज की माँग पूर्णतया लोचदार होती है।* इसका अर्थ यह होता है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत को थोड़ा-बहुत घटा-बढ़ा कर एक विक्रेता अपनी उपज की माँग में असीमित अंश तक परिवर्तन कर सकता है। यदि एक उत्पादक कीमत को तनिक भी बढ़ाता है तो उसकी बिक्री घट कर शून्य तक गिर सकती है और इसी प्रकार कीमत को बहुत थोड़ा सा घटा कर उत्पादक अपनी बिक्री असीमित अंश तक बढ़ा सकता है। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता के होने के लिए निम्न दशाओं का होना आवश्यक है:—

(१) बाजार में ग्राहकों और विक्रेताओं की संख्या बहुत अधिक होनी चाहिए।

(२) प्रत्येक ग्राहक वस्तु की कुल मात्रा का केवल एक छोटा सा भाग ही खरीदे और इसी प्रकार प्रत्येक विक्रेता कुल मात्रा का एक छोटा सा भाग ही बेचता हो।

(३) वस्तु की सभी इकाइयाँ पूर्ण रूप में समान होनी चाहिए, जिससे कि वस्तु की प्रत्येक इकाई, चाहे वह किसी भी विक्रेता द्वारा बेची जावे, किसी भी दूसरी इकाई का पूर्ण प्रतिस्थापन कर सके।

(४) विभिन्न फर्मों (Firms) को उद्योग में आने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(५) प्रत्येक ग्राहक को प्रत्येक विक्रेता द्वारा माँगी जाने वाली तथा प्रत्येक विक्रेता को प्रत्येक ग्राहक द्वारा दी जाने वाली कीमत का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए।

(६) ग्राहकों और विक्रेताओं के लिए पूर्ण गतिशीलता (Perfect Mobility) होनी चाहिए अर्थात् कोई भी ग्राहक ऊँची कीमत माँगने वाले विक्रेता

* Perfect competition implies that the elasticity of demand for the product of an individual seller is infinite.

का माल खरीदने से इन्कार कर सके और इसी प्रकार कोई भी विक्रेता नीची कीमत देने वाले ग्राहक को बेचने से इन्कार कर सके ।

(७) ग्राहकों और विक्रेताओं दोनों ही को मांग और पूर्ति की वर्तमान और भावी दशाओं का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए । उनके लिए परिवर्तनों का अनुमान लगाना सम्भव होना चाहिए । दूसरे शब्दों में, उन्हें व्यवसाय की भावी प्रवृत्तियों का सभी अनुमान प्राप्त होना चाहिए ।*

पूर्ण प्रतियोगिता और मुक्त प्रतियोगिता (Perfect Competition and Free Competition)—

बहुत बार पूर्ण तथा मुक्त प्रतियोगिता दोनों को एक ही अर्थ में उपयोग किया जाता है । परन्तु वास्तव में दोनों एक नहीं हैं । मुक्त प्रतियोगिता का अर्थ यह होता है कि मांग और पूर्ति की शक्तियों के मार्ग में वैधानिक, सामाजिक तथा नैतिक बाधाएं न हों । पूर्ण प्रतियोगिता के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है । इसमें तो किसी भी प्रकार की कोई भी बाधा नहीं होनी चाहिए ।

प्रतिष्ठित (Classical) अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुक्त प्रतियोगिता उस स्थिति को सूचित करती है, जिसमें व्यक्तिगत उपक्रम वास्तविक जीवन में बिना किसी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप के चालू रह सके । इसके विपरीत पूर्ण प्रतियोगिता को एक आदर्श स्थिति के रूप में माना गया था, जिसमें उत्पत्ति के साधनों की पूर्ण गतिशीलता तथा विभाजकता हो और ग्राहकों और विक्रेताओं को कीमतों का पूर्ण ज्ञान हो, जिससे कि परिस्थितियों के बदलने की दशा में आर्थिक जगत में भी स्वयं ही परिवर्तन हो सकें । अधिक सही भाषा में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि मुक्त प्रतियोगिता का अर्थ सरकारी हस्तक्षेप का अभाव है, परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता में किसी भी प्रकार की बाधा अथवा किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए ।

पूर्ण प्रतियोगिता और शुद्ध प्रतियोगिता (Perfect Competition and Pure Competition)—

कुछ लेखकों ने, मुख्यतया प्रो० चैम्बरलेन ने, पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता के बीच भी भेद किया है । कहा जाता है कि पूर्ण प्रतियोगिता तो केवल कोरी कल्पना है, जिसका वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु शुद्ध प्रतियोगिता वास्तविक जीवन में सम्भव हो सकती है । ऊपर पूर्ण प्रतियोगिता की जिन दशाओं की गणना की गई है उनमें से अन्तिम दो अर्थात्, पूर्ण गतिशीलता तथा भावी मांग और पूर्ति का पूर्णतया सही अनुमान तो वास्तविक जीवन में असम्भव है । यदि इन दोनों शर्तों को

---

* There is no complete agreement among writers in their use of the term 'perfect competition.' According to some only the first five conditions are essential ; the last two are not so necessary. But it should be potently clear that without the last two conditions, competition cannot be perfect.

हटा दिया जाय तो शुद्ध प्रतियोगिता की दशा प्राप्त हो जायेगी, जो वास्तविक जीवन में सम्भव हो सकती है।

पूर्ण प्रतियोगिता पूर्णतया कल्पित है (Perfect Competition is a Myth)—

यदि हम उन मान्यताओं को ध्यानपूर्वक देखें जो कि पूर्ण प्रतियोगिता के लिए आवश्यक हैं तो हम निस्सन्देह इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता का होना सम्भव नहीं है। यह तो एक कोरी कल्पना मात्र है। वास्तविक जीवन में बहुत बार ऐसा देखने मे आता है कि एक अकेला ग्राहक अथवा एक अकेला विक्रेता वस्तु की कीमत को बहुत बड़े अंश तक प्रभावित कर सकता है। सेवाओं के बाजार में तो यह बात बड़ी ही स्पष्टता के साथ दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि एक अकेला सेवायोजक (Employer) अपनी ओर से शर्तें रखने में बड़े अंश तक सफल हो जाता है। इसी प्रकार बहुमूल्य वस्तुओं के उत्पादक अथवा विक्रेता की स्थिति भी एकाधारी सदृश्य होती है। इसके अतिरिक्त वस्तु की विभिन्न इकाइयों के बीच भी अन्तर रहते हैं। बहुत बार तो ये अन्तर वास्तविक होते हैं, परन्तु कभी-कभी ये काल्पनिक (Imaginary) भी हो सकते हैं। विक्रेता प्रचार तथा विज्ञापन, किस्म के सूक्ष्म अन्तर, पैकिंग, डिजायन, आदि द्वारा भी विभिन्न इकाइयों में अन्तर उत्पन्न कर देता है। ग्राहकों की मनोवृत्ति को प्रभावित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ग्राहकों और विक्रेताओं को कीमत के विषय में भी पूर्ण ज्ञान नहीं होता है और न ही वे बाजार की दशाओं से पूर्णतया परिचित होते हैं। बहुत बार तो वे आलस्य के कारण भी इन बातों से अपरिचित रहते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि कभी-कभी पूर्णतया एक जैसी वस्तुओं की भी कीमतें अलग-अलग रहती हैं।

उपरोक्त बाधाओं के अतिरिक्त और भी बहुत से कारण हैं जो पूर्ण प्रतियोगिता को सम्भव नहीं होने देते हैं। उत्पत्ति के साधनों की विभिन्न उद्योगों, स्थानों और फर्मों के बीच होने वाली गतिशीलता के मार्ग में अनेक बाधाएं होती हैं। उपभोक्ताओं तथा विक्रेताओं के संघ पूर्ण प्रतियोगिता को असम्भव बना देते हैं। स्वयं राज्य भी आर्थिक जीवन मे हस्तक्षेप करता है। विशेष परिस्थितियों जैसे युद्धकाल में तथा संकट काल में सरकारी हस्तक्षेप बहुत व्यापक हो सकता है। इसके अतिरिक्त श्रमिक संघ भी श्रम की निष्कंटक गतिशीलता में बाधक होते हैं। बहुत बार तो रूढ़ियाँ, प्रथाएं तथा भावनाएं भी विक्रेताओं और ग्राहकों के स्वतन्त्र चुनाव में बाधा डालते हैं। ग्राहकों की कुछ ऐसी मनोवृत्ति होती है कि वे बहुधा बिना विचारे उन विक्रेताओं की ओर खिंचे चले जाते हैं जिनसे वे पहले से खरीदते आये हैं और दूसरों से कीमत पूछने का कष्ट भी नहीं करते। विक्रेता भी बंधे हुए ग्राहकों के प्रति अधिक उदार होता है।

उपरोक्त सभी कारण पूर्ण प्रतियोगिता की दशा को अवास्तविक बना देते हैं।

इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता का विचार एक सैद्धान्तिक वास्तविकता (Theoretical Reality) मात्र है। यहाँ पर यह बताना भी प्रसंगत न होगा कि पूर्ण प्रतियोगिता एक आदर्श दशा (Idealistic Circumstance) भी नहीं है। अर्थशास्त्र के अध्ययन में हम पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता को केवल इसलिए स्वीकार करते हैं कि इससे हमारा अध्ययन सरल हो जाता है। यद्यपि पूर्ण प्रतियोगिता का अध्ययन हमे वास्तविक जीवन से दूर ले जाता है, परन्तु यह अध्ययन हमारे वास्तविक जीवन के अध्ययन मे सहायक अवश्य होता है। यही कारण है कि पूर्ण प्रतियोगिता का अध्ययन आर्थिक अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य-निर्धारण—

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में मूल्य का निर्धारण किस प्रकार होता है। इस सम्बन्ध मे यह बात जानने योग्य है कि पूर्ण प्रतियोगिता की चार विभिन्न दशाएँ सम्भव हो सकती हैं। पूर्ण प्रतियोगिता अल्पकाल में, दीर्घकाल में, स्थिर साम्य की दशा में तथा प्रवैगिक साम्य को दशा मे, परन्तु इस अध्याय में हम प्रायः पूर्ण प्रतियोगिता के सामान्य रूप का अध्ययन करेंगे। विवेचना को सरल बनाने के उद्देश्य से कुछ जटिल परिस्थितियो का यथास्थिर मान लेना आवश्यक है। साथ ही साथ, यह भी निश्चय है। कि पूर्ण प्रतियोगिता के मध्ययन का महत्त्व प्रायः सैद्धान्तिक ही है, व्यावहारिक (Practical) नहीं है, क्योंकि वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता का उदाहरण मिलना कठिन है।

पूर्ण प्रतियोगिता और माँग—

पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में खरीदने वालों तथा बेचने वालो की संख्या बहुत अधिक होती है और विक्रेताओं मे कण्ठछेदी स्पर्धा (Cut Throat Competition) होता है, जिसका अर्थ यह होता है कि प्रत्येक विक्रेता कीमत को घटा कर सारे ग्राहको को अपनी ओर खीचने का प्रयत्न करता है। अब क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे प्रत्येक ग्राहक को वस्तु का दाम-सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान (Perfect knowledege) होता है, अर्थात् प्रत्येक ग्राहक को प्रत्येक विक्रेता के दाम मालूम होते हैं और स्वभाव से ही प्रत्येक ग्राहक कम से कम दामो पर वस्तु को खरीदना चाहता है, इसलिए जो विक्रेता दूसरो की अपेक्षा थोड़ी कम कीमत पर बेचने को तैयार होता है, सारे ग्राहक उसी पर टूट पडते हैं। दूसरे विक्रेता अपना माल बेच ही नही सकते हैं। उनकी बिक्री बहुत तेजी से घट जाती है। ऐसी दशा में ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित करने का किसी भी विक्रेता के पास एक ही उपाय होता है, अर्थात् दामो को घटा देना। जैसे ही कोई दाम घटाता है, सब ग्राहक इस बात को जान लेते हैं और उसी विक्रेता से माल खरीदने के लिए दौड़ते हैं। प्रतिकार (Retaliation) अथवा बिक्री न होने के कारण से बाध्य होकर दूसरे विक्रेताओं को भी दाम घटाने पड़ते हैं और इस प्रकार दूसरों से कम दामों पर बेचकर अधिक बिक्री करने के लोभ

के कारण दाम घटाने (Price-cutting) का क्रम बराबर चलता रहता है। प्रत्येक विक्रेता दूसरों से थोड़े कम दामों पर वस्तु विशेष को बेचने का प्रयत्न करता है। उदाहरणस्वरूप, यदि प्रचलित दाम ४ रुपया प्रति इकाई है तो कोई विक्रेता ३।।।≈) प्रति इकाई बेचने का प्रयत्न करेगा। दूसरा ३।।।≈), तीसरा ३।।।-) और चौथा ३।।।), इत्यादि। इस प्रकार दाम बराबर घटते चले जायँगे।१

अब प्रश्न यह उठता है कि यह इस प्रकार दाम घटाने का क्रम कब तक चलता रहेगा ? यह निश्चय है कि दाम घटते-घटते शून्य (Zero) तक नहीं पहुँच सकते हैं, क्योंकि ऐसी दशा मे विक्रेताओं अथवा उत्पादकों को कुछ भी नहीं मिलेगा, जबकि उत्पादन व्यय के रूप में उन्हें उल्टा अपनी गाँठ से ही देना पड़ेगा। कोई भी विक्रेता दाम तभी तक घटा सकता है, जब तक कि बिक्री से उसे हानि न होती हो। दूसरे शब्दों मे, दामों के बराबर घटने से विक्रेता के लाभ मे कमी होनी चली जाती है और यदि दाम घटाने का क्रम लम्बे काल तक चलता रहे तो अन्त में लाभ का लोप हो जाता है। निश्चय है कि लम्बे समय तक कोई भी विक्रेता हानि नहीं उठा सकता है। यदि दाम इतने नीचे गिर जायँ कि उत्पादक अथवा विक्रेता को हानि ही होती रहे तो वह उस व्यवसाय को छोड़ देगा, किन्तु जब तक थोड़ा भी लाभ शेष रहेगा, दाम घटाकर अधिक बिक्री करने की प्रवृत्ति कार्यशील होती रहेगी और इसलिए अन्त मे दाम का घटाना केवल वहीं बन्द होगा जहाँ लाभ का प्राप्त होना समाप्त हो जाता है।

दामों के इस प्रकार घटते रहने का महत्त्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे दीर्घकालीन में कीमत केवल एक ही होती है, अर्थात् सब विक्रेता एक ही दाम पर बेचते हैं और प्रत्येक एक ही दाम पर खरीदता है। दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे माँग की प्रवृत्ति बदल जाती है। वस्तु की थोड़ी और अधिक मात्राएँ भी एक ही दाम पर बिकती हैं। अल्पकाल में तो यह सम्भव हो सकता है कि एक विक्रेता दूसरों से कम दामों पर बेचे, परन्तु दीर्घकाल मे सभी को एक ही दाम पर बेचना होता है। अभिप्राय यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे दीर्घकाल में केवल एक ही कीमत रह सकती है। यदि कोई विक्रेता या कुछ विक्रेता इससे थोड़े कम दामों पर बेचते हैं तो सारे ग्राहक उन्हीं से खरीदने के लिए आते हैं। अब यदि उस विक्रेता या उन विक्रेताओं का वस्तु की पूर्ति की मात्रा के अधिकांश भाग पर नियन्त्रण है तो थोड़े ऊँचे दाम माँगने वालों की कुछ भी बिक्री नहीं हो सकेगी और उनको विवश होकर दामों को घटा कर वहीं लाना पड़ेगा, जहाँ पहले विक्रेता अथवा विक्रेताओं ने रखा है। इस प्रकार अन्त मे वही घटी हुई कीमत चालू कीमत (Current Price) बन जायगी। इसके विपरीत यदि पहले विक्रेता अथवा विक्रेताओं का वस्तु की पूर्ति के बहुत ही थोड़े भाग पर अधिकार है तो कम दामों पर बेचने के कारण शीघ्र ही वे अपने सारे भण्डार (Stock) को बेचकर समाप्त कर देंगे और उसके पश्चात् दूसरे विक्रेताओं द्वारा माँगी हुई कीमत ही बाजार में एक मात्र कीमत रह जायगी। इस प्रकार दीर्घकाल में केवल एक ही कीमत रहेगी।

इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि अल्पकाल में भी यथार्थ में कीमत एक ही रहती है, यद्यपि विभिन्न विक्रेता अलग-अलग दाम मांगते हैं, किन्तु बिक्री समय विशेष में केवल एक ही दाम पर होती है। तात्पर्य यह है कि वैसे तो अलग अलग विक्रेता अलग-अलग दाम मांगते हैं, किन्तु क्रय केवल उन दामों पर होता है, जो सबसे कम होते हैं। इस प्रकार प्रभाविक कीमत (Effective Price) केवल एक ही होती है। कीमत की इस प्रवृत्ति से हमें पूर्ण प्रतियोगिता में मांग की रेखा का एक विशेष गुण ज्ञात होता है। इस दशा में मांग की रेखा अ क अक्ष रेखा के समानान्तर होती है अर्थात् मांग पूर्णतया लोचदार (Perfectly elastic) होती है और वह एक सरल रेखा होती है। नीचे का चित्र इसे दिखाता है :—
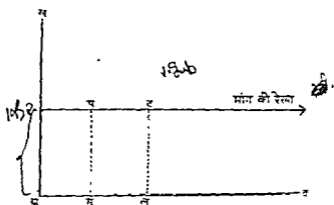
इस चित्र में हम देखते हैं कि प म और ट ल बराबर कीमतों को दिखाते हैं, परन्तु प म दामों से सम्बन्धित मांग की मात्रा केवल अ म है, जब कि ट ल से सम्बन्धित मांग की मात्रा अ ल है, जो इससे बहुत अधिक है। इस प्रकार कीमत के शून्य परिवर्तन के फलस्वरूप मांग में असीमित परिवर्तन हो जाते हैं। यहां मांग की लोच असीमित है। ऐसी दशा में मांग की रेखा का अ क के समानान्तर होना स्वाभाविक है। चित्र में मांग की रेखा का यही रूप दिखाया गया है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्तिगत विक्रेता के लिए मांग पूर्णतया लोचदार होती है। इस बात का किसी फर्म की औसत और सीमांत आगम की रेखाओं की स्थिति और उनके रूप पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। क्योंकि मांग पूर्णतया लोचदार होती है, इसलिए एक विक्रेता एक ही कीमत पर वस्तु की कितनी भी मात्रा बेच सकता है। मान लीजिए कि वस्तु की प्रति इकाई कीमत १० रुपया है तो ऐसी दशा में विक्रेता विशेष की आगम अनुसूची (Revenue Schedule) निम्न प्रकार होगी :—

तालिका

वस्तु की इकाइयां	कीमत अथवा औसत आगम (रुपयों मे)	कुल आगम (रुपयों मे)	सीमान्त आगम (रुपयों में)
१	१०	१०	१०
२	१०	२०	१०
३	१०	३०	१०
४	१०	४०	१०
५	१०	५०	१०

क्योंकि विक्रेता वस्तु को प्रत्येक इकाई को एक ही कीमत पर बेचता है, इसलिए औसत आगन कीमत के बराबर रहेगी और क्योंकि बिक्री की प्रत्येक मात्रा के लिए कीमत समान ही है, इसलिए औसत आगम समान ही रहेगी, चाहे कितनी ही मात्रा क्यों न बेची जाये। इसके अतिरिक्त बिक्री की प्रत्येक मात्रा पर औसत आगम सीमान्त आगम के बराबर होगी। गणित की भाषा मे इसका *अर्थ यह होता है कि औसत और सीमान्त आगम एक ही रेखा द्वारा सूचित होंगी और वह रेखा भी एक सरल रेखा होगी, जो कि अ क के समानान्तर होगी और अ क से कीमत के बराबर दूरी पर होगी।* नीचे के चित्र मे आगम रेखाएँ दिखाई गई हैं :—
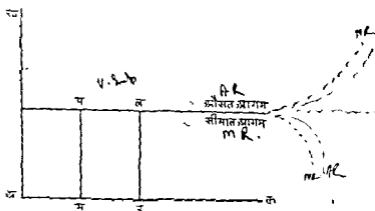
इस चित्र के अनुसार जब बिक्री को मात्रा अ म है तो औसत और सीमांत आगम दोनों प म के बराबर हैं और जब बिक्री की मात्रा अ र है तो औसत और सीमांत आगम ल र के बराबर हैं। किन्तु प म और ल र दोनो एक दूसरे के बराबर हैं, इसलिए औसत आगम/सीमान्त आगम की रेखा अ क के समानान्तर होगी।

एक दूसरी रीति से भी इस बात को समझाया जा सकता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, माग की रेखा के स्थान पर आगम रेखाओं (Revenue

Curves) का उपयोग किया जा सकता है और इन रेखाओं के रूप और गुण मांग की रेखा जैसे ही होते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता में आगम की रेखायें भी क्षितिज के समानान्तर (Horizontal) होती हैं। औसत आगम औसत कीमत का ही दूसरा नाम है, इसलिये उसकी रेखा का ठीक वही रूप होगा, जो मांग की रेखा का होता है, परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में औसत तथा सीमान्त आगम एक ही रेखा द्वारा सूचित किये जाते हे, अर्थात् दोनो की रेखायें अनुरूप होती हैं। इसका कारण यह है कि दीर्घकाल मे प्रत्येक दूकानदार की सीमान्त आगम तथा औसत आगम का समान होना आवश्यक है। यदि अन्तिम इकाई से प्राप्त आगम औसत आगम से कम है तो यह लाभ को दिखाता है और यदि इसके विपरीत है तो हानि को, परन्तु दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे लाभ और हानि दोनों का ही रहना असम्भव है, इसलिये इस दशा में औसत और सीमान्त आगम बराबर हो रहेगी।

पूर्ण प्रतियोगिता में पूर्ति—

पूर्ति तथा उत्पादन व्यय का रूप पूर्ण प्रतियोगिता में भी उनके साधारण अथवा सामान्य रूप से भिन्न नही होता है। अल्पकाल मे यदि हम प्रवैगिक दशा (Dynamic State) को लेते हैं तो किसी भी फर्म (Firm) के लिए यह सम्भव होता है कि या तो वह लाभ कमाये या हानि सहन करे। अल्पकाल में मांग का महत्व बहुत होता है, क्योकि पूर्ति मे परिवर्तन कर देना सम्भव नही होता है, मांग के घटने-बढने के अनुसार कीमत भी घटती-बढ़ती है और यदि उत्पादक उत्पादन व्यय से ऊँचे दामो पर बेचता है तो उसे लाभ होता है, परन्तु यदि वह उत्पादन व्यय से भी नीचे दामो पर बेचने के लिये बाध्य होता है तो उसे हानि उठानी पडती है। साधारणतया एक विक्रेता के उत्पादन व्यय मे तीन प्रकार के व्यय सम्मिलित होते हैं:—प्रधान उत्पादन व्यय, अनुपूरक उत्पादन व्यय तथा वस्तु को बिक्री के लिए प्रस्तुत करने का व्यय (Marketing Cost) शीघ्र नाशवान वस्तुओ के दाम अल्पकाल मे कभी-कभी इतने नीचे गिर जाते हैं कि विक्रेता को केवल बिक्री व्यय (Marketing Cost) ही प्राप्त हो सकती है। इसके विपरीत जो वस्तुएँ शीघ्र खराब नही होती हैं उनमें हानि कम होती है। ऐसी वस्तुओ को बेचने के लिए तभी तक प्रस्तुत किया जाता है, जब तक कीमत के रूप मे कम से कम बिक्री व्यय तथा प्रधान व्यय (Prime Cost) वसूल हो जाते हैं। यदि कम से कम इतना व्यय वसूल नही होता है तो विक्रेता वस्तु का संचय कर लेगा और उसे बिक्री के लिए प्रस्तुत नही करेगा। इस प्रकार अल्प-काल में लाभ और हानि दोनो की ही सम्भावना हो सकती है, किन्तु हानि कितनी होगी, यह वस्तु विशेष के गुणो पर निर्भर रहता है। शीघ्र नाशवान वस्तुओं मे हानि की सम्भावना अधिक रहती है।

दीर्घकालीन उत्पादन व्यय की रेखाएँ—

अब प्रश्न यह उठता है कि पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकालीन उत्पादन व्यय की वक्र रेखा किस प्रकार खीची जाती है? किसी भी वस्तु की अल्पकालीन उत्पादन व्यय

की रेखायें सरलता से खींची जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम अल्पकाल की अवधि एक महीने की मानते हैं तो महीने भर के प्रत्येक दिन के औसत व्यय के बिन्दुओं को ग्राफ कागज पर निश्चित करके हम प्रत्येक महीने के औसत उत्पादन व्यय को रेखा खींच सकते हैं। यदि हमारी दीर्घकाल की अवधि एक साल है तो बारह महीनों के अल्पकालीन औसत उत्पादन व्यय की वक्र रेखायें हमारे सामने होंगी। इन रेखाओं के आधार पर साल भर के औसत उत्पादन व्यय की वक्र रेखा आसानी से खींची जा सकती है। दीर्घकालीन औसत उत्पादन व्यय की रेखा अल्पकालीन उत्पादन व्यय की रेखाओं के सबसे नीचे बिन्दु के बिन्दुपथ (Locus) द्वारा सूचित की जाती है, जैसा कि नीचे का रेखा-चित्र दिखाता है :—
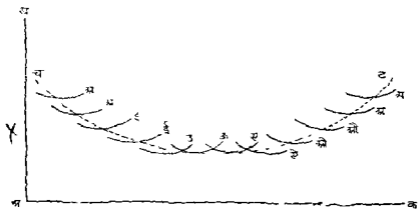
इस चित्र में च ट रेखा जो बिन्दुदार (Dotted) रेखा है, दीर्घकालीन औसत उत्पादन व्यय की रेखा है। यह रेखा अ, आ, इत्यादि वक्र रेखाओं के सबसे नीचे बिन्दुओं को मिलाती है। ठीक इसी प्रकार हम दीर्घकालीन सीमान्त उत्पादन व्यय की रेखा को भी खींच सकते हैं, जिसमें कोई विशेष कठिनाई नहीं होती है, क्योंकि यह भी अल्पकालीन सीमान्त व्यय की रेखाओं के सबसे नीचे बिन्दुओं को मिलाकर खींची जा सकती है। अन्त में दीर्घकालीन उत्पादन व्यय की रेखाओं का रूप निम्न प्रकार होता है :—
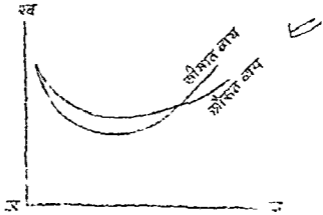
ये रेखायें अल्प तथा दीर्घ दोनों ही कालों को दिखाती है और उत्पत्ति सम्बन्धी तीनों नियमों, अर्थात्—क्रमःगत उत्पत्ति वृद्धि, स्थिरता तथा ह्रास नियमों को दिखाती हैं। अल्पकाल में अधिकतर वृद्धि नियम लागू होता है और औसत तथा सीमान्त व्यय घटते चले जाते हैं। फिर उत्पत्ति स्थिरता नियम कार्यशील होता है तथा उत्पादन व्यय यथास्थिर रहता है और अन्त मे ह्रास नियम के अनुसार व्यय बढ़ता जाता है। ऊपर के चित्र में उत्पादन व्यय की रेखा आरम्भ में नीचे गिरती जाती है, फिर अ क के समानान्तर हो जाती है और अन्त मे ऊपर को चढ़ती जाती है।

मूल्य का निर्धारण (The Determination of Price)—

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि पूर्ण प्रतियोगिता का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है। एक पिछले अध्याय में हमने मूल्य निर्धारण की सामान्य दशा (General Case) का अध्ययन किया था। हमने देखा था कि मूल्य उस बिन्दु द्वारा निर्धारित होता है, जहाँ सीमान्त आगम तथा सीमान्त उत्पादन व्यय की वक्र रेखायें (The curves of marginal revenue and marginal cost) एक-दूसरे को काटती हैं। हमने देखा था कि दीर्घकाल मे केवल इसी प्रकार निर्धारित मूल्य स्थाई रह सकता है। यह सामान्य दशा पूर्ण प्रतियोगिता पर भी लागू होती है, परन्तु जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता सम्बन्धी मांग और पूर्ति की विवेचना से स्पष्ट होता है कि पूर्ण प्रतियोगिता की कुछ अपनी विशेषतायें होती हैं, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि दीर्घकाल मे लाभ और हानि का बिल्कुल अन्त हो जाता है, इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता का मूल्य दीर्घकाल मे इस प्रकार निर्धारित होगा कि सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय के समान रहते हुए भी उत्पादक अथवा विक्रेता को न तो लाभ ही हो और न हानि ही। यद्यपि अल्पकाल में ऐसा होना आवश्यक नहीं है।

अल्पकाल में कीमत का निर्धारण—

पूर्ण प्रतियोगिता मे भी अल्पकाल मे लाभ अथवा हानि हो सकती है। इस सम्बन्ध मे विशेषता केवल इतनी होती है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे औसत और सीमांत आगम बराबर होती है। मूल्य का सामान्य सिद्धान्त हमे बताता है कि कीमत का निर्धारण इस प्रकार होता है कि सीमान्त उत्पादन व्यय तथा सीमान्त आगम दोनो बराबर हो। पूर्ण प्रतियोगिता मे अल्पकालीन दृष्टिकोण से स्थिति यह होगी कि सीमात व्यय तो सीमात आगम के बराबर होगा ही, परन्तु क्योंकि औसत और सीमात आगम बराबर हैं इसलिए सीमात व्यय, सीमात आगम और औसत आगम तीनो समान रहेंगे। कीमत का निर्धारण निम्न चित्र के अनुसार होगा :—
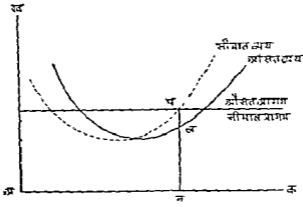
चित्र के अनुसार कीमत **प म** के बराबर होगी, क्योंकि **प म** औसत आगम, सीमांत आगम और सीमांत व्यय तीनों की समानता को दिखाती है। जब बिक्री की मात्रा **अ म** है तो औसत व्यय **ल म** के बराबर है, किन्तु औसत आगम **प म** है, इसलिए बिक्री की प्रत्येक इकाई पर औसत लाभ **प म—ल म=प ल** होगा और कुल लाभ **प ल×अ म** होगा, अर्थात् कुल बिक्री और औसत लाभ का गुणनफल। इसी दशा में लाभ अधिकतम् होगा। अतः अल्पकाल में पूर्ण प्रतियोगिता में भी लाभ का होना सम्भव है, जो कण्ठ-छेदी प्रतियोगिता के कारण दीर्घकाल में समाप्त हो जायेगा।

दीर्घकालीन कीमत का निर्धारण—

दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कोई भी फर्म लाभ प्राप्त नहीं कर सकती है। प्रत्येक विक्रेता अपनी बिक्री को बढ़ाने के लिए कीमत को घटाता जायेगा, जिसके कारण धीरे धीरे औसत लाभ घटता जायेगा और अन्त में दीर्घकाल में ऐसी स्थिति आ जायेगी कि लाभ पूर्णतया समाप्त हो जायेगा। लाभ केवल उसी दशा में समाप्त होगा जबकि औसत व्यय औसत आगम के बराबर हो जाये। यहाँ पर यह प्रश्न भी उठ सकता है कि क्या कीमत इससे और नीचे नहीं गिर सकती है? औसत आगम अथवा कीमत यदि औसत व्यय से नीचे गिरती है तो बिक्री की प्रत्येक इकाई पर हानि होने लगती है। जहाँ तक अल्पकाल का प्रश्न है, एक विक्रेता, इस आशा पर कि आगे चल कर लाभ होगा, कुछ समय तक हानि भी उठा सकता है। परन्तु यह हानि यदि दीर्घकाल में भी बनी रहती है तो कोई भी फर्म अपने व्यवसाय को चालू नहीं रख सकती है। दीर्घकाल में हानि होने का अर्थ व्यवसाय का बन्द होना होता है। अतः दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता में हानि नहीं होगी और, जैसा कि ऊपर बताया गया है, लाभ भी नहीं होगा। कीमत इस प्रकार निश्चित होगी कि कुल आगम कुल व्यय के बराबर हो अथवा औसत आगम औसत व्यय के बराबर हो।

यदि औसत आगम औसत व्यय से अधिक है तो उत्पादक या विक्रेता को लाभ होगा, क्योंकि ऐसी दशा में उत्पत्ति की प्रत्येक इकाई उससे अधिक दामों पर बिकेगी,

जितना कि उस पर औसत खर्च पड़ा है। दूसरे शब्दों में, कुल आगम कुल व्यय से अधिक होगा, जो लाभ को सूचित करेगा। उदाहरणस्वरूप, यदि १,००० इकाइयाँ बेची जाती हैं और दाम ११ रुपये प्रति इकाई है तो कुल आगम ११,००० रुपये होगी। अब यदि औसत उत्पादन व्यय केवल १० रुपये प्रति इकाई है तो कुल व्यय १०,००० रुपये होगा, जिसके फलस्वरूप १,००० रुपये का लाभ होगा। ठीक इसी प्रकार यदि औसत आगम औसत व्यय से कम है तो हानि होगी। अब क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में लम्बे काल में न तो लाभ होता है और न हानि, इसलिए औसत आगम औसत व्यय से कम या अधिक नहीं होती है। लाभ और हानि दोनों का अन्त उसी समय हो सकता है जबकि औसत आगम तथा औसत व्यय बराबर हों। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता की एक विशेषता यह होती है कि औसत आगम और औसत व्यय बराबर होते हैं।

माग की विवेचना में हम यह पहले ही देख चुके हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में औसत और सीमान्त आगम बराबर होते हैं और एक ही रेखा द्वारा अङ्कित किये जाते हैं। यह भी हम देख चुके हैं कि स्थाई साम्य में सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय का बराबर होना आवश्यक है। इस प्रकार दीर्घकालीन मूल्य में पूर्ण प्रतियोगिता द्वारा निम्नलिखित विशेषताएँ उपस्थित की जाती हैं :—

औसत व्यय = औसत आगम
औसत आगम = सीमांत आगम
सीमांत आगम = सीमांत व्यय

दूसरे शब्दों में, पूर्ण प्रतियोगिता का दीर्घकालीन मूल्य निम्न दशा से सूचित होता है। औसत आगम = औसत व्यय = सीमान्त आगम = सीमान्त व्यय। गणित की भाषा में हम इस बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि यह मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित होता है, जहाँ पर औसत आगम, सीमान्त आगम, औसत व्यय तथा सीमान्त व्यय चारों की वक्र रेखाएँ एक-दूसरी को काटती हैं। नीचे का चित्र इसी स्थिति को दिखाता है :—
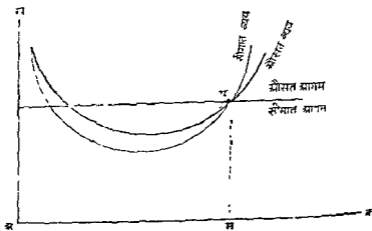
इस चित्र मे प म कीमत को सूचित करती है। औसत तथा सीमान्त आगम एक ही सरल रेखा द्वारा अङ्कित होते हैं, जो कि अक्ष अ क के समानान्तर है। व्यय की रेखायें दीर्घकाल को दिखाती हैं, क्योंकि प्रारम्भ में वृद्धि और स्थिरता नियम को कार्यशील दिखाते हुए यह अन्त में उत्पत्ति की ह्रास नियम का बोध कराती हैं। प्रारम्भ मे सीमान्त व्यय की रेखा औसत व्यय की रेखा से नीचे रहती है, किन्तु जैसे ही उत्पत्ति ह्रास नियम कार्यशील होता है, यह ऊपर को चढने लगती है और प बिन्दु पर औसत व्यय की रेखा को काटती हुई उस रेखा से ऊपर की ओर चली जाती है, क्योंकि उत्पत्ति ह्रास नियम के आधीन सीमान्त व्यय औसत व्यय से अधिक होता है। प बिन्दु पर औसत और सीमान्त आगम और व्यय चारो एक-दूसरे के बराबर हैं, इसलिए प म ही मूल्य या कीमत हो सकती है।

प्रतिनिधि फर्म या सार्थ (The Representative Firm)—

अभी हमने देखा है कि पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित होता है, जहाँ औसत और सीमान्त आगम और व्यय चारो एक दूसरे के बराबर होते हैं, परन्तु हमने इस सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर नही दिया है। जैसा कि ज्ञात है, पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में अनेक उत्पादक अथवा विक्रेता होते हैं और साथ ही साथ इन सबका उत्पादन व्यय भी समान नहीं होता है। अब जब हम यह कहते हैं कि मूल्य का निर्धारण औसत और सीमान्त आगम और व्यय के समानता बिन्दु पर होता है तो प्रश्न यह उठता है कि हम किस फर्म या सार्थ के उत्पादन व्यय तथा आगम की ओर सकेत कर रहे हैं ? क्योंकि अनेक फर्म हैं, इसलिए यह बताना आवश्यक होता है कि किस फर्म के आगम और व्यय की समानता द्वारा मूल्य निश्चित होता है। प्रवैगिक दशा (Dynamic State) मे तो इस प्रश्न का उत्तर देना और भी कठिन होता है, क्योंकि उस दशा मे प्रवैगिक साम्य (Dynamic Equilibrium) स्थापित होता है। प्रवैगिक दशा मे फर्में भिन्न-भिन्न पैमाने की होती हैं और नई तथा पुरानी सभी प्रकार की फर्में देखने में आती हैं। अलग-अलग फर्म की आर्थिक विकास की स्थिति भी अलग-अलग होती है। कुछ फर्मों का विकास होता रहता है और कुछ का सकुचन। कुछ फर्म लाभ कमाती हैं और कुछ हानि उठाती हैं। ऐसी दशा में तीन सम्भावनाएं होती हैं, अर्थात् या तो कीमत सीमान्त फर्म के उत्पादन व्यय के बराबर हो या सबसे कुशल फर्म के और या औसत फर्म के व्यय के, किन्तु इन तीनों मे से कोई भी सम्भव नहीं हो सकता है। कारण यह है कि यदि कीमत सीमान्त फर्म के उत्पादन व्यय के बराबर होगी तो इसके स्पष्ट अर्थ यही होंगे कि अन्य प्रत्येक फर्म को लाभ होता होगा। इसी प्रकार मूल्य सबसे कुशल फर्म के उत्पादन व्यय के बराबर भी नही हो सकता, क्योंकि ऐसी दशा में अन्य सभी फर्मों को हानि होगी। साथ ही, औसत फर्म का पता लगाना सम्भव नहीं होता है, क्योंकि प्रवैगिक दशा में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिए ऐसी किसी फर्म के उत्पादन व्यय

का पता नही लगाया जा सकता है। तब फिर कौन से फर्म के उत्पादन व्यय द्वारा कीमत निर्धारित होती है ?

मार्शल का प्रतिनिधि फर्म का विचार—

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने इस प्रश्न का कोई भी उत्तर नही दिया, किन्तु मार्शल ने प्रश्न का उत्तर पूरी स्पष्टतापूर्वक दिया है। उनका कहना है कि कीमत प्रतिनिधि सार्थ (Representative Firm) के उत्पादन व्यय के बराबर होती है। मार्शल के अपने शब्दो मे :—"*प्रतिनिधि फर्म एक ऐसी फर्म होती है, जो काफी समय से उत्पादन कर रही है और जिसे यथेष्ठ सफलता मिल चुकी है, जिसका प्रबन्ध एक सामान्य (Normal) योग्यता के व्यक्ति द्वारा किया जाता है और जिसे सामूहिक उत्पत्ति की आभ्यान्तरिक तथा बाह्य बचत सामान्य रूप से प्राप्त है, जबकि उत्पन्न की हुई वस्तुओं की किस्म, उनके बिक्री के लिये प्रस्तुत करने की दशा तथा आर्थिक वातावरण को ध्यान में रखा जाता है।*"* जबकि दूसरी फर्मों का या तो विस्तार हो रहा है या संकुचन, तब भी यह फर्म न तो अपनी उत्पत्ति को बढ़ायेगी और न घटायेगी। इस प्रकार की फर्म का प्रबन्ध न तो बहुत ही योग्यता से होता है और न बहुत ही अयोग्यता से। यह न तो बहुत पुरानी होती है और न बिल्कुल नई। इसको बड़े पैमाने की उत्पत्ति की साधारण बचत प्राप्त होती है। यह उद्योग विशेष का प्रतिनिधित्व करती है और एक प्रकार से उद्योग विशेष की एक आदर्श-भूत (Typical) फर्म होती है।

प्रतिनिधि फर्म के लक्षण—

इस सम्बन्ध में मार्शल ने जंगली वृक्षों के आधार पर अपने विचार की पुष्टि की है। किसी समय विशेष मे जङ्गल मे सभी प्रकार के वृक्ष होते हैं। कुछ तो ऐसे होते हैं, जो अभी अभी उगे होते हैं, कुछ ऐसे होते हैं, जो पुराने होकर सूखने लगते हैं और कुछ ऐसे होते हैं कि जिनको न तो हम बिल्कुल बच्चे ही कह सकते हैं और न पूर्णतया बूढ़े ही। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक उद्योग में भी तीन प्रकार की फर्म होती हैं। कुछ तो ऐसी होती हैं जो अभी शिशु अवस्था (Infant Stage) में होती हैं और धीरे-धीरे बढ कर अधिक बचत प्राप्त करती रहती हैं। कुछ इतनी पुरानी होती है कि अपनी कार्यक्षमता (Efficiency) को खो चुकी होती है और कुछ बीच की दशा मे होती हैं, जिन्हें साधारण बचत तथा साधारण कुशलता प्राप्त होती है। ऐसी फर्मों को अनुभव प्राप्त हो जाता है और वे अपनी ख्याति (Goodwill) स्थापित कर लेती

* "........One which has had a fairly long life and fair success, which is managed by a person with fair ability, and which has normal access to the economies, external and internal, which belong to that aggregate volume of production, account being taken of the class of goods produced, the conditions of marketing them and the economic environments........"—Marshall : *Principles of Economics*, p. 318.

हैं। तीसरे वर्ग में बहुत सी फर्म हो सकती हैं, किन्तु वे सभी प्रतिनिधि फर्म नहीं होगी। मार्शल के अनुसार—"प्रतिनिधि फर्म एक ऐसी फर्म है, जो सभी दृष्टिकोणों से एक सामान्य या औसत फर्म होगी।" ऐसी फर्म के लक्षण निम्न प्रकार होते हैं:—

(१) यह एक ऐसी औसत फर्म होती है, जो इस बात की सूचक होती है कि बड़े पैमाने की उत्पत्ति की बचत उद्योग विशेष को किस प्रकार प्राप्त है।
(२) इसका न विकास होता है और न संकुचन।
(३) इसे न लाभ होता है और न हानि।
(४) यह न बहुत नई होती है और न बहुत पुरानी।
(५) ऐसी फर्म एक या एक से अधिक हो सकती है।

प्रतिनिधि फर्म के विचार की आलोचना—

मार्शल की प्रतिनिधि फर्म की अनेक आलोचनाएँ हुई हैं। अधिकांश आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि मार्शल का प्रतिनिधि फर्म का विचार एक कोरी कल्पना है। जिस प्रकार रिकार्डो और एडम स्मिथ का 'आर्थिक मनुष्य' (Economic Man) का विचार एक अमूर्त तथा कृत्रिम विचार था, उसी प्रकार प्रतिनिधि फर्म का भी व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी कोई फर्म सोची तो जा सकती है, परन्तु देखी नहीं जा सकती है। यह विचार केवल स्थिर दशा (Static State) से ही सम्बन्धित है, जबकि यथार्थ में संसार सदा प्रवैगिक दशा (Dynamic State) मे ही रहता है, क्योंकि संसार मे प्रत्येक दिशा में परिवर्तन होते ही रहते हैं। वास्तविक जीवन मे प्रतिनिधि फर्म का किसी भी उद्योग मे पता लगाना असम्भव होता है। *प्रोफेसर रोबिन्स (Robbins) के विचार में प्रतिनिधि फर्म के विचार की आवश्यकता ही नहीं है।* उनका कथन है—"हमारे लिये प्रतिनिधि फर्म या प्रतिनिधि उत्पादक की मान्यता की उतनी ही कम आवश्यकता है, जितनी भूमि के एक प्रतिनिधि टुकड़े, प्रतिनिधि मशीन अथवा एक प्रतिनिधि श्रमिक की है।"* रोबिन्स का विचार है कि दीर्घकाल मे उत्पत्ति के सभी साधनों को सामान्य लाभ प्राप्त होना चाहिए, अन्यथा साम्य में स्थिरता नहीं आयगी और इसलिये दीर्घकाल में प्रत्येक फर्म का मार्शल की प्रतिनिधि फर्म होना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि यथार्थ में दीर्घकाल मे सभी फर्म प्रतिनिधि फर्म के समान होंगी और यदि ऐसा है तो फिर किसी एक फर्म को प्रतिनिधि का दर्जा देने की आवश्यकता कहाँ है? कुछ

---

* "There is no more need for us to assume a Representative Firm or a Representative Producer than there is for us to assume a representative piece of land a representative machine or a representative worker."—Lionel Robbins: *Article on Representative Firm* in the Economic Journal, Sept., 1928, p. 393.

'आलोचकों का यह भी विचार है कि दीर्घकाल में प्रतियोगिता की दशा में प्रत्येक फर्म को उद्योग विशेष में बने रहने के लिये अपने जीवन के लिए संघर्ष करना पड़ता है, जिसके कारण उसे अपनी नीति तथा अपनी व्यवस्था का इस प्रकार संचालन करना पड़ता है कि उत्पादन व्यय कम से कम हो। स्पष्ट है कि ऐसी दशा में कोई भी फर्म दूसरों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती है।

इसके विपरीत कुछ दूसरे आर्थिक लेखकों ने इस प्रकार की भी आलोचना की है कि मार्शल का प्रतिनिधि फर्म का विचार अपूर्ण तथा अस्पष्ट है। रॉबर्टसन का विचार है कि मार्शल ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि प्रतिनिधि फर्म उद्योग के विस्तार का प्रतिनिधित्व करती है या व्यय का। मार्शल की अपनी विवेचना में कहीं तो विस्तार को अधिक महत्त्व दिया गया है और कहीं पर लागत को, परन्तु ध्यानपूर्वक देखने के पश्चात् रॉबर्टसन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मार्शल की प्रतिनिधि फर्म केवल उद्योग की सामान्य (Normal) लागत का द्योतक है।[1] ठीक इसी प्रकार का विचार कालडर (Kaldor) का भी है। उनका कहना है कि यह विचार हमें दीर्घकालीन पूर्ति की रेखा के वास्तविक रूप का ज्ञान दिलाता है और इस प्रकार यह विचार उत्पादन व्यय से सम्बन्धित है।[2]

पीगू का साम्य फर्म (The Equilibrium Firm of Pigou)—

पीगू मार्शल के ही शिष्य हैं, उन्होंने मार्शल के प्रतिनिधि फर्म की विवेचना की है। साधारणतया उनका विचार रॉबर्टसन से मिलता-जुलता है, परन्तु उन्होंने मार्शल के विचार में इस प्रकार का परिवर्तन करने का प्रयत्न किया है कि उसमें अधिक स्पष्टता आ जाय और साथ ही साथ इस प्रकार की फर्म का पता भी लगाया जा सके। प्रतिनिधि फर्म के स्थान पर पीगू ने साम्य फर्म (Equilibrium Firm) का विचार रखा है। पीगू का कथन है कि यह सम्भव है कि जब पूरा उद्योग साम्य की दशा में है उसके अन्तर्गत सभी फर्म साम्य की दशा में न हों। जबकि उद्योग विशेष में न तो विस्तार ही होता है और न संकुचन (Contraction) ही, तब भी व्यक्तिगत रूप से कुछ फर्मों का विस्तार हो सकता है, कुछ का संकुचन, परन्तु सम्भव है कि कोई फर्म विशेष साम्य की दशा में हो, अर्थात् न तो उसका विस्तार होता हो और न संकुचन हो। ऐसी फर्म को साम्य फर्म कहते हैं। "इसका आशय यह है कि कोई ऐसी फर्म हो सकती है, जो उस समय जबकि पूरा उद्योग साम्य की दशा में है, अर्थात् जबकि यह एक सामान्य कीमत ग के अन्तर्गत एक निश्चित पूर्ति की मात्रा क का उत्पादन करती है, व्यक्तिगत रूप से स्वयं भी साम्य में हो और एक

---

1. Robertson : *Article on 'Increasing Returns and Representative Firm'*, Economic Journal March 1930, p. 89.
2. Kaldor : *Article on 'The Equilibrium of the Firm'*, Economic Journal March, 1934, p. 73.

*निश्चित मात्रा अ का उत्पादन करती हो।"** पीगू का विचार है कि ऐसी फर्म सैद्धान्तिक भी हो सकती है और व्यावहारिक भी। साथ ही, ऐसी एक से अधिक फर्म हो सकती हैं। नीचे की तालिका में ऐसी फर्म का उदाहरण दिया गया है :—

तालिका

फर्म का नाम	१९५० की कुल उत्पत्ति		१९५१ की कुल उत्पत्ति	
क	५००	इकाइयाँ	४००	इकाइयाँ
ख	५००	,,	३००	,,
ग	५०	,,	१५०	,,
घ	४००	,,	४००	,,
ङ	१५०	,,	१००	,,
च	३००	,,	४००	,,
छ	२००	,,	२५०	,,
कुल उद्योग	२,१००	,,	२,१००	,,

इस तालिका को देखने से पता चलता है कि पूरा उद्योग साम्य की दशा में है, क्योंकि कुल उत्पत्ति यथास्थिर रहती है, किन्तु सब फर्म साम्य की दशा में नहीं हैं। ख, ग तथा छ फर्मों का विकास हो रहा है, जबकि क, ङ तथा च का संकुचन, परन्तु घ फर्म इस दशा में भी साम्य की अवस्था में ही है, इसलिए यही साम्य फर्म है।

साम्य फर्म की आलोचना—

मार्शल और पीगू के विचारों की तुलना करने से पता चलता है कि दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं हैं। पीगू स्वयं भी इस बात को मानते हैं, क्योंकि वे कहते हैं कि उनका उद्देश्य मार्शल के विचार का स्पष्टीकरण ही है। लगभग वही सब आलोचनायें जो प्रतिनिधि फर्म के विषय में की जा सकती हैं, साम्य फर्म पर भी ठीक उतरती हैं। साम्य फर्म का भी वास्तविक जीवन में उतना ही अस्तित्व है, जितना कि प्रतिनिधि फर्म का। पीगू स्वयं ही इस बात को मानते हैं कि साम्य फर्म केवल कल्पनात्मक हो सकती है। यह आवश्यक नहीं है कि जब पूरा उद्योग साम्य की अवस्था में है तो कोई विशेष फर्म भी इस अवस्था में हो ही। साथ ही, यह भी सम्भव है

---

* It means that when there can be a firm which when the whole industry is in equilibrium, *i.e.*, when at a general supply price *g* it produces a fixed quantity *k*, is itself in equilibrium producing a fixed quantity *a*."—A. C. Pigou : *Economics of Welfare*, p. 790, 4th edition.

कि इस प्रकार की एक से अधिक फर्में हों।* इस प्रकार साम्य फर्म का विचार प्रतिनिधि फर्म पर कोई विशेष सुधार नहीं है।

अनुकूलतम् फर्म अथवा आदर्श फर्म (The Optimum Firm)—

एक साहसी के दृष्टिकोण से अनुकूलतम् फर्म वह होती है, जिसका उत्पादन व्यय लघुतम होता है। उत्पत्ति के नियमों के अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि जब उत्पत्ति के साधनों को आदर्श अनुपात (Ideal proportion) में उपयोग किया जाता है तो उत्पादन व्यय कम से कम होता है। इसमें अधिकाधिक कुशलता प्राप्त की जाती है और उत्पादन के पैमाने को थोड़ा बड़ा या छोटा कर देने से प्रति इकाई उत्पादन व्यय में वृद्धि हो जाती है। प्रतियोगिता की दशा में प्रत्येक फर्म अनुकूलतम आकार (Optimum Size) प्राप्त करने का प्रयत्न करती है, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि प्रत्येक फर्म इसमें सफल ही हो जाती है। कोई फर्म इस उद्देश्य को पूरा कर सकेगी या नहीं, यह उसकी कुशलता तथा व्यवसाय की प्रकृति पर निर्भर होता है। अनुकूलतम उपज तभी उत्पन्न की जा सकती है, जबकि उत्पत्ति केवल उस बिन्दु तक की जाय, जहाँ पर सीमान्त व्यय कीमत के बराबर हो, परन्तु जैसा कि हम उत्पत्ति के नियमों के सम्बन्ध में देख चुके हैं, विभिन्न कारणों से यह सदा सम्भव नहीं हो सकता है। साथ में यह भी जान लेना चाहिए कि अनुकूलतम् उपज यथास्थिर नहीं होती। उत्पादन विधि, आर्थिक साधनों तथा इस प्रकार के अन्य कारणों के अनुसार इसमें परिवर्तन होते रहते हैं।
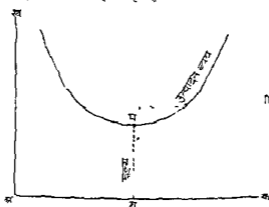
* "Thus, even when the conditions of demand are constant and output of an industry as a whole is correspondingly constant, the output of many individual firms will not be constant. The industry as a whole will be in a state of equilibrium; the tendency to expand or contract on the part of the individual firms will cancel out; but it is certain that many individual firms will not themselves be in equilibrium and possibly that none will be."—Pigou: *Economics of Welfare*, Appendix III.

ऊपर के चित्र में फर्म ग की उत्पादन व्यय की रेखा दिखाई गई है। इस फर्म के लिए अनुकूलतम् उपज अ भ के बराबर होगी, क्योंकि यहीं पर औसत उत्पादन व्यय लघुतम् होगा और प्रतियोगिता में यह मूल्य सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होगा। कुछ लेखकों का विचार है कि अनुकूलतम् फर्म का उदाहरण व्यावहारिक जीवन में मिल जाता है और यही प्रतिनिधि फर्म का कार्य करती है, क्योंकि इसी फर्म पर दृष्टि डाल कर उद्योग विशेष की पूर्ण स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।* इसमे तो कोई सन्देह नही है कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में अपने को जीवित रखने के लिए प्रत्येक फर्म उत्पादन व्यय को कम करके अनुकूलतम् उपज उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है, पर इसमे दो कठिनाइयां हैं :-(१) अनुकूलतम् उपज का हर दशा में पता लगाना कठिन होता है। (२) यदि यह सम्भव भी हो सके तो इस पर जमे रहना कठिन होता है, इसलिए ऐसी फर्म का महत्त्व भी मुख्यतया सैद्धान्तिक ही है।

क्या प्रतिनिधि फर्म का कोई व्यावहारिक महत्त्व है ?—

प्रतिनिधि फर्म की बड़ी कड़ी आलोचनायें की गई हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री अधिकांशतया सहमत हैं कि इस विचार का कुछ भी व्यावहारिक महत्त्व नही है, किन्तु हाल ही मे प्रोफेसर महता ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रवैगिक अवस्था (Dynamic State) मे इस विचार का न केवल व्यावहारिक महत्त्व ही है, वरन् इस प्रकार की फर्म का वास्तव में पता भी लगाया जा सकता है। ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि अधिकांश आलोचनायें स्थैतिक अवस्था से सम्बन्धित हैं। प्रवैगिक अवस्था में पूरे उद्योग में विस्तार या सकुचन हो सकता है। यदि विस्तार की प्रवृत्ति अधिक प्रबल है तो इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि वे शक्तियां जो नई फर्मों को उद्योग विशेष में खींचती हैं, उन शक्तियों की अपेक्षा अधिक बलवान हैं, जो फर्मों को उद्योग विशेष से निकल जाने के लिए प्रेरित करती हैं। निश्चय है कि प्रवैगिक दशा में बहुत सी नई फर्म उद्योग में प्रविष्ट होती रहती हैं और बहुत सी पुरानी फर्म उद्योग को छोड़ती रहती हैं। साथ ही, कुछ फर्म अपना विस्तार करती रहती हैं और कुछ संकुचन। अब यदि उद्योग का विस्तार होता है तो उद्योग में कोई ऐसी भी फर्म हो सकती है, जिसका स्वयं भी विस्तार हो रहा हो। इसी प्रकार यदि उद्योग का संकुचन हो रहा है तो कोई फर्म ऐसी भी हो सकती है, जिसका साथ-साथ सकुचन हो रहा हो। *ऐसी फर्म को जो उद्योग की सामान्य प्रवृत्ति का द्योतक है, हम प्रतिनिधि*

---

* "The optimum firm, on the other hand, is a concrete possibility. It is the unit of size which conscious direction and the forces of competition compel all firms to attempt to approach, who wish to survive in the struggle for existence."—Briggs and Jordan : *Text- book of Economics*, p. 221.

फर्म कह सकते हैं।[1] जब इस प्रकार की प्रतिनिधि फर्म अपना विस्तार करती हुई होती है तो नई फर्म उद्योग मे दाखिल होती हैं और जब प्रतिनिधि फर्म का संकुचन होता है तो नई फर्म उस उद्योग विशेष में नही आती हैं, वरन् हो सकता है कि कुछ फर्म उद्योग को छोड़ दें।

नई फर्मों के आने से उत्पत्ति बढती जाती है और पूर्ति के बढ जाने के कारण मूल्य गिरता है, जिससे अन्त में उद्योग के विस्तार की गति कम होते-होते रुक जाती है। प्रतिनिधि फर्म मे विस्तार की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है और मूल्य प्रतिनिधि फर्म के औसत व्यय के बराबर हो जाता है। विपरीत दशा मे जब उद्योग मे संकुचन होता है तो पूर्ति घट जाने के कारण कीमत बढ़ जाती है। प्रतिनिधि फर्म की सकुचन गति मे शिथिलता आ जाती है और अन्त मे यह सकुचन रुक जाता है। इस प्रकार फिर मूल्य प्रतिनिधि फर्म के औसत व्यय के बराबर हो जाता है। इस प्रकार *परिवर्तनों के होने हुए भी मूल्य प्रतिनिधि फर्म के औसत व्यय के बराबर रहता है, यद्यपि स्वयं प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन व्यय में परिवर्तन हो सकते हैं।*[2]

प्रोफेसर महता के विचार से सिद्ध होता है कि सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनो ही दृष्टिकोणों से प्रतिनिधि फर्म का महत्त्व है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, *प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन व्यय द्वारा ही मूल्य निर्धारित होता है, किन्तु साथ ही* नई फर्म प्रतिनिधि फर्म को ध्यान मे रख कर ही उद्योग विशेष मे दाखिल होने का निर्णय करती है और ठीक इसी प्रकार इसी फर्म के आधार पर उद्योग के छोड़ने का निश्चय किया जाता है। व्यावहारिक जीवन मे जिस फर्म को देखकर उद्योग मे आने अथवा उसे छोड़ने का फैसला होता है, वही यथार्थ मे प्रतिनिधि फर्म होती है।

मार्शल, पीगू और महता के विचारों की समानता—

प्रोफेसर महता और मार्शल के विचार मे बड़ी समानता है। मार्शल का कथन है कि *प्रतिनिधि फर्म का वास्तविक अस्तित्व (Real Existence)* है और ऐसी फर्म को बाहरी और भीतरी औद्योगिक बचत का सामान्य भाग प्राप्त होता है। ऐसी फर्म को हम अकस्मात् ही नही ढूंढ़ सकते, वरन् इसके लिए समस्त उद्योग

---

1. ....we understand by such a firm one that shows tendency to expand or contract with the industry in the same maner.........- J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 163.

2. "It is, therefore, possible to say that the average cost of the representative firm determines the price."—*Ibid*, p. 162.

की भली-भाँति जांच करनी पड़ती है।[1] ठीक इसी प्रकार का विचार पीगू का भी है, किन्तु मार्शल का प्रतिनिधि फर्म का विचार उनके साम्य फर्म के विचार से थोड़ा विस्तृत है, क्योंकि प्रतिनिधि फर्म सब प्रकार से एक औसत फर्म है, यह उस प्रकार की एक आदर्श फर्म है, जैसा कि हर वास्तविक फर्म बनने की कोशिश किया करती है।[2]

मार्शल का विचार व्यावहारिक जीवन में कहाँ तक सत्य है, इसका प्रमाण सर सिडनी चैपमैन (Sir Sydeny Chapman) और मिस्टर ऐशटन (Ashton) द्वारा किये गये वास्तविक व्यावसायिक विस्तार सम्बन्धी अध्ययन मे मिलता है। इनका कहना है—"साधारणतया बड़े उद्योगों अथवा उनकी शाखाओं में, कुछ निश्चित परिस्थितियों में, आदर्श अथवा प्रतिनिधि व्यावसायिक विस्तार का आभास होता है..........। जिस प्रकार एक मनुष्य का सामान्य विस्तार तथा रूप होता है, उसी प्रकार, किन्तु कम प्रत्यक्ष रूप मे, व्यवसाय के भी सामान्य विस्तार तथा रूप होते हैं।"[3]

QUESTIONS

1. Explain the conditions of perfect competition. How is value determined under it ? (Agra, B. Com., 1956 S)

---

1. "And a representative firm is that particular sort of average firm, at which we need to look in order to see how far the economies, internal and external, of production on a large scale have extended generally in the industry and country in question. We cannot see this by looking at one or two firms taken at random; but we can see it fairly well by reflecting, after a broad survey, a firm, whether in private or joint-stock management (or better still, more than one), that represents, to the best of our judgment, this particular average "—Marshall : *Principles of Economics*, p. 318, 8th. edition.

2. "Marshall's statements about his representative firm show that this is conceived as an equilibrium firm. But it is also something more. It is a firm, in some sense, of average size. Marshall pictures it as a 'typical' firm, built on a scale to which actual firms tend to approximate......"—Pigou : *Economic of Welfare*, 4th edition, p. 790.

3. "Generally speaking, there would seem to exist in industry or branches of industry of adequate size, under given set of conditions, a typical or representative magnitude to which businesses tend to grow......As there is a normal size and form for a man, so, but less markedly, are there normal sizes and firms of business."—*Statistical Journal*, 1914, p. 512. *Quoted* by Pigou : *Economics of Welfare*, p. 790.

2. "Competition secures for the society the elimination from industry of incompetent or dishonest enterpreneur and the survival of the fittest." Examine this statement. (Agra, B. Com., 1954)

3. What are the main characteristics of a long period market? How are prices determined in this market under free competition? (Raj., B. A., 1958)

4. How is price of a commodity determined under perfect competition in the long period? (Raj., B. A., 1957)

5. Explain the conditions of perfect competition and show how conditions of supply affect prices in competitive market. (Raj, B. A., 1956)

6. How are prices determined in a competitive market? How do conditions of supply affect these? (Raj., B. A., 1954. 1953)

7. पूर्ण और अपूर्ण प्रतियोगिता में क्या अन्तर है? पूर्ण प्रतियोगिता मे मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है? (Alld., B. A., 1956)

8. Show how under conditions of perfect competition the price of a commodity is equal to both its marginal and average costs of production. Use diagrams to illustrate your answer. (Alld., B. A., 1955 ; Delhi, B. A., 1952)

9. साम्यावस्था (Equilibrium) किसे कहते है? पूर्ण प्रतियोगिता में साम्यावस्था कैसे स्थापित होती है? (Sagar, B. A., 1959)

10. पूर्ण स्पर्धा का अर्थ समझाइये। इस स्थिति में मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है, बताइये। (Sagar, B. A., 1957)

11. Show how in a perfectly competitive equilibrium the price of a commodity is equal to its marginal and average cost of production. (Bihar, B. Com., 1959)

12. Explain and illustrate how value is determined under competitive conditions? (Gorakhpur, B. Com., 1959)

13. प्रतिनिधि फर्म से आप क्या अर्थ समझते हैं? किसी वस्तु के मूल्य निर्धारण में इसका क्या स्थान है? (Sagar, B. A., 1958)

14. मार्शल की प्रतिनिधि फर्म से आप क्या समझते हैं? क्या सार्थवर्धी प्रत्याय वाले उद्योगों (Industry subject to Increasing Returns) में अर्हा के निर्धारण में किस प्रकार सहायक है। समझाइये। (Sagar, B. Com., 1957)

15. Write short note on :—
Representative Firm. (Sagar, B. A., 1957 ; Alld., B. A., 1956 ; Agra, B. Com., 1957 S)

अध्याय ७

एकाधिकार का मूल्य

(Value Under Monopoly)

एकाधिकार का अर्थ—

एक पिछले अध्याय मे एकाधिकार के अर्थ किये जा चुके हैं। हमने देखा था कि स्पर्धा (Competition) का अंश शून्य से लेकर अपरिमितता तक हो सकता है। दूसरे शब्दों मे, तीन परिस्थितियां सम्भव हो सकती हैं—या तो प्रतियोगिता हो ही नही, या प्रतियोगिता अपूर्ण हो और या प्रतियोगिता अपरिमित अथवा पूर्ण हो। इनमे से पहली दशा को हम एकाधिकार की अवस्था कहते हैं। इस प्रकार एकाधिकार में स्पर्धा का पूर्णतया लोप होता है, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि स्पर्धा तो विक्रेताओं के बीच भी हो सकती है और ग्राहकों के बीच भी। फिर एकाधिकार मे कौनसी स्पर्धा नहीं होती है? इस विषय में सभी अर्थशास्त्रियों का एक मत नही है। टामस् (Thomas) का कथन है कि—"विस्तृत अर्थ में यह शब्द (एकाधिकार) वस्तुओं अथवा सेवाओं के *किसी भी कार्यवाहक मूल्य नियन्त्रण (Effective Price Control)* को *सूचित करता है, चाहे वह माँग का हो अथवा पूर्ति का। संकुचित अर्थ में इसका उपयोग उत्पादकों और विक्रेताओं के ऐसे संघ के अर्थ में होता है, जो वस्तुओं या सेवाओं के पूर्ति मूल्य (Supply Price) पर अधिपतित्व रखता है।*"* आगे चलकर टामस ने लिखा है कि एकाधिकार केवल उसी दशा मे होता है, जबकि वस्तु या सेवा की पूरी या अधिकांश पूर्ति पर अधिपतित्व होता है। आधुनिक अर्थशास्त्र में ग्राहकों के एकाधिकार को हम ग्राहक एकाधिकार (Monopsony) का नाम देते हैं और एकाधिकार (Monopoly) शब्द केवल विक्रेता (Seller) के एकाधिकार के ही अर्थ में उपयोग किया जाता है।

किसी भी विक्रेता की आय इस बात पर निर्भर होती है कि उसका वस्तु विशेष के मूल्य पर कितना अधिकार है। एक ओर तो कुछ ऐसे विक्रेता होते हैं जिनका मूल्य पर कुछ भी अधिकार नही होता। दूसरी ओर ऐसे विक्रेता होते हैं जिनका मूल्य पर पूर्ण अधिकार होता है और इन दोनों के बीच के ऐसे विक्रेता भी होते हैं जिनका अधिकार होता तो है, किन्तु अपूर्ण। पहली दशा पूर्ण प्रतियोगिता मे

* "Broadly speaking, the word is used to cover any effective price control, whether of supply or demand of services or of goods, narrowly, it is said to mean a combination of manufacturers or merchants to control the supply prices of commodities or services."—Thomas : *Elements of Economics*, p. 215.

होती है, दूसरी एकाधिकार में और तीसरी अपूर्ण प्रतियोगिता में। इससे सिद्ध होता है कि इन तीनों मे कोई निरपेक्ष अन्तर (Absolute Difference) नहीं है, केवल अंश या डिग्री का ही अन्तर है। सच बात तो यह है कि एकाधिकार के अर्थ इतने सरल नहीं हैं, जितना कि ऊपर बताया गया है।

परिभाषा की कठिनाइयाँ—

श्रीमती रोबिन्सन (Mrs. Robinson) का विचार है कि पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार मे भेद करना सरल नहीं है। प्रथम तो, वस्तु शब्द के अर्थ के विषय में ही अर्थशास्त्रियो मे मत-भेद है। अधिकांश आधुनिक अर्थशास्त्री उन सब चीजो को वस्तुएं कहते हैं, जिनके बीच, जैसा कि डाक्टर लरनर (Lerner) ने कहा है, प्रतिस्थापना (Substitution) हो सके। इसके विपरीत कार्ल मार्क्स (Karl Marx) तथा बहुत से दूसरे विद्वान केवल उन्ही चीजो को वस्तु (Commodity) कहते हैं, जिनका विनिमय होता है।[1] दूसरे, "प्रत्येक व्यक्तिगत उत्पादक के पास अपनी उपज का एकाधिकार होता है—ऐसा स्वाभाविक ही है—और यदि उनमें से बहुत सारे एक पूर्ण बाजार (Perfect Market) में बेचते हैं तो ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, *जिसे हम पूर्ण प्रतियोगिता कहते हैं*।"[2] इस प्रकार *एकाधिकार और पूर्ण प्रतियोगिता* दोनो एक ही साथ स्थित हो सकते हैं। ठीक इसी प्रकार मिस्टर रोबिनसन तथा प्रो० चैम्बरलेन (Chamberlain) भी एकाधिकार की परिभाषा करने मे कठिनाई अनुभव करते हैं। *मिस्टर रोबिनसन का विचार है कि एकाधिकार प्रतियोगिता का ही एक संकुचित रूप है*।[3] चैम्बरलेन अपूर्ण प्रतियोगिता के स्थान पर एकाधिकारी स्पर्धा (Monopolistic Competition) शब्द का उपयोग करते हैं। उनका विचार है कि शुद्ध एकाधिकार (Pure Monopoly) तभी सम्भव होती है, जबकि वस्तु विशेष के स्थानापन्न हो ही नहीं। स्थानापन्नो की उपस्थिति एकाधिकार को अशुद्ध प्रतियोगिता की विशेष दशा बना देती है। प्रतियोगिता अशुद्ध तभी होती है, जबकि उसमे एकाधिकार का अंश रहता है।[4]

1. "Articles are not commodities before the act of barter. Only then do they become commodities."—Karl Marx : *A Critique of Political Economy.*

2. "Every individual producer has the monopoly of his own output that is sufficiently obvious—and if a large number of them are selling in a perfect market the state of affairs exists which we are accustomed to describe as perfect competition."—Mrs. Joan Robinson : *Economics of Imperfect Competition*, p. 5.

3. "*Monopoly is only a narrow case of perfect competition.*—E. A. G. Robinson : *Monopoly*, p. 11.

4. "Monopoly is pure when there are no substitutes. It is the presence of substitutes which makes monopoly a special case of imperfect competition. Competition is impure when there is an element of monopoly in it."—Edward Chamberlain : *The Theory of Monopolistic Competition*, p. 64.

इस प्रकार हम देखते हैं कि एकाधिकार की परिभाषा करना सरल नहीं है। प्रोफेसर मेहता का मत है कि यदि हम एकाधिकार को एक ही विक्रेता से सम्बन्धित करते हैं तो कई कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। विशेष रूप से यह कठिनाई कि एक विक्रेता कहाँ है और कितने क्षेत्र में है, यह बताना आवश्यक होता है, इसलिए उनका विचार है कि "यह कहना अधिक उपयुक्त है कि एकाधिकार की दशा में एकाधिकारी का मूल्य पर पूरा अधिकार होता है।"[1] अब क्योंकि लगभग किसी भी वस्तु की माँग पूर्णतया बेलोच नहीं होती है, जिससे कि ग्राहक विक्रेता को उसके मुँह माँगे दाम दे सके और लगभग हर एक वस्तु के स्थानापन्न होते हैं, इसलिए मूल्य पर पूर्ण अधिकार होने का उदाहरण मिलना कठिन होता है। वास्तविक जीवन मे शुद्ध या पूर्ण एकाधिकार का उदाहरण नहीं मिलता है। जिन्हें हम एकाधिकारी कहते हैं, वे यथार्थ में ऐसे विक्रेता होते हैं, जिन्हे कुछ एकाधिकारी अधिकार प्राप्त होते हैं। डाक्टर मेयरस् (*Meyers*) के विचार में *शुद्ध एकाधिकार के लिए पूर्णतया बेलोच माँग का होना आवश्यक है, क्योंकि इसी दशा में विक्रेता मूल्य पर पूर्ण आधिपत्य रख सकता है।* उन्होंने बताया है कि वास्तविक जीवन में एकाधिकार अथवा एकाधिकारी प्रतियोगिता (Monopolistic Competition) के दो लक्षण होते हैं—प्रथम तो, विज्ञापन (Advertising) का होना और दूसरे, विभिन्न विक्रेताओं के दामों में अन्तर का होना।[2] जितनी ही माँग अधिक बेलोच (Inelastic) होगी, उतनी ही एकाधिकारी शक्ति भी अधिक होगी।

एकाधिकार कैसे स्थापित होता है ?—

एकाधिकार के स्थापित होने के कई कारण होते हैं। कुछ एकाधिकार कानून द्वारा स्थापित होते हैं। आगरा शहर की बिजली सप्लाई कम्पनी इसी प्रकार का एक एकाधिकार है। उत्तर-प्रदेश की सरकार के नियमों के अनुसार आगरा शहर में कोई दूसरी बिजली की कम्पनी नहीं खोली जा सकती है। कारण यह है कि यदि इस प्रकार की कई कम्पनियाँ हों, तो बिजली के तारों और बिजली के खम्भों की इतनी बहुतायत हो जायगी कि सड़कों और घरों की हालत बिगड़ जायगी। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि आगरा बिजली सप्लाई कम्पनी पर राज्य सरकार का नियन्त्रण रहता है, किन्तु इस कम्पनी को एकाधिकारी अधिकार प्राप्त हैं और प्रतियोगिता केवल बिजली के स्थानापन्नों, जैसे—मिट्टी का तेल, तेल-शक्ति इत्यादि द्वारा ही प्रभावित की जाती है। ठीक उसी प्रकार लोक उपयोगी सेवाओं (Public Utility Services), जैसे—रेल, डाक, मोटर-सर्विस इत्यादि में भी सरकार को एकाधिकार प्राप्त है। इसी प्रकार के अधिकार एकस्व (Patents) के रूप में नये आविष्कार-

---

1. "......that a monopolist is one who has a full control over price is correct and can be made use of in practice as well."—J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 97.

2. Albert A. Meyers : *Elements of Modern Economics*, pp. 125—26.

कर्त्ताओं को तथा प्रतिलिप्याधिकार (Copyright) के रूप मे पुस्तक के लेखकों तथा प्रकाशकों (Publishers) को मिले हुए हैं।

दूसरे प्रकार के एकाधिकार प्राकृतिक कारणों से स्थापित होते हैं। इन्हे हम नैसर्गिक एकाधिकार (Natural Monopolies) कहते है। कुछ साधन (Resources) स्वभाव से ही ऐसे होते हैं कि बहुत कम मात्रा में पाये जाते हैं। कुछ एकाधिकारी प्राकृतिक उपज के कुछ विशेष अङ्गों पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। अमरीका मे कार्लसबाड (Carlsbad) कम्पनी का धातु-जल (Mineral Water) के सभी साधनो पर पूर्ण अधिकार है। इसी प्रकार दक्षिणी अफ्रीका का हीरे और सोने की खानो पर एकाधिकार है। एक प्रसिद्ध अभिनेता या गायक के पास उन व्यक्तिगत सेवाओं का पूर्ण एकाधिकार होता है, जिनकी जनता मे माँग होती है।

कुछ व्यवसाय स्वभाव से ही इस प्रकार के होते है कि उनमे आरम्भ में ही बहुत पूँजी लगानी पड़ती है और जैसे-जैसे उत्पत्ति का पैमाना बढ़ता जाता है, औसत लागत घटती जाती है। ऐसी दशा मे एक तो व्यवसाय को अपनाने वालो की संख्या ही सीमित होती है और दूसरे नये व्यवसाई आरम्भ मे भारी हानियाँ उठाने के डर से व्यवसाय मे नही आते। कुछ और इसी प्रकार की परिस्थितियो में भी एकाधिकार के स्थापना की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। यदि किसी वस्तु की कुल माँग बहुत कम है, जो कि वर्तमान फर्म या फर्मों द्वारा आसानी से पूरी की जा सकती है तो नये उत्पादक इस व्यवसाय में आते हुए डरेंगे, क्योकि निश्चय है कि अच्छा लाभ उठाने की आशाएँ कम होगी, अतः वर्तमान फर्मों को एकाधिकार प्राप्त हो जायगा।

बहुत बार एकाधिकारी लाभ (Monopoly profits) उठाने के प्रलोभन से भी एकाधिकार स्थापित किये जाते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण औद्योगिक संघो (Industrial Combinations) के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। प्रतियोगिता को नष्ट करके अत्यधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से उत्पादक अथवा विक्रेता अपने संघ बना लेते हैं। प्रतियोगी गुटबन्दी करके उपभोक्ताओं का बहुधा शोषण किया करते हैं।

एकाधिकारी का उद्देश्य—

ऊपर की विवेचना के पश्चात् यह समझ लेना कठिन न होगा कि एकाधिकार को स्थापना किस उद्देश्य से की जाती है। प्रत्येक उत्पादक तथा विक्रेता अपने लाभ को अधिकतम् बनाने का प्रयत्न करता है और यह स्वाभाविक ही है। प्रतियोगिता की दशा मे ग्राहकों से मन-माने दाम नहीं वसूल किये जा सकते हैं, क्योकि ऊँचे दाम रखने पर बिक्री नही होगी। पहले अध्याय मे हम देख चुके हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता मे दीर्घकाल मे औसत व्यय औसत आगम के बराबर होता है और कीमत सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होती है, जिसका मतलब यह होता है कि सामान्य लाभ (Normal Profit) (जो कि उत्पादन व्यय मे सम्मिलित होता है) को छोड़कर

और कुछ भी लाभ नही होता है। एकाधिकार की स्थापना सामान्य लाभ से अधिक लाभ कमाने की इच्छा से की जाती है। एकाधिकारी कीमत को औसत तथा सीमांत व्यय से ऊपर रखने का प्रयत्न करता है। जितना ही मूल्य और व्यय का अन्तर अधिक समय तक रखा जा सकता है, उतना ही कुल लाभ अधिक होगा। एकाधिकारी कीमत अथवा पूर्ति की मात्रा को अपनी इच्छा के अनुसार इस प्रकार नियत करने का उद्देश्य रखता है कि उसका कुल लाभ अधिकतम् हो जाय। इस सम्बन्ध में मार्शल ने कहा है—"एक एकाधिकारी का प्रमुख उद्देश्य माँग और पूर्ति के बीच इस प्रकार का समायोजन करना नहीं होता है कि उस कीमत द्वारा जिस पर वह वस्तु को बेचता है, उसका उत्पादन व्यय पूरा हो जाय, बल्कि इस प्रकार का समायोजन करना होता है कि उसे अधिक से अधिक शुद्ध आगम प्राप्त हो।"*

एकाधिकार में मूल्य का निर्धारण—

अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि एकाधिकार मे मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि एकाधिकारी अधिकतम् कुल लाभ (Maximum Total Profits) प्राप्त करना चाहता है, इसलिए एकाधिकार का मूल्य ऐसा होना चाहिए कि एकाधिकारी का यह उद्देश्य पूरा हो सके। यह तो स्पष्ट है कि एकाधिकारी का मूल्य और पूर्ति दोनों पर एक साथ अधिकार नही होता है। वह या तो मूल्य को नियत कर सकता है, जिस दशा में उस मूल्य पर होने वाली माग के अनुसार पूर्ति की मात्रा निश्चित हो जायगी या पूर्ति को नियत कर सकता है, जिस दशा मे माग की शक्ति के अनुसार मूल्य का निर्धारण हो जायगा, क्योंकि मांग तथा मांग की लोच पर एकाधिकारी नियन्त्रण नही रख सकता, इसलिए मूल्य या पूर्ति मे से किसी एक को नियत कर देने के बाद दूसरी पर उसका कोई अधिकार नही रह पाता है। मूल्य और पूर्ति मे से मूल्य का नियत करना एकाधिकारी के लिये अधिक हितकर होता है, क्योंकि पूर्ति की मात्रा नियत करने की दशा मे दो भय सदा बने रहते हैं। प्रथम तो, यह कि यह निश्चित नही रहता कि मांग की परिस्थितियों के बदल जाने की दशा मे कुल पूर्ति की खपत हो सकेगी या नहीं। दूसरे, मांग की लोच के बदल जाने के कारण यह सम्भव हो सकता है कि दाम इतने नीचे गिर जायें कि उत्पादन व्यय भी वसूल न हो सके। इस प्रकार इस दशा मे अधिकतम् लाभ प्राप्त करना निश्चित नही होता है, इसीलिये एकाधिकारी बहुधा कीमत को ही नियत करता है और फिर उस कीमत पर होने वाली मांग को देख कर वह उत्पत्ति करता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि एकाधिकारी मूल्य को किस प्रकार नियत करता है। एकाधिकारी के दृष्टिकोण से ऐसा मूल्य उपयुक्त होगा, जिस पर उसका कुल लाभ

* "The *prima facie* interest of the owner of a monopoly is clearly to adjust the supply to the demand not in such a way that the price at which he can sell his commodity can just cover its expenses of production but in such a way as to afford him the greatest possible Net Revenue."—Marshall.

अधिकतम् हो जाय। कुल लाभ से हमारा अभिप्राय कुल इकाइयों को बेच कर प्राप्त होने वाले लाभ से होता है। उत्पत्ति की एक इकाई पर होने वाले लाभ को अगर हम उत्पत्ति की इकाइयों की मात्रा से गुणा कर दे तो कुल लाभ मालूम हो जायगा। इसका मतलब यह होता कि ऊँचे दाम नियत कर देना ही सदा एकाधिकारी के लिये लाभदायक नही होता है। ऊँचे दामो पर प्रति इकाई लाभ तो अधिक होता है, परन्तु हो सकता है कि ऐसे दामो पर माग इतनी कम हो कि बहुत ही थोड़ी बिक्री हो सके। ऐसी दशा मे प्रति इकाई लाभ के ऊँचे होते हुये भी कुल लाभ का अधिक होना आवश्यक नही है। ठीक इसी प्रकार दामों को बहुत नीचे रखने पर प्रति इकाई लाभ इतना कम हो सकता है कि कुल लाभ भी कम ही रहे। इस प्रकार बहुत ऊँची अथवा बहुत नीची कीमत सदा लाभदायक नही होती। एकाधिकारी को वस्तु विशेष की माग की लोच का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना पड़ता है। जिन वस्तुओं की माँग प्रायः बेलोच होती है, उनके लिये ऊँचे दाम नियत करना एकाधिकारी के लिये हितकर होता है, क्योंकि दामों के ऊँचा हो जाने पर भी ऐसी वस्तुओं की माँग मे बहुत कमी नहीं आती। इसके विपरीत जिन वस्तुओं की मांग की लोच अधिक होती है, उनके दामों मे थोडी कमी हो जाने से माग बहुत बढ़ जाती है। ऐसी वस्तुओं के दाम कम करने से प्रति इकाई लाभ तो अवश्य घट जाता है, परन्तु बिक्री इतनी अधिक होती है, जिससे कुल लाभ की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है। इस प्रकार मूल्य के नियत करते समय एकाधिकारी के लिये माग की लोच को ध्यानपूर्वक देखना बहुत जरूरी होता है। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है—माग की लोच पर एकाधिकारी का लेश-मात्र भी अधिकार नही होता और इसी कारण अधिक लाभ कमाने के लिए उसे माग की लोच के अनुसार कार्य करना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते है कि माग पर एकाधिकारी का अधिकार नही होता है, किन्तु पूर्ति पर उसका पूर्ण अधिकार होता है और एकाधिकारी अधिकतम् कुल लाभ प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार एकाधिकारी के लिये मूल्य निर्धारण की समस्या इस प्रकार है कि वह पूर्ति का, (जिस पर उसका पूर्ण अधिकार है) माँग से, (जिस पर उसका बिलकुल अधिकार नही है) इस प्रकार समायोजन कर दे कि कुल लाभ अधिकतम् हो जाये।

लाभ कहाँ अधिकतम् होगा ?—

किस कीमत पर लाभ अधिकतम् होगा, यह जानने के लिए हमे सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय के व्यवहार को देखना पड़ता है। जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, सीमान्त आगम से हमारा अभिप्राय एक अधिक इकाई को बेचने से प्राप्त होने वाली आय से होता है। दूसरे शब्दो मे, यह बिक्री की अन्तिम इकाई से मिलने वाली आगम के बराबर होती है। इसी प्रकार सीमान्त व्यय उत्पत्ति की अन्तिम इकाई का उत्पादन व्यय होती है। जब तक सीमान्त आगम सीमान्त व्यय से अधिक होती है, उत्पत्ति की अन्तिम इकाई पर लाभ होता है और उस इकाई को उपजा कर तथा बेचकर एकाधिकारी अपने कुल लाभ मे वृद्धि कर सकता है, परन्तु ध्यान रहे

कि सीमान्त आगम की प्रवृत्ति बराबर घटते रहने की होती है, क्योंकि अधिक इकाइयाँ नीचे दामों पर ही बेची जा सकती हैं। इसके विपरीत सीमान्त उत्पादन व्यय की दीर्घकालीन प्रवृत्ति बढ़ने की ओर होती है, क्योंकि दीर्घकाल में उत्पत्ति पर ह्रास नियम लागू होता है, इसीलिये प्रत्येक अगली इकाई से प्राप्त होने वाली आगम तथा उस पर किये हुये व्यय का अन्तर कम होता जाता है और अन्त में यह अन्तर शून्य (Zero) के बराबर हो सकता है, जिसका अर्थ यह होता है कि सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय बराबर हो जायें। यह बात विशेष रूप से विचारणीय है कि जब तक सीमान्त आगम सीमान्त व्यय से थोड़ी भी अधिक रहती है, इकाई विशेष की उत्पत्ति करके बिक्री करने से कुल लाभ में वृद्धि की जा सकती है, इसीलिये अधिक उत्पत्ति करना ही एकाधिकारी के हित में होता है। जब सीमान्त आगम सीमान्त व्यय के बराबर हो जाती है तो कुल लाभ मे वृद्धि करने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। यही पर कुल एकाधिकारी लाभ अधिकतम् होता है, अतः एकाधिकारी मूल्य को इस प्रकार नियत करता है कि सीमान्त आगम (Marginal Revenue) सीमान्त व्यय (Marginal Cost) के बराबर हो।

यह समझने में कठिनाई न होगी कि इससे नीचे कीमत नियत करना एकाधिकारी के लिए हितकर न होगा, क्योंकि उस दशा में सीमान्त आगम सीमान्त उत्पादन व्यय से कम होगी और अन्तिम इकाई पर लाभ के स्थान पर हानि होगी। इस इकाई से कुल लाभ बढ़ने के स्थान पर घटेगा, इसलिए दीर्घकाल में इस इकाई का उत्पादन बन्द करना ही लाभदायक होगा। इस प्रकार अल्पकाल मे तो सीमान्त आगम सीमान्त व्यय से कम या अधिक हो सकती है, परन्तु दीर्घकालीन एकाधिकारी मूल्य इसी प्रकार नियत होगा कि सीमान्त आगम सीमान्त व्यय के बराबर हो, क्योंकि यदि सीमान्त आगम सीमान्त उत्पादन व्यय से अधिक है तो और अधिक उत्पत्ति करके कुल लाभ में वृद्धि की जा सकती है। नाइट के शब्दों में—"अपने एकाधिकारी लाभ को अधिकतम् करने के लिए एकाधिकारी को अपनी उपज और बिक्री शून्य इकाई से ऊपर उस समय तक बढ़ाते रहना चाहिये जब तक कि एक और इकाई को बेचने से कुल आगम में होने वाली वृद्धि कुल लागत में होने वाली उस वृद्धि के बराबर न हो जाय जो एक और इकाई का उत्पादन करने से होती है।"* नीचे की तालिका में इसी सत्य को दिखाया गया है :—

* "The Monopolist should keep increasing his output and sales beyond zero units, until the addition to total revenue caused by adding one unit just equals the addition to the total cost caused by adding this unit."—B. W. Knight : *Economic Principles in Practice*, p. 173.

तालिका

मूल्य (रुपयों में)	कुल माँग	कुल आगम (रुपयों में)	सीमान्त आगम (रुपयों में)
१३	१००	१,३००	१,३००
१२	२००	२,४००	१,१००
११	३००	३,३००	६००
१०	४००	४,०००	७००.
९	५००	४,५००	५००
८	६००	४,८००	३००
७	७००	४,९००	१००
६	८००	४,८००	—१००

मूल्य (रुपयों में)	कुल पूर्ति	कुल व्यय (रुपयों में)	सीमान्त व्यय (रुपयों में)
१	१००	१००	१००
२	२००	४००	३००
३	३००	९००	५००
४	४००	१,६००	६००
५	५००	२,५००	९००
६	६००	३,६००	१००
७	७००	४,९००	१,३००
८	८००	६,४००	१,५००

इस तालिका को देखने से पता चलता है कि जब ४०० इकाइयाँ उत्पन्न की जाती हैं तो सीमान्त आगम सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होती है। ऐसी दशा मे माँग का मूल्य १० रुपया प्रति इकाई होता है, अतः यही कीमत एकाधिकारी के लिए अधिक लाभदायक होगी। इस दशा मे कुल आगम ४,००० रु० होती है, जबकि कुल व्यय १,६०० रु० होता है। इस प्रकार कुल लाभ ४,०००—१,६००=२,४०० रुपया होता है। यही अधिकतम् लाभ है। १० रुपये से कम या अधिक दाम नियत करने से कुल लाभ कम हो जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि दाम ९ रुपया प्रति इकाई रखा जाय तो कुल आगम ४,५०० रुपया होती है और कुल व्यय २,५०० रुपया, जिसके कारण लाभ २,००० रुपये का होता है। १२ रुपया प्रति इकाई मूल्य होने पर कुल लाभ २,४००—४००=२,००० रुपये होगा। इस प्रकार १० रुपये प्रति इकाई मूल्य ही अनुकूलतम् मूल्य है। नीचे का चित्र इसे दिखाता है :—
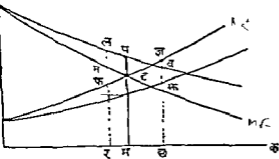
इस चित्र में प म कीमत पर लाभ अधिकतम् होगा, क्योंकि जब अ म के रावर पूर्ति होती है तो सीमान्त आगम और सीमान्त व्यय बराबर होते हैं। ऐसी दशा में होने वाले लाभ की मात्रा नीचे के चित्र मे दिखाई गई है :—
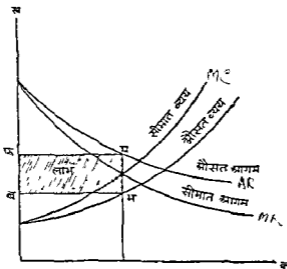
इस चित्र मे प भ औसत आगम तथा औसत व्यय का अन्तर है और इसे अ म से गुणा करके प फ ब भ के बराबर लाभ होता है, जो अधिकतम् है।

उत्पत्ति के नियमों और माँग की लोच का एकाधिकारी मूल्य पर प्रभाव— हम जानते हैं कि उत्पत्ति पर तीन प्रकार के नियम लागू होते हैं। या तो सीमान्त उत्पादन व्यय क्रमशः घटता चला जाता है या यथास्थिर रहता है और या बढ़ता चला जाता है। पहली दशा मे वृद्धि, दूसरी में स्थिरता तथा तीसरी दशा में ह्रास नियम कार्यशील होता है। स्मरण रहे कि वृद्धि तथा स्थिरता नियमों की प्रवृत्ति

केवल अल्पकालीन होती है और दीर्घकाल मे केवल ह्रास नियम ही दृष्टिगोचर होता है। एकाधिकारी को दो बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना पड़ता है—प्रथम तो, वह यह देखता है कि उसके सीमान्त उत्पादन व्यय का क्या व्यवहार है, अर्थात् कौनसा उत्पत्ति का नियम लागू हो रहा है और दूसरे, उसे वस्तु विशेष की मांग की लोच पर ध्यान देना पड़ता है, अर्थात् यह देखना पड़ता है कि मांग की लोच कितनी है।

यदि उत्पत्ति वृद्धि नियम कार्यशील है, अर्थात् सीमान्त उत्पादन व्यय घटता जाता है तो उस दशा मे बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करके नीचे दामो पर बेचना एकाधिकारी के लिए लाभदायक होगा, विशेषकर यदि वस्तु विशेष की मांग बहुत लोचदार है।

यदि उत्पत्ति का स्थिरता नियम कार्यशील है तो उस दशा में कम या अधिक उत्पत्ति करने का फैसला पूर्णतया मांग की लोच पर निर्भर होगा, क्योंकि एक और इकाई उत्पन्न करने से भी पहली इकाई के बराबर खर्च पड़ता है। यदि मांग बहुत ही लोचदार है तो अधिक से अधिक उत्पत्ति करके सस्ते दामो पर बेचने से अधिक लाभ होता है। यदि माग बेलोच है तो दामो के घटाने से भी बिक्री मे कोई विशेष वृद्धि न होगी। ऐसी दशा में दामो का ऊँचा रखना ही अधिक लाभदायक होगा।

यदि क्रमगतः उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है तो उत्पत्ति को सीमित रखना ही लाभदायक होता है। यदि मांग बहुत ही बेलोच है तो कीमत काफी ऊपर चली जायगी, किन्तु अधिक लोचदार माग की दशा मे दामो को थोड़ा नीचे ही रखना अच्छा होगा।

मूल्य विभेद अथवा विवेचनात्मक एकाधिकार (Price Discrimination or Discriminating Monopoly)—

यह तो हमने देख ही लिया कि वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकार का पूर्ण अधिकार होता है। इस कारण एकाधिकारी के लिए सब ग्राहकों तथा सभी बाजारो से एक ही मूल्य लेना आवश्यक नही है। बहुत बार वह अलग-अलग ग्राहको से अथवा अलग-अलग बाजारो से अलग अलग मूल्य वसूल करता है। *जब कोई एकाधिकारी एक ही वस्तु के कई मूल्य रखता है तो इस दशा मे मूल्य-विभेद (Price Discrimination) होता है और इस प्रकार के एकाधिकार को विवेचनात्मक या भेद-पूर्ण एकाधिकार कहते है।* मूल्य-विभेद का अच्छा उदाहरण रेल्वे मे मिलता है, जहाँ अलग-अलग श्रेणियो के मुसाफिरो तथा अलग-अलग प्रकार के माल पर विभिन्न किराये वसूल किये जाते हैं। ठीक यही बात व्यक्तिगत सेवाओ के विषय मे भी सत्य होती है। एक डाक्टर अथवा वकील एक से ही काम के लिए गरीब और अमीर ग्राहकों से अलग-अलग फीस ले सकता है।

मूल्य-विभेद के रूप—

मूल्य-विभेद कई प्रकार का हो सकता है, परन्तु इसके दो रूप विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—(१) व्यक्तिगत भेद-भाव (Personal Discrimination) और

(२) स्थानीय भेद-भाव (Local Discrimination) अर्थात् या तो विभिन्न खरीदारों के लिये अलग-अलग मूल्य रखे जा सकते हैं अथवा विभिन्न स्थानों या बाजारों में अलग-अलग दाम रखे जा सकते हैं। पहली दशा में ग्राहकों की मांग की तीव्रता के अनुसार कम या अधिक कीमत ली जाती है। जो ग्राहक खरीदने के लिए अधिक उत्सुक होते हैं, वे ऊँचे दाम देते है, जिनकी आवश्यकता की तीव्रता कम होती है उन्हें कम दामों पर बेचा जाता है। बहुत से दूकानदार अमीर तथा फैशनेबुल ग्राहकों से एक ही वस्तु के गरीबों की अपेक्षा ऊँचे दाम लेते हैं, परन्तु इस प्रकार के भेद-भाव में दो कठिनाइयां होती हैं। प्रथम तो, किसी ग्राहक विशेष की आवश्यकता की तीव्रता का अनुमान लगाना कठिन होता है और दूसरे, ऐसे भेद-पूर्ण व्यवहार से ग्राहकों में बड़ा असन्तोष फैलता है। डाक्टर लोग इस प्रकार का भेद-भाव बहुत किया करते हैं।

स्थानीय भेद-भाव में अलग-अलग स्थानों के ग्राहकों से विभिन्न मूल्य लिये जाते हैं। ऐसे भेद-भाव का सबसे अच्छा उदाहरण राशि-पातन (Dumping) में मिलता है, जिसमें एक विदेशी एकाधिकारी अपने देश में माल मँहगा बेचता है और विदेशी बाजार में प्रतिद्वन्दियों को समाप्त करने के लिए बहुत कम दाम पर माल को बेचा करता है। एक तीसरे प्रकार का भेद-भाव व्यावसायिक भेद-भाव होता है, जिसमें विभिन्न व्यवसायों से अलग-अलग मूल्य लिया जाता है।

पीगू का वर्गीकरण—

पीगू (Pigou) विवेचनात्मक एकाधिकार के तीन अंशों (Degree) में भेद करते हैं। यह वर्गीकरण एकाधिकारी की विवेचनात्मक शक्ति (Discriminating Power) के अनुसार किया गया है। पहले अंश मे वस्तु की अलग-अलग इकाइयो के दाम इस प्रकार अलग-अलग रखे जाते हैं कि प्रत्येक इकाई का मूल्य उसके माँग के मूल्य के बराबर होता है। इस प्रकार उपभोक्ता के पास कुछ भी उपभोक्ता की बचत नही बच सकती। दूसरे अंश में एकाधिकारी ग्राहकों को कई वर्गों अथवा श्रेणियों मे इस प्रकार बाँटता है कि एक निश्चित माँग के मूल्य से अधिक दाम देने के लिये प्रस्तुत होने वाले सभी ग्राहकों से एक दाम लिये जाते हैं और इसी प्रकार इस माँग के मूल्य तथा दूसरी कम माँग के मूल्य के बीच वाले ग्राहकों से दूसरे दाम। उदाहरण-स्वरूप, १५) प्रति इकाई की माँग के मूल्य से अधिक दाम देने को तैयार होने वाले ग्राहक से १५) प्रति इकाई के दाम लिये जायेंगे और १४) से अधिक, किन्तु १५) से कम दाम वाले ग्राहकों से १४)। तीसरे अंश में एकाधिकारी अपने ग्राहकों की बहुत सी श्रेणियाँ बनाता है और प्रत्येक श्रेणी के हर एक सदस्य से एक से दाम वसूल करता है।* पीगू का विचार है कि पहले दो प्रकार के मूल्य-विभेद का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व है, परन्तु तीसरे प्रकार का भेद-भाव व्यावहारिक जीवन मे मिलता है।

---

* A. C. Pigou: *Economics of Welfare*, pp. 278—79. 4th. edition.

मूल्य-विभेद कब सम्भव होता है ?—

एकाधिकारी के लिये हर दशा में यह सम्भव नही होता कि वह मूल्य-भेद कर सके। यदि एक ग्राहक को कम दामों पर माल बेचा जाता है तो इसके लिए यह सम्भव हो सकता है कि वह थोड़े से लाभ पर दूसरे ग्राहकों को बेच दे और इस प्रकार एकाधिकारी का प्रतिद्वन्दी बनकर उसकी मूल्य विभेद की नीति को असफल कर दे। साथ ही साथ, यदि दो व्यक्तियो या वर्गों की आवश्यकता की तीव्रता समान है तो उनसे अलग-अलग दाम नही लिए जा सकते हैं। मूल्य-विभेद के सफल होने के लिए दो बातों का होना आवश्यक है :—

(१) सम्पर्क का अभाव—जिन दो व्यक्तियो अथवा बाजारों के बीच भेद-भाव रखा जाता है, उनमे परस्पर सम्पर्क नही होना चाहिए। अभिप्राय यह है कि एक से दूसरे को माल हस्तान्तरित (Transfer) करना असम्भव होना चाहिए। या तो कुछ ऐसे कारण हो कि जिनसे वस्तु का दोबारा विनिमय सम्भव ही न हो या फिर दोबारा विनिमय न करने का, अर्थात् दूसरे बाजार मे न भेजने का कोई समझौता होना चाहिए। व्यक्तिगत सेवाओ (Personal Services) का दोबारा विनिमय सम्भव नही है, इसीलिए डाक्टर अथवा वकील मूल्य-विभेद में सफल हो जाता है। भारतवर्ष में रेल द्वारा कोयला ले जाने का भाड़ा कम है और गेहूँ ले जाने का अधिक, किन्तु भाडे के कारण गेहूँ का व्यापारी कोयला नही ले जायगा, इसलिये रेल्वे की विवेचनात्मक नीति सफल हो जाती है।

(२) मांग की लोच के अन्तर—जिन व्यक्तियों, वर्गों अथवा बाजारों के बीच भेद किया जाता है, उनकी माँग की लोच में अन्तर होना चाहिये। यदि मांग की लोच बराबर है तो मूल्य भी बराबर ही रहेगा। यदि एक वर्ग अथवा बाजार में धनी लोग रहते हैं और दूसरे मे गरीब तो अमीरों से गरीबों की अपेक्षा अधिक दाम वसूल कर लेना बहुधा सम्भव होता है। एक डाक्टर यदि गरीब से फीस कम लेता है और अमीर से अधिक, तो फीस के लालच मे प्रथम तो अमीर गरीब नही बन सकता है और दूसरे, क्योंकि डाक्टर मरीज को स्वयं देखता है, इसलिए उसकी आर्थिक दशा को जान लेता है।

*पीगू के विचार में मूल्य-विभेद के सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि किसी एक इकाई का माँग मूल्य (Demand Price) अन्य सभी वस्तुओं के बिक्री मूल्य (Sale Price) के प्रभाव से स्वतन्त्र हो, अर्थात् एक इकाई दूसरी इकाई का स्थान ग्रहण न कर सके।**

भेद-पूर्ण एकाधिकार का मूल्य—

भेद पूर्ण एकाधिकार साधारण एकाधिकार की ही एक दशा है। सच पूछिये तो कुल एकाधिकारी लाभ को अधिकतम् करने में विवेचनात्मक एकाधिकारी अधिक

* A. C. Pigou : *Economics of Welfare*, p. 273.

सफल हो सकता है। मूल्य का जो सिद्धान्त साधारण एकाधिकार पर लागू होता है, वही भेदपूर्ण एकाधिकार पर भी लागू होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि दूसरे प्रकार के एकाधिकार में माँग की वक्र रेखायें एक से अधिक होती हैं, जबकि व्यय की रेखा एक ही होती है। जितने बाजारों अथवा वर्गों के बीच भेद किया जाता हैं उतनी ही माँग की रेखायें होंगी और उतने ही मूल्य भी होंगे। साधारणतया *अधिकतम् लाभ तो तभी प्राप्त होगा, जबकि कुल सीमान्त आगम (Total Marginal Revenue) अर्थात् कुल बिक्री की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली आगम कुल सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर हो, परन्तु साथ ही साथ एकाधिकारी प्रत्येक बाजार अथवा वर्ग से सम्बन्धित सीमान्त आगम को भी सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर रखेगा।* नीचे के रेखा-चित्र मे दो बाजारों १ और २ मे भेदपूर्ण एकाधिकारी के व्यवहार को दिखाया गया है :—
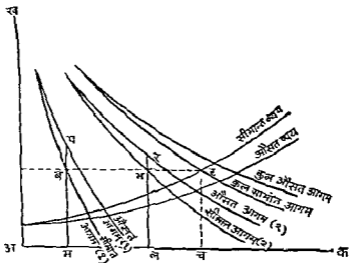
इस चित्र में बाजार १ और बाजार २ की अलग-अलग आगम की रेखायें दिखाई गई हैं और साथ में दोनो बाजारों की संयुक्त औसत और सीमान्त आगम की रेखाओं को भी चित्रित किया गया है। सीमान्त व्यय की रेखा कुल सीमान्त आगम की रेखा को ट बिन्दु पर काटती है। यही सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय बराबर है और कुल लाभ को अधिकतम् करने के लिए यही दशा अनुकूलतम् है। ट बिन्दु से अ क के समानान्तर बिन्दुदार रेखा खीचो गई है, जो सीमान्त आगम (१) तथा (२) की वक्र रेखाओं को क्रमशः ब और भ बिन्दुओं पर काटती है, जिसका मतलब यह होता है कि बाजार १ में ब बिन्दु पर सीमान्त आगम सीमान्त व्यय के बराबर है। इसी प्रकार बाजार २ में भ बिन्दु पर सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय बराबर हैं। मूल्य की रेखाओं का दोनों बाजारो मे ब और भ बिन्दुओं से गुजरना आवश्यक है, क्योंकि केवल ऐसी ही

दशा मे प्रत्येक बाजार से पृथक-पृथक अधिकतम् लाभ प्राप्त किया जा सकता है। जैसा कि चित्र से स्पष्ट होता है, बाजार १ में मूल्य **प म** के बराबर होगा और बाजार २ में **र ल** के बराबर। **प म, र ल** से अधिक है, इसलिए दोनो बाजारो मे भिन्न-भिन्न मूल्य हैं। बाजार १ मे **अ म** के बराबर बिक्री होती है और बाजार २ मे **अ ल** के बराबर, जबकि कुल बिक्री **अ च** के बराबर है। स्पष्ट है कि **अ च = अ म + अ ल**। इस प्रकार दोनों बाजारों में अलग-अलग दाम रखकर भी कुल लाभ को अधिकतम् किया जा सकता है।

बाजार १ में मूल्य अधिक है और बाजार २ मे कम, इसका भी एक विशेष कारण है। दोनों बाजारों की आगम की रेखाओ पर दृष्टि डालने से पता लगता है कि बाजार २ में माँग की लोच बाजार १ की अपेक्षा अधिक है, क्योकि बाजार १ में आगम की रेखायें अधिक तेजी से नीचे को गिरती हैं। बाजार २ मे माँग अधिक लोचदार है। ऐसे बाजार में दाम कम करने से अधिक बिक्री हो जाने के कारण थोड़ा कम दाम ही अधिक लाभदायक होता है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विवेचनात्मक एकाधिकार में मूल्य निर्धारण का सिद्धान्त इस प्रकार है :—

सीमान्त व्यय = कुल सीमान्त आगम = प्रत्येक बाजार का सीमान्त आगम (Marginal Cost = Total Marginal Revenue = Marginal Revenue in each of the Markets)।

राशिपातन (Dumping)—

राशिपातन के विषय मे संक्षेप में पहले भी लिखा जा चुका है। *यह विवेचनात्मक एकाधिकार का ही एक विशेष रूप है, जो स्थानीय भेद-भाव का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। इसमें एक विदेशी एकाधिकारी, जिसे अपने देश में एकाधिकार प्राप्त होता है, विदेशों में सस्ते दामों पर बेचता है, जबकि अपने देश में दाम ऊँचे रखता है।* कभी कभी तो यहाँ तक भी देखने में आया है कि विदेशों में औसत उत्पादन व्यय से भी नीचे दामों पर वस्तु को बेचा जाता है। विदेशों में उठाई हुई हानि को देश के भीतर अतिरिक्त लाभ द्वारा पूरा किया जाता है। देश और विदेश में मूल्य-भेद का मुख्य आधार माँग की लोच का अन्तर है। यदि स्थानापन्न तथा स्पर्धा के अभाव के कारण माँग की लोच बहुत कम है तो वस्तु अधिक कीमत पर बेची जा सकती है, किन्तु यदि विदेश में प्रतियोगी (Competitors) हैं या स्थानापन्न होने के कारण माँग की लोच बहुत है तो वस्तु को कम दामों पर बेचना लाभदायक होता है।

राशिपातन के उद्देश्य—

राशिपातन कई प्रकार का होता है। विशेष रूप से चार प्रकार के कारणों से

ऐसा किया जाता है:—(१) कभी-कभी उत्पत्ति मांग से अधिक हो जाती है और देश में बचे हुए माल को विदेशों में सस्ते दामों पर बेच कर हानि को कम किया जा सकता है। (२) बहुत बार देश में ग्राहक बनाने या मांग को जन्म अथवा प्रोत्साहन देने के हेतु ऐसा किया जाता है। (३) कभी कभी, विशेषकर यदि उत्पत्ति वृद्धि नियम के अनुकूल है, तो विदेशों में सस्ते दामों पर बेचकर उत्पत्ति के पैमाने को बढ़ाया जाता है, जिससे उत्पादन व्यय कम हो जाता है। (४) विदेशों में प्रतियोगी उत्पादकों तथा नये स्थापित हुए उद्योग धन्धों को कुचलने के लिए बहुधा राशिपातन किया जाता है। अन्तिम प्रकार का राशिपातन देश के लिए हानिकारक होता है, क्योंकि विदेशी देश में प्रतियोगिता को समाप्त करके और एकाधिकार स्थापित करके मन चाहे दाम वसूल करता है। राशिपातन की दशा में आयात कर (Import Duties) लगाना अथवा ऐसे माल के आने पर दूसरे प्रतिबन्ध लगाना, विदेशी व्यापार का एक सर्वमान्य नियम है।

एकाधिकार* और उपभोक्ता—

एकाधिकार तथा संघबन्दी के लाभ और हानियों के विषय में एक पिछले अध्याय में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है। यहाँ पर हम केवल यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि उपभोक्ताओं पर एकाधिकार का क्या प्रभाव पड़ता है? अधिकतर यह विश्वास किया जाता है कि एकाधिकार में उपभोक्ता का शोषण होता है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि एकाधिकार की स्थापना ही अधिकतम् लाभ कमाने के उद्देश्य से की जाती है। एकाधिकार में दाम प्रतियोगिता की अपेक्षा ऊँचे होते हैं और इस प्रकार उपभोक्ता की बचत कम प्राप्त होती है, जिससे देश की आर्थिक सम्पन्नता में कमी आ जाती है। एकाधिकार पूँजीवाद का एक भयङ्कर रूप है और पूँजीवाद (Capitalism) की सभी बुराइयाँ यहाँ अपनी चरम सीमा पर मिलती है, परन्तु कुछ दशाओं में एकाधिकार उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण से भी लाभदायक होता है।

राशिपातन तथा विवेचनात्मक एकाधिकार में बहुत बार गरीब वर्गों अथवा देशों को अमीरों की अपेक्षा सस्ते दामों पर वस्तुएं मिल जाती हैं। साथ ही, कुछ उद्योग ऐसे भी हैं, जो एकाधिकार के बिना सफल हो नहीं सकते और जिनका जनता तथा देश के आर्थिक जीवन में बड़ा महत्त्व है। रेलें तथा दूसरी सार्वजनिक सेवायें इसी प्रकार की होती हैं, परन्तु एकाधिकार के दोषों को दूर करने के लिए इन पर किसी न किसी प्रकार के सार्वजनिक नियन्त्रण का होना आवश्यक होता है।

---

* In connection with monopoly, Cournot uses the terms Duopoly where there are two sellers instead of one and Oligopoly where there are only a few sellers. For detailed analysis see Chamberlain : *The Theory of Monopolistic Competition.*

QUESTIONS

1. एकाधिकारी प्रत्येक दशा में अधिकतम् शुद्ध आगम प्राप्त करने के हेतु ही यह निश्चित करता है कि किस कीमत पर अपनी वस्तु बेचे ? विवेचना कीजिए।
(Agra, B. A., 1959)
2. एकाधिकार की परिभाषा दीजिए। एकाधिकार मूल्य एवं स्पर्धा सम्बन्धी मूल्य के निर्धारण में क्या कोई मूलरूप अन्तर है ? (Alld, B. A., 1957)
3. एकाधिकार क्या है ? एकाधिकार में मूल्य कैसे निर्धारित होता है ?
(Alld., B. A., 1956)
4. "एकाधिकारी केवल मूल्य को अथवा केवल उत्पादन को ही निश्चित कर सकता है, एक ही समय में दोनों को नहीं।" इस उक्ति को स्पष्ट कीजिए तथा यह भी दिखलाइये कि एकाधिकार-मूल्य का निर्धारण कैसे किया जाता है ?
(Sagar, B. Com., 1958)
5. कोई भी एकाधिकारी अपने पदार्थों के मूल्यों को निश्चित करते समय किन बातों पर ध्यान देता है ? (Sagar, B. A., 1957)
6. प्रतियोगिता (Competition) और एकाधिकार (Monopoly) में भेद कीजिए। एकाधिकार में वस्तु-मूल्य का निर्धारण किस प्रकार होता है ?
(Jabalpur, B. A., 1959)
7. कौन से तत्त्व एकाधिकार-मूल्य निर्धारित करते हैं ? क्या एकाधिकारी किसी भी सीमा तक मूल्य बढ़ा सकता है ? (Jabalpur, B. Com., 1958)
8. भेदपूर्ण एकाधिकार के उद्देश्य तथा ढङ्गों को संक्षेप में समझाइए। भारतीय उदाहरण दीजिए। (Agra, B. Com., 1959)
9. मूल्य-भिन्नता विवेचन (Price Discrimination) क्या होता है ? यह किन अवस्थाओं में सम्भव होता है ? क्या यह उपभोक्ता के लिए सदैव लाभदायक होता है ?
(Alld., B. A., 1957)
10. विवेचनात्मक एकाधिकार में आप क्या समझते हैं ? एकाधिकारी विभिन्न मूल्य क्यों लेता है ? (Jabalpur, B. A., 1958)
11. सरल एकाधिकार मूल्य और विवेकपूर्ण एकाधिकार-मूल्य के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। सरल एकाधिकार मूल्य कैसे निर्धारित होता है ?
(Vikram, B. A., 1959)
12. "The *Prima-facie* interest of the owner of a monopoly is clearly to adjust the supply to demand, not in such a way that the price at which he can sell his commodity shall just cover its expenses of production, but in such a way as to afford him the greatest possible Total Net Revenue." (Marshall).
Explain fully the above statement either with the help of a diagram or a Monopoly Revenue Schedule.
(Agra, B. A., 1951)

13. Why and how is it possible for the monopolist to charge different prices for his commodity, (a) in different regions and (b) for different uses ? (Agra, B. Com., 1948)
14. Distinguish between Simple Monopoly and Discriminating Monopoly. How is price determined under Discriminating Monopoly ? (Raj., B. A, 1955 , Delhi, B. A., 1952)
15. Explain Monopoly value. How does it differ from value under competition ? (Raj , B. Com., 1959)
16. Explain the Law of Monopoly Revenue and show how the amount of output would vary according to the elasticity of demand and the particular law of production which may be operating. (Raj., B. Com , 1958)
17. What are the considerations that a monopolist must bear in mind in fixing the price of his commodity ? Is monopoly price necessarily higher than the price under competition ? (Alld., B. A., 1953)
18. How is the simple monopoly price determined ? Give illustrations. (Delhi, B. A . 1954)

अध्याय ८

अपूर्ण प्रतियोगिता का मूल्य

(Value Under Imperfect Competition)

अपूर्ण प्रतियोगिता की प्रकृति—

पिछले दो अध्यायों में हमने ऐसी दो दशाओं का अध्ययन किया है, जिनका वास्तविक जीवन से बहुत ही कम सम्बन्ध है। पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे विक्रेता बहुत अधिक संख्या में होते हैं, जिसके फलस्वरूप किसी एक विक्रेता द्वारा प्रस्तुत की हुई पूर्ति का कुल पूर्ति अथवा मूल्य पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है। एकाधिकार में केवल एक ही विक्रेता होता है, जिसका पूर्ति पर पूर्ण अधिकार होता है। व्यावहारिक जीवन मे पूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार का उदाहरण मिलना कठिन है। न तो विक्रेताओं की संख्या अपरिमित ही होती है और न केवल एक ही। वास्तविक जीवन की स्थिति बहुधा इन दोनों के बीच की ही हुआ करती है। प्रोफेसर महता के अनुसार—*"विनिमय की प्रत्येक दशा अपूर्ण एकाधिकार की दशा है और अपूर्ण एकाधिकार दूसरे दृष्टिकोण से अपूर्ण प्रतियोगिता ही है। ऐसी प्रत्येक दशा में प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के तत्त्वों का मिश्रण होता है।"** पूर्ण प्रतियोगिता के लिए दो परिस्थितियों का होना विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण होता है :—(१) प्रत्येक ग्राहक को सब विक्रेताओं के दाम ज्ञात होने चाहिए और (२) सब विक्रेता एक ही प्रमापीकृत (Standardised) वस्तु को बेचें। *"इस प्रकार यदि बाजार अच्छी प्रकार आयोजित अथवा संगठित (Organised) नहीं है, यदि खरीदने वालों और बेचने वालों में कठिनाई से सम्पर्क स्थापित होता है तथा वह एक दूसरे की खरीदी हुई वस्तुओं तथा दी हुई कीमतों की तुलना नहीं कर सकते तो हम अपूर्ण प्रतियोगिता*

---

* "It has since been fully realised that every case of exchange is a case of what may be called partial monopoly. And partial monopoly is, looked at from the other side, a case of imperfect competition. There is a blending of both, competition element and monopoly element in each situation."—J. K Mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 168.

की दशा को देखेंगे।"[1] खुदरा अथवा खेरिज व्यापार मे प्रतियोगिता अधिकतर अपूर्ण ही होती है, इसके विपरीत थोक बाजार मे प्रवृत्ति पूर्ण स्पर्धा की ओर होती है।

अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाएँ—

जैसा कि ऊपर की विवेचना से स्पष्ट होता है, अपूर्ण प्रतियोगिता निम्न दशाओं मे स्थित होती है :—

(१) विक्रेताओं की सीमित संख्या—बेचने वालों की संख्या बहुत ही अधिक न हो, जिसके कारण किसी भी एक विक्रेता द्वारा प्रस्तुत की हुई पूर्ति का कुल पूर्ति पर प्रभाव पड़े बिना न रह सके।

(२) असंगठित बाजार—यदि वस्तु का बाजार संगठित न हो। यदि यातायात अथवा इस प्रकार की कठिनाइयों के कारण माल तथा ग्राहकों के आने-जाने में बाधायें होती है तो बाजार अपूर्ण ही रहेगा।

(३) मूल्य सम्बन्धी ज्ञान का अभाव—जबकि ग्राहकों को मूल्य सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान न हो। यदि ग्राहक को यह पता ही नहीं है कि वस्तु विशेष किस दाम पर किस दूकानदार के पास है तो पूर्ण प्रतियोगिता हो ही नही सकती है।

(४) वस्तु की इकाइयों के अन्तर—जबकि वस्तु के प्रकार तथा गुण में वास्तविक अथवा कल्पनात्मक अन्तर हो। यदि सभी दूकानदार बिल्कुल एक जैसी ही वस्तु नही बेचते हैं अथवा ग्राहकों को इस प्रकार का भ्रम हो गया है कि विभिन्न विक्रेताओं द्वारा बेची हुई वस्तुएँ सब प्रकार समान नहीं हैं तो प्रतियोगिता अपूर्ण ही होगी। जान-बूझकर या अनजाने मे ही प्रत्येक विक्रेता अपनी बिक्री की वस्तुओं में कुछ अपनत्व रख देता है। विभिन्न पैकिटों तथा विभिन्न नामो से एक ही वस्तु को बेचकर ग्राहकों की इस धारणा को बहुधा प्रोत्साहन दे दिया जाता है कि वस्तु की विभिन्न इकाइयों मे अन्तर है।

अपूर्ण प्रतियोगिता की विशेषताएँ—

साधारणतया अपूर्ण प्रतियोगिता की लगभग वही विशेषतायें होती है, जो एकाधिकार की होती है। कुछ लेखकों ने अपूर्ण प्रतियोगिता को एकाधिकारी प्रतियोगिता (Monopolistic Competition) का भी नाम दिया है।[2] एकाधिकार में एक ही विक्रेता होता है अथवा बहुत सारे विक्रेता एक सघ के आधीन काम करते है, किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे एक ही वस्तु के बहुत सारे विक्रेता होते

---

1. "Thus, if the market is not properly organised, if the buyers and sellers find it difficult to come into contact with each other and they are not able to compare the commodities purchased and the prices paid by others, we shall come across a case of imperfect competition."—Fairchild, Furniss and Buck ; *Elementary Economics*, p 289.

2. See Chamberlain: *The Theory of Monopolistic Competition*.

हैं। इन अनेक विक्रेताओं के बीच स्पर्धा होती है, पर इसे हम कंठछेदी प्रतिस्पर्धा (Cut-throat Competition) नही कह सकते, क्योकि प्रतिस्पर्धा का क्षेत्र सीमित होता है। इसका परिणाम यह होता है कि अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में भी एकाधिकारी परिस्थितियाँ विद्यमान होती है, परन्तु यह उतनी विस्तृत नही होती, जितनी कि पूर्ण एकाधिकार मे।

अपूर्ण प्रतियोगिता में स्वतन्त्रता—

अपूर्ण प्रतियोगिता की एक विशेषता मुख्य रूप से उल्लेखनीय है, यद्यपि इसमें एकाधिकार की सी परिस्थितियाँ पाई जाती है, परन्तु हर एक विक्रेता के लिये उसकी अपनी उत्पत्ति का अलग ही बाजार होता है। अपूर्ण प्रतियोगिता मे प्रत्येक विक्रेता पूर्ति और मूल्य को प्रभावित कर सकता है। यही नही, बहुत बार सारे ग्राहक वास्तविक अथवा कल्पनात्मक कारणो से उसकी उपज को दूसरो की उपज से अच्छा समझते हैं, इसलिये निश्चित सीमाओ के भीतर विक्रेता को अपनी उपज का मूल्य नियत कर देने की भी स्वतन्त्रता रहती है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता कभी-कभी खरीदारों को भी प्राप्त हो सकती है। यह तब सम्भव होता है जबकि या तो खरीदारो की संख्या कम हो या खरीदार किसी विशेष रीति से भुगतान करे, परन्तु वास्तविक जीवन में एक खरीदार का व्यक्तिगत प्रभाव बहुत ही कम होता है और खरीदारो मे संगठित रीति से मिलकर काम करने की प्रवृत्ति बहुत ही कम होती है। इस कारण अपूर्ण प्रतियोगिता मे विक्रेताओं को ग्राहको से बहुत अधिक स्वतन्त्रता उपलब्ध होती है।

बिक्री व्यय (Selling Costs)—

अपूर्ण प्रतियोगिता में क्योकि प्रतियोगिता का अंश भी रहता है और हर एक विक्रेता अपनी बिक्री (Sale) को भी बढाना चाहता है, इसलिए उत्पादन व्यय के साथ-साथ एक दूसरी प्रकार का व्यय भी दृष्टिगोचर होता है, जिसे हम बिक्री व्यय (Selling costs) का नाम देते हैं। प्रत्येक विक्रेता को ग्राहको को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए तथा उन्हे अपने नियत किए हुए दामो पर खरीदने के लिये तैयार करने के लिए अपनी उत्पत्ति तथा उसके गुणो की ख्याति करनी पडती है। उसे बताना होता है कि ग्राहको को उसकी उत्पन्न की हुई वस्तु ही क्यों खरीदनी चाहिए। यह काम विज्ञापन (Advertisement) व मन लुभाने वाले पैकिंग (Attractive packing), एजेन्ट्स (Agents) इत्यादि द्वारा किया जाता है। बहुत बार विक्रेता को अपने ग्राहकों को विशेष सुविधायें देनी पड़ती हैं। बहुत सी कम्पनियाँ अपने डिब्बो मे इनाम के कूपन (Prize Coupons) रख देती हैं। लिपटन चाय की कम्पनी एक निश्चित मात्रा मे चाय के डिब्बो को खरीदने वालो को उपहार देती है। इस प्रकार के समस्त व्यय को बिक्री व्यय में ही सम्मिलित किया जाता है। *इस प्रकार अपूर्ण प्रतियोगिता का कुल व्यय उत्पादन व्यय तथा बिक्री व्यय का योग होता है।* उत्पादन व्यय के समान बिक्री व्यय भी अधिक पूर्ति के साथ-साथ क्रमशः बढ़ता जाता है। यही नहीं,

वरन् बिक्री व्यय में भी बहुधा कुछ स्थिर व्यय (Fixed cost) होता है, जो हर दशा में करना ही होता है।

मूल्य निर्धारण—

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति एकाधिकार से मिलती-जुलती है। प्रत्येक विक्रेता अपने निजी बाजार क्षेत्र मे लगभग एकाधिकारी ही होता है। उसका उद्देश्य भी अपने कुल लाभ को अधिकतम् करना होता है और यह हम देख चुके हैं कि कुल लाभ अधिकतम् उसी दशा मे होता है, जबकि मूल्य इस प्रकार नियत किया जाय कि सीमान्त आगम सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर हो। प्रत्येक विक्रेता की दीर्घकालीन प्रवृत्ति इस दिशा मे होती है, यद्यपि अल्पकाल मे वह थोड़े कम दाम भी ले सकता है, जिससे कि ग्राहक केवल उसकी ओर आकर्षित ही न हों, वरन् उससे सम्बन्धित (Attach) हो जायें। पूर्ण प्रतियोगिता मे सीमान्त आगम मूल्य के बराबर रहती है, परन्तु एकाधिकार मे वह मूल्य से कम रहती है। बिल्कुल यही दशा अपूर्ण प्रतियोगिता मे भी होती है, क्योकि प्रत्येक विक्रेता यहाँ भी एक बड़ी सीमा तक एकाधिकारी ही होता है। मूल्य निर्धारण का जो रेखा-चित्र हम एकाधिकार में खींचते हैं वही अपूर्ण प्रतियोगिता में खींचा जायेगा, परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि *अपूर्ण प्रतियोगिता में पूर्ण प्रतियोगिता की भाँति कोई सामान्य मूल्य नहीं होता। प्रत्येक विक्रेता की अपनी कीमत होती है और विभिन्न विक्रेताओं द्वारा माँगी हुई कीमत में विशाल अन्तर हो सकते हैं।*

किन्तु इस सम्बन्ध मे अपूर्ण प्रतियोगिता की कुछ विशेष बातों को ध्यान मे रखना आवश्यक है :—(१) जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, व्यय की वक्र रेखा उत्पादन व्यय तथा बिक्री व्यय की संयुक्त रेखा होती है। (२) साथ ही, पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे अधिक बिक्री करने के लिए एक विक्रेता को दाम घटाने की आवश्यकता नही पड़ती, क्योकि दीर्घकाल में माँग की रेखा क्षितिज के समानान्तर होती है, परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता में ऐसा नही होता है। यहाँ पर प्रत्येक अगली इकाई बेचने के लिए दाम घटाना पड़ता है और यह तो सभी जानते हैं कि जब अन्तिम इकाई के दाम घटते हैं तो सभी इकइयों के दाम घटाने पड़ेंगे, अत: अधिक बिक्री करने के हेतु दाम घटाने से पहले विक्रेता यह अच्छी प्रकार देख लेता है कि इस प्रकार दाम घटाने का उसके कुल लाभ पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

ऊपर की विवेचना से पता चलता है कि एकाधिकार की भांति अपूर्ण प्रतियोगिता मे भी माँग की रेखा एक गिरती हुई रेखा होती है और प्रत्येक विक्रेता अपने कुल लाभ, जिसे श्रीमती रोबिन्सन ने शुद्ध एकाधिकारी आगम (Net Monopoly Revenue) का नाम दिया है, को अधिकतम् करने का प्रयत्न करता है, क्योकि अपने विशेष बिक्री क्षेत्र मे प्रत्येक विक्रेता एकाधिकारी ही होता है। जैसा कि नीचे के चित्र मे दिखाया गया है कि एकाधिकार की भांति अपूर्ण प्रतियोगिता मे भी मूल्य

इस प्रकार निर्धारित होता है कि सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय समान हो, क्योंकि उसी दशा में शुद्ध एकाधिकारी आगम अधिकतम् होती है।

इस चित्र में सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय की रेखाएँ ट बिन्दु पर एक दूसरी को काटती हैं और मूल्य की रेखा **प म**, ट बिन्दु से गुजरती है, शुद्ध एकाधिकारी आगम लाइनदार आयत द्वारा सूचित की जाती है।
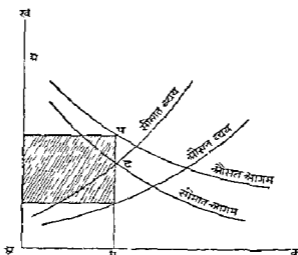
यह समझ लेने में कठिनाई न होगी कि केवल **प म** मूल्य पर ही कुल लाभ अधिकतम् होगा, क्योंकि जैसा कि हम एकाधिकारी मूल्य के सम्बन्ध में देख चुके हैं, **प म** से अधिक मूल्य होने की दशा में अधिक बिक्री करके कुल लाभ में वृद्धि कर लेने की सम्भावना रहती है, जिससे उत्पत्ति बढ़ती है और मूल्य नीचे गिरता है। इसके विपरीत **प म** से नीचे दाम होने की दशा में उत्पत्ति घटती है और दाम बढ़ते हैं।

पूर्ण प्रतियोगिता, अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार—

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि पूर्ण और अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार में केवल अंश (Degree) का ही अन्तर है, तीनों एक ही दशा के तीन विभिन्न रूप हैं। यदि स्पर्धा का अंश अपरिमित है तो ऐसी दशा को हम पूर्ण प्रतियोगिता कहते हैं, यदि अपरिमित से कम है तो अपूर्ण प्रतियोगिता है और यदि शून्य है तो पूर्ण अथवा शुद्ध एकाधिकार (Perfect or Pure Monopoly) है। प्रतियोगिता तथा एकाधिकार में बहुत बार विक्रेताओं की संख्या के अनुसार भी भेद किया जाता है। यदि एक ही विक्रेता है तो एकाधिकार है, यदि असंख्य विक्रेता हैं तो पूर्ण प्रतियोगिता है और यदि विक्रेता सीमित संख्या में हैं तो अपूर्ण प्रतियोगिता है। साधारणतया इन तीनों में भेद करने की यही रीति अधिक प्रचलित है, परन्तु इस सम्बन्ध में कई कठिनाइयाँ हैं। प्रथम तो, इस बात को निर्णयपूर्वक कहना कठिन होता है कि एक विक्रेता से हमारा अभिप्राय किस स्थान से है? अपने स्थान में प्रत्येक

विक्रेता अकेला ही होता है। फिर एकाधिकारी का एक देश में अकेले होने का भी कुछ विशेष अर्थ नहीं होता, क्योंकि सम्भव है कि उसके विदेशी प्रतियोगी हों। सारे संसार मे भी एक ही विक्रेता नही हो सकता है, क्योंकि यह भी तो सम्भव है कि कई विक्रेता हो और उनमें से प्रत्येक को एकाधिकारी स्थिति प्राप्त हो, इसलिए हम यह नही कह सकते हैं कि एकाधिकार में विक्रेता का एक होना आवश्यक ही है। ठीक इसी प्रकार बहुत से विक्रेताओं के होने से प्रतियोगिता का होना भी सिद्ध नही हो जाता है।

प्रतियोगिता की शक्ति के विषय में ठीक रूप से जानने का केवल एक ही उपाय है। माँग की रेखा के रूप का ध्यानपूर्वक अध्ययन करके हम प्रतियोगिता के अंश का अनुमान लगा सकते हैं। अर्थशास्त्र में पूर्ण प्रतियोगिता की परिभाषा मांग की रेखा की क्षितिज के समानान्तर होने के आधार पर की जाती है। ऐसी रेखा यह सूचित करती है कि यदि कोई विक्रेता थोड़ी अधिक कीमत मांगता है तो उसकी बिक्री होगी ही नही, क्योंकि दूसरे दूकानदार थोड़े कम मूल्य पर बेच कर सारे ग्राहकों को अपनी ओर खींच लेते हैं। इसके विपरीत दामों को थोड़ा कम करके कोई भी विक्रेता दूसरे विक्रेताओं के भी सभी ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। अपरिमित प्रतियोगिता का इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है? इसके विपरीत एकाधिकार मे मांग की रेखा एक गिरती हुई रेखा होती है। स्मरण रहे कि पूर्ण एकाधिकार में, अर्थात् जबकि प्रतियोगिता का अंश शून्य होता है, मांग की रेखा खड़ी रेखा (Vertical Line) होती है। इस प्रकार की रेखा इस बात को सूचित करती है कि दाम के घटने-बढ़ने से मांग की मात्रा मे परिवर्तन नही होते हैं।

ऊपर बताई गई दोनों दशाएं अन्तिम छोर की दशाएं होती हैं। इनके बीच की एक और दशा भी सम्भव हो सकती है, जिसमें प्रतियोगिता का अंश शून्य तथा अपरिमितता के बीच में कही होगा, ऐसी दशा में मांग की रेखा ऊपर से नीचे को गिरती हुई होगी। वह न तो क्षितिज के समानान्तर होगी और न खड़ी रेखा ही। नीचे इन तीनों प्रकार की मांग की रेखाओं को दिखाया गया है:—
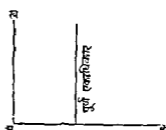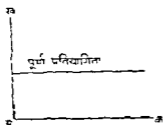
म०धा० (८)

निश्चय है कि वास्तविक जीवन मे पहली दो दशाओ का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही है। व्यावहारिक जीवन मे केवल तीसरी दशा ही विद्यमान होती है। शुद्ध एकाधिकार उतना ही दुर्लभ है, जितनी पूर्ण प्रतियोगिता। प्रतियोगिता बहुधा एकाधिकारी होती है, इसलिए एकाधिकार तथा अपूर्ण प्रतियोगिता मे बहुत अधिक अन्तर नही होता है। दोनों में अन्तर यह होता है कि एकाधिकार की दशा में यदि विक्रेता ऊँचे दाम मांगता है तो वह अपने ग्राहको को उसी वस्तु के दूसरे विक्रेताओ के पास नही खो देता है, क्योंकि दूसरे विक्रेता होते ही नही है। जबकि अपूर्ण प्रतियोगिता मे उसके कुछ ग्राहक ऐसी दशा में उसके पास से हटकर उसी वस्तु के दूसरे विक्रेताओ के पास चले जायेगे। मूल्य घटाने की दशा मे एकाधिकारी नये ग्राहक बना सकता है, क्योंकि कुछ लोग जो ऊँचे दामो पर वस्तु को खरीदने मे असमर्थ थे, अब उसे खरीदने लगेंगे। अपूर्ण प्रतियोगिता में पूर्णतया नये ग्राहक बनाने का प्रश्न ही नही उठता। दाम घटाकर केवल दूसरे विक्रेताओ के कुछ ग्राहको को तोड़ा जा सकता है। सच पूछिये तो अपूर्ण प्रतियोगिता मे किसी भी विक्रेता के ग्राहको को हम दो भागो में बाँट सकते हैं:—प्रथम तो, वे जो विभिन्न कारणो से विक्रेता विशेष से जमे (Attached) अथवा जुडे रहते हैं और दूसरे, जो इस प्रकार सम्बन्धित नही होते। दूसरे प्रकार के ग्राहक दाम के घटने-बढने पर एक विक्रेता से दूसरे के पास जाते हैं, पहले प्रकार के नही।

अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण (Causes of Imperfect Competition)—

उपरोक्त विवेचना मे पूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकार और अपूर्ण प्रतियोगिता के भेद को स्पष्ट किया गया है। किन्तु प्रश्न यह भी हो सकता है कि वे कौनसे कारण हैं जो अपूर्ण प्रतियोगिता को सम्भव बनाते हैं। इस प्रकार के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) ग्राहको की अज्ञानता—ग्राहकों का कीमत सम्बन्धी ज्ञान अपूर्ण हो सकता है। यदि किसी वस्तु का ग्राहक यह जानता ही नही है कि वस्तु के विभिन्न विक्रेता उसे कितने-कितने दामो पर बेचते हैं तो ऐसी दशा मे उसका केवल ऐसे विक्रेता से माल खरीदना आवश्यक नही होगा, जो सबसे नीची कीमत पर बेच रहे हैं। प्रत्येक ग्राहक उसी ग्राहक से खरीदेगा, जिससे वह परिचित है अथवा जिस तक वह संयोग से पहुँच जाता हैं, भले ही उसके दाम दूसरो से ऊँचे हो।

(२) वस्तु की विभिन्न इकाइयो के बीच वास्तविक अथवा कल्पित अन्तर (Real or Imaginary Differences Between the Units of the Commodity)—यदि वस्तु की विभिन्न इकाइयो के बीच अन्तर हैं तो कीमत के समान होने का प्रश्न ही नही उठता है। यहाँ भी एक ग्राहक सबसे नीची कीमत माँगने वाले विक्रेता से नही खरीदेगा। वह उस प्रकार की वस्तु खरीदेगा जो उसे अच्छी लगती है अथवा जो उसके दृष्टिकोण से उसकी आवश्यकता तृप्ति के लिए

अधिक उपयुक्त है। इस कारण अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा उत्पन्न हो जाती है। विभिन्न इकाइयो के बीच के अन्तर कभी-कभी तो वास्तविक होते हैं, परन्तु कभी कभी वे कल्पित भी होते है। विज्ञापन द्वारा, पैकिंग द्वारा अथवा विशेष नाम द्वारा विक्रेता ग्राहकों की मनोवृत्ति को प्रभावित करके कल्पित अन्तर उत्पन्न कर सकता है और इस प्रकार प्रतियोगिता को अपूर्ण बना सकता है।

(३) ख्याति लाभ (Advantage of Fame)—कोई उत्पादक किसी वस्तु के उत्पादन मे विशेष ख्याति प्राप्त कर सकता है। ऐसी दशा में वह अपने माल को, यद्यपि वह दूसरो के माल से भिन्न नही है, ऊँची कीमत पर बेचने में सफल हो जायेगा। इसके अतिरिक्त यदि कोई विक्रेता ऐसे बाजार मे जहा से माल खरीदना फैशन और सम्मान के दृष्टिकोण से अधिक लोकप्रिय है तो वह भी दूसरो से ऊँचे दामों पर बेचते हुए भी व्यवसाय को सफलतापूर्वक चला सकता है।

(४) ऊँचा यातायात व्यय (Heavy Transport Cost)—यदि यातायात सुविधाओ की कमी अथवा अन्य कारणो से वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने मे अधिक व्यय होता है तो विभिन्न स्थानो और विभिन्न क्षेत्रो मे वस्तु के अलग-अलग दाम ही रहेगे। ऐसी दशा मे प्रत्येक विक्रेता अपने-अपने क्षेत्र में एकाधिकारी होगा और इस कारण अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा उत्पन्न हो जायेगी।

(५) ग्राहकों की अकर्मण्यता (Intertia of the Buyers)—ग्राहक बहुत बार आलसी होते हैं। वे विभिन्न विक्रेताओ के दामो का पता लगाने का प्रयत्न ही नही करते है और न ही वे वस्तु की विभिन्न इकाइयो का अन्तर देखने की ही चेष्टा करते है। परिणाम यह होता है कि विक्रेता अलग-अलग दाम रखकर भी माल को बेच लेते है और ग्राहको को इसका पता भी नही चलता है। उधार खरीदने वाले ग्राहक भी ऊँचे दाम दे सकते हैं।

अपूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का आकार—

पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे फर्मों की संख्या तो बहुत होती है, किन्तु दीर्घकाल में सामान्य लाभ (Normal Profit) को छोडकर और किसी प्रकार के लाभ न होने के कारण साम्य की अवस्था मे प्रत्येक फर्म मे अनुकूल अथवा कुशलतम् आकार (Optimum or most efficient size) के होने की प्रवृत्ति रहती है। कोई भी फर्म दाम गिरा कर और उत्पत्ति की लागत को घटा कर ग्राहको को अपनी ओर खीच सकती है, अतः धीरे-धीरे अकुशल फर्में बाजार से निकलती जाती हैं। प्रबंगिक अवस्था में भी प्रतिनिधि फर्म (Representative Firm) उद्योग की दशा की सूचक होती है और उसी का आकार उद्योग का सामान्य आकार होता है, किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता मे कुशल तथा अकुशल फर्में एक साथ बाजार में स्थित हो सकती है और बराबर चालू रह सकती है। कारण यह है कि कुशल फर्म अकुशल फर्म के जमे हुए (Attached) ग्राहको को नही तोड़ पाती है। इसका अर्थ यह होता है कि

अपूर्ण प्रतियोगिता मे प्रत्येक फर्म के आकार का अनुकूलतम् (Optimum) होना आवश्यक नही है। साथ ही, यह भी सम्भव है कि फर्मों की कुल संख्या पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में बहुत अधिक हो जाय, क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता मे दीर्घकाल मे केवल कुशल फर्में ही जीवित रह सकती हैं, जबकि अपूर्ण प्रतियोगिता मे कुशल तथा अकुशल दोनों ही प्रकार की फर्में एक साथ जीवित रह सकती है। क्योंकि कुछ कारणों से ग्राहक सब फर्मों की उपज को समान नही समझते है, इसलिये अकुशल फर्मों के दाम ऊँचे रहते हुए भी इनकी बिक्री होती रहती है। कारण यह है कि ग्राहक इन फर्मों के माल को दूसरी फर्मों के माल से अच्छा समझते हैं। इस आधार पर कुछ विद्वानो का मत है कि "अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे उत्पत्ति की अधिक कुशल अवस्था तब प्राप्त की जा सकती है, जबकि उत्पत्ति की कुल मात्रा कम फर्मों द्वारा उत्पन्न की जाय।"[1] *इसका अभिप्राय यह होता है कि सीमित प्रतियोगिता अपूर्ण प्रतियोगिता से अच्छी है।*

अपूर्ण प्रतियोगिता में अपव्यय—

कुछ लेखको का मत है कि अपूर्ण प्रतियोगिता में बड़ा अपव्यय (Waste) होता है। मीड (Meade) का विचार है कि "एकाधिकारी प्रतियोगिता मे दो कारणों से अपव्यय हो सकता है : क्योंकि उद्योग की उपज ठीक सख्या की फर्मों के हाथ मे न हो और क्योंकि केवल मूल्य निर्धारण प्रणाली से यह पता नही चल सकता कि किसी नई फर्म की स्थापना नई वस्तु अथवा पुरानी वस्तु के नये ब्रांड को उत्पन्न करने के लिए करनी चाहिये अथवा नही।"[2]

मीड ने अपव्यय के निम्नलिखित पाँच कारण बताये हैं :—

(१) विज्ञापन इत्यादि के रूप मे *बिक्री व्यय* काफी अधिक होता है, जो समाज तथा देश के दृष्टिकोण से अपव्यय ही होता है।

(२) खरीदारो द्वारा उपस्थित चाहत (Preference) बहुधा विचारयुक्त (Rational) नही होता, जिसके कारण व्यर्थ का यातायात व्यय पड़ता है। *आगरे के माल के लिए मद्रास मे माँग हो सकती है और ठीक उसी प्रकार के मद्रास में* उत्पन्न किये हुए माल की माँग आगरे मे। निश्चय है कि माल को आगरे से मद्रास ले जाने तथा मद्रास से लाने का कुल व्यय फिजूल ही है।

(३) उद्योग विशेष की प्रत्येक फर्म उस वस्तु के उत्पादन पर ही नही रुक जाती, जिसमे उसे अधिकतम् कुशलता प्राप्त होती है, इससे देश के *आर्थिक साधनों का व्यर्थ ही अपव्यय होता है।*

---

1. "Under conditions of imperfect competition, the most efficient conditions of production can be obtained only when the total quantity of output is produced by a small number of firms."—Mead : *An Introduction to Economic Analysis and Policy*, American edition, p. 164.

2. *Ibid*, p. 176.

(४) अकुशल फर्मों द्वारा उत्पत्ति होने तथा वस्तु का प्रमापीकरण (Standardisation) न होने से राष्ट्र को हानि होती है।

(५) इसमें माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए बहुधा अनावश्यक रूप में दुहरा यातायात व्यय होता है।

QUESTIONS

1 Do conditions of imperfect competition always mean monopolistic conditions ? Explain the theory of monopoly price and discuss it. (Agra, B. Com., 1958 S and 1957)

2. अपूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य का निर्धारण किस प्रकार होता है। (Sagar, B. A., 1958 ; Agra, B. A., 1958)

3. अपूर्ण प्रतियोगिता का क्या अर्थ है ? इसमें मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ? रेखा-चित्र द्वारा समझाइए। (Lucknow, B. A., 1950)

4. एकाधिकारी प्रतियोगिता से आप क्या समझते हैं। इसमें और पूर्ण प्रतियोगिता में क्या अन्तर है ? बताइये। (Sagar, B. A., 1959)

5. How is the value of a commodity determined under imperfect competition ? What will be the effect of introducing free competition ? (Raj, B. A., 1959)

6. Explain the conditions of imperfect competition. How is value determined under it ? (Agra, B. Com., 1956)

7. नोट लिखिए—अपूर्ण प्रतियोगिता। (Agra, B. A., 1959 and 1951)

8. What is imperfect competition ? How is the price of a commodity determined in the case of imperfect competition among its sellers ? (Alld., B. A., 1952)

9. What is imperfect competition. Show how value is determined under imperfect competition. (Delhi, B. A., 1956)

अध्याय ६

परस्पर सम्बन्धित मूल्यों की समस्या

(Problem of Inter-related Values)

प्रस्तावना—

सरलता के लिए हमने अभी तक यह मानकर मूल्य निर्धारण का अध्ययन किया है कि उत्पादक एक बार एक ही वस्तु उत्पन्न करता है अथवा एक उपभोक्ता एक बार एक ही वस्तु का उपभोग करता है। तात्पर्य यह है कि अभी तक हम इस मान्यता (Assumption) के आधार पर काम करते आये हैं कि एक वस्तु की माँग अथवा पूर्ति का दूसरी वस्तुओं की माँग और पूर्ति से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। वास्तविक जीवन में सदा ही ऐसा नहीं होता है। बहुधा देखा जाता है कि हमारी किसी वस्तु विशेष की माँग बहुत सारी ऐसी वस्तुओं की माँग से सम्बन्धित होती है, जो हमारे उपभोग में सम्मिलित होती हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण उत्पत्ति के साधनों मे मिलता है। स्पष्ट है कि एक साधन अर्थात् श्रम की माँग दूसरे साधनों, जैसे—कच्चा माल, पूँजी आदि की माँग पर आधारित होती है। ठीक इसी प्रकार कुछ वस्तुओं की पूर्ति भी व्यक्तिगत रूप से न होकर संयुक्त रूप से होती है, अर्थात् एक वस्तु को उत्पन्न करने मे दूसरी का उत्पन्न करना आवश्यक होता है। रुई और बिनोला दोनों इसी प्रकार की वस्तुयें हैं। कपास से रुई उत्पन्न करने मे बिनोला भी उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार की परस्पर सम्बन्धित वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण ठीक उसी प्रकार होता है, जैसा कि साधारण वस्तुओं का, किन्तु फिर भी यह मूल्य-निर्धारण कुछ नई समस्यायें उपस्थित करता है और इसीलिए इसका अलग से अध्ययन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

साधारणतया उपभोक्ता तथा उत्पादक के दृष्टिकोण से वस्तुओं में चार प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं :—(१) संयुक्त माग (Joint Demand), (२) संयुक्त पूर्ति (Joint Supply), (३) सम्मिलित अथवा प्रतिद्वन्दी माँग (Composite or Rival Demand), और (४) सम्मिलित अथवा प्रतिद्वन्दी पूर्ति (Composite or Rival Supply)। अगले पृष्ठों मे इस प्रकार के परस्पर सम्बन्धित मूल्य निर्धारण का हम अलग-अलग तथा विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

संयुक्त माँग (Joint Demand)—

वस्तुओं की संयुक्त माँग उस दशा में होती है, जबकि किसी एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए दो या दो से अधिक वस्तुओं की एक ही साथ माँग होती

है। उदाहरणस्वरूप, मोटर कार पर चढ़ने की आवश्यकता पूरी करने के लिए कार और पैट्रोल दोनों की ही एक साथ आवश्यकता पड़ती है। ठीक इसी प्रकार लिखने के लिए कलम, स्याही और कागज की एक ही साथ माँग होती है। किसी एक वस्तु, जैसे—कपड़े का उत्पादन करने के लिए बहुत सारी वस्तुओं, जैसे—रुई, मशीन, मजदूर आदि की एक ही साथ जरूरत होती है। जिन वस्तुओं की माँग संयुक्त होती है, उन्हें पूरक वस्तुयें (Complementary Goods) भी कहते हैं।

मार्शल का विचार है कि यद्यपि उत्पत्ति के साधनों की संयुक्त माँग होती है, परन्तु जिस वस्तु के उत्पादन के लिए उत्पत्ति के साधनों की माँग की जाती है, उसकी माँग तो प्रत्यक्ष (Direct) होती है, परन्तु साधनों की माँग परोक्ष (Indirect) अथवा व्युत्पादित माँग (Derived Demand) होती है क्योंकि साधनों की माँग प्रमुख वस्तु की माँग द्वारा निश्चित की जाती है।*

संयुक्त माँग और मूल्य—

जिन वस्तुओं की संयुक्त माँग होती है, उनकी प्रमुख विशेषता यह होती है कि जबकि प्रत्येक का उत्पादन व्यय, औसत तथा सीमान्त, पृथक-पृथक ज्ञात होता है, प्रत्येक की सीमान्त उपयोगिता अलग-अलग ज्ञात नहीं होती है। उदाहरणस्वरूप, यदि फाउन्टेनपैन और स्याही की संयुक्त माँग है तो दोनों का अलग-अलग उत्पादन व्यय ज्ञात होने के आधार पर उनकी पूर्ति की रेखाओं को तो अलग-अलग खींचा जा सकता है, परन्तु दोनों की माँग की रेखा एक ही होगी। कितनी उपयोगिता कलम से मिलती है और कितनी स्याही से, इसका निर्णय थोड़ी कठिनाई से होता है, किन्तु सीमान्त विवेचना द्वारा यह निर्णय सरल हो जाता है। बहुधा संयुक्त माँग की वस्तुओं के संयोगों (Combinations) में परिवर्तन कर देने की सम्भावना रहती है। यदि हम पैन और स्याही के एक संयोग को लेते हैं, जिसकी कुल उपयोगिता हमें ज्ञात है तो बाद में स्याही की मात्रा को यथास्थिर रख कर और पैन की मात्रा को एक इकाई से बढ़ाकर हम पैन की सीमान्त उपयोगिता का पता लगा सकते हैं। मान लीजिए कि ४ पैन और ६ स्याही की बोतलों की संयुक्त उपयोगिता ५० है, अब यदि ५ पैन और ६ स्याही की बोतलों की संयुक्त उपयोगिता ६० है, तो इसका मतलब यह होता है कि एक पैन के बढ़ाने से कुल उपयोगिता में १० की वृद्धि हुई, अतः पैन की सीमान्त उपयोगिता १० होगी।

एक दूसरे उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए कि ५०० मन कच्चे माल, ५० मजदूर, ४ हजार रुपया पूँजी तथा साहस की एक निश्चित मात्रा के फलस्वरूप जो कुल उत्पत्ति होती है, इसका मूल्य ४ हजार रुपया है। अब यदि हम और सब चीजों को यथास्थिर रखकर मजदूरों की संख्या को ५१ कर देते है, जिनके फलस्वरूप कुल उपज इस प्रकार बढ़ती है कि वह ४,०२० रुपये में

---

* Marshall : *Principles of Economics*, p. 381.

बिकती है तो स्पष्ट है कि २० रुपये के बराबर वृद्धि ५१ वें मजदूर के कारण हुई है, इसीलिए यहाँ पर मजदूर की सीमान्त उपयोगिता की माप २० रुपयो मे हुई। इस प्रकार *संयुक्त माँग की वस्तुओं के अनुपात को बदल कर हम प्रत्येक की सीमान्त उपयोगिता को जान सकते हैं।*

इसके पश्चात् मूल्य निर्धारण में कोई कठिनाई नही होनी चाहिये। हमें प्रत्येक का उत्पादन व्यय तथा पूर्ति की वक्र रेखा का ज्ञान होता है और प्रत्येक की उपयोगिता अथवा माग की रेखाओं का भी। साम्य की दशा में मूल्य का निर्धारण वही पर होता है जहाँ माँग और पूर्ति की रेखायें एक दूसरे को काटती हैं।

मार्शल का व्युत्पादित माँग का नियम (Marshall's Law of Derived Demand)—

मार्शल ने व्युत्पादित माँग की विवेचना करने में मकान बनाने के उद्योग का उदाहरण लिया है। मकानो की प्रत्यक्ष माँग के फलस्वरूप सब प्रकार के मकान उद्योग सम्बन्धी मजदूरों, ईंट, पत्थर, लकड़ी इत्यादि के लिये संयुक्त माँग उत्पन्न होती है। इनमे से किसी एक की माँग उदाहरणार्थ पलास्टर करने वालों की माँग व्युत्पादित होगी। मार्शल का कथन है—"*किसी एक वस्तु के उत्पादन के लिये उपयोग की हुई किसी चीज के लिए जो दाम दिये जायँगे, वस्तु की अलग-अलग मात्रा के अनुसार, उसकी सीमा कीमत की वह वृद्धि नियत करती है, जिस पर कि वस्तु की उस मात्रा के ग्राहक मिल जाते हैं, उस मूल्य की मात्रा के अतिरिक्त जिस पर कि इस वस्तु के उत्पन्न करने के लिये दूसरी आवश्यक वस्तुयें यथेष्ठ मात्रा में मिल जायँगी।*"* दूसरे शब्दो मे, दूसरी चीजो को यथास्थिर रख कर किसी एक की मात्रा में थोड़ी सी वृद्धि कर देने से कुल आय मे जो वृद्धि होती है, वही उस चीज के मूल्य को सूचित करती है, जिसमे हमने वृद्धि की थी। सारांश यह है कि मार्शल के नियम तथा ऊपर दी हुई विवेचना में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नही है।

इसके पश्चात् मार्शल ने उन दशाओं की विवेचना की है, जिनके अन्तर्गत किसी एक उत्पत्ति के साधन की पूर्ति सीमित हो जाने से उसकी कीमत बहुत ऊँची हो जाती है। इस विषय में उन्होने चार शर्तों का वर्णन किया है :—(१) यह साधन पूर्णतया या लगभग आवश्यक होना चाहिये और उसके अच्छे स्थानापन्न (Substitutes) नही होने चाहिये। (२) जिस वस्तु की उत्पत्ति के लिये इस साधन की आवश्यकता है उसकी माँग तीव्र तथा बेलोच होनी चाहिये, अर्थात् उसके भी अच्छे स्थानापन्न प्राप्त

---

* "The price that will be offered for anything used in producing a commodity is, for each separate amount of a commodity, limited by the excess of the price at which that amount of the commodity can find purchasers, over the sum of the prices at which the corresponding supplies of other things needed for making it will be forthcoming."—Marshall : *Principles of Economics*, p. 383.

नहीं होने चाहिये। (३) उस साधन की कीमत का वस्तु विशेष के कुल उत्पादन व्यय का एक बहुत छोटा भाग होना आवश्यक है, जिसके कारण उस साधन की कीमत में वृद्धि होने पर भी कुल उत्पादन व्यय मे महत्त्वपूर्ण वृद्धि न हो सके। (४) दूसरे साधनों की माँग में थोड़ी भी कमी हो जाने से उनकी कीमत में भारी कमी होनी चाहिये। इसका परिणाम यह होगा कि साधन विशेष को अधिक पारितोषण देने की सुविधा तथा सम्भावना बढ़ जायगी।[1]

उत्पत्ति के साधनों के विषय में हेंडरसन का यह कथन कि "सीमान्त उपयोगिता तथा मूल्य का सम्बन्ध उत्पत्ति के साधनों मे भी उसी प्रकार विद्यमान है जैसे और वस्तुओ मे" सत्य ही है। भूमि का लगान, श्रम की मजदूरी और हम यह भी जोड़ सकते है कि पूँजी का लाभ सबकी प्रवृत्ति अपनी (व्युत्पादिक) सीमान्त उपयोगिता अथवा शुद्ध सीमान्त उपज (Marginal Net Product) के बराबर होने की होती है। आगे चलकर उन्होने लिखा है—*"हम उत्पत्ति के साधनों के विभिन्न संयोग ले सकते हैं। ऐसी दो दशाओं की तुलना कर सकते है, जिनमें किसी एक साधन की अलग-अलग मात्राओं का उपयोग किया जाता है, जबकि दूसरे साधनों की मात्राएँ बराबर रखी जाती हैं। एक साधन की अधिक मात्रा उपयोग करने से जो अतिरिक्त उपज प्राप्त होती है, उसे उस साधन की सीमान्त उपयोगिता कहा जा सकता है। हम ऐसा कह सकते हैं कि इस साधन का उपयोग उसी बिन्दु तक ले जाया जायगा, जहाँ पर यह अतिरिक्त उपज उस कीमत के लगभग बराबर होगी जो उस साधन के लिये दी जाती है।"*[2]

संयुक्त पूर्ति (Joint Supply)—

कुछ वस्तुयें ऐसी होती हैं, जिनकी उत्पत्ति एक साथ ही हो सकती है, अलग अलग नहीं। *मार्शल के अनुसार संयुक्त पूर्ति उन वस्तुओं की होती है जो सरलतापूर्वक अलग-अलग उत्पन्न नहीं की जा सकती हैं तथा जिनकी उत्पत्ति का आदि कारण एक ही होता हैं।*[3] जैसे—भेड़ का गोश्त, खाल, और ऊन, गेहूँ और भूसा,

1. *Ibid*, pp. 385—86.

2. "We can take the various possible combinations of the factors of production. contrast the two cases in which different quantities of one factor are employed together with equal quantities of others The extra product which will be yielded in the case in which the larger quantity of the varying factors is employed can then be regarded as the marginal product (or marginal utility) of the extra quantity of that factor. We can say that the employment of this factor will be pushed forward to the point where this marginal product will be roughly equal to the price that must be paid for it."—Henderson : *Supply and Demand*, p 70.

3. "Commodities are in joint supply when they cannot easily be produced separately and owe their production to the same fundamental source."—Marshall : *Principles of Economics*, p. 88.

कोयला और कोयले की गैस, रुई और विनौला इत्यादि। ऐसा वस्तुओं की प्रधान विशेषता यह होती है कि दूसरी को उत्पन्न किये बिना एक की उत्पत्ति होती ही नहीं है और बहुधा यह भी देखने में आता है कि किसी एक को एक निश्चित मात्रा मे उत्पन्न करने से दूसरी भी निश्चित मात्रा में उत्पन्न हो जाती है।

एक बडे अंश तक संयुक्त मांग तथा संयुक्त पूर्ति की दशाओं में समानता है और जिस प्रकार संयुक्त माग की दशा मे उपयोगिता संयुक्त रूप से ज्ञात होती है, उसी *प्रकार संयुक्त पूर्ति की दशा में संयुक्त उत्पादन व्यय ज्ञात होता है। सीमान्त विवेचना (Marginal Analysis) की सहायता से यहाँ भी हम प्रत्येक संयुक्त पूर्ति की वस्तु का अलग-अलग सीमान्त उत्पादन व्यय निकाल सकते हैं।* इस दिशा मे एक कठिनाई अवश्य है, यद्यपि सयुक्त पूर्ति की अधिकांश वस्तुएं ऐसी होती हैं कि उनके उत्पादन के पारस्परिक अनुपात को बदला जा सकता है, जिसके कारण उन पर सीमान्त विवेचना लागू हो सकती है, परन्तु इस प्रकार की कुछ वस्तुएं ऐसी भी हैं कि जिनका पारस्परिक अनुपात हम बदल नही सकते हैं। यहां पर सीमान्त विवेचना का उपयोग सम्भव नही होता है, अतः संयुक्त पूर्ति के अन्तर्गत हम दोनो प्रकार की दशाओं का अध्ययन करेंगे।

मूल्य का निर्धारण—

(१) यदि अनुपात बदला जा सकता है—अब हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि सयुक्त पूर्ति मे मूल्य का निर्धारण किस प्रकार होता है। प्रत्येक वस्तु की माग का मूल्य और माग की रेखायें तो अलग-अलग ज्ञात होने हैं, किन्तु यद्यपि संयुक्त उत्पादन व्यय का बोध होता है, परन्तु प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग उत्पादन व्यय मालूम नही होता है। अब यदि सयुक्त पूर्ति की वस्तुएं, उदाहरणस्वरूप, भेड का मांस और ऊन ऐसी हैं कि उनके अनुपात को बदला जा सकता है तो प्रत्येक का अलग-अलग सीमान्त उत्पादन व्यय सरलता से ज्ञात हो जायगा। मान लीजिए कि पहले किसी एक नसल की भेडों को लिया जाता है, जिसकी एक भेड़ से ८ इकाई गोश्त और ६ इकाई ऊन मिलती है और मान लीजिये कि इस भेड़ की कीमत १२ रुपया है। अब एक दूसरी नसल की भेड़ है, जिससे ७ इकाई गोश्त और ६ इकाई ऊन मिलता है तथा जिसकी कीमत १० रुपया है, अतः १ इकाई गोश्त का सीमान्त व्यय २ रुपया होगा और ठीक इसी प्रकार हम एक इकाई ऊन का भी सीमान्त व्यय निकाल सकते हैं। इसके पश्चात् मूल्य निर्धारण की समस्या सरल होगी, क्योंकि माग और पूर्ति दोनो की वक्र रेखाएं सरलता से खीची जा सकेंगी।

(२) यदि अनुपात नही बदला जा सकता है—परन्तु यदि अनुपात को नही बदला जा सकता है, तो समस्या का रूप दूसरा ही होगा। यहां पर सीमान्त विवेचना काम नही आ सकेगी। हम पहले ही बता चुके हैं कि लगभग सभी प्रकार की कपास में से रुई और बिनौले एक ही अनुपात में निकलते है। यह सम्भव नही है कि

दो अलग-अलग प्रकार की कपास लेकर रुई और बिनौले का पृथक-पृथक उत्पादन व्यय निकाला जा सके। तो फिर मूल्य का निर्णय अलग-अलग किस प्रकार होगा।

ऐसी वस्तुओं के बाजार मूल्य या अल्पकालीन मूल्य के निर्णय में तो कोई विशेष कठिनाई नहीं होती है। अल्पकाल में मांग और पूर्ति की सामान्य दशा के द्वारा संयुक्त उपज का मूल्य निर्धारित होता है। अल्पकालीन मूल्य निर्धारण में पूर्ति निष्क्रिय होती है, क्योंकि वह स्थिर होती है। इसके विपरीत मांग सक्रिय होती है और मांग की तीव्रता के अनुसार ही दाम नियत होते हैं। मांग के अधिक होने की दशा में मूल्य अधिक होगा और कम होने की दशा में कम। अल्पकाल में माग की अवस्था के अनुसार उत्पादक को लाभ भी हो सकता है और हानि भी। विक्रेता को बहुधा दो प्रकार का व्यय करना होता है: प्रथम तो, वस्तु के निर्माण (manufacture) का व्यय होता है और दूसरे, वस्तु को बिक्री के लिए तैयार करने का व्यय, जिसे हम बिक्री व्यय (Selling Cost) कहते हैं। इसमें वस्तु को बाजार तक लाने का यातायात व्यय, इत्यादि सम्मिलित होते हैं। अल्पकाल मे मांग के बहुत गिर जाने के कारण मूल्य इतना घट सकता है कि उत्पादक को उत्पादन या निर्माण व्यय का कोई भी भाग न मिल सके, परन्तु उसे कम से कम बिक्री व्यय वसूल होना चाहिए, अन्यथा वह वस्तु को बाजार तक लाने का कष्ट नहीं करेगा, वरन् उपज को फेंक देना ही उसके हित में होगा।

दीर्घकालीन मूल्य—

किन्तु दीर्घकालीन मूल्य-निर्धारण इतना सरल नहीं है। दीर्घकाल में पूर्ति और मांग दोनों का ही समान महत्त्व होता है और अन्त में सीमान्त उत्पादन व्यय द्वारा मूल्य नियत होता है। यहां मूल्य के निर्णय मे कठिनाई होती है। रुई और बिनौले का अलग-अलग सीमान्त व्यय निश्चित नहीं हो सकता है। इस सम्बन्ध मे कुछ मोटी-मोटी बातें इस प्रकार कही जा सकती हैं*:—

(१) रुई और बिनौला दोनों का कुल मूल्य दोनों के संयुक्त औसत व्यय के बराबर होना चाहिए। मूल्य इससे कम या अधिक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतियोगिता मे मूल्य औसत उत्पादन व्यय के बराबर होता है। रुई और बिनौले दोनों को बेचकर प्राप्त होने वाले मूल्य का कपास के उत्पादन व्यय के बराबर होना आवश्यक है।

(२) किसी भी एक वस्तु का सामान्य मूल्य संयुक्त उत्पादन व्यय से अधिक नहीं हो सकता है। अकेली रुई की कीमत कपास उत्पन्न करने और रुई निकालने के व्यय से अधिक नहीं होगी, क्योंकि यदि हम यह भी मान लें कि बिनौले का कुछ भी मूल्य नहीं है और उसे फेंक ही दिया जाता है तब भी केवल रुई बेचकर कुल कपास की लागत वसूल की जा सकती है।

---

* *Fundamentals of Economics*, edited by J. K. Mehta, pp. 397-98, 2nd edition.

(३) संयुक्त उपज का कम से कम मूल्य उसको बिक्री के लिए तैयार करने के प्रत्यक्ष व्यय (Direct Cost of Processing) से कम नहीं होगा। नहीं तो, जिस वस्तु से वह तैयार की जाती है, वह फेंक दी जायगी। उदाहरणस्वरूप, यदि बिनौले के तेल से इतना भी मूल्य वसूल नहीं होता जितना कि बिनौले से तेल निकालने पर व्यय किया गया है तो तेल निकाला ही नहीं जायगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संयुक्त उपज की कम से कम तथा अधिक से अधिक कीमत निश्चय हो सकती है। वास्तव में मूल्य इन दोनों के बीच मे किसी स्थान पर नियत होगा।

मार्शल ने संयुक्त उपज की वस्तुओं के मूल्य निर्धारण को रेखा-चित्र द्वारा समझाया है, जिसमे उन्होंने गोश्त और चमड़े के उदाहरण को लिया है, जबकि परिस्थिति इस प्रकार है कि गोश्त और चमड़े के अनुपात को बदला नहीं जा सकता है। *मार्शल की विवेचना को हम रुई और बिनौले पर भी लागू कर सकते हैं।* नीचे का रेखा-चित्र इसी आधार पर खींचा गया है :—
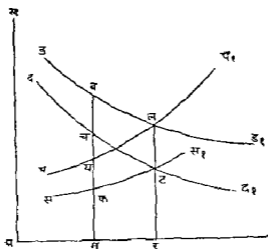
इस चित्र में प प' कपास की कुल उत्पादन व्यय की रेखा है। द द' रुई की माँग की रेखा है। हम यह मान लेते हैं कि रुई और बिनौले का अनुपात निश्चित है और बदला नहीं जा सकता है। 'म' अ क अक्ष पर कोई एक बिन्दु है, म से म च रेखा अ ख के समानान्तर खींची गई है, जो द द' को च बिन्दु पर काटती है, फिर म च रेखा को व बिन्दु तक बढ़ाया गया है। निश्चय है कि च म मूल्य पर रुई की अ म मात्रा की माँग होती है। *मान लीजिए कि* च व बिनौले की अ म इकाइयों की माँग का मूल्य है। ड ड' रेखा व का बिन्दु-पथ (Locus) है। स्वाभाविक है कि व म कपास की अ म मात्रा का मूल्य होगा। इस प्रकार ड ड' संयुक्त

माँग की रेखा है। ड ड', प प' रेखा को ल बिन्दु पर काटती है। ल से अ क पर ल र लम्बरूप खीचा गया है, जो द द' रेखा को ट बिन्दु पर काटता है। इस दशा में कपास की अ र इकाइयाँ उत्पन्न की जाती हैं और ल र कीमत पर बिकती हैं। साम्य की दशा मे ट र इस कपास से निकली हुई रुई की कीमत होगी और ल ट उसी से निकले हुए बिनौले की। इस प्रकार रुई और बिनौले की अलग-अलग कीमत नियत हो जाती है*।

बिना थोड़े से गणित ज्ञान के मार्शल की विवेचना को समझना कठिन है। स स' रेखा स्पष्टीकरण के लिये खीची गई है। प प' और ब म एक दूसरी को य बिन्दु पर काटती हैं। य फ, च ब की बराबर है। ऐसी दशा मे फ बिन्दु रुई की व्युत्पादित पूर्ति रेखा (Derived Supply Curve) पर होगा। इस प्रकार स स' रुई की पूर्ति की रेखा होगी और जहाँ पर रुई की माँग और पूर्ति की रेखायें एक दूसरी को काटती हैं, वहां पर रुई का मूल्य नियत होगा। इस प्रकार साम्य में रुई का मूल्य ट र ही होगा।

संयुक्त पूर्ति की एक वस्तु की माँग बढ़ने का दूसरी की कीमत पर प्रभाव—

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि संयुक्त उपज की एक वस्तु की माँग के बढने का दूसरी वस्तु के मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है ? उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि रुई की माँग बढ जाती है। ऐसी दशा में रुई के दाम चढ जायेंगे और यदि यह अवस्था कुछ समय तक बनी रहती है तो रुई की उत्पत्ति भी बढ जायगी, परन्तु स्मरण रहे कि साथ ही साथ बिनौले की उत्पत्ति भी बढ जायगी। ऐसी दशा में तीन प्रकार की सम्भावनायें हो सकती हैं :—(१) या तो बिनौले की माँग भी बढ जाय, (२) या बिनौले की माँग वही बनी रहे, (३) या बिनौले की माँग पहले से भी कम हो जाय। पहली दशा मे सम्भव है कि बिनौले की बढ़ी हुई मात्रा की पहली ही कीमत पर खपत हो जाय। दूसरी दशा में पूर्ति के माँग से अधिक हो जाने के कारण बिनौले के दाम गिरेंगे और तीसरी दशा में तो वे और भी अधिक तेजी से गिरेंगे।

सम्मिलित अथवा प्रतिद्वन्द्वी माँग (Composite or Rival Demand)—

यदि किसी वस्तु के बहुत सारे उपयोग हो सकते हैं, अर्थात यदि उसकी माँग विभिन्न प्रकार के उपयोग के लिए होती है, तो ऐसी वस्तु की माँग को सम्मिलित अथवा प्रतिद्वन्द्वी माँग कहते हैं। उदाहरणस्वरूप, लोहा मकान बनाने, औजार बनाने, पुल बनाने आदि अनेक कामों मे आ सकता है। इसी प्रकार कोयला

* Marshall : *Principles of Economics*, p. 389. Also Mathematical Note XVIII, p. 854.

रेल चलाने में, घर की रसोई में तथा फैक्टरी की भट्टी में काम आता है। एक मजदूर की माँग विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हो सकती है। विभिन्न उपयोग प्रतिद्वन्दी होते हैं। कभी-कभी तो सम्मिलित माँग की वस्तुओं को 'प्रतियोगी व्यय की वस्तुयें' (Competing Cost Goods) भी कहा जाता है।

ऐसी वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में कोई विशेष समस्या उत्पन्न नहीं होती है। प्रतिस्थापना नियम (Law of Substitution) के अनुसार दीर्घकाल में प्रत्येक उपयोग में सीमान्त उपयोगिता बराबर होती है या लगभग बराबर होती है। यदि किसी एक उपयोग के लिए माँग अधिक हो जाती है तो उस उपयोग में माँग बढ़ने के कारण दाम भी ऊँचे हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप, वस्तु की अधिक मात्रायें इस उपयोग के लिये आने लगती हैं। अन्य उपयोगों में भी पूर्ति के कम हो जाने के कारण दाम बढ़ जाते हैं। इस प्रकार वस्तु के विभिन्न उपयोगों में वितरण की अवस्था बदल जाती है, अतः पता चलता है कि साम्य में वस्तु का मूल्य उसके हर उपयोग की सीमान्त उपयोगिता बराबर होता है और यह उपयोगिता सब जगह एक ही होती है।

सम्मिलित अथवा प्रतिद्वन्दी पूर्ति (Composite or Rival Supply)—

जब किसी वस्तु की माँग विभिन्न साधनों द्वारा पूरी की जा सकती है तो उसकी पूर्ति को हम सम्मिलित पूर्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जब किसी वस्तु के इस प्रकार के स्थानापन्न मौजूद होते हैं कि जो वस्तु विशेष के स्थान पर उसकी आवश्यकता को पूरा कर सकें तो वह वस्तु सम्मिलित पूर्ति में होती है। कहवा चाय के स्थान पर उपयोग में लाया जा सकता है। गेहूँ के स्थान पर चावल अथवा जौ या चने को काम में लाया जाता है। ठीक इसी प्रकार बिजली के स्थान पर मिट्टी के तेल को और कुर्सी के स्थान पर स्टूल को इस्तैमाल किया जा सकता है। इस प्रकार की वस्तुओं में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध होता है। यदि इनमें से किसी एक की पूर्ति बढ़ जाती है, जिससे उसकी कीमत गिरती है तो उस वस्तु के उपयोग का रिवाज बढ़ जाने के कारण दूसरी सम्मिलित पूर्ति की वस्तुओं की माँग घट जायगी और उनके भी दाम गिर जायेंगे। इसी कारण इस प्रकार की वस्तुओं को हम प्रतियोगी वस्तुएँ भी कहते हैं। सारे स्थानापन्नों की कुल पूर्ति सबकी संयुक्त माँग के साथ-साथ प्रत्येक की कीमत पर अवश्य प्रभाव डालती है।

मूल्य निर्धारण—

जिन वस्तुओं की परस्पर प्रतिस्थापना हो जाती है, उनकी भी पूर्ति सम्मिलित होती है। यहाँ मूल्य की समस्या सरलतापूर्वक हल हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु की अलग-अलग उपयोगिता ज्ञात की जा सकती है और इसी प्रकार अलग-अलग उत्पादन व्यय भी ज्ञात होता है। मूल्य वहीं पर नियत होता है जहाँ पर वह सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर हो, किन्तु जो वस्तुएँ एक दूसरे का स्थानापन्न हो सकती हैं वे या तो एक दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न (Perfect Substitutes) हो सकती हैं या

केवल एक विशेष अंश तक ही ऐसी होंगी। पूर्ण स्थानापन्न होने की दशा में प्रत्येक सम्मिलित पूर्ति की वस्तु की सीमान्त उपयोगिता समान ही होगी और प्रत्येक का सीमान्त उत्पादन व्यय सीमान्त उपयोगिता के बराबर होगा, किन्तु यदि ये वस्तुएँ परस्पर पूर्ण स्थानापन्न (Perfect Substitutes) नहीं हैं तो सबकी सीमान्त उपयोगिताएँ समान नहीं होगी। ऐसी दशा मे सबके मूल्य में समानता नहीं होगी, परन्तु इतना अवश्य होगा कि ऐसी सब वस्तुओं के मूल्य मे एक ही साथ तथा एक ही दशा मे परिवर्तन होंगे।

रेल्वे में संयुक्त व्यय—

रेल्वे उद्योग संयुक्त पूर्ति का एक महत्त्वपूर्ण, किन्तु विशेष प्रकार का उदाहरण होता है। हम देखते है कि रेलें मुसाफिरो को भी ले जाती हैं और माल को भी। फिर मुसाफिरों को कई श्रेणियों मे बाँटा जाता है। इसी प्रकार गाड़ियां भी कई प्रकार की होती हैं, कुछ तेज और कुछ कम तेज इत्यादि। बहुधा विभिन्न प्रकार की रेल्वे सेवाओं की संयुक्त उत्पत्ति होती है, किन्तु प्रत्येक के व्यय का अलग-अलग पता नहीं लगाया जा सकता है। कारण यह है कि रेलो मे अनुपूरक व्यय, जैसे—जमीन खरीदने, पटरी डालने, स्टेशन बनाने, इत्यादि का व्यय बहुत होता है। अब एक बार डाली हुई पटरी पर हम सवारी गाड़ी और माल गाड़ी एक साथ चला सकते हैं, परन्तु यह कहना कठिन होगा कि इस प्रकार के कुल व्यय का कितना हिस्सा सवारियां ले जाने से सम्बन्धित है और कितना माल ढोने से?

साधारणतया रेल का किराया नियत करने के दो सिद्धान्त होते है–प्रथम तो, जिसे सेवा के व्यय का सिद्धान्त (Cost of Service Principle)) कहते हैं और दूसरा, जिसे सेवा का मूल्य सिद्धान्त (Value of Service Principle) कहा जाता है। पहले सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सेवा का मूल्य उतना ही रखा जाता है, जितना कि उस पर व्यय होता है, किन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, प्रत्येक सेवा का अलग व्यय निश्चित करना कठिन होता है। इसलिए कुछ थोड़ी-सी दशाओं को छोड कर रेल का किराया इस आधार पर नियत नहीं किया जाता है। यदि कुछ गाड़ियों मे विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं, जैसे—तेज रफ्तार की, तो अवश्य ही अतिरेक सेवा पर किये हुए व्यय के अनुसार भाड़े में अन्तर होता है। रेल्वे उद्योग मे प्रत्येक सेवा के अलग-अलग व्यय के ज्ञात न होने के कारण भाड़ा सेवा के मूल्य के सिद्धान्त पर नियत किया जाता है। यहां पर नियम यह होता है कि यातायात कितना सहन कर सकता है (What the traffic can bear)। किसी सेवा विशेष या लाइन विशेष से जितना किराया वसूल किया जा सकता है, उसी के अनुसार भाड़ा नियत होता है।

दुर्लभ वस्तुओं का मूल्य—

संसार मे बहुत सी वस्तुएँ इस प्रकार की है कि उनको प्रत्युत्पन्न नहीं किया

जा सकता। ऐसी वस्तुएँ विरल (Rare) अथवा अप्राप्य होती है। साधारणतया यदि माँग बढती है तो दीर्घकाल में अधिक उत्पत्ति हो जाने के कारण पूर्ति भी बढ जाती है, परन्तु दुर्लभ वस्तुओं मे विशेषता यह होती है कि उनकी पूर्ति कभी नही बढती। पुराने चित्रकारो के बनाये हुए चित्र, पुरानी पुस्तकें तथा हस्तलिपियाँ, इत्यादि इसी प्रकार की वस्तुएँ हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी वस्तुओं का मूल्य किस प्रकार निश्चित होता है ? ऐसी वस्तुओ के प्रत्युत्पादन व्यय का तो पता लग नही सकता है। स्मरण रहे कि ऐसी वस्तुओ का मूल्य प्राय: माँग की तीव्रता पर निर्भर होता है। पूर्ति यथा-स्थिर रहती है और इसलिए मूल्य की दशा अल्पकालीन मूल्य के समान होती है।

QUESTIONS

1. संयुक्त पूर्ति की स्थिति मे मूल्य कैसे निर्धारित होता है ? क्या यह सही है कि वृहत्-स्तर उत्पादन मे प्रायः उत्पादन की लागत वास्तव में संयुक्त लागत ही होती है ?
(Agra, B. A., 1959)
2. What is meant by Joint Demand and Supply ? Explain the conditions under which a check to the supply of one factor in joint demand may raise its price.
(Raj., B. A., 1956)
3. How is the price of goods in joint demand determined under competitive conditions ? Under what conditions can the price of a commodity in joint demand be increased by withholding its supply ?
(Bihar, B. A., 1958)
4. Discuss the principles governing the determination of values of commodities jointly produced. (Bihar, B. Com., 1956)
5. Distinguish between joint and composite supply. How is value determined under joint supply ? (Raj., B. Com., 1955)
6. Write a note on (i) Joint Demand and Supply and (ii) Derived Demand. (Agra, B. A., 1955 S, 1954, 1951 and 1950)
7. Write a short note on Direct and Derived Demand.
(Agra, B. Com., 1957 ; Sagar, B. Com., 1955)
Joint Supply.
(Delhi, B. A., 1953 and 1950 ; Agra, B. Com., 1949)
8. What do you mean by Joint Supply ? Discuss how the value of a commodity jointly produced is determined ?
(Bihar, B. A., 1956)

अध्याय १०

मूल्य के कुछ पुराने सिद्धान्त

(Some Older Theories of Value)

मूल्य के अध्ययन का प्रारम्भ—

मूल्य का विचार मानव इतिहास में बहुत पुराना है। निश्चय है कि विनिमय के साथ-साथ मूल्य के विचार तथा मूल्य सम्बन्धी समस्याओं का भी अभ्युदय हुआ, किन्तु लगभग किसी भी प्राचीन लेखक ने मूल्य का समबद्ध तथा विस्तारपूर्वक अध्ययन नहीं किया है। इतिहास मे इस बात का प्रमाण मिलता है कि भारतवर्ष में बहुत पुराने समय में ही मूल्य सम्बन्धी ज्ञान उपलब्ध था। मनुस्मृति मे, जो कि प्राचीन हिन्दू काल के नियमों का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, अनेक स्थानो पर न्यायपूर्ण मूल्य (Just Price) का विचार प्रस्तुत किया गया है, परन्तु इस विचार का स्पष्टीकरण नही किया गया है। मनु के विचार में न्यायपूर्ण कीमत वह कीमत है, जिससे विक्रेता तथा खरीदार दोनो में से किसी को नुकसान नही होता है। इस प्रकार की कीमत किस प्रकार नियत होती है, इस विषय मे मनु प्रायः मौन ही रहे, परन्तु व्यावहारिक जीवन के लिए उन्होने ऐसी अनेक बातो पर जोर दिया था, जिनसे कि मूल्य को न्यायपूर्ण रखा जा सकता है। मनु ने कम तोलना तथा वस्तु के दोषों इत्यादि को छिपाना अनुचित बताया है। ठीक इसी प्रकार यूनानी विद्वानो ने भी न्यायपूर्ण मूल्य पर ही जोर दिया है। अरस्तू (Aristotle) ने मूल्य निर्धारण का कोई नियम नही बताया है। यहूदी तथा ईसाई धर्म-ग्रन्थो मे भी स्थान-स्थान पर न्यायपूर्ण मूल्य पर जोर दिया गया है और इस बात पर आग्रह किया गया है कि अनुचित लाभ उठाना तथा धोखा देना पाप है।

वाणिज्यवादी (Mercantilist) अर्थशास्त्रियों ने अर्थ-विज्ञान के अध्ययन को एक कदम आगे बढ़ाया। उन्होंने विदेशी व्यापार, उद्योग तथा जन-सख्या सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विचार रखें, किन्तु मूल्य के सिद्धान्त का अध्ययन उन्होने भी नही किया। यह सम्भव है कि ये अर्थशास्त्री मूल्य सम्बन्धी कुछ अस्पष्ट ज्ञान रखते हो। प्रमाण इस बात का भी मिलता है कि इन अर्थशास्त्रियो ने उत्पादन व्यय तथा कीमत के निकटतम् सम्बन्ध का भी पता लगा लिया था। वाणिज्यवादियो की एक महत्त्वपूर्ण सिफारिश यह थी कि मजदूरी कम करके उत्पादन व्यय को घटाना चाहिये, ताकि विदेशियों को सस्ते दामों पर माल बेचा जा सके। वाणिज्यवादियों के पश्चात् निर्बाधावादी अर्थ-

शास्त्रियों (Physiocrats) ने भी मूल्य के सिद्धान्त की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। इन लोगों का विश्वास था कि कुल संसार का, जिसमे मानव जीवन के सभी विभाग भी सम्मिलित हैं, विशेष प्रकार के प्राकृतिक नियमो द्वारा संचालन होता है। इन नियमो द्वारा एक प्रकार की प्राकृतिक व्यवस्था (Natural order) सम्पन्न होती है, जिसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन श्रेष्ठतम् रूप से चालू रहता है। मनुष्य इस प्राकृतिक व्यवस्था में सुधार नही कर सकता है। अपने हस्तक्षेप से वह इस व्यवस्था को किसी अंश तक भग ही कर सकता है, जिससे मानव जीवन में संघर्ष उत्पन्न होता है और मानव कष्ट मे वृद्धि होती है। इस कारण आर्थिक तथा सामाजिक जीवन मे हस्तक्षेप करना उचित नही है। प्राकृतिक व्यवस्था को बना रहने देना चाहिये। विशेष रूप से देश की सरकार को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि यह व्यवस्था भङ्ग न होने पाये। मूल्य का निर्धारण भी प्राकृतिक कारणो से होता है। निर्बाधावादी यह तो नही बताते कि मूल्य किस प्रकार नियत होता है, परन्तु इस बात पर अवश्य जोर देते हैं कि सरकार को मूल्य निर्धारण के प्राकृतिक कारणो के मार्ग मे बाधाएं नही उत्पन्न करनी चाहिए।

एडम स्मिथ का महत्व—

इस प्रकार आरम्भ में मूल्य के सिद्धान्त का अध्ययन नही किया गया था, किन्तु स्मिथ ने प्रथम बार मूल्य के नियत होने के विषय मे अपने विचार रखे। निर्बाधावादियो की भाँति स्मिथ भी सरकार के हस्तक्षेप को अच्छा नही समझते थे, परन्तु एडम स्मिथ प्राचीन अर्थशास्त्रियो से बहुत आगे बढ गये थे। उन्होने विनिमय तथा उसके सिद्धान्तो की विवेचना की। एक पहले अध्याय में हम बता चुके हैं कि स्मिथ ने मूल्य को दो प्रकार का बताया है, अर्थात् उपयोग का मूल्य (Value-in-Use) तथा विनिमय का मूल्य (Value-in-Exchange)। इसके बाद उन्होंने यह बताने का प्रयत्न किया कि मूल्य किस प्रकार नियत होता है। दुर्भाग्यवश एडम स्मिथ की पुस्तक वेल्थ ऑफ नेशन्स (Wealth of Nations) मे एक बहुत बड़ा दोष यह है कि एक ही विषय पर कई मत दिये गये हैं और एडम स्मिथ ने स्वयं इस बात को स्पष्ट नही किया है कि वे स्वयं किस मत को अधिक सही समझते थे। मुख्यतया दो मूल्य के सिद्धान्तों का उल्लेख उन्होंने किया है, एक तो जिसे मूल्य का श्रम सम्बन्धी सिद्धान्त (Labour Theory of Value) कहते हैं और दूसरा जिसे मूल्य का उत्पादन व्यय सिद्धान्त (Cost of Production Theory of Value) कहा जाता है। एडम स्मिथ के अनुयाई दो प्रकार के थे, एक तो वे जिन्हें हम आशावादी (Optimists) कह सकते हैं। ऐसे अर्थशास्त्रियों में कैरे (Carey) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है और दूसरे वे जो निराशावादी (Pessimists) थे। इनमे माल्थस (Malthus) और रिकार्डो (Ricardo) विशेष रूप से प्रसिद्ध है। स्मिथ के पश्चात् निराशावादियो का अधिक जोर रहा और श्रम सम्बन्धी सिद्धान्तों को अधिक महत्व दिया गया। अर्थ-विज्ञान के इतिहास के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण

बात यह हुई थी कि एडम स्मिथ ने प्रथम बार मूल्य और उसके सिद्धान्त का एक वैज्ञानिक की भाँति अध्ययन प्रारम्भ किया। एडम स्मिथ के बाद प्रत्येक लेखक ने इस विषय में अपने विचार रखे और इस प्रकार हमारा मूल्य सम्बन्धी ज्ञान बढ़ता ही गया।

मूल्य के तीन सिद्धान्त विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए, अर्थात् श्रम सम्बन्धी सिद्धान्त, उत्पादन व्यय सिद्धान्त तथा उपयोगिता सिद्धान्त (Utility Theory of Value)। इन तीनों सिद्धान्तों का ही अगले पन्नों में अध्ययन किया जायेगा।

मूल्य का श्रम-सम्बन्धी सिद्धान्त (The Labour Theory of Value)—

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, श्रम-सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रारम्भ स्मिथ से होता है, किन्तु इस सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना तथा लोकप्रियता का श्रेय रिकार्डो को है और एक प्रकार से यह सिद्धान्त उन्हीं के नाम से सम्बन्धित किया जाता है। आगे चलकर प्रसिद्ध साम्यवादी लेखक कार्ल मार्क्स (Karl Marx) तथा उनके अनुयाइयों ने इस सिद्धान्त मे कुछ सुधार करके एक बड़े अंश तक इसका रूप ही बदल दिया। यहाँ पर पहले हम एडम स्मिथ तथा रिकार्डो के विचारो का अध्ययन करेंगे। कार्ल मार्क्स के विचारों को बाद मे देखेंगे।

एडम स्मिथ प्रारम्भ में उपयोगी मूल्य (Value-in-Use) तथा विनिमय मूल्य (Vaule-in-Exchange) में भेद करते हैं। उपयोगी मूल्य से उनका आशय उसी चीज से है, जिसे आधुनिक अर्थशास्त्र में हम उपयोगिता का नाम देते हैं। विनिमय मूल्य "वस्तु की दूसरी वस्तुओं को खरीदने की शक्ति" को कहते है। यह मूल्य उपयोगी मूल्य से केवल भिन्न ही नहीं होता, वरन् उससे सम्बन्धित भी नहीं होता है।

आगे चलकर स्मिथ ने कीमत (Price) का अध्ययन किया है। उन्होंने कीमत को दो प्रकार का बताया है। प्रथम तो, वह कीमत जो साधारण व्यावसायिक जीवन को चलाने के लिए बाजार मे खरीदारों तथा विक्रेताओं के सौदा करने (Higgling and Bargaining) द्वारा नियत होती है और बहुधा तेजी से बदलती रहती है। इसका नाम स्मिथ ने बाजार मूल्य (Market Price) रखा है। स्मरण रहे कि आधुनिक बाजार मूल्य का विचार स्मिथ के विचार से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, किन्तु स्मिथ का विचार है कि बाजार मूल्य के अतिरिक्त एक और प्रकार का मूल्य भी दृष्टिगोचर होता है, जिसे स्मिथ ने वास्तविक (Real) अथवा प्राकृतिक (Natural) कीमत का नाम दिया है। यह वास्तव मे दीर्घकालीन मूल्य है। स्मिथ का कथन है कि "प्रत्येक वस्तु की वास्तविक कीमत उस व्यय के बराबर होती है, जो उस मनुष्य को करना पड़ता है, जो वस्तु को प्राप्त करना चाहता है, यह वस्तु को प्राप्त करने की मेहनत तथा कष्ट है।"* स्पष्टीकरण के उद्देश्य से स्मिथ आगे लिखते हैं कि प्रत्येक वस्तु का प्रारम्भिक मूल्य श्रम के रूप में दिया जाता है

---

* Adam Smith : *Wealth of Nations.*

"केवल श्रम द्वारा ही संसार का तमाम धन प्रारम्भ में खरीदा जाता है।"[1] इस प्रकार वास्तविक मूल्य का कारण श्रम है और इसकी माप वस्तु के उत्पन्न करने के श्रम-व्यय के बराबर होती है। "श्रम ही सभी वस्तुओं के विनिमय मूल्य की वास्तविक माप है।"[2]

स्मिथ तथा रिकार्डो के दृष्टिकोणों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, परन्तु स्मिथ श्रम सिद्धान्त का उल्लेख करके यहीं पर नहीं रुक जाते हैं, वे मूल्य के दूसरे सिद्धान्तों को भी खोजने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत रिकार्डो के विचार में केवल श्रम सिद्धान्त ही सही है। उनका कहना है कि दीर्घकाल में किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगे हुए श्रम की मात्रा द्वारा निर्धारित होता है।[3] अलग-अलग वस्तुओं को उत्पन्न करने में श्रम की विभिन्न मात्रायें लगानी पड़ती हैं और इसी के अनुसार उनके मूल्य में अन्तर होता है। वस्तु का उपयोगी होना तो आवश्यक है, क्योंकि बिना उपयोगिता के न तो वस्तु की मांग होगी और न मूल्य ही, परन्तु उपयोगिता मूल्य का न तो कारण है और न उसकी माप ही। संसार में बहुत सारी वस्तुयें ऐसी होती हैं, जिनकी उपयोगिता बहुत ही अधिक होती है, जैसे—पानी, हवा, भोजन, इत्यादि, किन्तु इन वस्तुओं का विनिमय मूल्य बहुत ही कम होता है, क्योंकि इनके उपजाने में उपयोगिता की अपेक्षा बहुत ही कम श्रम का व्यय होता है, अतः रिकार्डो का विचार है कि केवल श्रम ही मूल्य का कारण है, अर्थात् किसी वस्तु में मूल्य इसी कारण होता है कि उसके उत्पन्न करने में श्रम का व्यय होता है और साथ ही साथ किसी वस्तु में स्थित मूल्य की माप उसके उत्पन्न करने में व्यय किये हुए श्रम के बराबर होती है। जो वस्तुयें ऐसी हैं कि उनके उत्पादन में अधिक श्रम अथवा दक्ष या कुशल श्रम की आवश्यकता होती है, उनका मूल्य भी अधिक होता है।

आलोचनायें—

विभिन्न कारणों से रिकार्डो का विचार सन्तोषजनक नहीं है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि रिकार्डो इस बात को स्पष्ट नहीं करते हैं कि श्रम से उनका अभिप्राय किस प्रकार के श्रम से है। साधारण अनुभव की बात है कि श्रम में अनेक प्रकार की विभिन्नतायें होती हैं। प्रथम तो, कुशल और अकुशल श्रम में अन्तर होता है। हर एक श्रमिक एक निश्चित समय में बराबर अथवा एक जैसा ही काम नहीं करता है। काम में मात्रा तथा गुण दोनों ही के दृष्टिकोणों से अन्तर होता है, अतः जब तक यह नहीं बताया जायगा कि कौन से श्रमिक के श्रम द्वारा मूल्य की माप होती है,

---

1. *Ibid.*

2. "Labour, therefore, is the real measure of the exchange value of all commodities."—*Ibid*, Book I, Chapter V.

3. "This (labour) is really the foundation of the exchangeable value of all things."—Ricardo : *Principles of Political Economy and Taxation*, Chapter I.

श्रम का सिद्धान्त अधूरा और अस्पष्ट ही रहेगा। दूसरे, उत्पत्ति में श्रम के अतिरिक्त भूमि, पूंजी, साहस आदि भी सहायक होते हैं। यदि मूल्य श्रम द्वारा ही उत्पन्न किया जाता है तो फिर इन साधनों का उत्पत्ति से क्या सम्बन्ध है ? सम्भवतः यदि ये साधन मूल्य को उत्पन्न नहीं करते तो इनका अपना भी मूल्य नहीं होना चाहिए, अन्यथा इनका उत्पादन में उपयोग नहीं होगा। तीसरे, कुछ वस्तुयें ऐसी भी हैं, जिनके उत्पादन में बहुत अधिक श्रम नहीं लगता, किन्तु फिर भी उनका मूल्य बहुत अधिक होता है। हीरे की कीमत का उसके उत्पादन पर व्यय किए हुए श्रम की मात्रा से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता है।

मार्क्स का मूल्य सिद्धान्त (The Marxian Theory of Value)—

सुप्रसिद्ध साम्यवादी लेखक तथा वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) के जन्मदाता कार्ल मार्क्स (Karl Marx) मूल्य के श्रम सिद्धान्त के ही समर्थक हैं। सच तो यह है कि समाजवाद का आधार ही मूल्य का श्रम सिद्धान्त है। मार्क्स का विचार है कि केवल श्रम ही मूल्य का जन्मदाता है, इसलिए श्रम ही कुल उत्पन्न किए हुये मूल्य का अधिकारी है, परन्तु पूंजीवाद (Captialism) में पूंजी पर, जो उत्पत्ति का एक प्रमुख साधन बन जाता है, श्रमिक का अधिकार नहीं होता है। श्रमिक को अपना श्रम बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है और इसी कारण वह अपने श्रम द्वारा उत्पन्न किये हुये कुल मूल्य को प्राप्त नहीं कर पाता है। मूल्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग पूंजीपति (Capitalist) की जेब मे चला जाता है और इस प्रकार श्रमिक का शोषण होता है, क्योंकि उसे अपनी मेहनत का पूरा फल नहीं मिल पाता है।

अपनी पुस्तक 'कैपीटल (Das Kapital) के परिच्छेद में मार्क्स लिखते हैं—"*वस्तुओं के विनिमय मूल्य का किसी ऐसी चीज में अंकित होना आवश्यक है, जो उन सब में स्थित हो..................। उपयोगी वस्तु का मूल्य केवल इसी कारण होता है कि अमूर्त मानव श्रम उसमें विद्यमान होता है।* तब फिर इस मूल्य के परिमाण को किस प्रकार नापा जा सकता है ? स्पष्ट है कि यह मूल्य उत्पन्न करने वाली चीज, वस्तु मे विद्यमान श्रम द्वारा ही हो सकता है, परन्तु श्रम की मात्रा की माप अवधि में होती है और श्रम-अवधि के मान सप्ताह, दिन और घन्टे होते हैं।"* इस सम्बन्ध में मार्क्स समाज के लिए आवश्यक (Socially Necessary)

* "The exchange value of commodities must be capable of being expressed in something common to them all.........A useful article has value only because human labour in the abstract has been embodied or materialised in it. How, then, is the magnitude of this value to be measured ? Plainly, by the quantity of the value-creating substance, the labour contained in the article. The quantity of labour, however, is measured by duration, and labour-time, in its turn, finds its standard in weeks, days and hours."—Karl Marx : *Das Kapital.* Volume III. p. 773.

श्रम का विचार उपस्थित करते हैं। इस प्रकार का श्रम एक औसत प्रकार का श्रम है, जो कि एक अकुशल (Unskilled) अथवा साधारण श्रमिक द्वारा सम्पन्न किया जाता है। अधिक कुशल श्रमिकों अथवा बहुत ही अकुशल श्रमिकों के श्रम को समाज के लिये आवश्यक-श्रम मे परिवर्तित किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, यदि कुशल श्रमिक उतने ही समय मे अकुशल श्रमिक से ६ गुना काम करता है तो उसका श्रम समाज के लिए आवश्यक श्रम की ६ इकाइयों के बराबर होगा। *मूल्य समाज के लिए आवश्यक श्रम (Socially Necessary Labour) में नापा जाता है* और इस प्रकार मूल्य को नापने की समस्या सरल हो जाती है।[1]

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि मार्क्स का स्पष्टीकरण रिकार्डो और एडम स्मिथ से बहुत अच्छा है। उनका कथन है कि "मूल्य केवल वस्तु के भीतर छिपी हुई श्रम-अवधि (Labour-time) को सूचित करता है। किसी भी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन मे लगे हुये श्रम की मात्रा और उसकी उत्पादकता पर निर्भर होता है।"[2] कार्ल मार्क्स इस बात से इन्कार नही करते है कि वस्तु के उत्पादन मे श्रम के अतिरिक्त उत्पत्ति के अन्य साधन भी काम मे आते हैं, परन्तु इस विषय में उन्होने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं, जिनसे उनकी बड़ी विद्वता तथा तीक्ष्ण बुद्धि का पता चलता है। उनका कहना है कि उत्पत्ति के साधनो का मूल्य उत्पन्न की हुई वस्तु के मूल्य मे सम्मिलित हो जाता है, किन्तु उत्पत्ति के साधन उपज को केवल उतना ही मूल्य प्रदान करते हैं, जितना कि वे उत्पादन क्रिया मे व्यय कर देते हैं।[3] कच्चे माल, ईधन, इत्यादि का मूल्य श्रम मे तो प्रत्यक्ष रूप से उपज मे चला जाता है, जबकि मशीनें तथा अन्य इसी प्रकार के साधन अपनी घिसावट या अवक्षयणता (Depreciation) के बराबर मूल्य उपज में परिवर्तित करते हैं, परन्तु भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी साधनो का मूल्य उनको उत्पन्न करने मे लगाई हुई श्रम-अवधि के बराबर होता है[4] और इस प्रकार इनके द्वारा प्रदान किया हुआ मूल्य भी श्रम मे ही नापा जा सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्र मे भी कम से कम पूँजी को तो भूतकालीन श्रम का सचित रूप ही माना गया है और इस प्रकार श्रम और पूँजी मे केवल इतना अन्तर रह जाता है कि एक वर्तमान श्रम है और दूसरा भूतकालीन। इस प्रकार भूमि के अतिरिक्त उत्पत्ति के अन्य साधन मूल्य के श्रम-सिद्धान्त मे कोई विशेष बाधा उपस्थित नही करते। उन सबका मूल्य श्रम मे नापा जा सकता है। भूमि के विषय में मार्क्स का मत महत्त्वपूर्ण है। भूमि से मार्क्स का अभिप्राय उन सब उत्पत्ति

1. "We see than that which determines the magnitude of the value of any commodity is the amount of labour *socially* necessary or the labour-time socially necessary for its production."—*Ibid*, Vol I, Chapter I.

2. Karl Marx : *Capital*, Volume I, Chapter I.

3. *Ibid*, Volume I, p. 180.

4. *Ibid*, p. 185-86.

के साधनों से है जो प्रकृति मनुष्य की सहायता के बिना ही प्रदान करती है :—पृथ्वी, हवा, पानी, पृथ्वी के भीतर के खनिज पदार्थ, जङ्गलों में मिलने वाली लकड़ी, इत्यादि। इस प्रकार की वस्तुएं उपज को कुछ भी मूल्य प्रदान नही करती हैं।[1] इस प्रकार कुल मूल्य श्रम द्वारा ही उत्पन्न किया जाता हैं।

मार्क्स और आधुनिक विचार—

कार्ल मार्क्स के विषय में आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने बहुत कुछ लिखा है, किन्तु अधिकांश लेखक मार्क्स का भली-भांति अध्ययन नहीं करते हैं। उनकी आलोचनायें बहुधा मार्क्स के प्रतिकूल इसलिए होती हैं कि अनेक कारणों से वे मार्क्स को ध्यान-पूर्वक समझने का प्रयत्न नही करते हैं, किन्तु जैसा कि श्रीमती जोन रोबिन्सन का कथन है, आधुनिक अर्थशास्त्री मार्क्स पर बिना ध्यान दिये ही बहुत सी दिशाओं में उन्ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जो मार्क्स ने बहुत पहिले ही खोज निकाले थे।[2] आधुनिक अर्थशास्त्र मे भूमि को उत्पत्ति का साधन नही माना जाता है और इस प्रकार भूमि द्वारा उपज को कोई भी मूल्य प्रदान नहीं किया जाता है। साथ ही, इसमे भी कोई सन्देह नहीं हैं कि श्रम और पूंजी में केवल समय का ही अन्तर है, जिसे हम मौलिक नही कह सकते हैं। साहस को भी बहुत से लेखक एक विशेष प्रकार का मानसिक प्रयत्न (Effort) ही कहते हैं और इस प्रकार जिन तीन साधनों द्वारा उपज को मूल्य प्रदान किया जाता है, अर्थात् श्रम, पूंजी और साहस, वे सब किसी न किसी रूप में श्रम ही हैं। चौथा साधन जिसे भूमि कहते है, यथार्थ मे उत्पादन में सहायक ही नहीं होता है और इस प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्र एक दूसरी रीति से मार्क्स की पुष्टि ही करता है। उसका विरोध नही करता है।

मार्क्स के सिद्धान्त की आलोचना—

आधुनिक अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से मार्क्स के सिद्धान्त के कुछ आक्षेपों की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। प्रथम तो, मार्क्स का सिद्धान्त मांग और पूर्ति दोनों के महत्त्व का उल्लेख नही करता है। वे उपयोगिता को कुछ महत्त्व भी नही देते हैं, जिसके कारण मांग और उसके नियमों की विवेचना न होने से मूल्य का सिद्धान्त अधूरा रह जाता है। दूसरे, मार्क्स के विषय में एक बात बहुधा भुला दी जाती है। मार्क्स केवल यह बतलाते हैं कि मूल्य कितना होना चाहिए, वे यह नहीं बताते कि मूल्य कितना है। आलोचकों का विचार है कि एक सच्चे वैज्ञानिक की भांति मार्क्स को यह बताना चाहिए था कि मूल्य यथार्थ मे किस प्रकार निर्धारित होता है। तीसरे, मार्क्स अपने मूल्य के सिद्धान्त में ठीक उसी बात को मान लेते हैं, जिसे वे बाद में सिद्ध करना चाहते हैं, अर्थात् मूल्य के सिद्धान्त में पहले ही परोक्ष रूप से इस बात को मान लिया गया है कि भूमि और पूंजी में निजी सम्पत्ति (Private Property) का अन्त होना चाहिए, किन्तु इस विषय मे इतना कहना काफी होगा कि अर्थशास्त्र

1. *Ibid*, Volume I. p. 185-86.
2. Joan Robinson : *An Essay on Marxian Economics*, p. 5.

तथा उसके नियमों की विवेचना करने में मार्क्स का उद्देश्य सैद्धान्तिक नहीं था, उनका समस्त झुकाव व्यावहारिकता की ओर था।

उत्पादन व्यय मूल्य का सिद्धान्त (Cost of Production Theory of Value)—

कुछ लेखकों का मत है कि विनिमय का मूल्य वस्तु के उत्पादन व्यय द्वारा निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार के व्यय में श्रम की लागत, कच्चे माल के दाम, पूंजी के सूद और घिसावट का खर्च तथा सामान्य लाभ सम्मिलित होता है। इन लोगों का कथन है कि यदि एक वस्तु का उत्पादन व्यय दूसरी से दो गुना है, तो उसका मूल्य भी दूसरी वस्तु के मूल्य से दुगुना होना आवश्यक है, अन्यथा उस वस्तु के उत्पन्न करने मे कुछ भी लाभ नही होगा। प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन व्यय का अनुपाती होता है।

यदि किसी वस्तु का मूल्य उत्पादन व्यय से अधिक है तो उसका उत्पादन विशेष रूप से लाभदायक होगा और ऐसी दशा में प्रतिद्वन्दी उत्पादकों की प्रतियोगिता के कारण वस्तु के दाम नीचे गिरेंगे। वस्तु की अधिक मात्रा में उत्पत्ति की जायगी, जिससे पूर्ति बहुत अधिक हो जाने के कारण मूल्य कम हो जायगा। इसके विपरीत यदि मूल्य उत्पादन व्यय से कम है तो वस्तु का उत्पन्न करना लाभदायक न होगा, इसलिए पूर्ति की मात्रा कम हो जायगी, जिसके फलस्वरूप वस्तु का मूल्य ऊपर उठेगा और अन्त मे वह उत्पादन व्यय के बराबर हो जायगा। इस प्रकार दीर्घकालीन मूल्य मे उत्पादन व्यय के बराबर हो जाने की प्रवृत्ति होती है।

इस सिद्धान्त का उल्लेख सर्व प्रथम एडम स्मिथ ने किया था, परन्तु एडम स्मिथ के विचार मे मुख्यतया श्रम और कच्चे माल की लागत ही उत्पादन व्यय में शामिल होती है। आगे चलकर सीनियर (Senior) ने एक और प्रकार की लागत को इस व्यय मे जोड़ दिया। सीनियर का विचार था कि निषेध (Abstinence) भी उत्पत्ति का एक साधन है, बिना इसके पूंजी का संचय नही हो सकता है। साथ ही, निषेध का मूल्य भी होता है, जिसे हम ब्याज (Interest) का नाम देते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति के तीसरे साधन पूंजी की लागत भी उत्पादन व्यय में सम्मिलित हो जाती है। बाद मे मिल (J. S. Mill) ने जोखिम को भी उत्पत्ति का एक साधन मान लिया और उससे सम्बन्धित लागत को उत्पादन व्यय मे जोड़ दिया। इस प्रकार उत्पादन व्यय में उत्पत्ति के चारो साधनों की लागत को सम्मिलित किया जाता है। आर्थिक विचारों के इतिहास में बहुत दिनों तक मिल का नाम बहुत ऊँचा रहा। स्वयं मिल का विचार था कि मूल्य के सिद्धान्त को उन्होने उसकी अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया था। वे लिखते हैं—"स्वभाग्य से अब मूल्य के नियमों मे ऐसी कोई भी बात

शेष नहीं रह गई है, जिसकी वर्तमान अथवा भविष्य के लेखकों को स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता पड़े, इस विषय का सिद्धान्त पूर्णतया पूरा है।''*

उत्पादन व्यय सिद्धान्त की विशेषताएँ—

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि यह सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर बड़ा भारी सुधार है, क्योंकि मूल्य को भूमि, श्रम, पूँजी तथा साहस चारों साधनों की संयुक्त लागत के बराबर बताया गया है। प्रारम्भ में इस सिद्धान्त में दो बातों की कमी थी। प्रथम तो, इस बात का स्पष्टीकरण नहीं किया गया था कि किस प्रकार का उत्पादन व्यय तथा कौनसी फर्म का उत्पादन व्यय मूल्य को निश्चित करता है। लगभग सभी प्राचीन लेखक पूर्ण प्रतियोगिता की दशा का अध्ययन करते हैं, जिसमें किसी उद्योग विशेष में अनेक फर्म होती हैं और उनमें से प्रत्येक के उत्पादन व्यय भिन्न-भिन्न होते हैं। साथ ही, किसी भी फर्म का उत्पादन व्यय तीन प्रकार का हो सकता है, अर्थात् कुल, औसत और सीमान्त। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि मूल्य निर्धारण में केवल सीमान्त व्यय ही महत्त्वपूर्ण होता है। साथ ही, प्रतिनिधि फर्म के विचार द्वारा इस बात का भी निर्णय हो जाता है कि किस फर्म के उत्पादन व्यय द्वारा मूल्य का निर्धारण होता है।

पुनरुत्पादन व्यय का सिद्धान्त (The Theory of Cost of Reproduction)—

अमेरिकन अर्थशास्त्री कैरे (Carey) तथा इटली के प्रसिद्ध लेखक फैरारा (Ferrara) ने यह बात भी स्पष्ट कर दी है कि किसी समय विशेष में किसी वस्तु का मूल्य उसके प्रारम्भिक उत्पादन व्यय द्वारा नियत नहीं होता, वरन् उसके बिक्री के समय के पुनरुत्पादन व्यय (Cost of reproduction) द्वारा नियत होता है। पुनरुत्पादन विधि तथा उत्पत्ति के साधनों के मूल्य में समय के अनुसार महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते रहते हैं, जिससे भविष्य का उत्पादन व्यय बदलता रहता है। भविष्य के मूल्य में उत्पादन व्यय के इस प्रकार बदलने के कारण कमी या वृद्धि होती रहती है।

व्यय सिद्धान्त की आलोचनाएँ—

(१) अपूर्णता—मूल्य का यह सिद्धान्त अपूर्ण है, क्योंकि यह हमें मूल्य सिद्धान्त की केवल एक ही दिशा का ज्ञान देता है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, मूल्य पर माँग और पूर्ति दोनों का समान अधिपतित्व होता है और उत्पादन व्यय केवल पूर्ति को ही प्रभावित करता है। माँग पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं होता। उत्पादन व्यय अकेले ही किसी वस्तु को मूल्य प्रदान नहीं कर सकता। मूल्य होने के लिए उपयोगिता का होना भी आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक विशाल मशीन चार लाख रुपये की लागत पर उत्पन्न की जाती है, किन्तु इसकी उपयोगिता कुछ भी

* "Happily, there is nothing in the laws of value which remains for the present or any future writer to clear up; the theory of the subject is complete."—J. S. Mill.

नहीं है, तो इसका विनिमय का मूल्य भी कुछ नहीं होगा। क्ले (Clay) के अनुसार "जिस देश में हमेशा उत्पादन व्यय के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य निश्चित होगा, वह देश उद्योगपतियों के लिए स्वर्ग हो जायगा, क्योंकि उन्हें अपनी गलतियों के लिए कभी भी सजा नहीं मिलेगी। यदि हम उपयोगिता पर विचार नहीं करते हैं तो हम अपनी समस्या को अधूरी छोड़ देते हैं।"[1]

(२) अल्पकाल में कठिनाई—जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, अल्पकाल में पूर्ति तथा उत्पादन व्यय मूल्य निर्धारण में बहुत ही कम महत्त्व रखते हैं, अतः यह सिद्धान्त अल्पकालीन मूल्य के निर्धारण के लिए पूर्णतया बेकार है।

(३) दृष्टिकोण का अन्तर—उत्पादन व्यय तथा मूल्य का सम्बन्ध, कारण तथा परिमाण का सम्बन्ध नहीं है, वरन् दोनों में परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध है। जिस प्रकार मूल्य पर उत्पादन व्यय के घटने-बढ़ने का प्रभाव पड़ता है, ठीक उसी प्रकार मूल्य के घटने-बढ़ने से भी उत्पादन व्यय कम या अधिक हो जाता है। यदि माँग बढ़ जाने के कारण मूल्य भी बढ़ जाता है तो दीर्घकाल में पूर्ति भी बढ़ जायगी और पूर्ति के बढ़ने से उत्पत्ति ह्रास नियम के कार्यशील होने के कारण उत्पादन व्यय भी बढ़ जायगा।

(४) पुनरुत्पादन व्यय महत्वपूर्ण नहीं है—पुनरुत्पादन व्यय का मूल्य पर प्रत्यक्ष रूप से बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है। जबकि वस्तु के ग्राहक बिना किसी विशेष कष्ट के नई पूर्ति की प्रतीक्षा कर सकते हैं, केवल उसी दशा में पुनरुत्पादन व्यय का मूल्य पर प्रभाव पड़ता है। मार्शल का निम्न कथन कितना सही है "दुश्मनों द्वारा घेरे हुए शहर में खाने की वस्तुओं की कीमत तथा उनके पुनरुत्पादन व्यय में कुछ भी सम्बन्ध नहीं हो सकता है, इसी प्रकार एक बुखार-ग्रस्त द्वीप में कुनीन का भी हाल होगा…………।"[2]

मूल्य का उपयोगिता सिद्धान्त (The Utility Theory of Value)—

इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता ही उसके मूल्य को निश्चित करती है। सिद्धान्त का मुख्य आधार यह है कि उपयोगिता ही मूल्य को जन्म देती है, क्योंकि मूल्य केवल उन्हीं वस्तुओं का होता है जो हमारी आवश्यकताओं को पूरा करती है। जो वस्तुयें हमारी किसी भी आवश्यकता को पूरा नहीं करती हैं, उनका हम मूल्य देने को भी तैयार नहीं होते हैं। साथ ही, जैसे ही किसी वस्तु की उपयोगिता कम या अधिक होती है, वैसे ही हम उसके लिए कम या अधिक मूल्य देने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिक उपयोगी वस्तुओं का मूल्य भी अधिक होता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त हमें यह बताता है कि उपयोगिता मूल्य का कारण तथा उसकी माप दोनों है।

1. Clay : *Economics for the General Reader*, p. 268.
2. Marshall : *Principles of Economics*, Book V, Chapter VII.

ऐतिहासिक दृष्टिकोण—

उपयोगिता का विचार अर्थशास्त्र में काफी पुराना है, परन्तु इस दिशा में इटेलियन अर्थशास्त्री कानडीलेक (Condillac) ने महत्त्वपूर्ण काम किया था। उपयोगिता विवेचना में प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक बेन्थम (Bentham) का प्रभाव विशेष रूप से स्पष्ट है, परन्तु उपयोगिता सम्बन्धी अध्ययन में आस्ट्रियन अर्थशास्त्रियों (Austrian Economists) का कार्य विशेष रूप से सराहनीय है। गोसन (Gossen), मेनजर (Karl Menger), बीजर (Wieser), तथा बोहम-बावर्क (Bohm Bawerk) ने उपयोगिता को ही अपनी आर्थिक विवेचना का आधार बनाया है। इङ्गलेंड में जेवन्स् (Jevons) तथा अमरीका में क्लार्क (J. B. Clark) और पैटन (Patten) ने भी इस दिशा में काफी काम किया है।

जब हम यह कहते हैं कि मूल्य की माप उपयोगिता से होती है तो हमारे कथन में एक प्रकार की अस्पष्टता रहती है, क्योंकि उपयोगिता कुल, औसत अथवा सीमान्त हो सकती है। इस सम्बन्ध में गोसन तथा जेवन्स का विचार है कि मूल्य उपयोगिता के अन्तिम अंश (Final Degree of Utility) द्वारा नियत किया जाता है। स्मरण रहे कि उपयोगिता के अन्तिम अंश से इन लोगों का वही अभिप्राय है, जो सीमान्त उपयोगिता से होता है और सीमान्त उपयोगिता उपभोग की अन्तिम इकाई से मिलने वाली उपयोगिता को सूचित करती है। उपभोक्ता वस्तु का मूल्य उससे मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता के अनुसार ही देने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार कीमत सीमान्त उपयोगिता की अनुगामी होती है।

आलोचनायें—

मूल्य का यह सिद्धान्त भी उत्पादन व्यय के सिद्धान्त की भाँति अधूरा है। इसकी प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं:—

(१) मूल्य माँग तथा पूर्ति दोनों के द्वारा नियत होता है। उपयोगिता केवल माँग को ही प्रभावित करती है और माँग की मात्रा साधारणतया सीमान्त उपयोगिता द्वारा निश्चित होती है, किन्तु केवल उपयोगिता के होने से ही किसी वस्तु को मूल्य प्राप्त नहीं हो जाता है। उसकी पूर्ति की मात्रा का भी सीमित होना आवश्यक है। बहुत उपयोगी वस्तु भी यदि असीमित मात्रा में उपलब्ध है तो उसका कुछ भी मूल्य न होगा। इस सिद्धान्त में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह केवल माँग की विवेचना करता है और पूर्ति की समस्या पर कुछ भी ध्यान नहीं देता है।

(२) अनुभव हमें बताता है कि मूल्य बहुधा उपयोगिता का अनुपातिक नहीं होता है। पानी, हवा, इत्यादि वस्तुओं की उपयोगिता हीरे, सोने आदि से बहुत अधिक होती है, परन्तु इनका मूल्य बहुत ही कम होता है, क्योंकि इनकी पूर्ति की मात्रा अधिक होती है।

(३) इस विषय में एक बड़ी कठिनाई यह है कि जिस प्रकार हम यह कह

सकते हैं कि मूल्य सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर होता है। ठीक उसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि स्वयं सीमान्त उपयोगिता भी मूल्य द्वारा नियत होती है। मूल्य के घटने से वस्तु का उपयोग बढ जाता है, जिसके कारण उससे मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता भी घट जाती है। इस प्रकार उपयोगिता को मूल्य का कारण कहा जाय या मूल्य को उपयोगिता का, इसका निर्णय कठिन होता है। उपयोगिता तथा मूल्य में परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध है।

(४) एक ही वस्तु की उपयोगिता एक ही समय पर विभिन्न मनुष्यों के लिए तथा विभिन्न समय पर एक ही मनुष्य के लिए भिन्न-भिन्न होती है। इस प्रकार यह कहना कठिन होता है कि किस मनुष्य को प्राप्त होने वाली तथा किस समय की उपयोगिता मूल्य की माप होती है।

(५) जैसा कि उपभोग के एक अध्याय मे हम देख चुके हैं कि उपयोगिता की कोई निश्चित माप सम्भव नही है और इसलिए यदि हम मूल्य को उपयोगिता मे नापते हैं तो मूल्य भी अनिश्चित ही रहेगा।

QUESTIONS

1. मूल्य के निर्धारण के विभिन्न सिद्धान्तों की जाँच कीजिए। इनमें से मूल्य का कौनसा सिद्धान्त स्वीकार योग्य है? (Agra, B. A., 1958 S)
2. Under what conditions is it possible for the price of a commodity to determine its cost of production. ? (Agra, B. A., 1949)
3. 'Value is determined by demand and supply.' 'Value is determined by cost of production.' Can these propositions be reconciled ? How ? (Alld., B. A., 1950)
4. अर्घ (Value) के उपयोगिता सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए और यह बताइये कि अर्घ के निर्धारण में पूर्ति और अभियाचन (Demand) दोनों के आचरण का अध्ययन क्यों आवश्यक है? (Sagar, B. Com., 1954)
5. The price of a commodity, in the long run, is determined by its cost of production. Show how this statement is consistent with the theory that price is determined by the forces of demand and supply. (Alld., B. A., 1948)

अध्याय ११

परिकल्पना, सट्टा या फाटका

(Speculation)

सट्टे का अर्थ—

साधारण बोल-चाल में सट्टा और जुआ बहुधा एक ही अर्थ में उपयोग किये जाते हैं। एक अंश तक दोनो में समानता भी है। दोनों में ही अनिश्चितता के आधार पर कार्य किया जाता है और लाभ और हानि दोनों की समान सम्भावना रहती है। जितना ही अनिश्चितता का अनुमान सही होता है, उतनी ही लाभ की सम्भावना अधिक रहती है और यदि इस प्रकार का अनुमान गलत होता है तो हानि होती है। संभावना सिद्धान्त (Theory of Probability) जिस अंश तक जुए पर लागू होता है उसी अंश तक सट्टे पर भी लागू होता है, किन्तु दोनों में कुछ महत्त्वपूर्ण भेद भी हैं। (१) यह कि जबकि जुआ किसी भी प्रकार की अनिश्चितता के विषय में हो सकता है, सट्टा केवल भविष्य की आर्थिक अनिश्चितता पर आधारित होता है। (२) जबकि जुआ लगभग सदा ही हानिकारक होता है, सट्टे के कुछ आर्थिक और सामाजिक लाभ भी होते हैं। लगभग सभी प्रकार का जुआ सामाजिक दृष्टिकोण से अनुचित होता है और इसमे कोई सन्देह नहीं है कि कुछ प्रकार का सट्टा भी हानिकारक ही होता है, परन्तु सभी देशों ने विशेष प्रकार के सट्टे को उचित तथा वैध बताया है।

सट्टे में वे सब घटनायें सम्मिलित की जाती हैं, जो मनुष्य भविष्य में होने वाली आर्थिक घटनाओं के विषय में सोच-विचार कर करते हैं। ये घटनाएँ बहुधा खरीदने और बेचने से सम्बन्धित होती हैं और इसीलिए सट्टे का विनिमय से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि भविष्य में किसी वस्तु के दामो के ऊपर चढने की आशा की जाती है तो कुछ लोग अभी से उस वस्तु को खरीदकर सचय करने का प्रयत्न करने लगते हैं, जिससे भविष्य मे उसे ऊँचे दामो पर बेचकर लाभ कमाया जा सके। ठीक इसी प्रकार यदि ऐसा अनुमान है कि भविष्य मे दाम गिरेंगे तो वे लोग जिनके पास वस्तु विशेष का स्टॉक् है, अभी से उसे बेचने लगते हैं, चाहे उन्हे दामो को थोड़ा कम ही क्यो न करना पडे। यह भविष्य मे भारी हानि से बचने के लिए किया जाता है। स्मरण रहे कि दोनों दशाओं में भविष्य का जो अनुमान लगाया जाता है, उसका पूर्णतया या कभी-कभी एक अंश तक भी सही होना आवश्यक नही होता है और इस प्रकार हो सकता है कि उपरोक्त प्रकार की खरीदारी अथवा बिक्री से लाभ

के स्थान पर हानि ही हो। इस प्रकार जो मनुष्य किसी वस्तु को इस दृष्टिकोण से खरीदते या बेचते हैं कि उसकी वर्तमान तथा भविष्य की कीमत के अन्तर के फल-स्वरूप लाभ उठा सकें, उस वस्तु की कीमत मे सट्टा करते हैं। सट्टा आर्थिक अर्थ मे केवल कीमतो तक ही सीमित रहता है। संसार मे सदा ही कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुओ, जैसे— सोना, चाँदी, गेहूँ, कपास, कच्चे माल आदि की कीमतो में सट्टा होता रहता है। इसी प्रकार सट्टा बाजार (Stock Exchange) मे कम्पनियो के हिस्सो (Shares), ऋण-पत्रो (Securities) तथा राज्यो के सार्वजनिक ऋणो की कीमतों में सट्टा होता रहता है।

शुद्ध तथा अशुद्ध सट्टा—

सट्टे को हम दो भागों में बाँट सकते हैं:—(१) *शुद्ध सट्टा (Pure Speculation)* और (२) *अशुद्ध अथवा वास्तविक सट्टा*। दूसरी प्रकार के सट्टे मे वस्तु की वास्तव में खरीद और बिक्री होती है, अर्थात् गेहूँ की कीमतो में सट्टा करने वाला मनुष्य यथार्थ मे ही गेहूँ को खरीदता है या बेचता है, किन्तु शुद्ध सट्टे मे खरीदारी और बिक्री केवल नाम की होती है और केवल नामलेख या अधिकार (Title) का ही परिवर्तन होता है। खरीदार अथवा विक्रेता वस्तु विशेष की शक्ल भी नही देखता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक मनुष्य आज सट्टे बाजार मे १,००० मन गेहूँ १६ रुपये मन पर खरीदता है और ६ महीने पश्चात् वह इस स्टॉक् को १६।) मन के दाम पर दूसरे के हाथ बेचता है, तो उसका सम्बन्ध केवल इस दशा मे होने वाले २५०) के लाभ से होता है। गेहूँ का कल्पनात्मक १,००० मन का स्टॉक् उसके नाम से किसी दूसरे के नाम पर, जिसने उसे खरीदा है, परिवर्तित हो जायगा।

हम सट्टा करने वालो के दो वर्गों मे भेद कर सकते हैं:—प्रथम तो, निपुण व्यावसायिक सट्टा करने वाले (Professional Speculators) और दूसरे, अनिपुण सट्टेबाज (Amateur Speculators)। पहली प्रकार के सट्टा करने वाले निपुण तथा अनुभवी व्यवसायी होते हैं, जो सट्टा करने को अपना एक व्यवसाय बना लेते हैं। इन लोगो को बाजार और उसकी प्रवृत्तियो का ज्ञान होता है। अनुभव के कारण भविष्य के विषय मे इनका अनुमान एक बडे अंश तक सही होता है। वे माँग तथा पूर्ति की परिस्थितियो को भली-भाँति समझते हैं तथा अपनी खरीदारी और बिक्री को अधिक सही अनुमानो के आधार पर नियत करते हैं। जितना ही सट्टा करने वाला अधिक दूरदर्शी तथा अनुभवी होगा उतना ही उसको लाभ भी अधिक होगा। अनिपुण सट्टेबाज अधिकतर जनता के आदमी होते हैं, जिनका बाजार सम्बन्धी ज्ञान अपूर्ण तथा अशुद्ध होता है। इन लोगो के लाभ और हानि पर भाग्य अथवा अवसर (Chance) का ही मुख्य प्रभाव होता है। इनका कार्य जुआरियो का सा होता है और इनके लाभ भी इसी प्रकार के होते हैं।

सट्टा बाजार का संगठन (The Organisation of Speculation Market)—

सट्टा बाजार का स्थान अलग ही होता है। किसी बड़ी इमारत में सट्टा करने वाले एकत्रित हो जाते हैं। स्टॉक् एक्सचेंज (Stock Exchange) भी एक विशेष प्रकार का सट्टा बाजार होता है, जहाँ पर हिस्सों, ऋण-पत्रों, आदि मे सट्टा किया जाता है। ऐसे बाजार मे दो प्रकार के व्यवसायी होते हैं:—प्रथम, जिन्हे हम सट्टेबाज या आढ़तिया (Jobbers) कहते हैं और दूसरे, जो दलाल (Brokers) होते है। सट्टे का काम आढ़तिया द्वारा किया जाता है। दलाल का सम्बन्ध जनता के ऐसे लोगों से होता है, जो अंश अथवा ऋण-पत्र को खरीदने के लिए तैयार होते हैं। दलाल का कार्य यह होता है कि वह आढ़तिया से भाव पूछ कर ग्राहकों और विक्रेताओं को बता दे। यही नही, वह खरीदने वालों और बेचने वालो के बीच में मध्यस्थ का काम करता है और खरीदारो का सम्बन्ध विक्रेताओ से स्थापित कर देता है। आढ़तिया स्वयं अपनी खरीदारी और बिक्री के भाव देने पर तैयार रहता है। वह दलाल को बताता है कि किस पत्र को वह किस भाव पर खरीदेगा या बेचेगा। दलाल जो कुछ भी काम करता है, उसके लिए अपना नियत कमीशन लेता है। वह बीच का व्यवसायी होता है, वास्तविक सट्टेबाज तो आढतिया होता है। स्टाक् एक्सचेंज की भाँति बुलियान एक्सचेंज (Bullion Exchange) भी होते हैं, जहाँ सोना-चाँदी की कीमतो में सट्टा होता है। अन्य वस्तुओ, जैसे कपास, गेहूँ आदि के सट्टे बाजार को हम प्रोड्यूस एक्सचेंज (Produce Exchange) अथवा ग्रेन चैम्बर (Grain Chamber) कहते हैं।

आढ़तिया वर्तमान मूल्य के साथ-साथ अंश या वस्तु का भविष्य का मूल्य भी दे देता है। यदि भविष्य मे मूल्य के कम हो जाने को आशा होती है तो आढ़तिया भविष्य मे वर्तमान मूल्य पर बेचने का वायदा कर देता है। इसका कारण यह होता है कि या तो आढतिया कम मूल्य पर सौदा खरीदकर नियत मूल्य पर बेच देता है और इस प्रकार लाभ उठा लेता है या वह भविष्य में नियत मूल्य से कम मूल्य पर सौदा खरीदने की बात किसी अन्य व्यक्ति से तय कर लेता है, जिस दशा में भी उसे लाभ होता है। इसके विपरीत यदि दाम की भविष्य मे बढ़ जाने की आशा होती है तो आढतिया भविष्य के लिए वर्तमान मूल्य पर सौदा खरीदना आरम्भ कर देता है और फिर जब समय आ जाता है तो वह उसे ऊँचे दामो पर बेच कर लाभ कमाता है। कभी-कभी आढतिया नियत समय से पहले ही इस प्रकार के सौदे को ऊँचे दामो पर किसी अन्य व्यक्ति के हाथ बेच देता है और लाभ कमाता है।

ठीक इसी प्रकार वस्तुओं के सट्टे बाजार (Produce Exchange) में भी कुछ लोग भविष्य में दाम चढ़ जाने की आशा मे खरीदते हैं और कुछ दूसरे लोग मन्दी को सम्भावना के कारण अथवा अन्य कारणो से प्रेरित होकर बेचते हैं। भविष्य के सौदो को वायदे के सौदे (Futures) कहते हैं। साधारणतया तो वर्तमान माँग

की पूर्ति के लिए वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है, किन्तु सट्टेबाज भविष्य की माँग की पूर्ति के लिए क्रय-विक्रय करते हैं। इनका सौदा तो वर्तमान समय में होता है, परन्तु वस्तु का लेन-देन एक निश्चित भावी समय पर ही होता है। समय आने पर भी वस्तु बहुत ही कम दशाओं में दी जाती है। केवल नियत मूल्य, अर्थात् जिस मूल्य पर सौदा खरीदा गया है और निश्चित समय के मूल्य का अन्तर ही सट्टेबाज को मिलता है या उससे लिया जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि बैसाख में मंगसिर का १,००० मन गेहूँ का सौदा १८ रुपये मन पर लिया जाता है और मंगसिर में गेहूँ का दाम १८।।=) मन निकलता है तो इस दशा में खरीदार सट्टेबाज गेहूँ के स्टॉक को बेचकर ।।=) प्रति मन का लाभ उठा सकता है और उसको कुल मिलाकर ६२५) आढ़तिया से मिलेगा। यदि मंगसिर में भाव केवल १७।।।) मन ही निकलता है तो बैसाख के खरीदार को २५०) हानि के रूप में देना पड़ेगा।

मूल्यरोपी तथा मूल्यपाति (Bulls and Bears)—

जो सट्टेबाज भावी कीमतों के ऊँचा चढ़ जाने की आशा में लाभ कमाने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें बाजार में तेजी वाले या मूल्यरोपी (Bulls) कहते हैं। ये लोग भविष्य मे मूल्य बढने की आशा मे खरीदते हैं। इनकी खरीद के कारण वस्तु का मूल्य अभी से बढ जाता है। इसके विपरीत *वे लोग जो भावी दामों के गिर जाने की आशा से लाभ उठाते हैं, बाजार में मन्दी वाले या मूल्यपाति (Bears) के नाम से पुकारे जाते हैं।* मूल्य के भविष्य मे गिर जाने की सम्भावना से प्रेरित होकर ये लोग सौदा बेचने लगते हैं। इनके कारण वस्तु का मूल्य अभी से कम हो जाता है। तेजी वालो तथा मन्दी वालो में एक प्रकार का संघर्ष चलता रहता है। एक मूल्य को ऊपर की ओर खीचता है और दूसरा नीचे की ओर। इस प्रकार भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे दोनों की शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जिनका अनुमान अधिक सही होता है, उन्हे लाभ होता है और दूसरो को हानि, परन्तु इस खीचातानी के फलस्वरूप मूल्य मे एक प्रकार की स्थिरता आ जाती है।

सट्टे में वस्तुओं (Goods) को तत्काल देने का वायदा हो सकता है अथवा भविष्य में। ऐसे प्रसंविदे (Contracts) जिनमें वस्तु भविष्य में किसी नियत समय पर दी जाती हैं, वायदे के सौदे (Futures) कहलाते हैं। इसके विपरीत यदि तत्काल ही वस्तु का देना आवश्यक होता है तो ऐसे सौदे तत्स्थान (Spot) कहलाते है। इस प्रकार कपास या गेहूँ का वायदे का सौदा भी हो सकता है और तत्स्थान भी।

हलका बिक्री सौदा तथा लम्बा खरीद का सौदा—

जब कोई सट्टेबाज यह सोचता है कि निकट भविष्य में वस्तु के दाम गिरेंगे तो वह हलका बिक्री का सौदा (Sell Short) करेगा, जिसका मतलब यह होता है कि वह भविष्य मे उस वस्तु को देने का वायदा करेगा, जो इस समय उसके पास

नहीं है । वह इस विश्वास पर लाभ कमाने की आशा रखेगा कि भविष्य में वह उस मूल्य से कम दामों पर वस्तु को प्राप्त कर सकेगा जिस पर उसने उसे बेचने का वायदा किया है और इस प्रकार अपने वायदे को पूरा करेगा । बहुत बार *ऐसा सट्टेबाज भविष्य में वस्तु को नियत मूल्य पर देने के साथ-साथ एक कवरिंग ठेका (Covering Contract) अथवा द्वैध रक्षण ठेका (Hedging Contract) कर लेता है । ऐसी दशा में वह किसी दूसरे व्यवसायी से भविष्य में माल बेचने का वायदा खरीद लेता है और इस खरीद के मूल्य को बिक्री के मूल्य से कम रखता है, जिससे उसे लाभ हो सके । नियत समय पर वह अपना वायदा इस दूसरे व्यवसायी से माल लेकर पूरा कर देता है ।* इसके विपरीत यदि सट्टेबाज की यह धारणा है कि वर्तमान मूल्य नीचा है और भविष्य मे मूल्य ऊपर चढ़ेगा तो वह लम्बा खरीद का सौदा (Buy Long) करेगा । भविष्य के लिए जितने भी माल की आवश्यकता है, उसे अभी खरीद लेगा और समय आने पर उसे ऊँचे दामों पर बेचेगा । बहुत बार सट्टेबाज कुछ ऊँचे दामों पर वायदे का माल तत्काल भी दे देता है, क्योंकि इसमें भी उसे लाभ होता है । इस प्रकार की बिक्री को वसूली बिक्री (Realising or Liquidating Sale) कहते हैं ।

वायदे के सौदे के खरीदारों में से कुछ तो उत्पादक लोग होते हैं, जो वस्तु को कच्चे माल के रूप मे उद्योग मे उपयोग के लिए खरीदते हैं और कुछ लोग केवल सट्टेबाजी ही करते हैं । इनका उद्देश्य वस्तुओं अथवा कम्पनियो के हिस्सों इत्यादि की खरीद और बिक्री की कीमतों के अन्तर से लाभ उठाना होता है । ऐसे लोगों के कारण सट्टा बाजार मे आधुनिक युग मे एक ऐसी प्रथा बन गई है, जिसके अन्तर्गत समय-समय पर समझौते होते रहते हैं और मूल्य के अन्तर (Differences) में व्यवसाय किया जाने लगा है । जब माल के देने का समय आता है तो माल की माँग नहीं की जाती, केवल मूल्य का अन्तर ही मांगा जाता है ।

सट्टे के आर्थिक लाभ—

आर्थिक जीवन में सट्टे के अनेक लाभ होते हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) माँग और पूर्ति के बीच साम्य—सट्टे का सबसे बड़ा लाभ यह है कि वह माँग और पूर्ति के बीच साम्य स्थापित कर देता है, जिसके कारण वस्तु के मूल्य मे तीव्र परिवर्तन नही हो पाते हैं । यदि भविष्य में मूल्य के बढ़ने की आशा है तो सट्टेबाज अभी से माल खरीदने लगते है । इस प्रकार माँग अभी से बढ़ जाती है और साथ-साथ मूल्य भी बढने लगता है । मूल्य की वृद्धि, जिसको भविष्य में होना चाहिए था, धीरे-धीरे अभी से होने लगती है । ठीक इसी प्रकार दाम भविष्य में घटने की सम्भावना पर सट्टेबाज अभी से बेचने लगते हैं । इससे पूर्ति की मात्रा बढ़ जाने के

कारण अभी से दाम गिरने लगते हैं। इस प्रकार सट्टेबाज दामो को एकदम तेजी से घटने या बढने से रोक सकते हैं। यही नही, भविष्य मे वर्तमान मूल्य पर बेचने का वायदा देकर या इस प्रकार का वायदा किसी व्यवसायी से लेकर भी सट्टेबाज भविष्य मे मूल्य को घटने-बढने से रोकते है। उनकी क्रियाओं के फलस्वरूप मूल्य-स्तर मे स्थिरता (Stability) बनी रहती है। निपुण सट्टेबाज भावी मांग, पूर्ति तथा कीमतो के परिवर्तन का अनुमान लगाते हैं और वर्तमान माँग एवं पूर्ति को भावी माँग और पूर्ति के परिवर्तनों के अनुसार अभी से बदलने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने से सट्टा करने वालो को तो लाभ होता ही है, परन्तु साथ ही समाज को भी बहुत से लाभ होते हैं।

(अ) स्थिर कीमतें उपभोक्ताओ के दृष्टिकोण से बहुत अच्छी होती हैं। ऐसी दशा मे मांग और पूर्ति में साम्य रहता है और उपभोग से अधिकतम् सन्तोष प्राप्त होता है। कीमतो के तीव्र परिवर्तन इस बात को सूचित करते है कि मांग और पूर्ति में साम्य स्थापित नही हो रहा है। जब दाम तेजी से बदलते रहते हैं तो उपभोक्ता को पारिवारिक बजट बनाने मे कठिनाई होती है और वह व्यय की कार्यवाहक योजना नही बना सकता है, क्योंकि आय और व्यय का अनुमान पूर्णतया सही नही होता है।

(ब) स्थिर कीमतें आर्थिक जीवन में निश्चितता लाती हैं। अनिश्चितता सदा ही बुरी होती है। यदि कीमतो के जल्दी-जल्दी बदलने की आशा नही रहती तो आर्थिक जीवन को सुचारु रूप से चलाया जा सकता है और उत्पत्ति, रोजगार, इत्यादि के विषय मे सही अनुमान लगाये जा सकते हैं।

(स) अपनी क्रियाओ के द्वारा सट्टेबाज जनता का ध्यान भविष्य मे वस्तु की पूर्ति की कमी की ओर आकर्षित कर देते हैं और इस प्रकार जनता को पहले से चेतावनी दे देते हैं। इसका एक परिणाम यह होता है कि वस्तु का अपव्यय नहीं होता। जनता ऐसी वस्तु के उपभोग मे अधिक मितव्ययिता से काम लेती है। अब यदि वह वस्तु ऐसी है कि इसका देश के उपभोग मे महत्त्वपूर्ण स्थान है, जैसे—खाद्य-पदार्थ, तो देश को बडा भारी लाभ होगा।

(२) उत्पादक जोखिम से बच जाते है—सट्टे से उद्योगपतियो तथा उत्पादको को भी बड़ा लाभ होता है। सट्टेबाज कच्चे माल की कीमतो के परिवर्तनों को कम कर देते हैं, जिससे उत्पादक के व्यवसाय की अनिश्चितता दूर हो जाती है और हानि का भय कम हो जाता है। उत्पादक बहुधा तैयार माल को निश्चित मूल्य पर भविष्य में बेचने का वायदा करता है, परन्तु हो सकता है कि भविष्य मे कच्चे माल के दाम चढ जायें। ऐसी दशा मे उत्पादक को हानि होती है। इससे बचने के लिए उत्पादक किसी सट्टेबाज से भविष्य मे वर्तमान कीमतो पर कच्चा माल देने का वायदा ले लेता है, अर्थात् वह वायदा करते समय एक द्वंध रक्षण ठेका (Hedging Contract) कर लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादक को स्वयं जोखिम नही उठानी पड़ती। यह काम उसके लिए सट्टेबाज करता है। इस

प्रकार उत्पादक का अपना लाभ यथास्थिर रहता है। कच्चे माल की कीमतों के ऊपर चढ़ जाने की जोखिम सट्टेबाज के कन्धों पर पड़ती है। स्मरण रहे कि भविष्य में यह भी सम्भव हो सकता है कि कच्चे माल के दाम बढ़ने के स्थान पर घट जायें। ऐसी दशा में उत्पादक और सट्टेबाज दोनों ही लाभ कमाते हैं। तात्पर्य यह है कि सट्टे के कारण उत्पादक को केवल उत्पादन की ही जोखिम उठानी पड़ती है, अन्य जोखिम से वह बच जाता है।

(३) भावी उत्पादन में सहायता—सट्टे द्वारा भविष्य के उत्पादन में सहायता मिलती है। सट्टे के बाजार का रुख देखकर ही बहुधा इस बात का निर्णय किया जाता है कि भविष्य के लिए कौन सी वस्तु का उत्पादन किया जाय और कितनी मात्रा में। एक किसान अथवा औद्योगिक उत्पादक के लिए उसी वस्तु का उत्पादन अधिक लाभदायक होता है, जिसमें दामों की भविष्य में चढ़ जाने की सम्भावना होती है, अर्थात् जिसकी माँग भविष्य में अधिक होगी। यदि कपास का भावी बाजार ऊपर जा रहा है और चीनी का नीचे, तो गन्ने के स्थान पर कपास का पैदा करना ही किसान के लिए अधिक हितकारी होगा।

(४) विनियोगी वर्ग को लाभ—स्टाक् एक्सचेंज में अच्छी कम्पनियों के हिस्सों के दाम ऊँचे रहते हैं, अर्थात् जिन कम्पनियों के भविष्य में लाभ कमाने की सम्भावना होती है, उनके शेयरस् तथा ऋण-पत्रों के वायदे के भाव ऊपर चढ़ जाते हैं। इसके विपरीत जिन कम्पनियों में प्रबन्ध की त्रुटियों अथवा अन्य कारणों से घाटे की सम्भावना रहती है, उनके शेयरस् के दाम गिर जाते हैं। उद्योगों में रुपया लगाने वाले व्यक्तियों (Investors) के लिए स्टाक् एक्सचेंज के भावों का रुख बड़ा महत्त्व-पूर्ण होता है। रुपया सदा ऐसे उद्योगों में लगाया जाता है, जहाँ लाभ की आशा रहती है।

साथ ही, स्टाक् एक्सचेंज के द्वारा शेयरस् और ऋण-पत्रों का सरलतापूर्वक हस्तान्तरण हो जाता है। एक व्यक्ति एक कम्पनी के शेयर बेच कर दूसरी के शेयर खरीद सकता है या नकद रुपया पा सकता है। इससे कम्पनियों पर विश्वास बना रहता है और उन्हें यथेष्ठ धन मिलता रहता है।

सट्टे के दोष—

इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि सट्टे से अनेक लाभ होते हैं, किन्तु यथार्थ में सट्टा भी एक प्रकार का जुआ ही है। इससे उत्पत्ति की वृद्धि नहीं होती है। यदि किसी एक व्यक्ति को लाभ होता है तो उसके साथ-साथ दूसरे को हानि होती है और इस प्रकार पूरे समाज को लाभ नहीं होता है। कभी कभी अनुचित सट्टेबाजी भी की जाती है, जिससे लाभ के स्थान पर उलटी हानि ही होती है। कहने का मतलब यह है कि सट्टे का अनुचित उपयोग हो सकता है और बहुधा किया भी जाता है। सट्टे की प्रमुख बुराइयाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) कीमतों की अस्थिरता—जब सट्टे द्वारा कीमतों के परिवर्तन कम हो जाते हैं तो सट्टे से लाभ होता है, परन्तु बहुत बार सट्टेबाज मूल्य परिवर्तन को कम करने के स्थान पर उल्टा बढ़ा देते हैं। सट्टेबाज नकली तेजी वाले अथवा मन्दी वाले (Artificial bulls or bears) उत्पन्न कर देते हैं और इस प्रकार लोगों को धोखा देकर स्वयं तो लाभ कमा लेते हैं और मूल्य में बड़ी तेजी से परिवर्तन करके दूसरे सट्टेबाजों तथा जनता को भारी हानि पहुँचाते हैं।

(२) कीमतों के अकारण उच्चावचन—जब अनिपुण अथवा बिना अनुभव के लोग सट्टा करते हैं तो उनके सट्टे तथा जुए में कोई अन्तर नहीं होता है और इस प्रकार के सट्टे में जुए की सभी हानियाँ उपस्थित होती हैं। ये लोग झूठी अफवाहों तथा गलत अनुमानों के आधार पर सट्टा लगाते हैं और कीमतों में अकारण ही तीव्र उच्चावचन (Wild fluctuations) पैदा कर देते हैं।

(३) धोखेबाजी—जब निपुण और अनुभवी सट्टेबाज ईमानदारी तथा होशियारी के साथ भावी दामों का अनुमान लगाकर काम नहीं करते, वरन् अपनी जेबें भरने का प्रयत्न करते हैं तो सट्टा समाज के लिए अभिशाप बन जाता है। ऐसी दशा में वस्तु की पूर्ति को छिपाने (Cornering) का प्रयत्न किया जाता है। यह दिखाकर कि पूर्ति की कमी है, दामों को ऊपर चढ़ा दिया जाता है और फिर इस छिपाई हुई पूर्ति को ऊँचे दामों पर बेचकर अनुचित लाभ उठाया जाता है। ऐसे लोग समाज का भारी अनहित करते हैं।

(४) जुआरी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन—सट्टा जनता में जुआ खेलने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता है। इस दिशा में अनुचित सट्टा बड़ा महत्त्व रखता है। यह प्रवृत्ति दीर्घकालीन दृष्टि से हानिकारक होती है, क्योंकि इसके फलस्वरूप वास्तविक उत्पादकों के स्थान पर ऐसे लोगों की संख्या बढ़ जाती है, जो जुआ खेलकर अर्थात् अनार्थिक कार्य करके जीविका चलाते हैं।

इस प्रकार अनुचित सट्टा हानिकारक होता है। जुआरी सट्टेबाजों में भेड़ाचाल होती है, अर्थात् वे जैसा दूसरों को करते देखते हैं, वैसा ही स्वयं भी बिना अधिक सोचे-समझे करने लगते हैं। यहाँ पर सट्टे का आर्थिक महत्त्व शेष नहीं रहता है। इस प्रकार जुआरी सट्टा समाज के लिए हानिकारक होता है। इस सम्बन्ध में लार्ड कीन्ज ने ठीक ही लिखा है, "उपक्रम की नियमित धारा की सतह पर बुलबुलों के रूप में सम्भव है कि सट्टे से कोई हानि न होती हो। परन्तु जब सारा उपक्रम ही सट्टे के भंवर का बुलबुला बन जाता है तो स्थिति बहुत भयङ्कर हो जाती है। जब देश में पूँजी का विकास सट्टेबाज की कार्यवाहियों का एक अविशिष्ट पदार्थ मात्र रह जाता है तो यह निश्चय है कि यह विकास समुचित रूप में नहीं हो सकेगा।*"

---

* "Speculators may do no harm as bubbles on a steady

Continued on next page.

सट्टे की अनुकूल दशायें (Conditions Favourable for the Growth of Speculation)—

भविष्य प्रायः सदा ही अनिश्चित होता है और अनिश्चितता ही सट्टे को जन्म देती है तथा प्रोत्साहित करती है। निश्चय ही जितनी ही किसी वस्तु की कीमतों में अनिश्चितता अधिक होगी, उतनी ही उसमें सट्टा करने की प्रवृत्ति भी अधिक बलवान होगी। सट्टे के लिए उपयुक्त होने के लिए वस्तु में निम्न प्रकार के गुण होने आवश्यक हैं :—

(१) शीघ्र नाश न होने का गुण—वस्तु शीघ्रनाशी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि ऐसी ही दशा में उसे भविष्य में मूल्य बढ़ने के समय तक उठा कर रखा जा सकता है। दूध, ताजा फल, सब्जी, आदि के मूल्य के भविष्य मे घटने-बढने की सम्भावना होते हुए भी उनमें सट्टा नही हो सकता है, क्योंकि इन वस्तुओं को भविष्य के लिए उठाकर रखा नही जा सकता है।

(२) जिन वस्तुओं का प्रमापीकरण (Standardisation) हो सकता है—जो वस्तुएँ आसानी से पहचानी जा सकती हैं, वे सट्टे के लिए अधिक उपयुक्त होती हैं। गेहूँ और कपास इसी प्रकार की वस्तुएँ हैं। कपास का उसके रेशे की लम्बाई तथा किस्म के अनुसार सरलता से वर्गीकरण किया जा सकता है। मिस्री तथा अमेरिकन और भारतीय छोटे रेशे की कपास को अलग-अलग पहचाना जा सकता है। ठीक इसी प्रकार गेहूँ की भी किस्मबन्दी (Gradation) सम्भव है। ऐसी वस्तुएँ सट्टे के लिए ठीक होती हैं। विभिन्न कम्पनियो के शेयर तथा ऋण-पत्र भी इसी कारण सट्टे की उपयुक्त वस्तुएँ हैं। ठीक यही बात सोने-चाँदी आदि के विषय में भी कही जा सकती है।

(३) उत्पत्ति या पूर्ति की अनिश्चितता—कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि उनकी माँग लगभग साल भर सतत् अथवा स्थिर रहती है, परन्तु उनकी उत्पत्ति मौसमी (Seasonal) होती है। ऐसी वस्तुओं की भिन्न-भिन्न समय की पूर्ति की मात्रा में बड़ा अन्तर होता है। गेहूँ की फसल भारतवर्ष में मार्च-अप्रैल में तैयार होती है, जबकि गेहूँ की माँग लगभग साल भर सतत् ही रहती है। इस कारण मार्च-अप्रैल में गेहूँ की पूर्ति माँग से बहुत अधिक रहती है और जनवरी-फरवरी में पूर्ति बहुत कम रह जाती है। कपास के विषय में भी यही बात है। यही कारण है कि इन दोनों वस्तुओं की कीमतों में अलग-अलग महीनों के अनुसार बहुत अन्तर होता है और खूब सट्टेबाजी होती है।

---

stream of enterprise. But the position is serious when enterprice becomes a bubble on the whirpool of speculation. When the capital development of a country becomes the by-product of the activity of a casino, the job is likely to be ill done."—J. M. Keynes : *The General Theory of Employment, Interest and Money.*

जब आर्थिक परिस्थितियाँ ही अनिश्चित होती हैं, अर्थात् आर्थिक दशाओं में विशेष कारणों से उथल-पुथल होती रहती है तो लगभग सभी प्रकार के सट्टे को प्रोत्साहन मिलता है। इस बात का अच्छा उदाहरण हमें पिछली लड़ाई के काल मे मिला था। लड़ाई की अनिश्चितता के साथ-साथ भारी आर्थिक अनिश्चितताएँ भी थी और इसी कारण लड़ाई के काल में सट्टे का बाजार बहुत गरम था।

सट्टा बाजार पर नियन्त्रण (Control of the Speculation Market)—

सट्टे की बुराइयों को दूर करने के लिए यह प्रश्न उठता है कि क्या सट्टे *बाजार पर सरकार द्वारा नियन्त्रण लगाया जाना चाहिये ? आधुनिक युग मे लगभग* सभी देशो की सरकारें इस बात पर सहमत हैं कि अनुचित सट्टे को रोकना चाहिए, परन्तु सट्टे को रोकने के लिए जो कानून बनाये जाते हैं अथवा जिन दूसरे तरीकों को अपनाया जाता है वे बहुधा अधूरे होते हैं। इनमे कुछ न कुछ त्रुटियाँ ऐसी रह जाती हैं कि जिनके कारण पूर्ण रूप से उद्देश्य की पूर्ति नही हो पाती है। कानूनो मे ढील पोल (Loopholes) निकाल कर या दूसरे प्रकार की सट्टे की रीतियो को अपनाकर सट्टे के काम को जारी रखा जाता है। जुए के रूप मे जो सट्टा होता है, उसका बन्द हो जाना ही देश और समाज के लिए अच्छा है, परन्तु कठिनाई यह है कि उचित और अनुचित सट्टे मे भेद करना सदैव सम्भव नही होता है, इसलिए नियन्त्रण के सही उपाय बताना कठिन काम है।

प्रोफेसर टाजिग (Taussig) ने स्टॉक एक्सचेंज के सम्बन्ध में निम्न प्रकार के सुझाव दिये हैं:—[1]

(१) एक्सचेंज द्वारा बनाये हुए नियमों मे सरकार को उचित परिवर्तन करके इन नियमो को लागू करना चाहिये।

(२) स्टॉक के *व्यवसाय के सम्बन्ध मे सूचनाओं का देना।*

(३) पूरे उद्योग पर नियन्त्रण लगाना, परन्तु स्मरण रहे कि इससे सट्टा तो अवश्य रुक जायगा, किन्तु औद्योगिक उन्नति मे बाधा पड जायगी।

(४) उद्योग के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाकर सट्टे के विरुद्ध बलशाली जनमत का तैयार करना।

कुछ दूसरे उपाय इस प्रकार हो सकते हैं:— (अ) उत्पादन नियमित समय पर तथा नियमित ढङ्ग पर करके कीमतो के परिवर्तनों को कम किया जा सकता है, जिससे सट्टे का आधार ही समाप्त हो जायगा। (ब) जैसा कि लरनर (Lerner) ने सुझाव दिया है, अनुचित सट्टे को बन्द करने के लिए उसका प्रतिद्वन्दी सट्टा (Counter Speculation) खडा कर देना चाहिये।[2] यह काम तब हो सकता है, जबकि सरकारी सूत्रो के द्वारा उचित मूल्य की सूची बनाई जाय और जनता को उचित मूल्य का ज्ञान दिया जाय।

---

1. Taussig : *Principles of Economics.*
2. Lerner : *The Economics of Control*, p. 96.

QUESTIONS

1. "आर्थिक वास्तविकताओं पर आधारित सट्टा लाभदायक हो सकता है, परन्तु सट्टे के लिये सट्टा अवश्यमेव हानिकारक है।" पूर्णतया वर्णन कीजिए।
(Vikram, B. A., 1959)

2. Discuss the methods of speculation. Discuss the effects of speculation in steadying price. (Raj., B. A., 1958)

3. What is speculation ? What economic advantages or otherwise has speculation on price ? (Agra, B. A., 1956)

4. What is speculation ? How does speculation in raw materials benefit businessmen in particular and society in general ?
(Agra, B. Com., 1957)

5. Explain speculation. Give its advantages and disadvantages. (Raj., B. Com., 1958)

6. Write short note on—Bulls and Bears.
(Raj., B. A., 1954, Delhi, B. A., 1956 ; Agra, B. A., 1946)

7. "The fundamental effect of mercantile speculation is to promote the establishment of the equilibrium of Supply and Demand." (Taussig). Explain the above statement with special reference to the functions of speculation in modern markets. (Agra, B. A., 1952)

8. Indicate the economic uses of speculation in modern markets and state how far you can justify it.
(Raj., B. A., 1952)

पाँचवाँ भाग

वितरण

(DISTRIBUTION)

अध्याय १

वितरण और उसकी समस्यायें

(Distribution and its Problems)

वितरण किसे कहते हैं ?—

उत्पादन के लिए उत्पत्ति के सभी साधनों का सहयोग आवश्यक होता है। कोई भी साधन अकेले ही कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता है। साधारण से साधारण वस्तु की भी उत्पत्ति कम से कम दो साधनों के मिल कर काम किए बिना नहीं हो सकती है, इसीलिए साधनों के इस सहयोग के फलस्वरूप जो कुल उपज पैदा होती है उसमें से प्रत्येक साधन को हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार होता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक किसान गेहूँ उत्पन्न करना चाहता है तो उसे खेत, बीज आदि के रूप में भूमि, बैल, हल तथा अन्य औजारों के रूप में पूँजी, अपने स्वयं अथवा वेतनभोगी मजदूरों के रूप में श्रम और उत्पत्ति की जोखिम उठाने के लिए साहस की आवश्यकता पड़ती है। अब मान लीजिए कि इन सब साधनों को किसी निश्चित मात्रा में उपयोग करके किसान को २०० मन गेहूँ की उपज होती है। इस उपज का एक हिस्सा तो किसान को खेतों के लगान तथा बीज पर व्यय करना पड़ता है, दूसरा हिस्सा बैलों को खिलाने तथा औजार और बैल के खरीदने पर, तीसरा हिस्सा वह अपने और मजदूरों के वेतन के रूप में लेगा और चौथा हिस्सा उस जोखिम उठाने पर खर्च करेगा जो सदा ही उत्पत्ति के प्रत्येक कार्य से सम्बन्धित होती है। स्मरण रहे कि उत्पत्ति का कोई भी साधन बिना पारितोषण की आशा के उत्पत्ति के कार्य में सहयोग नहीं देता। यदि उसको हिस्सा नहीं मिलता है तो वह काम भी नहीं करेगा। इसी कारण उत्पत्ति के कार्य में लगाये रखने के लिए प्रत्येक साधन को पारितोषण मिलना आवश्यक है, अन्यथा उत्पत्ति होगी ही नहीं। वितरण में हम इसी बात का अध्ययन करते हैं कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के हिस्से किस प्रकार निर्धारित होते हैं ? यह उस आधार अथवा सिद्धान्त का अध्ययन है जिसके अनुसार उस कुल उपज में से जो उत्पत्ति के सब साधनों के सहयोग से उत्पन्न होती है, प्रत्येक को उसका अपना हिस्सा मिलता है। इन हिस्सों का निर्धारण कुछ नियमों तथा सिद्धान्तों द्वारा होता है और इन सभी नियमों एवं सिद्धान्तों का अध्ययन हम वितरण में करते हैं।

प्रो० चैपमैन के अनुसार : "वितरण का अर्थशास्त्र समाज द्वारा उत्पादित धन के उत्पत्ति के विभिन्न साधनों अथवा इन साधनों के मालिकों के बीच के

बँटवारे से सम्बन्धित है, जिन्होंने इस उत्पत्ति के निर्माण में हिस्सा लिया है।"* ठीक इसी प्रकार की परिभाषा सैलिगमैन ने भी दी है। उनका कथन है कि "वह सभी धन जिसकी किसी समाज में उत्पत्ति की जाती है, अन्त में कुछ रीतियों अथवा आय के सूत्रों द्वारा व्यक्तियों के पास पहुँच जाता है। उत्पादित धन के इस प्रकार व्यक्तियों तक पहुँचाने की क्रिया को ही वितरण कहते हैं।"† इस प्रकार वितरण के नियमों (Laws of Distribution) से हमारा अभिप्राय उन नियमों से होता है जिनके अनुसार कुल उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के हिस्से निर्धारित किये जाते हैं और प्रत्येक साधन को इसलिए हिस्सा देना आवश्यक होता है कि कुल उपज सभी साधनों के सामूहिक प्रयत्न का फल होती है। प्रत्येक साधन का हिस्सा एक प्रकार से उस साधन की कीमत होती है। इस कारण वितरण की समस्या वास्तव में मूल्य के निर्धारण की ही समस्या है। विनिमय और वितरण में केवल इतना अन्तर होता है कि विनिमय में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य निश्चित किया जाता है, परन्तु वितरण में उत्पत्ति के साधनों का। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वस्तुओं (Commodities) और उत्पत्ति के साधनों (Factors of Production) में कोई आधारभूत अन्तर नहीं होता है। जब हम किसी वस्तु को उपभोग के लिए उपयोग करते हैं तो उसे वस्तु कहा जाता है, परन्तु जब उसी का उपयोग उत्पत्ति करने के लिए किया जाता है तो वह उत्पत्ति का साधन बन जाती है। उदाहरण के लिए, जब गेहूँ का उपयोग बीज के रूप में किया जाता है तो वह उत्पत्ति का साधन होता है। अतएव वितरण की समस्या विनिमय के सिद्धान्त का ही एक विशेष रूप है।

वितरण की समस्या किसी न किसी रूप में आर्थिक जीवन के विकास की प्रत्येक अवस्था में हमारे सामने रही है, परन्तु, जैसे-जैसे आर्थिक जीवन की जटिलता बढ़ती गई है, यह समस्या भी महत्त्वपूर्ण होती गई है। आधुनिक उत्पादन प्रणाली श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण पर आधारित है, जिसमें इस बात का पता लगाना बहुत ही कठिन है कि कुल उत्पत्ति में किसी एक साधन की देन कितनी है। इस कारण आज के संसार में वितरण और उसके सिद्धान्तों का अध्ययन बहुत ही आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि वितरण दो प्रकार का हो सकता है—व्यक्तिक वितरण

* "The economics of distribution accounts for the sharing of the wealth produced by a community among the agents (factors) or the owners of the agents which have been active in its production." *See* Chapman : *Outlines of Political Economy*, p. 278.

† "All wealth that is created finds its way to the final disposition of the individual through certain channels or sources of income. This process is called Distribution." *See* Seligman : *Principles of Economics*, p. 356.

(Personal Distribution) और कार्यात्मक वितरण (Functional Distribution)। व्यक्तिक वितरण में हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति (Individual) का हिस्सा अथवा उसकी आय कैसे निश्चित होती है। इस विषय का अध्ययन भी कभी-कभी लाभदायक होता है, क्योंकि इससे यह पता चल जाता है कि देश के भीतर आय के वितरण का क्या रूप है और विभिन्न व्यक्तियों की आय में कितनी असमानता है। कार्यात्मक अथवा वर्गीय वितरण में व्यक्ति के स्थान पर वर्ग की आय का अध्ययन किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, भूमिपति, श्रमिक, पूँजीपति अथवा साहसी वर्ग की आय का अध्ययन किया जाता है। आर्थिक सिद्धान्तों के अध्ययन में हम व्यक्तिक वितरण के स्थान पर कार्यात्मक वितरण के अध्ययन को ही अधिक महत्त्व देते हैं।

वितरण किस चीज का होता है (What is Distributed)?—

यह तो स्पष्ट है कि उत्पत्ति के कुल साधन मिलकर जितनी कुल उत्पत्ति करते हैं उससे अधिक का वितरण नहीं किया जा सकता है। अधिक से अधिक कुल उपज की मात्रा को ही सब साधनों में बाँटा जा सकता है, परन्तु क्या कुल उपज बाँट दी जाती है? ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि ऐसा नहीं हो सकता। एक उत्पादक को बहुधा कुछ सरकारी कर देने होते हैं और इन करों की रकम इससे पहले ही दे दी जाती है, जबकि साधनों के हिस्से निकाले जाते हैं। इसके लिए हम एक किसान का उदाहरण लेते हैं, जिसकी कुल उपज २०० मन गेहूँ है और जिसके मूल्य के रूप में उसे २,००० रुपये प्राप्त होते हैं। अब मान लीजिए कि किसान को ५० रुपये कर के रूप में देने पड़ते हैं तो ये ५० रुपये कुल उपज के मूल्य में से निकल जायेंगे, किन्तु कर के अतिरिक्त किसान को कुछ अन्य बातों का भी ध्यान रखना पड़ता है। खेती के औजार, जो किसान के काम में आ रहे हैं, धीरे-धीरे घिसते रहते हैं, जिसके कारण कुछ समय बाद उनको बदलने की आवश्यकता पड़ती है। इन औजारों के काम में लाने से घिसावट के कारण जो मूल्य नष्ट होता है तथा इनकी मरम्मत पर जो खर्च होता है वह तो अलग रहा, किसान को धीरे धीरे एक ऐसा भी कोष बनाना पड़ता है जिसमें से वर्तमान औजारों के बेकार हो जाने पर नये औजार खरीदे जा सकें। ठीक इसी प्रकार कुछ वर्षों के बाद बैल भी बूढ़े हो जाते हैं या मर जाते हैं और उन्हें भी बदलना पड़ता है। यदि एक जोड़ी बैल का दाम ६०० रुपया है और बैलों की औसत आयु १० साल है तो किसान को ६० रुपया प्रति वर्ष बैलों के बदलने के लिये उठाकर रखना चाहिए, जिससे कि १० साल बाद उसके पास ६०० रुपये हो जायँ। तीसरे, किसान को हर साल बीजों की आवश्यकता पड़ती है। इस साल जो उपज हुई है उसके लिए उपयोग किया हुआ

बीज पहली फसल में से रखा गया था। इस साल की फसल में से भी आगे के लिए बीज निकाला जायगा; अन्यथा खेती का काम नहीं चल सकेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसान अपनी कुल उपज को उपयोग किए हुए उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में नहीं बाँटेगा, वरन् इसमें से ऊपर गिनाए हुए खर्चों को सर्वप्रथम निकाल लेगा और शेष को उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में बाँट देगा। इस प्रकार शेष रहने वाली आय किसान की शुद्ध आय (Net Income) कहलाती है, जबकि समस्त आय को अशुद्ध या सकल आय (Gross Income) कहा जाता है। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के हिस्से शुद्ध आय में से ही निर्धारित होते हैं।

राष्ट्रीय लाभांश अथवा राष्ट्रीय आय (National Dividend)—

ऊपर दी हुई रीति से हम देश के प्रत्येक औद्योगिक कार्य (Industrial undertaking) की शुद्ध आय निकाल सकते हैं। देश के सभी औद्योगिक कार्यों की सम्पूर्ण शुद्ध आय का योग हमें कुल देश की उस शुद्ध आय को बताएगा जो देश में उत्पत्ति के सभी साधनों में बाँटी जा सकेगी। वह सम्पूर्ण शुद्ध आय जो एक निश्चित समय में देश में उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के सामूहिक प्रयत्न से उत्पन्न हुई है, राष्ट्रीय लाभांश (National Dividend) कहलाती है। बहुधा राष्ट्रीय लाभांश एक वर्ष की अवधि को सूचित करता है। देश के श्रम तथा पूँजी प्रति वर्ष प्राकृतिक साधनों से काम लेकर जो शुद्ध आय उत्पन्न करते हैं वही राष्ट्रीय लाभांश है। इसमें साल भर में उत्पादित कुल सामान और उपयोग की हुई कुल सेवायें शामिल होती हैं।

मार्शल की परिभाषा—

राष्ट्रीय लाभांश की परिभाषा विभिन्न लेखकों ने अलग-अलग की है, परन्तु विशेष रूप से मार्शल, पीगू और फिशर (Fisher) के विचार उल्लेखनीय हैं। मार्शल ने इस शब्द का उपयोग विस्तृत अर्थ में किया है। उनका कहना है कि "किसी देश के श्रम और पूँजी द्वारा देश में प्राकृतिक साधनों की सहायता से साल भर में वस्तुओं का एक शुद्ध समूह उत्पन्न होता है, जिसमें मूर्त और अमूर्त वस्तुएँ तथा सब प्रकार की सेवाएँ शामिल होती हैं। शुद्ध शब्द का उपयोग इस कारण किया गया है कि कच्ची तथा अर्द्ध-कच्ची वस्तुओं के समाप्त होने तथा उत्पत्ति में उपयोग किये हुए स्थिर यन्त्र (Plant) की घिसावट और अवक्षयण (Depreciation) के लिए व्यवस्था की जा सके : सच्ची अथवा शुद्ध आय निकालने से पहले सकल आय में से इस प्रकार का सब अपव्यय (Waste) घटा देना चाहिए और विदेशों में लगाई गई पूँजी की शुद्ध आय जोड़ देनी चाहिए। यही देश की सच्ची शुद्ध वार्षिक आय, आगम अथवा राष्ट्रीय

लाभांश है।"[1] इस प्रकार राष्ट्रीय आय में उन सब वस्तुओं की कीमत को शामिल किया जाता है जिनका साल के भीतर नया उत्पादन हुआ है। इसमें उन सब सेवाओं के मूल्य को भी सम्मिलित किया जाता है जो इन वस्तुओं के उत्पादन करने के अतिरिक्त सम्पन्न की गई हैं, परन्तु इसमें से उस सब घिसावटे तथा विनाश के मूल्य को घटाना पड़ेगा जो उत्पत्ति के कार्य में लगे हुए पूँजी के स्टॉक में होता है। आगे चलकर मार्शल ने लिखा है कि "ये सब सेवाएँ जो एक मनुष्य अपने स्वयं के लिए सम्पन्न करता है या वह अपने मित्रों अथवा सम्बन्धियों के लिए बिना किसी पारितोषण के लोभ से करता है, वे सब लाभ जो अपनी निजी वस्तुओं (फर्नीचर और कपड़े) या सार्वजनिक सम्पत्ति, जैसे—चुङ्गी-रहित पुलों से प्राप्त होते हैं, राष्ट्रीय लाभांश में नहीं जोड़े जाते, वरन् उसका हिसाब अलग रखा जाता है।"[2]

सैद्धांतिक दृष्टिकोण से मार्शल के विचार के सम्बन्ध में किसी भी कमी का निकालना कठिन है, परन्तु व्यावहारिक जीवन में इस प्रकार राष्ट्रीय लाभांश का नापना और निर्धारित करना लगभग असम्भव है। प्रथम तो कुल उत्पत्ति की गणना करना ही एक बड़ा कठिन काम है, परन्तु यदि ऐसा किया भी जा सकता है तो कुछ और कठिनाइयाँ होती हैं। बहुत सी वस्तुयें ऐसी भी उत्पन्न की जाती हैं जिनका मूल्य कभी आँका नहीं जाता है। उदाहरणस्वरूप, एक किसान जितनी कुल उत्पत्ति करता है उसका वह केवल एक भाग ही बेचता है। दूसरा भाग वह अपने स्वयं के उपभोग के लिए उपयोग करता है। इस भाग की न तो मात्रा ही निश्चित होती है और न इसके मूल्य की माप ही मुद्रा में हो सकती है। स्मरण रहे कि आगे ही अर्थशास्त्र को एक अनिश्चित (Inexact) विज्ञान बताया जाता है और यदि मुद्रा के माप दण्ड (Measuring rod of money) का उपयोग नहीं किया जाता है तो राष्ट्रीय लाभांश का अनुमान लग ही नहीं सकता है।

उपरोक्त कारणों से पीगू ने मार्शल की परिभाषा में सुधार करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने वैसे तो मार्शल की राष्ट्रीय लाभांश नापने की प्रणाली

---

1. "The labour and capital of the country, acting upon its natural resources, produce annually a certain net aggregate of commodities, material and immaterial, including services of all kinds. The limiting word 'net' is needed to provide for the using up of raw and half-finished commodities, and for the wearing out and depreciation of plant which is involved in production: all such waste must, of course, be deducted from the gross produce before the true and net income can be found. And net income due on account of foreign investments must be added in. This is the true net annual income or revenue, of the country, or the national dividend.

See Marshall : *Principles of Economics*, p. 523.

2. Ibid, p. 524.

को ही अपनाया है, परन्तु जैसा कि विदित है कि पीगू आर्थिक घटनाओं तथा तथ्यों की माप सदा ही मुद्रा के माप-दण्ड से करते हैं। यहाँ भी उन्होंने ऐसा ही किया है। पीगू के अनुसार :—"राष्ट्रीय आय किसी देश की वास्तविक आय (Objective Income) का, जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी शामिल होती है, वह भाग है जो मुद्रा में नापा जा सकता है।"[1] इस प्रकार कुल उत्पादन के जिस भाग की माप मुद्रा में नहीं हो सकती उसे राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित नहीं किया जायगा। "वही और केवल वही वस्तुएँ और सेवाएँ सम्मिलित करनी चाहिए (दो बार गिनती न करते हुए) जो कि वास्तव में मुद्रा में बेची जाती हैं। यह रीति, ऐसा प्रतीत होता है, हमें मुद्रा के माप-दण्ड के उपयोग का सर्वोत्तम अवसर देगी।"[2] पीगू के इस विचार में कुछ त्रुटियाँ अवश्य हैं और पीगू स्वयं ही उनका उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि इस परिभाषा के अनुसार बहुत सारी ऐसी वस्तुएँ और सेवाएँ राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित नहीं की जायँगी जिनका उन वस्तुओं और सेवाओं से जो उसमें सम्मिलित होती हैं, बड़ा गहरा सम्बन्ध है और जो किसी प्रकार भी उनसे भिन्न नहीं हैं। मुद्रा में बदली जाने वाली तथा उन वस्तुओं और सेवाओं में जिनका मुद्रा में विनिमय नहीं होता, कोई भेद नहीं होता और एक ही वस्तु अथवा सेवा विभिन्न परिस्थितियों में किसी भी एक प्रकार की हो सकती है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक मनुष्य फर्नीचर खरीदता है तो उससे प्राप्त सेवाएँ राष्ट्रीय लाभांश में शामिल की जाती हैं, परन्तु यही फर्नीचर यदि उसे उपहारस्वरूप मिलता है तो इससे प्राप्त होने वाली सेवाएँ सम्मिलित नहीं की जायँगी। इसी प्रकार यदि एक किसान अपनी कुल उपज को बेच देता है और अपने उपयोग के लिए फिर अनाज को खरीदता है तो सारी उपज की कीमत राष्ट्रीय लाभांश में जुड़ जाती है, परन्तु यदि वह इस उपज का आधा भाग अपने उपभोग के लिए रख लेता है तो यह आधा भाग लाभांश में सम्मिलित नहीं किया जायगा। यदि एक मनुष्य नौकरानी रखता है तो उस नौकरानी का वेतन राष्ट्रीय आय में जोड़ा जायगा, परन्तु यदि वह उस नौकरानी से शादी कर लेता है तो उसके वेतन के अनुपात में राष्ट्रीय आय में कमी हो जायगी। स्मरण रहे कि पत्नी के रूप में भी वह स्त्री पहले वाली सभी सेवाओं को सम्पन्न करती है, परन्तु क्योंकि अब इन सेवाओं का मूल्य मुद्रा में नहीं नापा जाता है, इसलिए यह राष्ट्रीय लाभांश में शामिल नहीं होगी। इन सब बातों के रहते हुए भी पीगू का विचार है कि राष्ट्रीय लाभांश की कोई और अच्छी परिभाषा नहीं हो सकती है, यदि हम यह चाहते हैं कि मुद्रा के माप-दण्ड का उपयोग किया जाय और राष्ट्रीय लाभांश का विचार व्यावहारिक जीवन में उपयोगी रहे।

1. Pigou: *Economics of Welfare*, p. 41.
2. Ibid, p. 32.

मार्शल तथा पीगू के विचारों में एक बड़े अंश तक समानता है। दोनों ने वार्षिक उत्पत्ति को राष्ट्रीय लाभांश का आधार माना है। अन्तर केवल इतना है कि जबकि मार्शल कुल वार्षिक उत्पत्ति को राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित करते हैं, पीगू ऐसी उत्पत्ति के केवल उस भाग को सम्मिलित करते हैं जिसके मूल्य की मुद्रा में नाप होती है। । स्पष्ट है कि मार्शल का विचार सैद्धांतिक है और पीगू का व्यावहारिक। प्रो० फिशर (Fisher) का विचार इन दोनों से पूर्णतया भिन्न है। वे उत्पत्ति के स्थान पर उपभोग को राष्ट्रीय लाभांश का आधार मानते हैं। इसके अनुसार कुल वार्षिक उत्पत्ति के स्थान पर कुल वार्षिक राष्ट्रीय उपभोग का मूल्य लाभांश में सम्मिलित होना चाहिए। "राष्ट्रीय लाभांश में केवल सेवाएँ, जैसी कि वे अन्त में उपभोक्ताओं को प्राप्त होती हैं, शामिल की जाती हैं, चाहे वे सेवाएँ उन्हें भौतिक अथवा मानव पड़ौस की परिस्थितियों से प्राप्त हों। इस प्रकार एक पियानो बाजा अथवा एक ओवरकोट, जो इस साल मेरे लिये बनाया गया है, इस साल की आय का एक अंश नहीं है, वरन् केवल पूँजी में वृद्धि है। केवल वे सेवाएँ जो इस साल के भीतर मुझे इन वस्तुओं से प्राप्त होती हैं, आय हैं।*" एक उदाहरण द्वारा मार्शल, पीगू और फिशर की विचारधाराओं का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिये कि सन् १६५५ में भारत में एक हवाई जहाज की उत्पत्ति की जाती है, जिसका मूल्य १० लाख रुपया है। मार्शल और पीगू के अनुसार इस जहाज का कुल मूल्य अर्थात् १० लाख रुपया सन् १६५५ से राष्ट्रीय लाभांश में जोड़ा जायगा, किन्तु यदि इस जहाज की औसत आयु १० साल है तो किसी भी एक साल के राष्ट्रीय लाभांश में फिशर के अनुसार जहाज की कुल कीमत का केवल दसवां भाग अर्थात् केवल १ लाख रुपया ही जोड़ा जायगा, क्योंकि १ साल में कुल मूल्य के केवल दसवें भाग का ही उपभोग होता है। यथार्थिक दृष्टि से फिशर की परिभाषा अधिक तर्कपूर्ण तथा अधिक सही है। राष्ट्रीय लाभांश के अध्ययन का महत्त्व ही यह है कि हम उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले राष्ट्रीय आर्थिक परिवर्तनों का पूर्ण रूप से अध्ययन कर सकें और आर्थिक जीवन पर उत्पत्ति की अपेक्षा उपभोग का ही प्रभाव प्रधान होता है, परन्तु फिशर की रीति को अपनाने से व्यावहारिक जीवन में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। किसी एक वर्ष में जितनी वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन होता है उनके मूल्य को नापने में ही कठि-

* "........national dividend, or income, consists solely of services as received by ultimate consumers, whether from their material or from their human environment. Thus, a piano or an overcoat made for me this year is not a part of this year's income but an addition to capital. Only the services rendered to me during this year by these things are income."

See Fisher : *The Nature and Income*, p. 104.

नाइयाँ होती हैं, परन्तु उपभोग की गई वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य का हिसाब लगभग असम्भव सा ही होता है। साथ ही, जैसा कि पीगू ने भी कहा है कि उपयोग पर होने वाला अल्पकालीन प्रभाव फिशर की रीति से भली भाँति नापा जा सकता है, किन्तु आर्थिक कल्याण (Economic Welfare) तथा आर्थिक कारणों पर कुल उपभोग का प्रभाव पड़ता है, तत्कालीन उपभोग (Immediate Consumption) का नहीं। इस दृष्टिकोण से फिशर की अपेक्षा मार्शल की रीति अधिक लाभदायक है।

विभिन्न परिभाषाओं का आलोचनात्मक अध्ययन—

मार्शल, पीगू और फिशर तीनों की ही परिभाषाओं के अपने-अपने अलग-अलग गुण हैं, परन्तु तीनों ही परिभाषाएँ किसी न किसी दृष्टिकोण से असन्तोषजनक हैं। मार्शल की परिभाषा का सबसे बड़ा गुण उसकी सरलता तथा व्यापकता (Comprehensiveness) है। अपनी परिभाषा का स्पष्टीकरण करते हुए मार्शल ने लिखा है :—"राष्ट्रीय लाभांश एक ही साथ देश में उत्पत्ति के सभी साधनों की उपज और उनके, पारितोषण का एक मात्र स्रोत है। इसमें श्रम की कमाई, पूँजी का ब्याज और अन्त में उत्पादक का आधिक्य (Surplus) अथवा भूमि का लगान तथा उत्पत्ति के अन्य प्रकार के विशेष लाभ शामिल होते हैं। इसमें ये सभी सम्मिलित होते हैं और इसका सारा का सारा इनके बीच बँट जाता है और जितनी ही इसकी मात्रा अधिक होगी उतन ही, अन्य बातों के समान रहते हुए, इनमें से प्रत्येक का हिस्सा भी अधिक बढ़ होगा।" मार्शल ने राष्ट्रीय लाभाँश को नापने के लिए उत्पादन गणना प्रणाली को अपनाया है। उनके अनुसार किसी देश में एक साल के भीतर वस्तुओं और सेवाओं की जितनी कुल उत्पत्ति होती है उसकी कुल कीमत को राष्ट्रीय लाभाँश में शामिल किया जाता है, यद्यपि इसमें से स्थिर यन्त्रों और पूँजीगत माल की कीमत निकाल दी जाती है और विदेशी विनियोगों (Investments) से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय को जोड़ दिया जाता है। इस सम्बन्ध में मार्शल ने सभी प्रकार के उत्पादन की कुल शुद्ध कीमत को राष्ट्रीय लाभांश में शामिल करने का सुझाव दिया है। कठिनाई यह है कि सारी की सारी उत्पत्ति की कीमत मुद्रा में नहीं निकाली जा सकती है। सेवाओं के सम्बन्ध में यह कठिनाई प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है कि एक देशभक्त, प्रेमी अथवा मित्र की सेवाओं की कीमत को किसी भी प्रकार नहीं नापा जा सकता है। लगभग सभी वस्तुओं की कीमत मुद्रा में नापी जा सकती है, परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसी अनेक वस्तुएँ होती हैं जिनकी कीमत मुद्रा में नापी नहीं जाती है। कृषि उपज का वह भाग जो कृषक द्वारा अपने प्रत्यक्ष उपभोग के लिए रख लिया जाता है, कभी भी मुद्रा में नहीं नापा जाता है। यदि हम मार्शल के दृष्टिकोण को अपनाते हैं तो हम कभी भी राष्ट्रीय लाभाँश की मौद्रिक कीमत का पता नहीं लगा सकेंगे। यही कारण है कि मार्शल

के विचारों में सैद्धान्तिक उपयुक्तता होते हुये भी व्यावहारिकता नहीं है। इस प्रकार के राष्ट्रीय लाभाँश का कोई निश्चित अनुमान सम्भव नहीं है।

अव्यावहारिकता के आधार पर ही पीगू ने मार्शल की परिभाषा की आलोचना की है। उनका कहना है कि राष्ट्रीय लाभांश के विचार का व्यावहारिक महत्त्व है, इसलिये यह आवश्यक है कि उसकी परिभाषा भी ऐसी हो कि जो वास्तविक जीवन में सही उतरे। यही नहीं, राष्ट्रीय लाभांश के प्रत्येक प्रकार के परिवर्तनों का देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह आवश्यक है कि इस महत्त्वपूर्ण प्रभाव के निश्चित अध्ययन के लिए हमारा राष्ट्रीय लाभांश सम्बन्धी विचार भी निश्चित हो। वैसे तो प्रत्येक आर्थिक घटना के सम्बन्ध में अनिश्चितता बुरी होती है, परन्तु राष्ट्रीय लाभांश के सम्बन्ध में तो वह घातक हो सकती है। इस कारण मार्शल की विचारधारा में ऐस सुधार की आवश्यकता है जिससे कि उसमें निश्चितता और व्यावहारिकता आ जाय। पीगू ने इसी कारण केवल ऐसी वस्तुओं और सेवाओं को राष्ट्रीय लाभांश में शामिल करने का सुझाव दिया है जिनकी कीमत मुद्रा में नापी जाती है। उन वस्तुओं और सेवाओं को शामिल नहीं किया जायगा जिनकी कीमत या तो मुद्रा में नापी ही नहीं जा सकती है या नापी नहीं जाती है। इससे व्यावहारिकता और निश्चितता दोनों प्राप्त हो जायँगी।

मार्शल और पीगू दोनों के दृष्टिकोणों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों ने ही उत्पत्ति गणना प्रणाली को ग्रहण किया है। दोनों का अन्तर केवल अंश का अन्तर है, जबकि मार्शल ने कुल उत्पत्ति की कीमत को राष्ट्रीय लाभांश में शामिल किया है। पीगू ने उन वस्तुओं और सेवाओं को छोड़ दिया है जिनकी कीमत या तो मुद्रा में नापी ही नहीं जा सकती है या नापी नहीं जाती है। फिशर का दृष्टिकोण बिल्कुल अलग है। उन्होंने उत्पत्ति गणना प्रणाली के विपरीत उपभोग गणना प्रणाली को अपनाया है। उनका कहना है कि सामाजिक कल्याण पर प्रत्यक्ष प्रभाव उपभोग का पड़ता है, उत्पत्ति का नहीं। अल्पकाल में किसी देश में उपभोग और उत्पत्ति का बराबर होना भी आवश्यक नहीं है, इसलिए यदि राष्ट्रीय लाभांश का अध्ययन इसलिए किया जाता है कि उसका राष्ट्रीय कल्याण पर पड़ने वाला प्रभाव स्पष्ट हो जाय तो उत्पत्ति गणना के स्थान पर उपभोग गणना अधिक उपयुक्त होगी।

फिशर के इस कथन में भारी सत्यता है। वास्तव में सामाजिक कल्याण के दृष्टिकोण से फिशर की रीति ही उपयुक्त है, परन्तु यहाँ भी वास्तविक कठिनाई व्यावहारिक है। विभिन्न व्यक्तियों की आय को जोड़ कर जब राष्ट्रीय आय निकाली जाती है तो एक ही आय को एक से अधिक बार गिन लेने की काफी सम्भावना रहती है। यह कठिनाई दूर नहीं हो सकती है, यद्यपि अब कुछ विशेषज्ञों का यह भी विचार है कि यह कठिनाई दूर हो सकती है। सब कुछ

देखते हुए हम अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बुराइयों के रहते हुए भी पीगू का ही दृष्टिकोण सबसे अधिक उपयुक्त है।

राष्ट्रीय लाभांश को नापने की रीतियाँ—

राष्ट्रीय लाभांश की माप बहुधा तीन रीतियों से की जाती है, जो निम्न प्रकार हैं:—

(१) उत्पत्ति गणना प्रणाली (Census of Production Method)-इस प्रणाली का उपयोग सन् १६०७ की ब्रिटिश उत्पत्ति गणना में किया गया था। किसी एक उद्योग अथवा फर्म की सकल उपज (Gross Produce) में से यदि हम कच्चे माल तथा दूसरे ऐसे पदार्थों का कुल मूल्य तथा वह रकम जो दूसरी फर्मों को काम कराने के लिए दी जाती है, निकाल दें तो उद्योग की शुद्ध उपज (Net Output) निकल आती है। सारे उद्योगों की शुद्ध उपज का योग हमें राष्ट्रीय शुद्ध उपज बतलायेगा। यह शुद्ध उपज निर्माण (Manufacture) के द्वारा वस्तुओं और पदार्थों में उत्पन्न किये गये मूल्य को सूचित करेगी। एक उद्योग की शुद्ध उपज उस कोष को सूचित करेगी जिससे वेतन, लगान, ब्याज, कर, अवक्षयण, लाभ तथा इस प्रकार के कुल खर्चे दिये जायेंगे, परन्तु राष्ट्रीय लाभांश निकालते समय कुल राष्ट्रीय शुद्ध उपज में से वार्षिक अवक्षयण तथा मशीनों की मरम्मत और बदलने का व्यय निकाल देना पड़ेगा और इसी प्रकार खानों तथा इस प्रकार के दूसरे साधनों की अक्षयता (Exhaustion) का खर्च भी, जो इन खानों के उपयोग पर दिये हुये अधिकार शुल्क (Royality) द्वारा सूचित होता है, निकाल दिया जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक मशीन १० साल तक काम देती है तो शुद्ध उपज में से इसके मूल्य का ¹⁄₁₀ निकाल देना चाहिए।

(२) आय गणना प्रणाली (Census of Income Method)—इस रीति के अनुसार देशवासियों की आय का योग निकाला जाता है। उन व्यक्तियों की जो आय-कर (Income-tax) देते हैं तथा उनकी जो आय कर नहीं देते हैं, आय का योग कुल राष्ट्रीय आय को दिखायगा। यह कार्य देश में परिवारों की गणना द्वारा किया जा सकता है। केवल इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि एक ही आय को दो बार न गिना जाय। उदाहरणस्वरूप, यदि एक वकील की कुल वार्षिक आय २६,००० रुपया है, जिसमें १,२०० रु० सालाना वह अपने मुन्शी को देता है तो मुन्शी की आय को राष्ट्रीय आय में नहीं जोड़ना चाहिए, क्योंकि वकील की आय में वह पहले से ही गिन ली गई है।

(३) व्यावसायिक गणना प्रणाली (Occupational Census Method)—इस प्रणाली में लोगों की उनके पेशों के अनुसार गणना की जाती है। विभिन्न प्रकार के उत्पादक कार्यों में लगे हुए लोगों की आय का हिसाब किया

जाता है। यदि एक ही आय को दो बार नहीं गिना जाता तो सारे लोगों की आय का जोड़ राष्ट्रीय आय के बराबर होगा। स्टाम्प (Stamp) के अनुसार इस प्रकार की गणना में वृद्धावस्था उत्तर-वेतन (Old-age pensions) और युद्ध के विशेष भत्ते शामिल नहीं करने चाहिए, क्योंकि वे व्यावसायिक आय नहीं होते हैं।*

यह विषय विवादग्रस्त है कि राष्ट्रीय लाभांश को नापने की इन तीन रीतियों में से कौनसी रीति अधिक उपयुक्त है। ऐसा कहा जाता है कि उत्पत्ति गणना प्रणाली और व्यावसायिक गणना प्रणाली अधिक व्यावहारिक हैं, क्योंकि आय गणना प्रणाली में एक ही आय को एक से अधिक बार गिन लेने की सम्भावना बराबर रहती है, जिसको दूर नहीं किया जा सकता है। इंगलैंड का अनुभव यह है कि तीनों प्रणालियों में से किसी का भी उपयोग किया जा सकता है। यदि पूरी सावधानी से काम लिया जाता है तो तीनों ही रीतियों से लगभग समान ही राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है। फिर भी संसार में अधिक रिवाज उत्पत्ति *गणना प्रणाली* का है। भारत की *राष्ट्रीय आय खोज समिति ने भी इसी प्रणाली* को अपनाया है।

राष्ट्रीय लाभाँश की प्रकृति (The Nature of National Dividend)—

राष्ट्रीय लाभाँश के विषय में मार्शल का मत है कि यह एक कोष (Fund) के रूप में नहीं होता है, बल्कि एक प्रवाह (Flow) के रूप में होता है। इसका उत्पादन और वितरण दोनों एक ही साथ होते रहते हैं। ऐसा कभी भी नहीं होता है कि पहले राष्ट्रीय लाभांश को उत्पन्न किया जाय, फिर जमा किया जाय और साल के अन्त में उसका वितरण किया जाय। समाज के विभिन्न व्यक्तियों के बीच उत्पादन क्रिया के अन्तर्गत-ही उत्पत्ति के साधनों के स्वामियों के रूप में क्रयः शक्ति का वितरण होता रहता है। यह क्रयः शक्ति लगान, ब्याज, मजदूरी और लाभ के रूप में बटती रहती है तथा जिन वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन होता है वे इस क्रयः शक्ति द्वारा बराबर खरीदी जाती रहती हैं। साल के अन्त तक साल भर के भीतर उत्पादित सभी वस्तुएँ और सेवाएँ इस प्रकार खरीद ली जाती हैं और अधिकाँश दशाओं में तो उनका उपभोग भी हो चुकता है। इस प्रकार आधिक्य या कोष के रूप में साल के अन्त में लगभग कुछ भी शेष नहीं रहता है। बचत के रूप में केवल उतना ही शेष रहता है, जितना पूँजी के प्रतिस्थापन अथवा पूँजीगत माल को यथास्थिर बनाये रखने के लिए रक्खा जाता है। शेष सबके सबका उपभोग हो जाता है। ऐसी दशा में राष्ट्रीय लाभांश की मात्रा कुल उपयोगिता के उस समूह अथवा योग द्वारा सूचित होती है जो सारे समाज को साल भर के भीतर प्राप्त होती है। इस प्रकार राष्ट्रीय लाभांश एक ऐसा जलाशय है जिसमें निरन्तर पानी आता रहता है और जिसमें

* Stamp : *Wealth and Taxable Capacity* p. 57.

से निरन्तर पानी निकलता भी रहता है। इसकी तुलना पानी के उस चश्मे से की जा सकती है जिसमें पानी का आना और जाना बराबर बना रहता है। उत्पत्ति के विभिन्न साधन मिलकर उत्पत्ति करते रहते हैं और साथ-साथ अपना हिस्सा भी बराबर पाते रहते हैं।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्रीय आय का समाज के विभिन्न व्यक्तियों के बीच जो वितरण होता है उसके फलस्वरूप विभिन्न व्यक्तियों को व्यक्तियों के रूप में हिस्सा नहीं मिलता है, बल्कि उत्पत्ति के साधनों के रूप में हिस्सा मिलता है। एक ही व्यक्ति एक ही साथ कई उत्पत्ति के साधनों के रूप में कार्य कर सकता है और उसकी कुल आय उसे इन अलग-अलग साधनों के स्वामी के रूप में प्राप्त होगी। उदाहरण के लिए, एक ऐसे किसान को लीजिये जो स्वयं अपनी भूमि पर खेती करता है, अपना ही परिश्रम करता है, अपनी ही पूँजी लगाता है और स्वयं ही उत्पादन की जोखम उठाता है। उसे भूमि के स्वामी के रूप में लगान, श्रमिक के रूप में मजदूरी, पूँजीपति के रूप में ब्याज और साहसी के रूप में लाभ चारों एक ही साथ प्राप्त होंगे, परन्तु प्रत्येक दशा में हमारे लिए यह जान लेना सम्भव होता है कि उत्पत्ति के किसी विशेष साधन के स्वामी के रूप में एक व्यक्ति को कितना हिस्सा प्राप्त होता है।

वितरण किस प्रकार होता है?—
प्रतिष्ठित सिद्धान्त—

वितरण किस प्रकार होता है, अर्थात् वितरण का सामान्य सिद्धान्त (General Theory) क्या है? इस पर प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अपने विचार रखे हैं। एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस तथा अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में जो सिद्धान्त बनाया है उसे हम प्रतिष्ठित सिद्धान्त (Classical Theory) कहते हैं। इन अर्थशास्त्रियों का विचार है कि जब वस्तु की किसी मात्रा में उत्पत्ति हो जाती है तो इसमें से सबसे पहले उत्पत्ति के साधन भूमि को उसका हिस्सा मिलता है। भूमि का हिस्सा इनके विचार में एक प्रकार का आधिक्य (Surplus) है। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि कुल उपज की मात्रा १४० इकाई है और यह मात्रा ४ खेतों अथवा अ, ब, स और द पर खेती करने से प्राप्त होती है। अब यदि चारों खेतों की उर्वरता (Fertility) अलग-अलग है और अ खेत से ५०, ब से ४०, स से ३० और द से २० इकाई के बराबर उपज मिलती है तो रिकार्डो का कथन है कि इस दशा में द खेत सीमान्त भूमि होगा, क्योंकि उसके बाद अन्य किसी के खेत पर खेती नहीं की जाती है। रिकार्डो का विचार है कि खेत अ पर भूमि का स्वामी ३० इकाइयों के बराबर लगान लेगा। यही खेत सबसे अधिक उपजाऊ है। इसी प्रकार ब पर २० इकाई और खेत स पर १० इकाई उपज लगान के रूप में ली जायेगी। खेत द पर लगान नहीं होगा, क्योंकि सीमान्त भूमि पर

लगान नहीं होता, जबकि किसी भी खेत का लगान उसकी अपनी उपज तथा सीमान्त खेत की उपज के अन्तर के बराबर होता है। इस प्रकार कुल मिलाकर चारों खेतों पर ६० इकाइयों के बराबर लगान हो जाता है। इस प्रकार भूमिपति का हिस्सा एक प्रकार का आधिक्य (Surplus) है, जो विभिन्न खेतों की उर्वरता में अन्तर होने के फलस्वरूप दृष्टिगोचर होता है। यदि प्रत्येक खेत से समान ही उपज प्राप्त होती हो तो आधिक्य का प्रश्न ही नहीं उठेगा और इस दशा में लगान शून्य के बराबर होगा। रिकार्डो के अनुसार यह आधिक्य एक खेत को उसकी अधिक उपयुक्त स्थिति के कारण भी प्राप्त हो सकता है। आर्थिक भाषा में इसे स्थिति लगान कहा जाता है।

लगान दे देने के पश्चात् उपज की ८० इकाइयाँ शेष रहती हैं। इनका अन्य साधनों में वितरण होगा। अन्य साधनों में पहला नम्बर श्रम का होगा। श्रम का हिस्सा श्रमिक के जीवन निर्वाह योग्य वेतन के बराबर होगा। दीर्घकाल में श्रम को केवल इतना ही हिस्सा मिलेगा जो श्रमिकों को जीवित रखने के लिये पर्याप्त हो। यदि वेतन इससे अधिक है तो श्रमिक निश्चिन्त हो जायेंगे और अधिक बच्चे पैदा करेंगे, जिसके फलस्वरूप श्रम की पूर्ति बढ़ जायेगी और मजदूरी कम हो जायेगी। मजदूरी का यह घटने का क्रम उस समय तक बराबर चलता रहेगा जब तक मजदूरी घटकर जीवन-निर्वाह स्तर (Subsistence level) पर नहीं आ जायेगी। इसके विपरीत यदि श्रम को जीवन-निर्वाह से भी कम मजदूरी मिलती है तो बहुत से श्रमिक मर जायेंगे और इस प्रकार श्रम की मात्रा कम हो जाने के कारण मजदूरी में वृद्धि होगी, जिससे वह अन्त में फिर जीवन-निर्वाह स्तर पर पहुँच जायेगी। हो सकता है कि आरम्भ में उत्पादक को यह अनुमान न हो कि जीवन-निर्वाह मजदूरी कितनी है, परन्तु धीरे-धीरे वह इसका पता लगा लेता है। मजदूरी के सम्बन्ध में रिकार्डो और मिल ने एक और भी सिद्धान्त का निर्माण किया है, जिसे मजदूरी-कोष सिद्धान्त (Wage-fund Theory) कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वर्ष कुल उत्पादन में से अपनी इच्छा के अनुसार बिना किसी आधार के उत्पादक एक कोष अलग रख देता है, जिसे मजदूरी कोष कहा जाता है। श्रमिकों का कुल हिस्सा मिलकर इस मजदूरी कोष के बराबर होता है, परन्तु इसके निर्धारण में किसी नियम का पालन नहीं किया जाता है। यह पूर्णतया उत्पादक की स्वेच्छा पर निर्भर होता है।

अब मान लीजिए कि मजदूरों अर्थात् श्रम के लिए इस प्रकार कुल ५० इकाई उत्पत्ति की आवश्यकता पड़ती है तो आगे ८०—५० = ३० इकाई ही शेष रह जायेंगी। यह उत्पादक को उसके लाभ के रूप में प्राप्त होता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री ब्याज और लाभ में भेद नहीं करते हैं। वे दोनों के लिए लाभ शब्द का ही उपयोग करते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके

समय में पूँजी का उपयोग तथा उसका महत्त्व बहुत ही कम था। कुल उपज में से लगान और मजदूरी निकाल देने के पश्चात् लाभ के निकालने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए, क्योंकि कुल उपज में से लगान और मजदूरी निकाल देने के बाद केवल लाभ बच रहता है।

आलोचना—

वितरण का यह सिद्धान्त आधुनिक दृष्टिकोण से बड़ा अधूरा तथा बड़ा अवैज्ञानिक प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त में सबसे बड़ा दोष तो यह है कि इसके अनुसार प्रत्येक साधन का हिस्सा अलग ही निर्धारित होता है। लगान सीमान्त भूमि द्वारा नियत होता है, जबकि मजदूरी जीवन-निर्वाह स्तर द्वारा और पूँजीपति को केवल इन दोनों के बाद बचा-बचाया हिस्सा ही मिलता है। इस प्रकार लगान, मजदूरी और लाभ तीनों के निर्धारण के नियम पूर्णतया भिन्न हैं। यथार्थ में विभिन्न साधनों में कोई मौलिक भेद नहीं होता है और इसीलिए प्रत्येक का हिस्सा एक ही सिद्धान्त द्वारा नियत होना चाहिये। यदि तीन आदमी एक साथ मिलकर किसी काम को करते हैं तो क्या यह उचित होगा कि एक को काम के घन्टों के आधार पर वेतन दिया जाए, दूसरे को काम की मात्रा के अनुसार और तीसरे को काम की खूबसूरती के अनुसार।

मजदूरी और लगान के विषय में तो प्रतिष्ठित सिद्धान्त में और भी त्रुटियाँ हैं। लगान यदि आधिक्य है तो वह सबसे बाद में मिलना चाहिए, न कि सबसे पहले, जैसा कि इन अर्थशास्त्रियों ने कहा है। ठीक इसी प्रकार यह आधार भी ठीक नहीं है कि पहले एक मजदूरी कोष (Wage-fund) नियत किया जाए और अन्त में प्रत्येक श्रमिक को उसका हिस्सा दिया जाए। सही रीति तो यह होगी कि प्रत्येक श्रमिक का पृथक-पृथक हिस्सा पहले नियत किया जाए। इन सबका योग मजदूरी कोष को स्वयं ही निश्चित कर देगा। इन सब कारणों से प्रतिष्ठित सिद्धान्त अमान्य है।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (The Marginal Productivity Theory)—

इस सिद्धान्त के अनुसार वितरण की प्रणाली यह है कि दीर्घकाल में उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को कुल उपज में से जो हिस्सा मिलता है वह उस साधन की सीमान्त उपज के मूल्य के बराबर होता है। जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता होती है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक उत्पत्ति के साधन की सीमान्त उत्पादकता का भी पता लगाया जा सकता है। किसी साधन की सीमान्त उत्पादकता से हमारा अभिप्राय कुल उत्पत्ति में की गई उस वृद्धि से होता है जो उस साधन की अन्तिम या सीमान्त इकाई के उपयोग द्वारा होती है। निश्चय ही प्रत्येक उत्पादक किसी साधन के उपयोग को एक निश्चित सीमा तक ही करता है। सीमान्त इकाई वह इकाई होती है जिसके आगे उत्पादक

देखना भी जरूरी है कि काम किस प्रकार का है। बहुत से काम खतरनाक होते हैं, जैसे—हवाई जहाज के चालक का काम। बहुत से कामों में व्यावसायिक बीमारियाँ होती हैं, जैसे—छापेखानों में, और बहुत से काम अरुचिकर होते हैं, जैसे मेहतर का काम। ऐसे व्यवसायों में असल मजदूरी कम रहती है।

(८) कार्य की दशायें (Conditions of Work)—असल मजदूरी इस बात पर भी निर्भर होती है कि श्रमिकों के लिए काम करने की दशायें कैसी हैं। यदि काम करने के घंटे कम हैं, मालिक का व्यवहार अच्छा है तथा कारखाने के बाहर और भीतर की दशाएँ अच्छी हैं तो श्रमिकों की असल मजदूरी अधिक होगी, अन्यथा कम।

(९) भावी उन्नति की आशा—जिन व्यवसायों में भविष्य में उन्नति की आशा अधिक होती है। वहाँ श्रमिक को मानसिक संतोष अधिक मिलता है और उसकी मौद्रिक आय कम होते हुए भी असल मजदूरी अधिक होती है। यदि भविष्य उज्वल नहीं है तो असल मजदूरी कम रहेगी।

(१०) रोजगार की स्थिरता—यदि श्रमिक का रोजगार स्थाई है तो उसकी असल मजदूरी उस श्रमिक से अधिक होगी जिसका रोजगार अस्थाई है। सामयिक (Seisonal) रोजगारों में अथवा ऐसे कामों में जहाँ श्रमिक को थोड़े काल के लिए रोजगार मिलता है, असल मजदूरी कम रहती है। मकान बनाने वाले मजदूरों का काम बड़ा ही अस्थाई है। यह रोजगार साल के कुछ महीने और वह भी लगातार नहीं रहता है, इसलिए असल मजदूरी कम रहती है।

(११) कार्य के प्रति समाज का सम्मान—असल मजदूरी का प्रभाव डालने वाली यह भी एक महत्वपूर्ण बात है कि समाज व्यवसाय विशेष को किस प्रकार की दृष्टि से देखता है। जिन व्यवसायों को समाज घृणा की दृष्टि से देखता है उनमें असल मजदूरी कम ही रहती है।

इस प्रकार असल मजदूरी का पता लगाते समय बड़ी सावधानी की जरूरत है और बहुत सी बातों को ध्यान में रखना पड़ता है। आधुनिक युग में बहुधा इसी बात पर जोर दिया जाता है कि श्रम सुधार अथवा श्रम कल्याण की कोई भी योजना उस समय तक सफल नहीं हो सकती है जब तक कि श्रमिकों की असल मजदूरी को बढ़ाकर उनका जीवन स्तर ऊपर न उठाया जाये।

समयानुसार मजदूरी और कार्यानुसार मजदूरी (Time and Piece Wages)—

मजदूरी का वर्गीकरण कभी-कभी समयानुसार मजदूरी और कार्यानुसार मजदूरी में भी किया जाता है। समयानुसार मजदूरी काम की अवधि के अनुसार होती है और एक ही काम करने वाले श्रमिकों को एक ही दर पर मजदूरी दी

जाती है, यद्यपि उनकी कुशलता में अन्तर हो सकता है। ऐसी मजदूरी प्रति घन्टा, प्रति दिन, प्रति सप्ताह अथवा प्रति मास के आधार पर दी जाती है। लगभग सभी वेतनभोगी कर्मचारियों की मजदूरी इसी प्रकार की होती है। इस प्रकार की मजदूरी में श्रमिकों द्वारा की हुई काम की मात्रा से मजदूरी का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है, यद्यपि सेवायोजक काम का न्यूनतम मान निश्चित कर सकता है। इसके विपरीत कार्यानुसार मजदूरी में श्रमिक की मजदूरी का उसके द्वारा किये जाने वाली काम की मात्रा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। प्रत्येक श्रमिक को उसके द्वारा किये हुये काम की मात्रा के अनुसार मजदूरी दी जाती है। सेवायोजक केवल गुणात्मक मान (Qualitative Standard) ही निर्धारित करता है और इस बात पर अनुरोध करता है कि काम खराब न होने पाये।

समयानुसार मजदूरी प्रणाली के लाभ—

संसार में समयानुसार मजदूरी देने की प्रथा काफी बलवान है और ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यह प्रथा बराबर बढ़ रही है। श्रम संघों की ओर से बहुधा इस बात पर जोर दिया जाता है कि श्रमिकों को समयानुसार ही मजदूरी दी जाय। इस प्रकार की मजदूरी प्रणाली के प्रमुख गुण निम्न प्रकार हैं:—

(१) रोजगार की स्थिरता—इस प्रणाली में रोजगार अधिक स्थाई रहता है। यदि किसी कारणवश मालिक काम को बन्द भी कर देता है तो भी मजदूर की नौकरी नहीं छूटती है। काम के शुरू होते ही वह फिर काम पर लौट आता है। इसी प्रकार श्रमिक के बीमार हो जाने की दशा में भी उसका रोजगार बना रहता है।

(२) श्रमिक के स्वास्थ्य की रक्षा—इस प्रणाली में मजदूर के लिए अत्यधिक तेजी से काम करने और बहुत लम्बे समय तक काम करने का प्रलोभन नहीं होता है। वह औसत तेजी के साथ एक निश्चित अवधि तक ही काम करता है, इससे औद्योगिक थकान कम रहती है और श्रमिक के स्वास्थ्य पर काम का बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है।

(३) स्वयं मालिक के दृष्टिकोण से भी यह प्रणाली बहुधा उपयुक्त होती है। श्रमिक अधिक सावधानी से काम करते हैं, जिससे एक ओर तो काम अच्छा होता है और दूसरी ओर माल का अपव्यय और मशीनों तथा औजारों की टूट-फूट कम होती है। खर्चे को बाँटने में भी मालिक को कम परेशानी होती है।

(४) कलापूर्ण और बारीकी का काम—जिन व्यवसायों में अधिक कलापूर्ण और बारीक काम होता है वहाँ यह प्रणाली अधिक उपयुक्त होती है। इस प्रकार के काम को जल्दी-जल्दी खींचने से काम अच्छा नहीं हो सकता है।

(५) बहुत से काम ऐसे होते हैं जहाँ काम को ठीक-ठीक नाप लेना

कठिन होता है। काम का प्रमापीकरण (Standardisation) नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिये, एक डाक्टर के काम की सही नाप नहीं हो सकती है। ऐसे व्यवसायों में कार्यानुसार मजदूरी का निश्चित करना सम्भव नहीं होता है।

(६) मजदूर और मालिक की निश्चिन्तता—यह प्रणाली संतोष और निश्चिन्तता को उत्पन्न करती है। श्रमिक रोजगार के बारे में बेफिक्र हो जाता है, जिससे उसकी चिन्ता बहुत कुछ मिट जाती है। मालिक को भी श्रमिकों को बार-बार ढूँढ़ने की जरूरत नहीं रहती है और काम एक निश्चित कार्यक्रम के अनुसार बराबर ठीक चलता रहता है।

प्रणाली के दोष—

गुणों के साथ-साथ इस प्रणाली में बहुत से दोष भी हैं। इन दोषों के कारण इस प्रणाली के स्थान पर बहुत बार कार्यानुसार प्रणाली ग्रहण की जाती है और बहुत बार समयानुसार तथा कार्यानुसार मजदूरी प्रणाली दोनों का एक ही साथ उपयोग किया जाता है। प्रमुख अवगुण निम्न प्रकार हैं :—प्रथम, यह प्रणाली कार्यक्षमता के बढ़ाने को प्रोत्साहन नहीं देती है। प्रत्येक श्रमिक जानता है कि चाहे वह काम अत्यधिक तेजी के साथ करे या साधारण गति से, उसको एक पूर्व निश्चित मजदूरी ही मिलेगी, अतः वह अपनी कार्यक्षमता को बढ़ाने का उतना प्रयत्न नहीं करता है, जितना कि कार्यानुसार मजदूरी प्रणाली में किया जाता है। नतीजा यह होता है कि काम में शिथिलता आती है, आविष्कार को प्रोत्साहन कम मिलता है और स्वयं श्रमिक के लिये भी भावी उन्नति की आशा कम हो जाती है। दूसरे, इस प्रणाली में निरीक्षण की भारी आवश्यकता पड़ती है। मालिक को बराबर सतर्क और सावधान रहना पड़ता है, जिससे मालिक की परेशानी भी बढ़ जाती है और व्यवसाय के व्यय में भी वृद्धि हो जाती है। तीसरे, इस प्रणाली में मालिक को श्रमिकों की सापेक्ष कार्यक्षमता (Relative Efficiency) का पता लगाने का अवसर नहीं मिलता है। उसके लिए यह जानना कठिन होता है कि कोई एक श्रमिक दूसरों की तुलना में कितना अधिक कुशल है। सभी को एक ही लाठी से हाँका जाता है और कुशल तथा अकुशल मजदूरों को बराबर की ही मजदूरी मिलती है। चौथे, इस प्रणाली में श्रमिकों और मालिकों के बीच मनमुटाव की सम्भावना अधिक रहती है। मालिक हमेशा श्रमिकों के काम की आलोचना करता है और इस आधार पर मजदूरी न बढ़ाने का अनुरोध करता है कि श्रमिकों की कुशलता कम है। इसके विपरीत श्रमिक मजदूरी बढ़ाने पर जोर देते हैं। अनुभव बताता है कि जब मजदूरी समयानुसार होती है तो औद्योगिक झगड़े अधिक होते हैं।

कार्यानुसार मजदूरी के गुण—

आधुनिक जगत में इस प्रणाली का महत्त्व घटता जा रहा है। स्वतन्त्र रूप

में इस प्रणाली का उपयोग अब कम ही रह गया है, परन्तु समयानुसार मजदूरी के सहायक के रूप में इसका उपयोग काफी होता है, विशेषकर उन उद्योगों में जहाँ श्रमिकों की कार्यक्षमता को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस प्रणाली के प्रमुख गुण निम्न प्रकार हैं :—

(१) कार्यक्षमता की वृद्धि—इस प्रणाली में श्रमिक के लिये अपनी कार्य-क्षमता में वृद्धि करने का प्रोत्साहन बहुत रहता है। श्रमिक काम करने के सरल वैज्ञानिक और शीघ्रगामी उपायों को ढूँढ़ निकालता है। इससे श्रमिक और उत्पादक के अतिरिक्त सारे देश और मानव समाज का भला होता है। श्रमिक के लिए अपनी आय बढ़ाने का अवसर रहता है। मिल-मालिक के लिए उत्पादन व्यय घटता है और मानव समाज को कम कीमत पर चीजें मिल जाती हैं। इस सम्बन्ध में काडबरी (Codbury) ने पता लगाया है कि जिन उद्योगों में समया-नुसार मजदूरी के स्थान पर कार्यानुसार मजदूरी चालू की गई है वहाँ मजदूरों पर अधिक जोर पड़े बिना ही उपज दो गुनी हो गई है, जिसका प्रमुख कारण यह था कि उत्पादन की अधिक अच्छी रीतियाँ अपनाई गई हैं। हस्त-उद्योगों में तो यह बात विशेष रूप में देखने में आई है।

(२) न्यायशीलता—प्रणाली का दूसरा गुण उसकी न्यायशीलता है। प्रत्येक श्रमिक को उसकी कार्य क्षमता और उसके द्वारा किये जाने वाले काम की मात्रा के अनुसार मजदूरी दी जाती है। इससे उन श्रमिकों के प्रति न्याय होता है जिनकी क्षमता अधिक है।

(३) आय की वृद्धि—इस प्रणाली में श्रमिक के लिए अधिक तेजी के साथ काम करके तथा लम्बे समय तक काम करके अधिक आय प्राप्त करने का अवसर मिलता है।

(४) निरीक्षण व्यय की कमी—इस प्रणाली में निरीक्षण व्यय बहुत कम होता है, जिसके कारण सारे उद्योग का उत्पादन व्यय कम रहता है।

(५) मत मुटाव की कमी—इस प्रणाली में श्रमिकों और मिल-मालिकों के सम्बन्ध अधिक अच्छे रहते हैं। कोई श्रमिक जितना काम करता है उसको नापकर निश्चित दर पर भुगतान कर दिया जाता है। स्वयं श्रमिक भी कार्य की दशाओं और दूसरी सुविधाओं के बारे में कोई विशेष चिन्ता नहीं करता है।

इस प्रणाली के दोष—

लाभों के साथ इस प्रणाली में कुछ गम्भीर दोष भी हैं, जिनके कारण इसका उपयोग सीमित ही रहा है और आधुनिक युग में बराबर घटता चला जा रहा है। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं:-प्रथम, इस प्रणाली में औद्योगिक थकान बहुत होती है। श्रमिक बहुधा अपनी शक्ति से बाहर काम करता है, जिसका उसके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। दूसरे, गुणात्मक दृष्टिकोण से काम घटिया

होता है। तेजी के साथ काम करने के लालच में श्रमिक बहुधा इस बात पर ध्यान कम देता है कि काम कितना अच्छा हो रहा है। बारीकी और हुनर का काम तो इस प्रणाली के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त है। तीसरे, यह प्रणाली श्रमिकों में मेल और सहयोग की भावना के स्थान पर प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या को उत्पन्न करती है। श्रमिकों की संगठन शक्ति और सामूहिक सौदा करने (Collective Bargaining) की शक्ति पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है और श्रम संघों में कमजोरी आती है। चौथे, इस प्रणाली में रोजगार में स्थिरता और स्थायीपन नहीं आ पाते हैं। श्रमिक को सदा यही भय बना रहता है कि उसका रोजगार कभी भी छूट सकता है। इसके अतिरिक्त श्रमिक को बीमारी और छुट्टी के काल में कुछ नहीं मिल पाता है। पाँचवे, इस प्रणाली में बहुधा यही देखने में आता है कि जैसे-जैसे श्रमिक अधिक परिश्रम करके अपनी आमदनी को बढ़ाता है, मालिक मजदूरी की दर घटाता जाता है। परिणाम यह होता है कि श्रमिक का शोषण होता है। छठे, इस प्रणाली के फलस्वरूप बेरोजगारी बढ़ने का भय रहता है। लम्बे समय तक तथा अधिक तेजी के साथ काम होने के कारण श्रमिकों की माँग कम हो जाती है। सातवें, इस प्रणाली में आकस्मिक घटनाओं के विरुद्ध मजदूर की किसी भी प्रकार की रक्षा नहीं होती है। कुछ लेखकों का तो यहाँ तक कहना है कि इस प्रणाली का अन्त में राष्ट्रीय लाभाँश पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

इस बात का निर्णय कठिन है कि इन दोनों प्रणालियों में से कौनसी अधिक उपयुक्त है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि आधुनिक औद्योगिक संगठन में अधिक रिवाज समयानुसार मजदूरी का है। कार्यानुसार मजदूरी का विरोध साधारणतया संगठित श्रम की ओर से किया जाता है, परन्तु प्रो० पीगू ने पता लगाया है कि अब यह स्थिति बदलती जा रही है। वास्तविकता यह है कि दोनों प्रकार की मजदूरियाँ अलग-अलग उद्योगों के लिए उपयुक्त हैं। जिन उद्योगों में काम का प्रमापीकरण नहीं हो सकता है, बारीकी और हुनर की आवश्यकता पड़ती है अथवा व्यक्तिगत रुचियों का ध्यान रखा जाता है, वहाँ समयानुसार मजदूरी अधिक उपयुक्त होती है और अन्य उद्योगों में कार्यानुसार मजदूरी। प्रो० पीगू कार्यानुसार मजदूरी के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि ऐसी मजदूरी के अधिकाँश दोष दूर किये जा सकते हैं, यदि मजदूर मिल कर सामूहिक मजदूरी की दर तय कर लेते हैं। उनका विचार है कि दीर्घकालीन दृष्टिकोण से इस प्रणाली का श्रमिकों के स्वास्थ्य पर भी कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है, क्योंकि धीरे-धीरे श्रमिक तेजी के साथ काम करने के आदी हो जाते हैं।* अधिक अच्छा यह होगा कि समयानुसार मजदूरी की एक न्यूनतम

* ......the interests of the national dividend, and, through it of

(Contd. on next page)

दर निश्चित कर दी जाय और फिर इसके बाद कार्यानुसार मजदूरी दी जाय। ऐसी प्रणाली में दोनों ही प्रणालियों के अधिकाँश गुण बने रहेंगे। इस काम के लिए नियमित कार्यानुसार मजदूरी अधिक उपयुक्त होगी। ऐसी प्रणाली में यह पता लगाया जाता है कि प्रथम श्रेणी (First Grade) के श्रमिक एक निश्चित समय में कुछ निश्चित कार्य की दशाओं में कितना काम करता है। उसके काम को नियमित कार्य (Standard Task) मान लिया जाता है। मजदूरी की दर उन श्रमिकों के लिए ऊँची होती है जो नियमित कार्य करते हैं। शेष के लिए यह नीची होती है।

वस्तुओं के रूप में मजदूरी और मुद्रा के रूप में मजदूरी (Commodity Wage and Money Wage)—

मजदूरी कभी-कभी तो वस्तुओं और सेवाओं के रूप में दी जाती है और कभी-कभी मुद्रा के रूप में। बहुत बार एक श्रमिक को एक ही साथ दोनों प्रकार की मजदूरी मिलती है। वस्तुओं के रूप में मजदूरी (Wages in Kind) का रिवाज पुराने जमाने में अधिक था। हमारे देश में ग्रामीण क्षेत्रों में और कृषि उद्योग में इस प्रकार की मजदूरी का अब भी काफी चलन है। खेतों पर काम करने वाले मजदूरों को बहुधा अनाज में ही मजदूरी दी जाती है, परन्तु धीरे-धीरे यह रिवाज बदल रहा है और मुद्रा के रूप में मजदूरी देने का चलन बढ़ता जा रहा है। पुराने काल में वस्तु विनिमय का रिवाज काफी था और जन-साधारण मुद्रा के उपयोग से कम ही परिचित था। उस समय शायद वस्तुओं में मजदूरी देना ठीक हो सकता था, परन्तु अब दशायें बदल चुकी हैं। वस्तुओं में मजदूरी देने की प्रणाली में कई प्रकार के दोष रहते हैं। वस्तुओं की कीमत के परिवर्तनों का श्रमिक की मजदूरी पर अकारण ही प्रभाव पड़ता है। दूसरे, बहुधा ऐसा देखने में आता है कि श्रमिक को मजदूरी के रूप में जो वस्तु दी जाती है वह सबसे नीची किस्म की होती है। इस प्रणाली का एक मात्र गुण इसकी सरलता है, क्योंकि श्रमिक को उसकी सेवाओं के बदले में उसकी आवश्यकता की वस्तु प्रत्यक्ष रूप में मिल जाती है।

---

the economic welfare, will be best promoted when immediate reward is adjusted as closely as possible with immediate results, and that this can, in general, be done most effectively by piecewage scales controlled by collective bargaining ......It must be admitted that when a piece-wage system is first introduced among people not hitherto accustomed to it. It sometimes leads to sprut of energy that could not be maintained for long without bad results. But experience does not show that it promotes over-strain when once the men...... were acclamarised to new conditions —Pigou : *Economics of Welfare,* p. 487.

कार्यानुसार मजदूरी और कार्य क्षमतानुसार मजदूरी (Task Wages and Efficiency Wages)—

मजदूरी को कभी-कभी कार्यानुसार मजदूरी और कार्य क्षमतानुसार मजदूरी में भी विभाजित किया जाता है। प्रथम प्रकार की मजदूरी नियमित मजदूरी की भांति होती है और साधारणतया वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत पाई जाती है। इसमें एक प्रथम श्रेणी के श्रमिक द्वारा एक निश्चित समय अवधि में किये जाने वाले काम को ध्यान में रखकर कार्यमान (Standard Task) निर्धारित किया जाता है। श्रमिकों का मजदूरी के दृष्टिकोण से इस आधार पर वर्गीकरण किया जाता है कि नियमित कार्य के बराबर काम कितने श्रमिक करते हैं और उससे कम कितने। नियमित कार्य करने वाले श्रमिकों को दूसरे श्रमिकों की तुलना में अधिक मजदूरी मिलती है।

कार्यक्षमतानुसार मजदूरी में प्रत्येक श्रमिक की कार्यक्षमता का पता लगाया जाता है और उसी के अनुसार उसे मजदूरी दी जाती है। वास्तव में इस प्रकार की मजदूरी कार्यानुसार मजदूरी का ही एक रूप है। प्रो० मार्शल का कहना है कि दीर्घकाल में ऐसी मजदूरी के एक क्षेत्र में समान रहने की ही प्रवृत्ति रहती है।

श्रम की विशेषताएँ और उनका मजदूरी पर प्रभाव—

उत्पत्ति के साधन के रूप में श्रम की कुछ विशेषताएँ होती हैं, जो साधारणतया दूसरे किसी भी साधन में नहीं पाई जाती हैं। श्रम की इन विशेषताओं के कारण श्रम और उत्पत्ति के अन्य साधनों के मूल्य निर्धारण की समस्यायें बिल्कुल अलग-अलग तो नहीं हो जाती हैं, परन्तु फिर भी इन विशेषताओं का मजदूरी पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, इसलिए आरम्भ में ही इनका उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। मजदूरी के निर्धारण में मार्शल ने इन विशेषताओं को ध्यान में रखने पर काफी जोर दिया है। ये विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) श्रम को श्रमिक से अलग नहीं किया जा सकता है—जो व्यक्ति श्रम का उपयोग करना चाहता है उसे श्रमिक को भी बुलाना पड़ता है। भूमि, पूँजी तथा साहस को उनके स्वामियों से बिल्कुल अलग किया जा सकता है, परन्तु श्रम को नहीं। इसके कई महत्त्वपूर्ण परिणाम होते हैं : प्रथम तो, श्रम की गतिशीलता घटती है। श्रमिक के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान अथवा एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में जाना अन्य साधनों की तुलना में अधिक कठिन होता है। इसका परिणाम यह होता है कि विभिन्न स्थानों पर तथा विभिन्न व्यवसायों में मजदूरियों का अन्तर बना रहता है। एक स्थान अथवा व्यवसाय में ऊँची मजदूरी होते हुए भी गतिशीलता के अभाव के कारण श्रमिक वहाँ नहीं जाते हैं। दूसरे, श्रम का मूल्य, अर्थात् मजदूरी कम से कम इतनी अवश्य रहनी चाहिए

कि श्रमिक जीवित रहे और परिश्रम करने योग्य बना रहे। श्रमिक के समाप्त होते ही श्रम स्वयं ही समाप्त हो जायगा। यही कारण है कि यद्यपि अन्य साधनों की कीमत की कोई न्यूनतम सीमा नहीं होती है, मजदूरी की एक न्यूनतम सीमा अवश्य रहती है। तीसरे, श्रम मनुष्य का परिश्रम होता है, इसलिए श्रमिक को एक साधारण वस्तु की भाँति उपयोग नहीं किया जा सकता है। उत्पादक के लिए श्रम कल्याण की योजनाओं को कार्यशील करना बहुधा आवश्यक सा होता है।

(२) श्रम एक अति शीघ्र नाशवान वस्तु है—श्रम की यह विशेषता भी महत्त्वपूर्ण है। श्रम का नाश शीघ्र ही हो जाता है। उत्पत्ति के अन्य साधनों की भाँति श्रम को जमा करके रख लेना सम्भव नहीं होता है। यदि हम एक दिन काम नहीं करते हैं तो दूसरे दिन दूना काम नहीं कर सकेंगे। आज काम न करने का अर्थ यह होता है कि आज हमारा श्रम नष्ट हो गया। इस प्रकार खोये हुए श्रम को फिर प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि श्रमिक अपने श्रम को बेचने के लिए उत्सुक रहता है। उसके लिए प्रतीक्षा करना सम्भव नहीं होता है। इसका मजदूरी पर बुरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि इससे श्रमिक की सौदा करने की शक्ति (Bargaining Power) कम हो जाती है।

(३) श्रमिक अपना श्रम बेचता है, परन्तु स्वयं अपना स्वामी रहता है—उत्पत्ति के किसी भी साधन का स्वामित्व बदला जा सकता है, परन्तु श्रमिक अपने श्रम को बेचकर भी स्वयं अपना स्वामी बना रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि श्रमिक के पालन पोषण और शिक्षण पर जितना व्यय होता है वह सारा का सारा सदा के लिए उसी में लगकर रह जाता है और केवल धीरे-धीरे ही फल देता है। इस प्रकार के व्यय का बहुत थोड़ा सा ही भाग श्रमिक को अपनी सेवाओं के फल के रूप में मिलता है, अतः मजदूरी का एक बहुत छोटा सा भाग ही इस प्रकार के व्यय का पारितोषण होता है।

(४) श्रम की पूर्ति में परिवर्तन धीरे-धीरे होते हैं—उत्पत्ति के दूसरे साधनों की तुलना में श्रम की पूर्ति अधिक बेलोच होती है। श्रम की माँग के बढ़ जाने की दशा में श्रम की पूर्ति अकस्मात् नहीं बढ़ाई जा सकती है। इसमें बहुधा काफी लम्बा समय लगता है, क्योंकि श्रम की पूर्ति जन-संख्या के आकार और श्रम की कार्य-कुशलता पर निर्भर होती है और इन दोनों को बढ़ाने में काफी समय लगता है। इसी प्रकार श्रम की माँग के घट जाने पर श्रम की पूर्ति को शीघ्र ही घटा देना सम्भव नहीं होता है। इसके अतिरिक्त किसी विशेष प्रकार के श्रम को तैयार करने के लिए भी शिक्षण आदि पर काफी समय लगाना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि श्रम की माँग की लोच के अनुपात में उसकी

पूर्ति की लोच कम रहने के कारण मजदूरी की दरों में अल्पकालीन परिवर्तन काफी होते हैं। पूर्ति की लोच का अभाव माँग और पूर्ति का सन्तुलन नहीं होने देता है।

(५) श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति सेवायोजक की तुलना में कम होती है—इसके कई कारण हैं :—प्रथम, श्रमिकों की संख्या मालिकों की संख्या से बहुत अधिक होती है। थोड़े से व्यक्तियों का आपस में मिलकर संगठन कर लेना सरल होता है। दूसरे, श्रमिक प्रायः निर्धन होते हैं और पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में पूँजीपति पर आश्रित होते हैं। तीसरे, श्रमिकों में अशिक्षा और अज्ञान अधिक होता है और वे रूढ़िवादी भी अधिक होते हैं। चौथे, श्रमिकों में प्रायः आपसी फूट और डाह बनी रहती है और सेवायोजक इस डाह को बढ़ाकर उनकी सौदा करने की शक्ति को और भी घटा देता है। पाँचवे, जन-संख्या में बराबर वृद्धि होती रहती है, जिसके कारण श्रम की पूर्ति बराबर बढ़ती रहती है, परन्तु पूँजीवादी प्रणाली में रोजगार का विस्तार उतनी तेजी के साथ नहीं हो पाता है। इसका परिणाम यह होता है कि मजदूरी की दर नीची रहती है।

(६) श्रम उत्पत्ति का सक्रिय (Active) साधन है—वैसे तो उत्पत्ति के लिये उत्पत्ति के प्रत्येक साधन की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु श्रम इन सब में सबसे सक्रिय साधन है। बिना श्रमिक के उत्पत्ति के दूसरे साधन भी बेकार ही रहते हैं। पुराने अर्थशास्त्रियों ने भूमि की तुलना उत्पादन में माता से की है और श्रम की पिता से। इसका परिणाम यह होता है कि कोई भी सेवायोजक बिना श्रमिकों के काम नहीं चला सकता है। श्रमिक जब मजदूरी बढ़ाने के लिये हड़-ताल करते हैं तो बहुधा सफलता का मूल कारण यही होता है कि मालिक बिना श्रमिक के अपना काम नहीं चला सकता है।

(७) श्रमिक को काम करने पर बाध्य नहीं किया जा सकता है—श्रमिक द्वारा काम करना या न करना उसकी अपनी स्वेच्छा पर निर्भर होता है। उसे काम करने पर मजबूर नहीं किया जा सकता है। पुराने काल में जब कि दास प्रथा थी तो मनुष्य को काम छोड़ने की स्वतन्त्रता न थी, परन्तु अब ऐसी बात नहीं है।

मजदूरी के सिद्धान्त—

कालान्तर में मजदूरी के सिद्धान्तों में बराबर परिवर्तन होते गए हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि भूतकाल में भी आर्थिक और सामाजिक लेखक मजदूरी और उसकी समस्याओं के महत्त्व को समझते थे, परन्तु भूतकाल में जन-संख्या कम थी और प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता थी, इसीलिए मजदूरी की समस्या उसके वर्तमान रूप में मौजूद न थी। इसके अतिरिक्त सामन्तशाही काल में श्रमिक के प्रति समाज और आर्थिक लेखकों का वह दृष्टिकोण न था जो इस

समय है। यही कारण है कि मजदूरी के किसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का निर्माण न हो सका था। अरस्तू (Aristotle) ने केवल न्यायपूर्ण मजदूरी (Just Wage) पर ही जोर दिया है। उनका विचार था कि मजदूरी की दर ऐसी होनी चाहिए कि वह मजदूर और मालिक दोनों के प्रति न्याय करे और दोनों में से कोई भी दूसरे का शोषण न कर सके। ऐसी न्यायपूर्ण मजदूरी क्या होगी और कैसे निर्धारित होगी, इसके विषय में आगे कुछ नहीं बताया गया है, अतः न्यायपूर्ण मजदूरी का विचार बड़ा ही अस्पष्ट तथा अधूरा रहा है। वाणिज्यवादी अर्थशास्त्रियों (Mercantilists) ने तो मजदूरी को घटाने का भी सुझाव दिया था, ताकि देश में उत्पादन व्यय नीचा रहे और देश के माल को विदेशों में आसानी के साथ बेचकर काफी मात्रा में सोना और चाँदी विदेशों से मँगाया जा सके।

वास्तविकता यह है कि भूतकाल में श्रमिक बहुधा अपने ही लिए उत्पत्ति करता था। उस समय आधुनिक काल की भाँति श्रमिक और सेवायोजक की समस्या न थी। श्रम विभाजन भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही था, इसलिए मजदूरी के किसी विशेष सिद्धान्त की आवश्यकता न थी, किन्तु औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) ने इस स्थिति को पूर्णतया बदल दिया। उत्पादन की फैक्ट्री प्रणाली के विकास के साथ-साथ पूँजीपति और श्रमिक के दो अलग-अलग वर्ग समाज में उत्पन्न हो गये, जिनके हित एक दूसरे के विरोधी थे। वैसे भी इस काल में अर्थशास्त्र और उसके नियमों की वैज्ञानिक विवेचना आरम्भ हो गई थी, अतः मजदूरी के निर्धारण का अध्ययन अर्थशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण विषय बन गया। मजदूरी के सिद्धान्तों का अध्ययन एडम-स्मिथ से आरम्भ होता है और एडम-स्मिथ के शिष्यों ने इस अध्ययन को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया है। तब से अब तक मजदूरी के अनेक सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है। पुराने अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी का अध्ययन केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही किया था, परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इसमें व्यावहारिकता लाने का भी प्रयत्न करते हैं। मजदूरी के सिद्धान्तों का हम उनके ऐतिहासिक क्रम में अध्ययन करने का प्रयत्न करेंगे। प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :—

(१) मजदूरी का जीवन निर्वाह सिद्धान्त अथवा मजदूरी का लौह सिद्धान्त (The Subsistence Theory of Wages or the Iron Law of Wages or the Brazen Law of wages)—

इस सिद्धान्त का निर्माण सर्वप्रथम फ्रांस के निर्बाधावादी अथवा कृषिवादी अर्थशास्त्रियों (Physiocrats) ने किया था। उन्होंने यह देखा था कि फ्रांस में मजदूरी काफी समय से जीवन निर्वाह स्तर पर थी, इसलिए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि प्रकृति स्वयं मजदूरी को जीवन निर्वाह स्तर पर ले जाती है। आगे चलकर रिकार्डो ने माल्थस के जन-संख्या के सिद्धान्त के आधार पर

इस सिद्धान्त का समर्थन किया। रिकार्डो के पश्चात् समाजवादी अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त के आधार पर पूँजीवाद की कड़ी आलोचना की। लसाले (Lassalle) ने इसे 'लौह सिद्धान्त' का नाम दिया और कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने इसे अपने शोषण सिद्धान्त का आधार बनाया।

इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी श्रमिकों के जीवन निर्वाह व्यय के बराबर होती है। मजदूरी की दर ऐसी होगी कि श्रमिक को जीवित रहने के लिए पर्याप्त मिलता रहे। वह न तो इससे अधिक होगी और न कम। मजदूरी की दीर्घकालीन प्रवृत्ति यही होगी। रिकार्डो का कथन है कि यदि मजदूरों को जीवन-निर्वाह स्तर से ऊँची मजदूरी दी जाती है तो उनकी आर्थिक सम्पन्नता बढ़ेगी और वे अधिक बच्चे पैदा करेंगे। इससे जन-संख्या के बढ़ने के कारण श्रम की पूर्ति बढ जायगी और मजदूरी घटने लगेगी। यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि मजदूरी गिर कर जीवन निर्वाह के न्यूनतम स्तर पर नहीं आ जायगी। इसके विपरीत यदि श्रमिक को जीवन निर्वाह स्तर से नीची मजदूरी मिलती है तो भर-पेट भोजन न मिलने के कारण बहुत से श्रमिक मर जायेंगे। इसके अतिरिक्त आर्थिक कष्टों के बढ़ जाने के कारण श्रमिक सन्तान भी कम पैदा करेंगे। इस प्रकार श्रम की पूर्ति घट जायगी, जिससे मजदूरी में वृद्धि होगी। वृद्धि का यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जब तक मजदूरी बढ़कर फिर जीवन निर्वाह स्तर पर नहीं आ जायगी। इस प्रकार दीर्घकालीन मजदूरी केवल इतनी होती है कि मजदूर के शरीर में प्राण बने रहें। वह इससे कम या अधिक नहीं हो सकती है। यह नियम इतनी कठोरता के साथ लागू होता कि इसे 'लौह नियम' का नाम दे दिया गया है। इस प्रकार जो मजदूरी निश्चित होती है उसी को प्राकृतिक मजदूरी (Natural Wage) कहा जाता है।

यह स्पष्ट है कि मजदूरी का यह सिद्धान्त माल्थस के जन-संख्या के सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त की सत्यता भी एक बड़े अंश तक उपरोक्त सिद्धान्त पर ही निर्भर है। सिद्धान्त के सबसे बड़े समर्थक रिकार्डो रहे हैं, परन्तु स्वयं रिकार्डो ने यह स्वीकार किया है कि मजदूरी जीवन निर्वाह स्तर से ऊँची उठ सकती है। मार्शल का विचार है कि रिकार्डो यह भली-भाँति जानते थे कि मजदूरी की कोई भी प्राकृतिक दर नहीं होती है और मजदूरी स्थानीय दशाओं और प्रचलित रीति-रिवाज आदि द्वारा निर्धारित होती है। यही नहीं, रिकार्डो रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा उठाने के महत्त्व को भी समझते थे। कुछ भी हो, मजदूरी का जीवन निर्वाह सिद्धान्त सही प्रतीत नहीं होता है। यह आधार ही गलत है कि मजदूरी के बढ़ने के साथ-साथ जन-संख्या भी बढ़ेगी। संसार के लगभग सभी देशों का अनुभव इसके विपरीत ही है। यूरोप के देशों में मजदूरी और आय के बढने के फलस्वरूप जन-संख्या के बढ़ने के स्थान पर जीवन-स्तर

ऊँचा उठा है, जिसके कारण जन-संख्या उल्टी घट गई है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त की और भी अनेक आलोचनाएँ हो सकती हैं:—(१) इस सिद्धान्त में जीवन स्तर और कार्य-क्षमता की रक्षा के महत्त्व को भुला दिया गया है। श्रम की पूर्ति के लिये केवल यही आवश्यक नहीं है कि श्रमिक जीवित रहें, बल्कि यह यह भी आवश्यक है कि श्रमिक की काम करने की शक्ति बनी रहे। इसके लिए आवश्यक है कि मजदूरी न्यूनतम जीवन-निर्वाह स्तर से ऊपर रहे। (२) मजदूरी का यह प्राकृतिक नियम यह नहीं बताता है कि संसार भर में विभिन्न मजदूरों की मजदूरी की दर में अन्तर क्यों होते हैं, क्योंकि जीवन-निर्वाह व्यय तो लगभग समान ही रहता है। इसी प्रकार विभिन्न व्यवसायों और कालों में भी मजदूरी की दरों में अन्तर नहीं होना चाहिए। वास्तविक जीवन में मजदूरी के अन्तर काफी व्यापक तथा स्पष्ट होते हैं। इससे तो यही पता चलता है कि प्राकृतिक नियमों की अपेक्षा परिस्थितियों का ही प्रभाव अधिक पड़ता है। (३) यह सिद्धान्त अधूरा है, क्योंकि इसमें केवल श्रम की पूर्ति पर ही विचार किया जाता है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि जीवन निर्वाह व्यय एक बड़े अंश तक श्रम की पूर्ति को निश्चित करता है, परन्तु श्रम की माँग पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। श्रम की माँग तो श्रम की उत्पादकता पर निर्भर होती है, क्योंकि मजदूरी की समस्या श्रम के मूल्य निर्धारण की समस्या है, इसलिए केवल पूर्ति की विवेचना से काम नहीं चलेगा। (४) यह सिद्धान्त यह समझाने में असमर्थ रहता है कि आविष्कारों, उत्पादन की रीतियों में सुधार और श्रम सघों की कार्यवाहियों के कारण मजदूरी की दरों में परिवर्तन क्यों हो जाते हैं?

(२) मजदूरी का जीवन-स्तर सिद्धान्त (The Standard of Living Theory of Wages)—

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त का निर्माण काफी बाद में हुआ है, परन्तु क्योंकि यह सिद्धान्त उपरोक्त सिद्धान्त पर सुधार के रूप में प्रतिपादित किया गया है, इसलिए इसका अध्ययन जीवन-निर्वाह सिद्धान्त के साथ ही साथ कर लेना अधिक उपयुक्त होगा। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि मजदूरी जीवन निर्वाह स्तर के स्थान पर जीवन-स्तर द्वारा निर्धारित होती है। इसका अभिप्राय यह है कि मजदूरी जीवन-निर्वाह स्तर से ऊँची रहती है, क्योंकि मजदूर की कार्य-क्षमता की रक्षा भी आवश्यक है, जिससे कि वह वास्तविक अर्थ में उत्पत्ति में अपना सहयोग दे सके। इस सिद्धान्त के अनुसार श्रमिकों की मजदूरी में उस स्थान पर तय होने की प्रवृत्ति रहती है जहाँ पर कि श्रमिकों के लिए अपना जीवन-स्तर बनाये रखना सम्भव हो सके। इस प्रकार किसी भी श्रमिक वर्ग की मजदूरी उसके रहन-सहन के दर्जे द्वारा निर्धारित होती है। निश्चय है कि इस प्रकार की मजदूरी सभी मजदूरों के लिए समान

नहीं हो सकती है और साथ ही ऐसी मजदूरी का श्रमिकों की कार्यक्षमता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। इस सम्बन्ध में जीवन-स्तर का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। मार्शल के अनुसार श्रमिक के किसी वर्ग का जीवन-स्तर आवश्यक, आरामदायक और विलास की वस्तुओं के उस समूह द्वारा सूचित होता है, जिसके उपभोग की उस वर्ग को आदत पड जाती है अथवा जिसका वह वर्ग अभ्यस्त (Accustomed) हो जाता है, क्योंकि श्रमिक की कार्यक्षमता एक बड़े अंश तक उसके जीवन-स्तर पर निर्भर होती है, इसलिए जीवन-स्तर को बनाए रखना कार्यक्षमता की रक्षा के लिए आवश्यक है।

निस्सन्देह यह सिद्धान्त मजदूरी के जीवन-निर्वाह सिद्धान्त पर एक भारी सुधार है। मजदूरी की दर पर जीवन-स्तर का प्रभाव कई प्रकार से पड़ता है:—प्रथम, यदि मजदूरों का एक निश्चित जीवन-स्तर है तो वे दृढ़तापूर्वक उसी के अनुसार उपयुक्त मजदूरी की माँग करेंगे। दूसरे, जीवन-स्तर का प्रत्येक परिवर्तन कार्य-क्षमता में भी परिवर्तन कर देता है, जिसका श्रमिक की उत्पादकता पर अवश्य प्रभाव पड़ता है और श्रमिक की उत्पादकता की प्रत्येक वृद्धि अथवा कमी मजदूरी पर भी अपना प्रभाव अवश्य डालती है। ये दोनों बातें इस सिद्धान्त के गुणों को दिखाती हैं, परन्तु सिद्धान्त की आलोचना के रूप में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यथार्थ में मजदूरी और जीवन स्तर में इतना प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है जितना कि इस सिद्धान्त में दर्शाया गया है। सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार हैं—(१) यह निश्चित करना कठिन है कि जीवन-स्तर मजदूरी द्वारा निर्धारित होता है अथवा मजदूरी जीवन-स्तर द्वारा निर्धारित होती है। अनुभव बताता है कि श्रमिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य मजदूरी की वृद्धि होती है। बिना मजदूरी को पहले बढ़ाये ऊँचे जीवन-स्तर की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। (२) यदि यह मान भी लिया जाय कि ऊँचा जीवन-स्तर श्रमिक की कार्यक्षमता और सौदा करने की शक्ति को बढ़ा कर मजदूरी में वृद्धि कर देता है तो यह समझना भूल होगी कि मजदूरी पर केवल जीवन-स्तर का ही प्रभाव पड़ता है। जीवन-स्तर मजदूरी को प्रभावित करने वाली अनेक बातों में से केवल एक ही है। (३) जीवन-स्तर का प्रभाव भी साधारणतया श्रम की पूर्ति पर ही पड़ता है, क्योंकि गुणात्मक दृष्टिकोण से श्रम की पूर्ति श्रमिक की कार्यक्षमता पर निर्भर होती है। श्रम की माँग पर जीवन-स्तर का प्रभाव बड़ा परोक्ष और अस्पष्ट ही पड़ता है, अतः यह सिद्धान्त भी मुख्यतया श्रम की पूर्ति की ही विवेचना करता है। फिर भी इस सिद्धान्त के पक्ष में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसमें कुछ सत्यता का अंश अवश्य है।

(३) मजदूरी-निधि अथवा मजदूरी कोष सिद्धान्त (The Wage fund Theory)—

ब्रिटिश अर्थ-शास्त्री काफी लम्बे काल तक इस सिद्धान्त के पक्षपाती रहे हैं। इसका निर्माण सबसे पहिले एडम स्मिथ ने किया था। बाद को माल्थस और रिकार्डो ने भी इसका समर्थन किया। इस सिद्धान्त का अन्तिम रूप मिल (J. S. Mill) ने निश्चित किया है, इसलिए इसे बहुधा मिल ही के नाम से सम्बन्धित किया जाता है। मिल का कहना है कि मजदूरी उस कोष अथवा निधि पर निर्भर होती है जो नियोक्ता अथवा सेवायोजक स्वेच्छा से मजदूरों को देने के लिये अलग रख देता है। अपनी इच्छा के अनुसार सेवायोजक यह निर्णय कर लेता है कि वह अपनी बचाई हुई पूँजी का, जिसे उसने अपनी भूतकालीन आय में से बचाया है, कौनसा भाग मजदूरी पर व्यय करेगा। इस प्रकार बचाई हुई पूँजी की जो मात्रा मजदूरी के लिए अलग रख दी जाती है, उसे मजदूरी कोष कहा जाता है। कुल मजदूरी इसी कोष में से दी जाती है और प्रत्येक श्रमिक को श्रमिकों की संख्या के अनुपात में मजदूरी मिलती है।

इस सिद्धान्त को, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, रिकार्डो ने आरम्भ किया था। सिद्धान्त का आशय यह है कि मजदूरी की दर दो बातों पर निर्भर होती है :—(१) मजदूरी कोष की मात्रा और (२) जन-संख्या का आकार। इनमें से प्रथम का निर्धारण पूँजीपति की स्वेच्छा पर निर्भर होता है और दूसरी का प्राकृतिक कारणों पर, जो साधारणतया मनुष्य के अधिकार क्षेत्र से बाहर होते हैं। मजदूरी बढ़ाने के दो उपाय हो सकते हैं :—या तो मजदूरी कोष की मात्रा बढ़ाई जाय, अर्थात् पूँजीपति अपनी पहिली कमाई का अधिक बड़ा भाग मजदूरी कोष के रूप में रखे या जन-संख्या को कम किया जाय, जिससे कि मजदूरी कोष में से हिस्सा पाने वालों की संख्या घट जाय।

इस सिद्धान्त को वास्तव में सिद्धान्त का नाम देना ही गलत होगा, क्योंकि इस सिद्धान्त में यह नहीं बताया गया है कि मजदूरी-कोष का निर्धारण किस आधार पर किया जाता है ? यदि मजदूरी कोष सेवायोजक की स्वेच्छा पर निर्भर है तो उसका कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं हो सकता है। दूसरे, ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि इस सिद्धान्त में बड़े ही भोंड़े ढङ्ग से श्रम की माँग की विवेचना की गई है। मजदूरी कोष का आकार परोक्ष रूप में श्रम की माँग का सूचक होता है। चालू पूँजी का जो भाग मजदूरों में बाँटने के लिए रख दिया जाता है उसी के अनुसार श्रमिकों की माँग रहती है। इस दृष्टिकोण से यह सिद्धान्त भी अधूरा है। कोई भी सिद्धान्त जो श्रम की माँग और पूर्ति दोनों ही की विवेचना न करे, मजदूरी का निर्धारण कर ही नहीं सकता। तीसरे, इस सिद्धान्त में एक उलटा तरीका अपनाया गया है। मजदूरी कोष मजदूरी की दर निर्धारण नहीं करता, बल्कि स्वयं मजदूरी कोष विभिन्न मजदूरों

की कुल मजदूरी के योग के बराबर होता है। चौथे, यह सिद्धान्त मजदूरी पर प्रतियोगता के प्रभाव को स्पष्ट नहीं करता है। एक निश्चित समय में मजदूरी कोष और जन-संख्या निश्चित होते हैं, इसलिए मजदूरी की दर में परिवर्तन नहीं होने चाहिए, परन्तु वास्तविक जीवन में इस प्रकार के परिवर्तन बराबर होते रहते हैं।

(४) अविशिष्ट अधिकारी सिद्धान्त (Residual Claimant Theory)—इस सिद्धान्त को अमेरिकन अर्थशास्त्री वाकर (Walker) के नाम से सम्बन्धित किया जाता है। वाकर का विचार है कि लगान, ब्याज और लाभ स्वतन्त्र रूप में निश्चित होते हैं और इनके निर्धारण का उद्योग से कोई सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु मजदूरी के निर्धारण पर कोई निश्चित नियम लागू नहीं होता। कुल उत्पत्ति की कीमत में से लगान, ब्याज और लाभ को निकाल कर जो शेष रहता है वही मजदूरों को मिलता है। इस प्रकार मजदूरी अविशिष्ट अथवा उपोत्तपत्ति (Residue) में से दी जाती है।[1] इसी कारण वाकर के सिद्धान्त का नाम मजदूरी का अविशिष्ट अधिकारी सिद्धान्त पड़ा। वाकर के अनुसार मजदूरी केवल उसी दशा में बढ़ सकती है जबकि मजदूरों की कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाने के कारण कुल उत्पत्ति बढ़ती है, परन्तु लगान, ब्याज, लाभ और इस प्रकार के दूसरे दायित्वों की मात्रा निश्चित रहती है। वाकर ने इस सत्य को स्वीकार किया है कि अधिक परिश्रम करने के फलस्वरूप मजदूरों की मजदूरी बढ सकती है। वाकर से ही मिलता-जुलता मत जेवन्स (Jevons) का भी है, परन्तु दोनों के विचारों में थोड़ा अन्तर है। वाकर के अनुसार कुल उत्पत्ति की कीमत मे से लगान, ब्याज और लाभ को देकर जो कुछ बचता है वह सब का सब मजदूरी में शामिल होता है।[2] इसके विपरीत जेवन्स के अनुसार कुल उपज में से लगान, कर और पूँजी का ब्याज निकालने के बाद मजदूरी शेष रह जाती है।[3]

दूसरे सिद्धान्तों की भाँति यह सिद्धान्त भी अधूरा है। सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाये निम्न प्रकार हैं:—(१) इस सिद्धान्त में श्रम की माँग और पूर्ति के प्रभाव को बिल्कुल भुला दिया गया है। मजदूरों को तो बचा-खुचा ही

1. "Rent, Interest and profits are fixed by economic considerations quite independent of the industry.................................. when from the total product we deduct the combined shares of land, capital and entrepreneur, that which is left as a residue, would go to the labourers as wages" —Walker.

2. "Wages are equal to the whole product minus rent, interest & profits" —Walker.

3. "The wages of working man are ultimately coincident with what he produces, after the deduction of rent, taxes and the interest on capital." —Stanley Jevons,

मिलेगा, चाहे उनकी माँग और पूर्ति की दशायें कैसी भी क्यों न हों? वास्तविकता यह है कि अन्य वस्तुओं के मूल्य की भाँति श्रम का मूल्य अथवा मजदूरी भी श्रम की माँग व पूर्ति पर निर्भर होती है। (२) इस सिद्धान्त में श्रम-संघों और सामूहिक सौदा करने के महत्त्व को भी स्वीकार नहीं किया गया है। मजदूरी तो अविशेष है। श्रम-संघ इस अविशेष को नहीं बढ़ा सकते हैं, क्योंकि लगान, ब्याज आदि के निर्धारण पर उनका किसी प्रकार का अधिकार नहीं होता है। इस प्रकार श्रम-संघों का निर्माण बेकार है, परन्तु व्यावहारिक अनुभव इसके विपरीत है। (३) प्रत्येक व्यवसाय में अविशेष का हकदार साहसी अथवा उत्पादक होता है, मजदूर नहीं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने साहसी को ही अविशिष्ट अधिकारी बतलाया है और यह ठीक भी है। (४) इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी का कोई निश्चित नियम है ही नहीं। उत्पत्ति के सभी साधन स्वभाव मे एक जैसे होते हैं। जब भूमि, पूँजी और साहस के मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त मौजूद हैं तब वही सिद्धान्त श्रम के मूल्य निर्धारण में भी लागू होने चाहिए। (५) वाकर का यह कथन भी गलत है कि लगान, ब्याज और लाभ उद्योग मे स्वतन्त्र रूप से निर्धारित होते हैं। वास्तविक जीवन में इन तीनों का ही उद्योग से गहरा सम्बन्ध है।

(२) मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (The Marginal Productivity Theory of Wages)—इस सिद्धान्त का थोड़ा सा अध्ययन एक पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यह सिद्धान्त वितरण का एक ऐसा सिद्धान्त है जो उत्पत्ति के सभी साधनों का मूल्य निर्धारित करता है। सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का दीर्घकालीन पारितोषण उसकी सीमान्त उपज की कीमत के बराबर होता है। अल्पकाल मे तो यह पारितोषण इससे कम या अधिक हो सकता है, परन्तु अन्त मे यह उसके बराबर होता है।

यदि पारितोषण सीमान्त उपज की कीमत से अधिक है तो सेवायोजक कुछ श्रमिकों को काम से हटायेगा। इससे श्रम की माँग घटेगी और मजदूरी नीचे गिरेगी। यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जब तक मजदूरी घटते-घटते सीमान्त उपज के बराबर न हो जायगी। बात यह है कि जब मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत से अधिक होती है, तो सीमान्त श्रमिक को उसके द्वारा की गई उत्पत्ति से अधिक मूल्य दिया जाता है, जिससे उत्पादक को हानि होती है और यह हानि श्रमिक को काम पर से हटा कर दूर की जा सकती है। उत्पादक की हानि उस समय तक बनी रहेगी जब तक कि मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत से ऊँची रहेगी, इसलिए ऐसे समय तक श्रम की माँग बराबर घटती रहेगी। इसके कारण मजदूरी भी नीचे गिरती रहेगी। इसके विपरीत यदि मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत से कम है तो सीमान्त श्रमिक को काम पर लगाने से उत्पादक को लाभ होगा उसके द्वारा और अधिक मजदूरों को काम

पर लगाकर अपने कुल लाभों को बढ़ा लेना सम्भव होगा। इसके फलस्वरूप श्रमिक की माँग में वृद्धि होगी और मजदूरियाँ ऊपर उठेंगी। यह स्थिति उस समय तक बनी रहेगी जब तक कि मजदूरी बढ़कर सीमान्त उपज की कीमत के बराबर नहीं हो जायगी, केवल उसी दशा में श्रमिकों की संख्या बढ़ाकर कुल लाभ में वृद्धि करने की सम्भावना समाप्त होगी, अतः यद्यपि कुछ काल के लिए मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत से कम या अधिक हो सकती है, परन्तु साम्य की दशा में वह उसके बराबर ही होगी।

इस सिद्धान्त को समझने के लिए सीमान्त उपज का पता लगाना आवश्यक है। इसके लिए ऐसा किया जाता है कि उत्पत्ति के अन्य साधनों की मात्रा को यथास्थिर रखकर किसी एक साधन की मात्रा को एक इकाई से घटाया या बढ़ाया जाता है। परिणामस्वरूप, कुल उपज की मात्रा में जो कमी या वृद्धि होती है वह सीमान्त उपज कहलाती है। बाजार भाव पर सीमान्त उपज की कीमत निकाली जा सकती है। यही कीमत उस साधन के पारितोषण को निर्धारित करती है, जिसकी मात्रा में हमने परिवर्तन किया था। उदाहरणस्वरूप, यदि भूमि, पूँजी और साहस की निश्चित मात्राओं के साथ श्रम की १० इकाइयाँ उपयोग करने पर ५० इकाई उत्पत्ति प्राप्त होती है और ११ इकाइयाँ उपयोग करने पर कुल उपज ५४ इकाई होती है तो श्रम की सीमान्त उपज ४ इकाई उत्पत्ति के बराबर होगी और यही दीर्घकालीन मजदूरी की दर को निश्चित करेगी।

इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें उत्पत्ति के सभी साधनों के पारितोषण को एक ही तरीके से निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है। वैसे ही सीमान्त विवेचना आधुनिक आर्थिक विश्लेषण का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। सिद्धान्त इस कारण भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि सेवायोजक के दृष्टिकोण से श्रम की माँग अथवा किसी दूसरे उत्पत्ति के साधन की माँग साधन विशेष की उत्पादकता पर निर्भर होती है, किन्तु यह सिद्धान्त भी अनेक कारणों से अधूरा है :—(१) सीमान्त उत्पादकता श्रम की माँग को निश्चित करती है, परन्तु श्रम की पूर्ति पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अतः इस सिद्धान्त में केवल श्रम की माँग की विवेचना करके मजदूरी को निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया। पूर्ति की विवेचना छोड़ दी गई, जो ठीक नहीं है। (२) यह सिद्धान्त सभी दशाओं में लागू नहीं होता, यदि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के बीच प्रतिस्थापन नहीं हो सकता है तो सीमान्त उपज का पता नहीं लगाया जा सकता है। (३) यदि सीमान्त उत्पादकता ही मजदूरी को निर्धारित करती है तो श्रम संघ बेकार ही होंगे, क्योंकि सीमान्त उत्पादकता को बढ़ाये बिना मजदूरी नहीं बढ़ाई जा सकती है। वास्तविक जीवन में श्रम संघ मजदूरों की सौदा करने की शक्ति को बढ़ा कर मजदूरी में वृद्धि करा देते हैं। (४) यदि सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता पर आधारित

है, जबकि वास्तविक जीवन में केवल अपूर्ण प्रतियोगिता ही पाई जाती है। (५) यह दीर्घकालीन सिद्धान्त है। (६) जैसा कि टाउजिग ने कहा है कि मजदूरी एक प्रकार की पेशगी शोधन होती है। उत्पत्ति को वेचकर कीमत प्राप्त करने से पहले ही उत्पादक मजदूरी चुका देता है, इसलिए इसमें से कुछ प्रकार की कटौती हो जाती है।

(६) मजदूरी का सीमान्त बट्टा उपज सिद्धान्त (Discounted Marginal Product Theory of Wages)—यह सिद्धान्त सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त पर आधारित है, परन्तु टाउजिग ने उपरोक्त सिद्धान्त में कुछ सुधार करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि मजदूरी का चुकाना उसी दिन वाजिब हो जाता है जिस दिन कि उत्पत्ति का कार्य आरम्भ किया जाता है, परन्तु उत्पत्ति में समय लगता है। इस प्रकार मजदूरी उत्पत्ति होने से पहिले ही चुका दी जाती है। उपज के तैयार हो जाने पर भी उत्पादक को उसकी कीमत तुरन्त नहीं मिल जाती है। इसके वेचने में भी समय लगता है। इस प्रकार सेवायोजक ने जिस श्रमिक की मजदूरी आज चुकाई है उसके द्वारा की हुई उत्पत्ति की कीमत उसे कई महीने बाद प्राप्त होती है। मजदूरी एक प्रकार से अग्रिम अथवा पेशगी (Advance) के रूप में होती है। यह निश्चय है कि मजदूरी चुकाने और उपज को वेचकर कीमत प्राप्त कर लेने के बीच के काल के लिए सेवायोजक को उस पूँजी के ऊपर ब्याज की हानि होती है जो उसने मजदूरी के रूप में उपयोग की है। यह ब्याज की रकम मजदूरी में से काट ली जाती है। इस प्रकार मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत में से इस काल का ब्याज काट कर दी जाती है। श्रमिक को उसकी सीमान्त उपज की कुल कीमत प्राप्त नहीं होती, उसमें से बट्टा लिया जाता है। इसी कारण टाउजिग ने मजदूरी को सीमान्त बट्टा उपज कहा है। टाउजिग के अनुसार : "मजदूरी के सामान्य सिद्धान्त को सरल और स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि मजदूरी श्रम की बट्टा की हुई सीमान्त उपज द्वारा निर्धारित होती है।"* टाउजिग इस बात को मानते हैं कि जो कुल उत्पत्ति होती है वह सम्मिलित उपज होती है, जिसमें उत्पत्ति के सभी साधनों का हिस्सा रहता है। उनका विचार है कि मजदूरी के विषय में बट्टे का लगाना आवश्यक है।

इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं:—(१) यदि सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त गलत है तो इस सिद्धान्त को सही मान लेना सम्भव नहीं है। (२) यह बात समझ में नहीं आती कि केवल मजदूरी ही बट्टा

* "The simplest and the clearest mode of stating the theory of general wages is to say that the wages are determined by the Discount Marginal Product of labour."

—Taussig : *Principles of Economics*, p. 24.

काटकर क्यों दी जाती है। उत्पत्ति के लगभग सभी साधनों को अग्रिम के रूप में शोधन दिया जाता है। इस प्रकार सभी साधनों के पारितोषण में से बट्टा काटना चाहिए, न केवल मजदूरी में से। (३) बट्टे के रूप में जो कुछ काट लिया जाता है वह भी किसी न किसी साधन को अवश्य मिलता होगा तो क्या टाउजिग के इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर बढ़ जायगी। टाउजिग ऐसा स्वीकार नहीं करते हैं।

(४) मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त (The Modern Theory of Wages)—जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि आधुनिक अर्थशास्त्री वितरण की समस्या को मूल्य निर्धारण की ही एक विशेष दशा समझते हैं। उत्पत्ति के साधनों और साधारण वस्तुओं में लगभग कुछ भी अन्तर नहीं होता है। उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का पारिश्रमिक अथवा पारितोषण यथार्थ में उसकी कीमत होती है, इसलिये प्रत्येक साधन का पारितोषण अथवा उसकी कीमत भी माँग और पूर्ति के सिद्धान्त द्वारा निश्चित होगी। मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त भी माँग और पूर्ति का सिद्धान्त है। श्रम की कीमत को मजदूरी कहा जा सकता है, इसलिए मजदूरी श्रम की माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होती है। साम्य की दशा में मजदूरी उस बिन्दु पर निश्चित होती है जहाँ श्रम की माँग उसकी पूर्ति के बराबर होगी।

इस सिद्धान्त को समझने के लिए हमें श्रम की मांग और पूर्ति को भली भांति समझ लेना होगा। श्रम की माँग सेवायोजक अथवा नियोक्ता की ओर से प्रस्तुत की जाती है। उत्पत्ति के दूसरे साधनों की माँग की भांति श्रम की मांग भी व्युत्पादित माँग (Derived Demand) होती है और उत्पादित वस्तु की मांग पर निर्भर होती है। सेवायोजक के दृष्टिकोण से उत्पादन का विस्तार इस बात पर निर्भर होता है कि उत्पादित वस्तु का उत्पादन कितना लाभदायक है। उत्पादन की लाभदायकता इस बात पर निर्भर होती है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के उपयोग के फलस्वरूप उत्पादक को कितना लाभ होता है। नियोक्ता अधिक से अधिक जो मजदूरी दे सकता है वह श्रम की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होती है। जब तक मजदूरी सीमान्त उपज को कीमत से कम होती है, नियोक्ता को श्रमिक के उपयोग से लाभ होता है। यदि मजदूरी सीमांत उपज की कीमत से अधिक है तो श्रमिक को काम पर लगाने से नियोक्ता को हानि होगी, अतः नियोक्ता के लिए श्रमिक के पारितोषण की उच्चतम् सीमा श्रम की सीमान्त उत्पादक्ता द्वारा निर्धारित होती है। श्रम की माँग उसकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होगी। जितनी ही श्रम की उत्पादक्ता अधिक होगी उतनी ही श्रम की माँग भी अधिक होगी।

जहाँ तक श्रम की पूर्ति का प्रश्न है, यह दो बातों पर निर्भर होती है—जन-संख्या और श्रम की कार्य-कुशलता। जन-संख्या का आकार श्रम

पूर्ति की मात्रा सम्बन्धी सीमा निश्चित करता है जब कि श्रम की गुणात्मक पूर्ति श्रमिक की कार्यकुशलता पर निर्भर होती है। वे सभी कारण जो जन-संख्या और श्रमिक की कार्यकुशलता को प्रभावित करते हैं, श्रम की पूर्ति पर भी अपना असर डालते हैं। साधारणतया जन-संख्या की प्रत्येक वृद्धि श्रम की पूर्ति को भी बढ़ा देती है। ठीक इसी प्रकार श्रम की कार्यकुशलता के बढ जाने का अर्थ यह होता है कि प्रत्येक श्रमिक पहले की अपेक्षा अधिक काम करने लगे और इससे श्रम की पूर्ति बढ़ जावेगी। श्रम की कार्यकुशलता वैसे तो अनेक बातों पर निर्भर होती है, परन्तु इस पर सबसे अधिक प्रभाव श्रमिकों के जीवन-स्तर का पड़ता है। आधुनिक युग में तो जन-संख्या का आकार भी एक बड़े अंश तक श्रमिकों के जीवन-स्तर पर ही निर्भर होता है। यही कारण है कि जिस प्रकार मजदूरी की उच्चतम सीमा श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होती है, इसी प्रकार मजदूरी की न्यूनतम सीमा श्रमिकों के जीवन स्तर पर निर्भर होती है। वास्तव में इन दोनों सीमाओं के बीच किसी स्थान पर मजदूरी निश्चित होती है। टामस के अनुसार :—"सेवायोजक अपने मजदूरों को आर्थिक मजदूरी देना चाहता है, जो उपस्थित परिस्थितियों में उनकी सीमान्त उत्पादकता से सम्बन्धित होती है। मजदूर एक सामाजिक मजदूरी को बनाये रखना चाहता है, जो सामजिक दशाओं द्वारा निर्धारित होती है और विशेषतया उस वर्ग के जीवन-स्तर पर निर्भर होती है जिसका कि श्रमिक एक सदस्य है।"* इन दोनों सीमाओं के बीच मजदूरी की दर श्रमिक और सेवायोजक की सौदा करने की शक्ति पर निर्भर होती है। साधारणतया श्रमिक की सौदा करने की शक्ति सेवाजोजक की तुलना में कम होती है। इसके अतिरिक्त श्रम की कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो मजदूरी को नीचे गिराने की प्रवृत्ति रखती हैं। इन सभी कारणों से श्रमिक की स्थिति कमजोर ही रहती है और उसके लिए उचित मजदूरी प्राप्त कर लेना कठिन होता है। श्रमिक के शोषण का प्रमुख कारण श्रमिक की सौदा करने की शक्ति का अभाव ही है, अतः श्रम के सम्बन्ध में माँग और पूर्ति की शक्तियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक काम नहीं कर सकती हैं। बास्टन ने ठीक ही कहा है :—"जिस प्रकार कीमत माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है उसी प्रकार मजदूरी का भी निर्धारण होता है, यद्यपि श्रम का क्रय-विक्रय एक विशेष रीति से किया जाता है। श्रम की कीमत और मजदूरी की आमदनी में अन्तर होता है। किसी व्यक्ति की आय उसके श्रम की कीमत

---

* The employer seeks to pay his worker an economic wage determined by reference to their marginal productivity under existing conditions : the worker seeks to maintain a social wage, determined by reference to social considerations and particularly the standard of living of the group to which he belongs."—Thomas : *Elements of Economics*, p. 290.

पर तो निर्भर होती ही है, परन्तु साथ ही साथ श्रम की किस्म भी महत्त्वपूर्ण होती है।"*

क्या मजदूरी की कोई सामान्य दर हो सकती है—

यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि क्या मजदूरी की कोई सामान्य दर सम्भव है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ऐसा सम्भव है। यदि पूर्ण स्पर्धा की दशाएँ हैं और सेवायोजकों तथा श्रमिकों के बीच पूर्ण प्रतियोगिता है और यदि श्रम की व्यावसायिक एवं प्रादेशिक गतिशीलता भी पूर्ण है तो सभी स्थानों तथा व्यवसायों में एक ही प्रकार के काम के लिये मजदूरी की दर भी एक सी ही होती है, परन्तु वास्तविक जीवन में न तो प्रतियोगिता ही पूर्ण होती है और न प्रादेशिक और व्यावसायिक गतिशीलता ही। इसका परिणाम यह होता है कि मज्दूरी की सामान्य दर का विचार एक सैद्धान्तिक और कल्पनात्मक विचार मात्र ही रह जाता है। अपूर्ण प्रतियोगिता का प्रभाव यह होता है कि एक ही स्थान तथा एक ही व्यवसाय में मजदूरी की दरें अलग-अलग बनी रहती हैं। गतिशीलता के अभाव के कारण विभिन्न व्यवसायों तथा विभिन्न स्थानों में मजदूरी की दरों के अन्तर बने रहते हैं। वास्तव में मजदूरी के निर्धारण की समस्या अपूर्ण प्रतियोगिता में श्रम के मूल्य निर्धारण की समस्या है।

विभिन्न व्यवसायों में मजदूरी की दरों के अन्तर के कारण—

सभी व्यवसायों में श्रमिक को समान मजदूरी नहीं मिलती है। कुछ उद्योगों और व्यवसायों में दूसरों की तुलना में मजदूरी ऊँची रहती है और कुछ में नीची। मजदूरी की ऐसी विभिन्नता के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं:—

(१) श्रम की उत्पादन शक्ति का अन्तर—सभी व्यवसायों में श्रम की उत्पादन शक्ति समान नहीं होती है। संगठन की कुशलता, कार्य की दशाएँ आदि अनेक कारणों से विभिन्न व्यवसायों में श्रम की उत्पादन शक्ति अलग-अलग रहती है। यह निश्चय है कि जिन व्यवसायों में श्रम की उत्पादन शक्ति अधिक होती है वहाँ मजदूरी की दर भी ऊँची रहती है।

(२) शिक्षण व्यय का अन्तर—सभी व्यवसायों में काम सीखने का व्यय समान नहीं होता है। स्वभाव से ही कुछ उद्योगों में काम सीखने का व्यय अधिक रहता है। ऐसे व्यवसायों में श्रम की पूर्ति बहुधा सीमित ही रहती है और मजदूरी की दर ऊँची रहती है।

(३) श्रम की गतिशीलता की कमी—एक व्यवसाय से दूसरे को श्रम की गतिशीलता स्वतन्त्र नहीं होती है। बहुधा एक श्रमिक एक प्रकार के काम को छोड़कर दूसरे में जाना कम ही पसन्द करता है। इसके कारण विभिन्न व्यवसायों में मजदूरी की अलग अलग दरें बनी रहती हैं।

* See Baston : *Practical Economics*, p. 27.

(४) कार्य की प्रकृति—कार्य स्थाई (Permanent) हो सकता है अथवा अस्थाई (Temporary)। यह सामयिक (Seasonal) भी हो सकता है। यह निश्चय है कि अस्थाई और सामयिक उद्योगों में श्रमिक अधिक मजदूरी पर अनुरोध करेंगे, क्योंकि उन्हें काफी दिनों तक बेकार बैठना पड़ेगा।

(५) जोखिम का अंश और उत्तरदायित्व—कुछ उद्योग खतरनाक होते हैं। इसी प्रकार कुछ उद्योगों या कामों में उत्तरदायित्व बहुत रहता है। जिन उद्योगों में जोखिम अथवा उत्तरदायित्व अधिक होता है, मजदूरी की दर भी बहुधा ऊँची ही रहती है।

(६) व्यवसाय की समाज में प्रतिष्ठा—मजदूरी की दर इस बात पर भी निर्भर होती है कि समाज व्यवसाय को किस दृष्टि से देखता है? सम्मानित व्यवसायों में मजदूरी की दर बहुधा ऊँची रहती है।

एक ही व्यवसाय में मजदूरी की भिन्नता के कारण—

मजदूरी में विभिन्न व्यवसायों के बीच तो अन्तर होते ही हैं, परन्तु एक ही व्यवसाय में भी अलग-अलग मजदूरों की मजदूरी में अन्तर हो सकते हैं। इस भिन्नता के मुख्य कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) कुछ मजदूर दूसरों की तुलना में अधिक कुशल होते हैं। कुशल मजदूर को अकुशल मजदूर से अधिक मजदूरी मिलना स्वाभाविक ही है।

(२) स्थायी और अस्थायी एवं निपुण तथा अनिपुण मजदूरों के लिए मजदूरी की दरें अलग-अलग होती हैं।

(३) पुराने तथा लम्बे काल से काम करने वाले श्रमिकों को साधारणतया ऊँची मजदूरी दी जाती है।

(४) कुछ मजदूर अधिक समय (Overtime) काम करके दूसरों से अधिक मजदूरी पा सकते हैं।

(५) कभी-कभी स्वयं स्वामी भी विभिन्न मजदूरों के बीच भेद-भाव कर सकता है।

(६) मजदूरों की गतिशीलता की कमी के कारण भी मजदूरी की दरों में अन्तर हो सकते हैं।

स्त्रियों की मजदूरी पुरुषों की तुलना में कम क्यों होती है?—

पूँजीवादी देशों में यह एक सामान्य अनुभव है कि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की मजदूरी की दरें नीची रहती हैं। इसके अनेक कारण बताये जाते हैं। प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) ऐसा कहा जाता है कि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा कार्यक्षमता कम होती है। इसके कारण उनकी

उत्पादन शक्ति कम होती है और उन्हें कम मजदूरी प्राप्त होती है। इस तर्क के सम्बन्ध में हम केवल इतना कह सकते हैं कि यह बड़ा ही विवादग्रस्त प्रश्न है। यह एक कोरा भ्रम ही है कि स्त्रियों में काम करने अथवा शारीरिक और मानसिक परिश्रम करने की शक्ति कम होती है। वैज्ञानिक अनुभव इस बात की पुष्टि नहीं करता है।

(२) अधिकांश दशाओं में स्त्रियाँ किसी काम को स्थायी रूप में ग्रहण नहीं करती हैं। ये कुछ समय तक ही काम करना पसन्द करती हैं। आधी से भी अधिक स्त्रियाँ विवाह के पश्चात् काम छोड़ देती हैं। अस्थाई श्रम सदा ही कम मजदूरी पाता है। सेवायोजक भी ऐसा अनुभव करता है कि स्त्रियों के शिक्षण आदि पर व्यय करना लाभदायक नहीं है, क्योंकि काम सीखने के बाद भी यह आवश्यक नहीं है कि श्रमिक काम करे ही।

(३) स्त्रियों के लिए व्यवसाय भी गिने-चुने होते हैं। ये कार्य साधारणतया अनिपुण होते हैं और इनमें मजदूरी की दर नीची ही रहती है। इसके अतिरिक्त व्यवसायों के सीमित रहने के कारण ऐसे श्रम की माँग भी सीमित रहती है।

(४) स्त्रियाँ साधारणतया अपनी नौकरी को आमदनी में कुछ थोड़ी वृद्धि कर लेने अथवा शौक को पूरा करने का साधन समझती हैं और इस बारे में बहुत चिंतित नहीं रहती हैं कि उन्हें कितनी मजदूरी मिलती है।

(५) पुरुषों की भाँति स्त्री श्रम का संगठन कम होता है। स्त्री श्रम-संघ बहुत कम है, इसलिए मजदूरी नीची ही रहती है।

(६) स्त्रियों पर अनेक सामाजिक प्रतिबन्ध हैं। बहुत से काम उनके लिए वर्जित होते हैं। रात के काम पर उनको नहीं रखा जाता है। उन्हें अपेक्षतन छुट्टी और दूसरी सुविधाएँ भी अधिक दी जाती हैं, इसलिए मजदूरी कम रहती है।

इन सभी कारणों से स्त्रियों की मजदूरी कम ही रहती है, परन्तु अब धीरे-धीरे यह स्थिति बदलती जा रही है। पश्चिम के देशों में स्त्री श्रम-संघ शक्तिशाली होते जा रहे हैं। धीरे-धीरे सामाजिक प्रतिबन्ध भी दूर हो रहे हैं। आर्थिक परिस्थितियों में कुछ इस प्रकार के परिवर्तन होते जा रहे हैं कि स्त्रियों को स्थायी रोजगार की आवश्यकता पड़ने लगी है। परिणाम यह हुआ है कि धीरे-धीरे स्त्रियों की मजदूरी भी बढ़ रही है। समाजवादी देशों में तो स्त्री और पुरुष में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाता है। इन देशों का यह अनुभव है कि किसी काम में स्त्रियाँ पुरुषों से पीछे नहीं हैं। वैसे भी यह समझना भूल होगी कि सभी उद्योगों और व्यवसायों में स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में कम मजदूरी मिलती है। कुछ व्यवसाय स्वभाव से ही ऐसे हैं कि स्त्रियों के लिए अधिक उपयुक्त हैं और वहाँ स्त्रियों को पुरुषों से कहीं अधिक मजदूरी मिलती है।

अध्याय ४

श्रम सम्बन्धी समस्याएँ

(The Problems of Labour)

श्रम संघ (Trade Unions)—

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि श्रम बाजार में प्रतियोगिता अपूर्ण ही रहती है। इसके अतिरिक्त श्रम की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति सेवायोजक की तुलना में काफी कम रहती है। श्रमिकों की तुलना में सेवायोजक को कुछ विशेष लाभ प्राप्त होते हैं। सेवायोजक बहुत बार अनुचित कार्यवाहियाँ भी करता है। श्रमिक संगठित होकर सेवायोजक का मुकाबिला करने की कोशिश करते हैं। श्रमिकों की रक्षा के लिए सरकार बहुत बार न्यूनतम मजदूरी की दरें निश्चित करती है, अनेक प्रकार के श्रम सम्बन्धी कानून बनाती है और सामाजिक बीमे की योजनाएँ चालू करती है, परन्तु श्रमिक की दशा को सुधारने के लिए सबसे अधिक महत्त्व श्रम-संघों का होता है, जो श्रमिकों द्वारा पारस्परिक सहायता तथा सामूहिक सौदा करने के आधार पर बनाये जाते हैं। ऐतिहासिक अनुभव से पता चलता है कि लगभग सभी पूँजीवादी देशों में श्रमिकों के लिए कार्य दशाओं के सुधार का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण श्रम संघ आन्दोलन की प्रगति ही है।

परिभाषा और कार्य—

श्रम-संघों की आवश्यकता मुख्यतः इस कारण पड़ती है कि व्यक्तिगत रूप में किसी भी श्रमिक की सौदा करने की शक्ति बहुत कम होती है। श्रमिक की तुलना में सेवायोजक की सौदा करने की शक्ति बहुत अधिक होती है, क्योंकि एक ओर तो उत्पत्ति के साधनों और रोजगार पर उसका नियन्त्रण रहता है और दूसरी ओर सेवायोजकों की संख्या सीमित रहने के कारण उनमें पारस्परिक सहयोग काफी अंश तक हो सकता है। मार्शल ने ठीक ही कहा है—"हमें याद रखना चाहिए कि जो व्यक्ति दूसरे एक हजार व्यक्तियों को काम पर लगाता है, स्वयं ही श्रम बाजार के खरीदारों में एक हजार इकाइयों का ठोस संचय होता है।"* इसके विपरीत श्रमिक के सामने यह समस्या रहती है कि या

* "For it must be remembered that a man who employs a thousand others is in himself an absolutely rigid combination to the extent of one thousand units among buyers in the labour market."
—Marshall.

तो वह काम करे और या भूखा मरे। यही कारण है कि श्रमिक को कम मजदूरी मिलती है। इस कम मजदूरी के कारण श्रमिक की कार्यक्षमता घट जाती है और आगे चलकर यही कार्यक्षमता की कमी सेवायोजक के लिए कम मजदूरी देने का एक महत्त्वपूर्ण तर्क बन जाती है। यही कारण है कि औद्योगिक विकास की प्रगति के साथ ही साथ श्रमिकों ने यह अनुभव किया कि यदि वे श्रम-संघों को बनाकर अपनी सौदा करने की शक्ति को नहीं बढ़ाते हैं तो उनका बराबर शोषण ही होता रहेगा।

आज के औद्योगिक जगत में श्रम-संघ ऐसी संस्थाएँ होती हैं जो श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए लड़ने का काम करती हैं। उद्देश्य यह होता है कि समुचित मजदूरी, कार्य की अच्छी दशाएँ और उद्योग के नियन्त्रण में हिस्सा प्राप्त किया जाय। इसके अतिरिक्त आपसी चन्दे से ये श्रम-संघ ऐसे कोषों का भी निर्माण करते हैं जिनमें से सदस्यों को बीमारी, दुर्घटना तथा सामाजिक कल्याण हेतु सहायता दी जा सके। श्रम-संघ की एक बड़ी सरल परिभाषा वैबस् (Webbs) ने दी है। उनके अनुसार "श्रम-संघ मजदूरों का रोजगार की दशाओं को बनाये रखने तथा सुधारने के लिए एक लगातार संघ है।"*

श्रम संघों के कार्यों को हम तीन भागों में बांट सकते हैं:—(१) लड़ाई के कार्य (Fighting or militant functions), (२) प्रतिनिधित्व कार्य (Representative functions) और (३) कल्याणकारी कार्य (Welfare functions)।

(१) लड़ाई के कार्य—श्रम संघों के निर्माण का प्रमुख उद्देश्य श्रमिकों के हितों की रक्षा करना होता है, इसलिए इन संघों को मालिकों से बराबर टक्कर लेनी पड़ती है, ताकि श्रमिकों के लिए अच्छी मजदूरी और अच्छी दशाएँ प्राप्त की जा सकें। आधुनिक औद्योगिक जगत में श्रमिकों और मिल मालिकों के बीच बराबर संघर्ष चलता रहता है। जब कभी भी श्रमिकों के साथ किसी भी प्रकार का अनुचित व्यवहार किया जाता है तो श्रम-संघ श्रमिकों की ओर से लड़ता है। संगठित श्रम सामूहिक रूप में मालिक का मुकाबिला करता है। श्रम-संघों का निर्माण सामूहिक सौदा करने (Collective Bargaining) के आधार पर किया जाता है। श्रम-संघ लड़ने के अनेक तरीके अपनाता है। सामूहिक रूप में मिल-मालिक से अनुचित कार्यवाही के लिए जबाव माँगा जाता है, कानूनी कार्यवाही की जाती है और यदि अन्य उपाय सफल नहीं होते हैं तो सामूहिक रूप में काम बन्द कर देने की धमकी दी जाती है। श्रम-संघों का सबसे बड़ा

* "A trade union is a continuous association of wage-earners for the purpose of maintaining or improving the conditions of their employment."—Sidney and Beatrice Webb: *History of British Trade Union Movement.*

हथियार हड़ताल होती है, जिसमें श्रमिक मिलकर सामूहिक रूप में काम बन्द कर देते हैं। हड़ताल के साथ-साथ बहुधा द्वार-रोक (Picketing) भी की जाती है, ताकि श्रम संघ का आदेश न मानने वाले श्रमिकों को कार्य पर जाने से रोक दिया जाय। हड़ताल साधारणतया शांतिमय रीति से की जाती है, परन्तु कुछ दशाओं में यह हिंसात्मक भी हो सकती है, जिसमें मिल मालिक और उसके पिट्ठुओं पर आक्रमण किया जाता है और कुछ दशाओं में मशीनों की तोड़ फोड़ भी की जाती है। हड़तालों के भी अनेक रूप हो सकते हैं और विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग प्रकार की हड़तालें की जाती हैं।

(२) प्रतिनिधित्व कार्य—श्रम संघ श्रमिकों के प्रतिनिधि का भी कार्य करते हैं। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि श्रमिकों की ओर से मालिक से सभी प्रकार की बात चीत श्रम-संघ के ही अधिकारी करते हैं। श्रम-संघ ही श्रमिकों की ओर से उन मुकद्दमों की पैरवी करता है जो औद्योगिक न्यायालयों में चलते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न समितियों और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ सम्मेलन (International Labour Conference) में भी श्रमिकों की ओर से श्रम-संघ ही प्रतिनिधि भेजते हैं।

(३) कल्याणकारी कार्य—इन कार्यों का विकास थोड़े ही काल से हुआ है और भारत जैसे पिछड़े हुए देशों में इनका अभी तक भी कम ही महत्त्व है। इन कार्यों में उन सब कामों को शामिल किया जाता है जो श्रम-संघ श्रमिकों के सामाजिक, आर्थिक, मानसिक, शारीरिक और सांस्कृतिक उत्थान के लिए करते हैं। इन कार्यों में वृद्धावस्था उत्तर-वेतन की व्यवस्था से लेकर श्रमिकों के लिए व्यायाम आदि का प्रवन्ध करना तक सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार के प्रमुख कार्यों का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है:—स्कूलों, प्रयोगशालाओं, व्यायामशालाओं, नाटकगृहों, वाचनालयों, पुस्तकालयोंआदि का प्रबन्ध करना, श्रमिकों का बीमारी, बेरोजगारी और दुर्घटनाओं के विरुद्ध बीमा करना और श्रमिकों के सभी प्रकार के कल्याण को उन्नत करना।

श्रम संघ और मजदूरी—

यह प्रश्न विवाद ग्रस्त है कि क्या श्रम-संघ स्थायी रूप से मजदूरी में वृद्धि करा सकते हैं। श्रम-संघों के नेताओं का विचार है कि श्रम संघ ऐसा सदा ही करा सकते हैं और विगत वर्षों में मजदूरियों के बढ़ने का प्रमुख कारण भी यही है। इसके विपरीत प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का कथन है कि मजदूरी तो श्रम की सीमांत उत्पादकता द्वारा निर्धारित होती है। यदि श्रम-संघ सीमान्त उपज की कीमत से अधिक मजदूरी श्रमिकों को दिलाते हैं तो इससे उत्पादक को घाटा होगा और वह इस घाटे को श्रम की माँग घटा कर पूरा करने का प्रयत्न करेगा। इससे मजदूरियाँ अपने आप नीचे गिरेंगी और बेरोजगारी भी फैलगी, अतः श्रम-संघ मजदूरियों में कोई स्थाई सुधार नहीं कर सकते हैं। यदि श्रमिकों को

उनकी सीमाँत उपज की कीमत से कम मजदूरी दी जाती है तो यह स्थिति भी लम्बे काल तक बनी न रह सकेगी। उत्पादकता के लिए श्रमिकों को और अधिक संख्या में काम पर लगाकर कुल लाभ को बढ़ाने की सम्भावना रहेगी। इस प्रकार मजदूरी सीमाँत उपज की कीमत के बराबर रहेगी, उससे न तो कम रह सकती है और न अधिक। इस प्रकार श्रम-संघ इस सम्बन्ध में कोई भी स्थायी सुधार नहीं कर सकते हैं।

उपरोक्त तर्क में सत्यता प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यह तर्क इस मान्यता पर आधारित है कि पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है, जिसके कारण श्रमिकों को अपनी सीमान्त उपज की कुल कीमत प्राप्त कर लेने में कठिनाई नहीं होती है। वास्तविक जीवन में तो अपूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है और श्रमिकों को उसकी सीमान्त उपज की पूरी कीमत नहीं मिल पाती है। वास्तविकता यह है कि तीन कारणों से श्रम-संघ मजदूरी में वृद्धि करा सकते हैं:—

(१) यह सिद्धान्त ही गलत है कि मजदूरी सीमाँत उपज की कीमत के बराबर होती है। मजदूरी श्रमिक और मिल मालिक की पारस्परिकता सौदा करने की शक्ति पर निर्भर होती है। श्रम-संघ श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति को बढ़ा कर मजदूरी को बढ़ा सकते हैं।

(२) यदि मान भी लिया जाय कि मजदूरी सीमाँत उपज की कीमत के बराबर होती है तो भी अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण श्रमिक सीमान्त उपज की कुल कीमत प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। श्रम-संघ श्रमिक की उसकी सीमान्त उपज की कुल कीमत दिलाने का प्रयत्न करते हैं और उसके मिल मालिक द्वारा किये जाने वाले शोषण को घटा कर मजदूरी को बढ़ा देते हैं। वे मजदूरी को सीमाँत उत्पादकता स्तर तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं।

(३) यह समझना भी भूल होगी कि श्रम-संघों का श्रमिकों की सीमांत उत्पादकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। श्रम संघों के कार्यों में अनेक प्रकार के कल्याणकारी कार्य होते हैं। अच्छी मजदूरी, अच्छी कार्य की दशाएँ और कल्याणकारी कार्यों द्वारा श्रम-संघ श्रमिकों की कार्यक्षमता को बढ़ाकर उसकी सीमान्त उत्पादकता को भी बढ़ा देते हैं। इस प्रकार सीमान्त उत्पादकता की वृद्धि स्वयं मजदूरी को बढा देगी। इसके अतिरिक्त किसी विशेष प्रकार के श्रम की पूर्ति को सीमित करके भी श्रम-संघ उसकी सीमान्त उत्पादकता बढा सकता है।

श्रम-संघों के लाभ और हानियाँ—

इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि श्रम-संघों ने श्रमिकों के लिए अनेक हितकारी कार्य किये हैं। श्रम सम्बन्धी मामलों में आधुनिक युग में जो भी प्रगति हुई है उसका भी सबसे महत्वपूर्ण कारण श्रम-संघ आन्दोलन की प्रगति है। श्रम-संघों के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं:—

(१) शक्तिशाली श्रम संगठन औद्योगिक शान्ति में सहायक होता है। सामूहिक रूप में जो शर्तें तय की जाती हैं, उनको श्रमिकों और मिल-मालिकों दोनों ही के द्वारा अधिक अंश तक माना जाता है, जिससे झगड़े की सम्भावना कम रहती है।

(२) श्रम-संघ मजदूरी के मान निश्चित करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अकुशल और शक्तिहीन उत्पादक बाजार से निकल जाते हैं।

(३) अपने कल्याणकारी कार्यों द्वारा श्रम-संघ श्रमिकों की कार्य-कुशलता को बढाकर श्रमिक और समाज दोनों को ही लाभ पहुँचाते हैं।

(४) श्रम-सघ श्रमिकों में पारस्परिक प्रेम, सद्भावना और मिल-जुल कर काम करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं।

(५) श्रम संघों ने मजदूरी को बढ़ाकर मशीनों के आविष्कार को प्रोत्साहित किया है और इस प्रकार औद्योगिक और शिल्प उन्नति को आगे बढ़ाया है।

इन लाभों के साथ साथ श्रम-संघ आन्दोलन की कुछ दोषपूर्ण प्रवृत्तियाँ भी दृष्टिगोचर हुई हैं। बहुत बार श्रम-संघ गैर-जिम्मेदारी से काम करके श्रमिकों और समाज दोनों का अनहित करते है। श्रम-संघों के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं:—

(१) मजदूरी की प्रमाणित दरों पर अनुरोध करके इस आन्दोलन ने केवल उच्च श्रेणी के श्रमिकों की ही मजदूरी में समानता उत्पन्न की है। निम्न श्रेणी के श्रमिक घाटे में रहे हैं।

(२) श्रम-संघों ने संयुक्तिकरण (Rationalisation) और वैज्ञानिकरण (Scientific Management) का विरोध करके शैल्पिक प्रगति (Technological advance) में बाधा डाली है।

(३) श्रम-संघ बहुधा धीरे-धीरे काम करने की सलाह देते हैं। इसका अन्त में स्वयं श्रमिकों पर ही बुरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि इससे राष्ट्रीय लाभाँश और रोजगार में कमी आ जाती है।

(४) अपनी शक्ति का प्रभुत्व दिखाने के लिए बहुत बार श्रम-संघ अकारण हड़तालें कराते हैं। इससे स्वयं श्रमिकों, उत्पादकों और अन्त में सारे समाज को हानि होती है।

(५) बहुत बार कुछ प्रकार के श्रम की पूर्ति को सीमित करके श्रम की कृत्रिम कमी उत्पन्न करने का भी संघों द्वारा प्रयत्न किया जाता है।

न्यूनतम मजदूरी (Minimum Wage)—

आजकल के संसार में यह लगभग सभी स्वीकार करते हैं कि श्रमिकों को उचित मजदूरी साधारणतया नहीं मिल पाती है। कुछ व्यवसायों तथा कुछ क्षेत्रों में श्रम की पूर्ति बहुत अधिक होने के कारण मजदूरी के काफी नीचे गिर जाने की सम्भावना बहुत ही रहती है। इस नीची मजदूरी के अनेक दुष्परिणाम होते हैं। इससे देश के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन की शान्ति भंग हो जाती है और औद्योगिक विवाद (Industrial Disputes) बढ़ जाते हैं। परिणाम यह होता है कि स्वयं देश की सरकार का जीवन संकट में पड़ सकता है। इन सब बुराइयों को दूर करने के लिए सरकार बहुत बार कुछ व्यवसायों में या देश के भीतर सभी व्यवसायों में न्यूनतम मजदूरी नियत कर देती है। इस प्रकार निर्धारित मजदूरी का देना कानूनी तौर पर अनिवार्य होता है, परन्तु इस प्रकार नियत की हुई मजदूरी से अधिक मजदूरी देने पर पर किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती है। उदाहरण के लिए, अधिकाँश राज्यों में कॉलिजों के अध्यापकों का आरम्भिक वेतन सरकार द्वारा निश्चित है और किसी कॉलिज द्वारा उससे कम वेतन देना कानूनी जुर्म है। इसी प्रकार बहुत बार निजी उद्योगों में भी कम से कम मजदूरी किसी लोक सत्ता द्वारा निश्चित की जा सकती है।

न्यूनतम मजदूरी की समस्या के दो अलग-अलग रूप हो सकते हैं—प्रथम, जबकि इस प्रकार की मजदूरी किसी विशेष उद्योग अथवा कुछ विशेष उद्योगों के लिए नियत की जाती है और दूसरे, जबकि सारे देश के लिए एक राष्ट्रीय न्यूनतम् मजदूरी निश्चित कर दी जाती है। इन दोनों नीतियों के अलग-अलग परिणाम होते हैं। स्वयं उस दशा में भी जबकि केवल उद्योग विशेष में न्यूनतम् मजदूरी नियत की जाती है, अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग ही परिणाम होते हैं। इस सम्बन्ध में हम सबसे पहले उस दशा का अध्ययन करेंगे जबकि किसी विशेष उद्योग में ही न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जाती है।

न्यूनतम मजदूरी के निश्चित करने का उद्देश्य यह होता है कि मजदूरी की दरें प्रतियोगी दरों (Competitive Rates) से ऊँची रखी जायें। ऐसी दशा में दो प्रभाव होंगे—या तो ऊँची मजदूरी का सारा भार सेवायोजकों के ऊपर पड़े और या उसका कुछ भार तो सेवायोजकों पर पड़े और कुछ उपभोक्ताओं पर, यदि उत्पादक वस्तु की कीमत बढ़ाकर बोझ को उपभोक्ताओं पर टाल सकता है। यदि भार उत्पादक पर पड़ता है तो उत्पादक के लाभ कम हो जायँगे और वह श्रम की माँग को घटाने का प्रयत्न करेगा। इसके विपरीत यदि वस्तु की ऊँची कीमत के रूप में ऊँची मजदूरी का भार उपभोक्ताओं पर पड़ता है तो वस्तु की माँग घटेगी और अन्त में स्वयं श्रम की भी माँग घटेगी। दोनों ही दशाओं में बेरोजगारी की सम्भावना बढ़ जायगी और अन्त में श्रमिकों

को लाभ के स्थान पर उलटी हानि हो सकती है। उत्पादक के लाभों के घटने का एक परिणाम यह भी हो सकता है कि उद्योग विशेष में पूँजी कम अंश तक आकर्षित हो और इससे उद्योग विशेष की प्रगति में अवश्य बाधा पड़ेगी। साथ ही, ऊँची मजदूरी के फलस्वरूप श्रमिकों के स्थान पर मशीनों का अधिक उपयोग होने की सम्भावना बढ़ेगी और इन दोनों कारणों से भी बेरोजगारी बढ़ेगी। यही कारण है कि न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण बहुधा बेरोजगारी को प्रोत्साहन देता है, किन्तु निम्न दशाओं में न्यूनतम मजदूरी बेरोजगारी को नहीं बढ़ायेगी:—

(१) यदि मजदूरी कुल उत्पादन व्यय का एक छोटा सा ही भाग है तो उत्पादक कीमतों में थोड़ी सी ही वृद्धि करके अपनी हानि को पूरा कर सकता है। ऐसी दशा में श्रमिकों की माँग में कोई विशेष कमी न होगी।

(२) यदि वस्तु विशेष की माँग लगभग बेलोच है और उत्पादक को एकाधिकार प्राप्त है तो भी बेरोजगारी के बढ़ने की सम्भावना कम रहेगी।

(३) यदि न्यूनतम मजदूरी प्रतियोगी स्तर से नीची है तो रोजगार को और अधिक प्रोत्साहन मिलेगा तथा मजदूरी के और ऊपर उठने की सम्भावना उत्पन्न हो जायेगी।

(४) यदि उन उद्योगों में जहाँ न्यूनतम मजदूरी नियत की गई है, असाधारण लाभ थे तो न्यूनतम मजदूरी नियत कर देने से लाभ घट कर सामान्य स्तर पर आ जायेंगे। ऐसी दशा में रोजगार के घटने की सम्भावना बहुत ही कम होगी।

अब हम उस स्थिति का अध्ययन करेंगे जिसमें कि देश भर के लिए एक न्यूनतम् राष्ट्रीय मजदूरी नियत कर दी जाती है। देश के भीतर किसी भी उद्योग में इस प्रकार निर्धारित मजदूरी से कम मजदूरी नहीं दी जा सकती है। ऐसी न्यूनतम् मजदूरी के परिणाम अधिक गम्भीर होते हैं, मुख्यतया यदि मजदूरी को प्रतियोगी स्तर के ऊपर नियत किया जाता है। ऐसी दशा में एक उद्योग से श्रमिकों के दूसरे उद्योग में चले जाने का तो प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। सरकार न्यूनतम् राष्ट्रीय मजदूरी निश्चित करने समय बहुधा इस बात को भी ध्यान मे रखती है कि मजदूरी के फलस्वरूप देश में सामान्य कीमत स्तर ऊँचा न उठ जाय। इस कारण न्यूनतम् मजदूरी को कीमतों की प्रत्येक वृद्धि के साथ बढ़ा दिया जाता है। ऐसी दशा में यदि एक श्रमिक को किसी एक उद्योग से हटा दिया जाता है तो उसे दूसरे उद्योग में रोजगार नहीं मिलता है। एक श्रमिक एक बार बेरोजगार होने के बाद उस समय तक बेरोजगार ही बना रहेगा जब तक कि वह अपनी कार्यक्षमता को नहीं बढा लेगा। इस दशा में उत्पादकों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की कीमतें बढा कर ऊँची मजदूरी के भार को

उपभोक्ताओं पर भी टाला जा सकता है, क्योंकि कीमतों की प्रत्येक वृद्धि के साथ मजदूरी भी बढ़ जायगी। दामों को पुराने स्तर पर बनाये रखना सम्भव न हो सकेगा और श्रमिकों के स्थान पर मशीनों के उपयोग की सम्भावना बढ़ जायगी। परिणाम यह होगा कि व्यावसायिक क्रियाओं का संकुचन होगा और चारों ओर बेरोजगारी फैलेगी। इसके अतिरिक्त पूंजी का संचय और विनियोग भी हतोत्साहित होंगे। साथ ही, बेरोजगार लोगों को सरकारी कोषों में से सहायता दी जायगी। इससे करारोपण में वृद्धि होगी तथा उद्योग और व्यवसायों पर करों का भार अधिक हो जायगा। इसके कारण बेरोजगारी और भी बढ़ेगी। यही कारण है कि ऐसी नीति बहुत सोच-समझ के पश्चात् बनाई जाती है।

न्यूनतम राष्ट्रीय मजदूरी के दोषों को देखकर ऐसा समझ लेना भूल होगी कि यह नीति सदा ही बुरी होती है। कुछ दशाओं में यह काफी लाभदायक हो सकती है, विशेषकर निम्न दशाओं में—

(१) जिन उद्योगों में बहुत अधिक पूँजी लगी है और विशिष्ट यन्त्रों का उपयोग होता है वहाँ उत्पादक लाचार होता है और ऊँची मजदूरी अपने लाभ कम करके चुकाता है। ऐसे उद्योगों से न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण के फलस्वरूप बेरोजगारी नहीं बढ़ेगी।

(२) यह सम्भावना सदा ही रहती है कि श्रमिक अपनी बढ़ी हुई मजदूरी को इस प्रकार व्यय करें कि उनकी कार्यक्षमता बढ़ जाय। इससे उनकी सीमान्त उत्पादकता बढ़ेगी और वे स्वयं ही ऊँची मजदूरी के हकदार हो जायेंगे। ऐसी दशा में न तो उत्पादक के लाभ ही कम होंगे और न बेरोजगारी ही बढ़ेगी।

(३) यह सम्भव है कि उत्पादक श्रमिकों को अनुचित रूप में कम मजदूरी दे रहा हो। ऐसी दशा में न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण न्यायशील होगा।

(४) जिन देशों में सरकार वृत्तिहीनता निवारण की व्यवस्था करती है वहाँ श्रमिकों के कष्ट उठाने का प्रश्न ही नहीं उठता है। वहाँ तो ऐसी मजदूरी केवल सामाजिक और आर्थिक न्याय का साधन होती है।

न्यूनतम मजदूरी का नियत करना कई दृष्टिकोणों से उपयुक्त होता है—प्रथम, इससे श्रमिकों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाकर उनकी कार्य-क्षमता बढ़ाई जा सकती है। दूसरे, इससे मिल मालिकों द्वारा श्रमिकों का अनुचित और अन्यायपूर्ण शोषण रोका जा सकता है। तीसरे, यह नीति अकुशल उत्पादकों,

को, जो न्यूनतम मजदूरी नहीं दे सकते हैं, बाजार से निकाल देगी। अन्त में, इससे औद्योगिक प्रबन्ध का मान ऊँचा उठेगा।

न्यूनतम् मजदूरी के लाभ—

आधुनिक युग में न्यूनतम् मजदरी निश्चित करने का रिवाज काफी बढ़ गया है। आर्थिक न्यायशीलता के आधार पर इसे अच्छा बताया जाता है। इस व्यवस्था के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं—

(१) श्रमिकों का जीवन-स्तर निश्चित हो जाता है। मजदूरी की नीची से नीची सीमा के निर्धारित हो जाने के कारण जीवन-स्तर की भी न्यूनतम सीमा निश्चित हो जाती है।

(२) साधारणतया मजदूरी बढ जाती है, जिसके कारण कार्यकुशलता अपने आप ही बढ़ जाती है।

(३) अकुशल उत्पादक, जो केवल श्रमिकों के शोषण पर ही जीवित रहते हैं, धीरे-धीरे बाजार से गायब हो जाते हैं। राष्ट्र की आर्थिक कुशलता के दृष्टिकोण से यह अच्छा ही होता है।

(४) मजदूर सन्तुष्ट रहता है, जिससे औद्योगिक विवाद कम हो जाते हैं और काम भी अधिक अच्छा होता है।

न्यूनतम् मजदूरी की हानियाँ—

(१) जब कुछ ही व्यवसायों में न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जाती है तो उत्पत्ति के साधनों का उन व्यवसायों से दूसरे व्यवसायों को हस्तान्तरण होने लगता है और बेरोजगारी के बढने का भी भय उत्पन्न हो जाता है, इसलिए केवल ऐसे ही उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी ठीक रहेगी, जिनमें वर्तमान मजदूरी बहुत नीची है।

(२) न्यूनतम मजदूरी अधिकतम् मजदूरी बनने की प्रवृत्ति रखती है। सेवायोजक निश्चित से कम मजदूरी तो दे ही नहीं सकता है, परन्तु वह इससे अधिक भी यथासम्भव नहीं देगा। इसका अन्त में श्रमिकों की कार्य कुशलता पर काफी बुरा प्रभाव पड़ता है।

(३) व्यावहारिक जीवन में न्यूनतम मजदूरी की दर को नियत करना भी कठिन होता है। यदि प्रतियोगी दरों से ऊँची दर रखी जाती है तो बेरोजगारी के फैलने का भय रहता है और यदि न्यूनतम मजदूरी प्रतियोगी मजदूरी से कम रखी जाती है तो वह बेफायदा होती है।

(४) न्यूनतम मजदरी की दर को लागू करना कठिन होता है। जिन क्षेत्रों और व्यवसायों में श्रम की पूर्ति अधिक होती है वहाँ मालिक के लिए केवल कागज पर ही न्यूनतम मजदूरी रहती

है। वास्तविक जीवन में इससे बचने के लिए मिल मालिक कम वेतन देकर अधिक पर हस्ताक्षर करा लेते हैं।

ऊँची मजदूरी की मितव्ययिता (The Economy of High wages)—

बहुत बार मिल मालिकों की ओर से यह तर्क रखा जाता है कि ऊँची मजदूरी से उद्योग को हानि होती है और मजदूरों में शिथिलता आ जाती है। कुछ दशाओं में इससे श्रमिकों में गैर-हाजिर होने की भी प्रवृत्ति बढ़ जाती है, किन्तु उपरोक्त आधारों पर श्रमिकों को कम मजदूरी देना उचित नहीं हो सकता है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि कुछ मजदूर दूसरों की तुलना में अधिक कुशल होते हैं और वे दूसरों की तुलना में अधिक मजदूरी पाते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं होता है कि वे मिल मालिक को मँहगे पड़ते हैं। इस बात का पता लगाने के लिए कि कोई मजदूर मँहगा है या सस्ता, हमें श्रमिक की कार्य कुशलता पर भी ध्यान देना चाहिए। यदि एक मजदूर एक निश्चित समय में दूसरे से २ गुना काम करता है, किन्तु केवल डेढ़ गुनी मजदूरी पाता है तो उसकी मजदूरी अधिक होते हुए भी वह सस्ता होता है। इसके विपरीत यदि आधी मजदूरी पाने वाला श्रमिक केवल एक-तिहाई काम करता है तो नीची मजदूरी होते हुए भी वह मँहगा रहता है। यही कारण है कि बहुधा यह कहा जाता है कि भारतीय श्रमिक कम मजदूरी पाते हुए भी मँहगे हैं। साधारणतया अधिक मजदूरी पाने वाला श्रमिक कम मजदूरी पाने वाले श्रमिक से सस्ता पड़ता है।

इसके साथ-साथ ऊँची मजदूरी की समस्या पर एक दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार हो सकता है। ऊँची मजदूरी पाने वाले श्रमिक का जीवन-स्तर भी ऊँचा रहता है, जिससे उसकी कार्यकुशलता अधिक होती है और वह अधिक काम करने लगता है। श्रमिक की काम करने की शक्ति, उसका स्वास्थ्य और उसका मानसिक विकास, ये सब भी बड़े अंश तक श्रमिक की मजदूरी पर निर्भर होते हैं। यही नहीं, बल्कि यह भी देखने में आता है कि अधिक मजदूरी पाने वाला श्रमिक अधिक सन्तुष्ट रहता है, अधिक लगन के साथ काम करता है और अपनी जिम्मेदारी को अधिक अच्छी तरह समझता है। ऊंची मजदूरी की दशा में मालिक और श्रमिक के बीच आपसी मन-मुटाव की भी कम सम्भावना रहती है। इन्हीं सब कारणों से यह कहा जाता है ऊँची मजदूरी पाने वाला श्रमिक साधारणतया मँहगा नहीं होता है।

औद्योगिक विवाद (Industrial Disputes)—

औद्योगिक क्रांति के पश्चात् संसार में पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली का विकास हुआ। इस प्रणाली के विकास ने समाज को दो ऐसे वर्गों में विभाजित किया जिनमें से प्रत्येक के हित एक दूसरे के प्रति विरोधी थे। समाज में एक ओर

तो पूँजीपति लोग रहे, जिनका उत्पत्ति के साधनों और पूँजी द्वारा रोजगार पर पूरा-पूरा अधिकार स्थापित हुआ। दूसरी ओर श्रमिक थे, जिनके पास पूँजी के अभाव के कारण उत्पत्ति के साधन न थे और जिन्हें अपनी जीविका चलाने के लिए अपने श्रम को बेचना पड़ता था। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में यह स्थिति अभी तक बनी हुई है। पूँजीपतियों का हित इसी में है कि श्रमिकों को कम से कम मजदूरी दें और अधिक से अधिक लाभ कमायें। इसके विपरीत श्रमिकों का हित इसी में है कि वे अपने अधिकारों के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहें और अधिक से अधिक मजदूरी तथा कार्य की अच्छी से अच्छी दशायें प्राप्त करें। इस कारण पूँजीपति और श्रमिकों के बीच बराबर आर्थिक युद्ध चलता रहता है, जिसे बहुधा वर्ग संघर्ष कहा जाता है। औद्योगिक जीवन के विकास के साथ-साथ यह वर्ग संघर्ष भी बराबर बढ़ता गया है। पूँजीवाद की प्रत्येक प्रगति ने पूँजीपति को और अधिक शक्ति प्रदान की है। इसके विपरीत दूसरी ओर श्रमिकों ने संगठित होकर मिल-मालिक का मुकाबिला किया। परिणाम यह हुआ कि श्रमिकों और मिल मालिकों के झगड़े आधुनिक संसार में बहुत ही बढ़ गये हैं। ये झगड़े हड़ताल और तालाबन्दी के रूप में प्रकट होते हैं। हड़ताल में श्रमिक काम पर जाने से इन्कार करता है, जबकि तालाबन्दी में मिल-मालिक कारखाने का द्वार बन्द करके श्रमिकों को काम पर नहीं आने देता है। वास्तविक जीवन में तालेबन्दी की तुलना में हड़तालें अधिक होती हैं, क्योंकि आम तौर पर श्रमिक का ही पक्ष कमजोर होता है और उसी के साथ अत्याचार होता है।

यह प्रश्न बहुधा विवादग्रस्त होता है कि श्रमिकों को हड़ताल करने का अधिकार होना चाहिए या नहीं। साधारणतया आधुनिक समाज हड़तालों को कड़ी दृष्टि से नहीं देखता है और हड़ताल के कारण होने वाले कष्टों पर भी बहुत ध्यान नहीं दिया जाता है। वैसे भी लगभग सभी देशों में श्रमिकों के हड़ताल करने के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया है। केवल सरकारी और अर्द्ध-सरकारी उद्योगों में हड़तालों पर कुछ प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। सभी जानते हैं कि श्रमिकों का पक्ष कमजोर होता है और न्यायशीलता इसी में है कि लोक सत्ता द्वारा श्रमिकों की समुचित सुनवाई की जाय। औद्योगिक विवादों पर गम्भीरता के साथ विचार करने का महत्त्व आधुनिक युग में एक और कारण से भी बढ़ गया है। आधुनिक काल में हड़तालें बड़ी-बड़ी तथा जल्दी-जल्दी होती हैं और समाज को उनके कारण घोर कष्ट होता है। श्रमिक, मिल-मालिक और उपभोक्ता तीनों को ही इनके द्वारा भारी कष्ट होता है। बहुत बार तो हड़तालों के कारण देश का आर्थिक और राजनैनिक ढाँचा भी हिल जाता है।

औद्योगिक विवादों के कारण—

आधुनिक युग में विवादों के बढ़ने के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैंः—

(१) श्रमिक अपने जीवन-स्तर को ऊँचा करना चाहते हैं, जिसके लिए वे ऊँची मजदूरी मांगते हैं। इसके लिये संसार में मजदूरी चुकाने की विभिन्न रीतियों का आविष्कार किया गया है, परन्तु अभी तक इस समस्या का कोई सन्तोषजनक हल नहीं हो पाया है।

(२) श्रमिक अधिक आर्थिक सुरक्षा चाहते हैं, जिसके लिए समाज कल्याण योजना तथा बेरोजगारी के विरुद्ध उपचार किये जाते हैं।

(३) श्रमिक बहुत बार मिल के प्रबन्ध और लाभों में हिस्सा माँगते हैं और मिल मालिक इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं।

(४) बहुत बार काम के घन्टों और कार्य की दशाओं के बारे में आपसी मत-भेद हो जाता है।

(५) मिल मालिक बहुत बार श्रम-संघ को मानने से इन्कार करते हैं। और संघ के कार्यकर्त्ताओं के साथ अनुचित भेद-भाव करते हैं।

(६) प्रजातन्त्रवाद तथा समाजवाद का प्रभाव श्रमिक वर्ग पर भी पड़ा है और वे अपने नये अधिकारों को दिखाने और उपयोग करने का प्रयत्न करते हैं।

(७) राजनैतिक कारणों से भी अनेक हड़तालें होती हैं।

(८) साम्यवाद के विकास ने श्रमिकों में एक नया उत्साह, एक नई आशा और एक नई जाग्रति उत्पन्न की है।

औद्योगिक विवादों को रोकने के उपाय—

इस प्रकार के उपायों का महत्त्व बहुत बढ़ गया है जो यथा सम्भव औद्योगिक विवादों को न होने दें, यद्यपि जब झगड़ा हो जाता है तो फिर उसको निबटाने के उपाय किये जाते हैं। यह कहावत ठीक ही है कि रोक-थाम इलाज से अच्छी है (Prevention is better than cure)। इसी आधार पर कुछ उपाय ऐसे किये जाते हैं कि झगड़े न होने पायें। इन उपायों में निम्न का महत्त्व अधिक है :—

(१) कार्य समितियाँ (Works Committees)—इस प्रकार की समितियों के निर्माण का महत्त्व सर्वप्रथम इंगलैंड में अनुभव किया गया था। इनकी सहायता से व्यवसाय के नियन्त्रण में श्रमिकों का सहयोग प्राप्त किया जाता है। इंगलैंड में ऐसी समितियों का निर्माण सन् १९१७ को विटले समिति (Whitley Committee) की सिफारिशों के आधार पर किया गया था। ऐसी समितियाँ प्रत्येक फर्म में अलग-अलग बनाई जाती हैं तथा इनमे श्रमिकों

और सेवायोजकों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि रहते हैं। कभी-कभी कार्य-समितियों में केवल श्रमिक के प्रतिनिधि रहते हैं, यद्यपि उन्हें प्रबन्ध के साथ बात-चीत करने का अधिकार होता है। मण्डल आधार पर भी ऐसी समितियाँ बनाई जाती हैं, जिनमे मिल मालिकों और श्रम-संघों के प्रतिनिधि रहते हैं। ऐसी समितियाँ उद्योग में शान्ति और सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न करती हैं। जैसे ही कोई शिकायत पैदा होती है, कार्य समिति श्रमिक तथा प्रबन्धक के दृष्टिकोणों को सुनती है और तुरन्त ही मामले को निबटाने का प्रयत्न करती है। पारस्परिक बात-चीत से ही अधिकाँश मामले सुलझ जाते हैं। इसके अतिरिक्त श्रमिकों और प्रबन्ध का सम्पर्क बना रहने के कारण मन-मुटाव की सम्भावना भी घट जाती है।

(२) लाभ-बाँट योजना (Profit-sharing Scheme)—औद्योगिक विवादों को रोकने के लिए यह उपाय भी बहुधा किया जाता है। इसमें श्रमिकों को उद्योग के लाभों में से हिस्सा दिया जाता है। भारत में इस योजना के अन्तर्गत अतिरिक्त लाभों का ५०% कुछ निश्चित नियमों के आधार पर श्रमिकों में बाँट दिया जाता है। इस योजना के द्वारा श्रमिक उद्योगों की सम्पन्नता में रुचि लेने लगते हैं। वे जानते हैं कि यदि लाभ बढ़ता है तो उनके हिस्से में भी वृद्धि होगी। कितने ही अनावश्यक झगड़े पैदा ही नहीं हो पाते हैं।

(३) श्रमिकों की साझेदारी (Labour Co-partnership)—यह प्रणाली लाभ बाँट योजना का ही एक विस्तृत रूप है। लाभ-बाँट योजना में श्रमिकों को व्यवसाय के प्रबन्ध में हिस्सा नहीं दिया जाता है, परन्तु इस प्रणाली में कुछ अंश तक श्रमिक फर्म के प्रबन्ध में भी हिस्सा लेते हैं। इसके लिए या तो श्रमिकों को फर्म के अंश खरीदने का प्रोत्साहन दिया जाता है अथवा उन्हें प्रबन्ध मण्डल मे संचालक नियुक्त करने का अधिकार दिया जाता है। आधार यह है कि श्रमिक ऐसा अनुभव करने लगें कि व्यवसाय उनका अपना ही है। इससे औद्योगिक विवाद के लिए कम ही अवकाश रह जाता है।

औद्योगिक झगड़ों को निबटाने की रीतियाँ (Methods for Settling Industrial Disputes)—

उपरोक्त अध्ययन में हमने उन उपायों को देखा था जिनके द्वारा झगड़ों को रोका जा सकता है, परन्तु कोई भी उपाय पूर्णतया सफल नहीं होता है। झगड़े तो होते रहते हैं। झगड़ा हो जाने की दशा में उसके निबटाने की आवश्यकता पड़ती है। साधारणतया इसके लिए चार संस्थायें होती हैं :—(१) समझौता समितियाँ (Conciliation Boards), (२) मध्यस्थ कार्य (Mediation), (३) पंच निर्णय (Arbitration) और (४) औद्योगिक न्यायालय (Industrial Courts)।

समझौता समितियाँ—

यह एक प्रकार की ऐसी औद्योगिक नीति है, जिसमें एक तीसरा पक्ष किसी दबाव का उपयोग किये बिना श्रमिकों और मिल मालिकों को समझा कर आपसी समझौता कराने का प्रयत्न करता है। समझौता कराने वाला व्यक्ति ऐसा होना चाहिए कि उसे दोनों ही पक्षों का विश्वास प्राप्त हो। ऐसे व्यक्ति का प्रमुख कार्य दोनों पक्षों के दृष्टिकोणों के अन्तर को कम करना होता है। वह केवल सलाह देता है, फैसला नहीं देता है, परन्तु उसकी सलाह बहुधा ऐसी होती है कि उसे न मानने वाला व्यक्ति अन्त में पश्चाताप करता है। इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि दोनों पक्ष स्वयं ही झगड़े के कारणों और पारस्परिक मन मुटाव को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। समझौता कराने वाला अधिकारी झगड़े की सूचना मिलते ही तुरन्त पहुँचता है और दोनों दलों को समझा-बुझा कर मामले को निबटाने की कोशिश करता है।

मध्यस्थ-कार्य—

समझौता और मध्यस्थ कार्य में थोड़ा सा अन्तर होता है। दोनों में एक तीसरा व्यक्ति झगड़े को आपसी बात-चीत द्वारा निबटाने का प्रयत्न करता है। मध्यस्थ को हम एक विश्वसनीय सलाहकार कह सकते हैं। उसका उद्देश्य यह होता है कि अपने प्रयत्न से दोनों दलों को मिलाये और आपसी बातों से मामले को खत्म करे, परन्तु एक मध्यस्थ अपनी ओर से भी सुझाव रख सकता है और इस दिशा में वह समझौता कराने वाले से थोड़ा भिन्न होता है। फिर भी उसके सुझावों को मानना अनिवार्य नहीं होता है।

पंच-निर्णय—

पंच-निर्णय एक प्रकार की कानूनी कार्यवाही है। इसमें दोनों दल मामले को पंच-निर्णय पर छोड़ देते हैं और बहुधा पंचों के फैसले के अनुसार काम करते हैं। पंच-निर्णय के कई रूप हो सकते हैं। कुछ दशाओं में झगड़े को पंच-निर्णय के लिए छोड़ना आवश्यक होता है और कुछ में नहीं। इसी प्रकार कभी कभी तो निर्णय का स्वीकार करना अनिवार्य होता है और कभी-कभी ऐच्छिक। जब मामले को पंच-निर्णय के लिए देना तथा फैसले का मानना दोनों अनिवार्य होता है तो पंच निर्णय अनिवार्य पंच निर्णय (Compulsory Arbitration) कहलाता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि पंच-निर्णय में सदा ही निर्णय दिया जाता है।

औद्योगिक न्यायालय—

आधुनिक युग में औद्योगिक झगड़ों के निबटारे के लिए लगभग सभी देशों में औद्योगिक न्यायालय खोले जाते हैं। इन न्यायालयों के फैसलों को मानना अनिवार्य होता है और ये बहुधा साधारण न्यायालयों की भांति कार्य करते हैं।

अध्याय ५

ब्याज और उसके सिद्धान्त

(Interest and the Theories of Interest)

परिभाषा—

उत्पत्ति का तीसरा साधन पूँजी है। इस अध्याय में हम इस साधन के पारितोषण तथा उससे सम्बन्धित समस्याओं और सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे। साधारणतः कुल उत्पत्ति में से उत्पत्ति के साधन पूँजी को जो हिस्सा मिलता है उसको हम अर्थशास्त्र में ब्याज कहते हैं, परन्तु ब्याज शब्द का अर्थ यथार्थ में इतना सरल नहीं है जितना कि प्रतीत होता है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इस शब्द को कई अर्थों में उपयोग किया है, यद्यपि इन सब अर्थों में, जैसा कि इनके अध्ययन के पश्चात् स्पष्ट हो जायगा, कोई मौलिक भेद नहीं है। कुछ विद्वान इस शब्द को थोड़े विस्तृत अर्थ में उपयोग करते हैं और कुछ संकुचित अर्थ में। आशय लगभग एक-सा ही रहता है। ठीक यही बात हम ब्याज के विभिन्न सिद्धान्तों के विषय में भी कह सकते हैं। इन सबमें विभिन्नता के साथ-साथ एक प्रकार की समानता है और ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त इतना व्यापक है कि पुराने सभी सिद्धान्त उसके भीतर समा जाते हैं।

अर्थशास्त्र में ब्याज उस धन या कीमत को कहते हैं जो पूँजी का उपयोग करने के लिये दी जाती है। स्मरण रहे कि पूँजी का उपयोग उत्पादक होता है, अर्थात् जब हम पूँजी को उत्पादन के कार्य में उपयोग करते हैं तो प्राप्त होने वाली कुल उपज उस दशा की अपेक्षा अधिक होती है, जबकि बिना पूँजी की सहायता के ही उत्पत्ति की जाती है। इस प्रकार पूँजी का उपयोग उत्पत्ति को बढ़ाता है क्योंकि पूँजी का उपयोग-उत्पादक होता है। पूँजी की सेवाओं के उपयोग के लिये पारितोषण मिलता है वही ब्याज कहलाता है। प्रो० मेयरस के अनुसार ब्याज उस कीमत को कहते हैं जो उधार देने योग्य कोष के उपयोग के लिये दी जाती है।* इस प्रकार कोष या तो उपयोग की वस्तुएँ (Consumer's goods) खरीदने के लिए उपयोग किया जा सकता है या इसका उपयोग उत्पादन-कार्य में पूँजी के रूप में हो सकता है। यहाँ हमारा सम्बन्ध दूसरे उपयोग से ही है, यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पहले उपयोग का दूसरे पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। द्रव्य के रूप में पूँजी की माँग इस कारण की जाती

---

* "Interest is the price paid for the use of the loanable funds"—Albert L. Meyers: *Elements of Modern Economics*, p. 199.

है कि वह अपने स्वामी को उत्पत्ति के साधनों को खरीदने की शक्ति प्रदान करती है। इस शक्ति को या तो हम लगान और मजदूरी देने के लिये उपयोग करके उत्पत्ति के मूल साधन—भूमि और श्रम को खरीदने के काम में ला सकते हैं या इसके द्वारा हम माध्यम वस्तुओं (Intermediate goods), जैसे—कच्चा माल, आधा तैयार माल, मकान और मशीन, जिनमें भूमि और श्रम की भूतकालीन सेवाएँ समाविष्ट हैं, खरीद सकते हैं। इसी प्रकार की वस्तुओं को हम पूँजी की वस्तुएँ (Capital goods) कहते हैं।

इसी प्रकार का मत विक्सेल (Wicksell) का भी है। उनके विचार में पूँजी में प्राकृतिक शक्तियों (भूमि) और प्रत्यक्ष मानव श्रम के अतिरिक्त उत्पत्ति के सभी सहायक (साधन) सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार पूँजी में औजार, मशीनें, मवेशी, कच्चा तथा आधा तैयार माल तथा वे सब वस्तुएँ और सेवाएँ सम्मिलित होती हैं जो काम के अन्तर्गत श्रमिकों का पोषण करने के लिए आवश्यक होती हैं।[1] साथ ही, यह भी याद रहे कि ऐसी सभी प्रकार की पूँजी की सेवाओं के उपयोग के लिये जो पारितोषण अथवा पारिश्रमिक दिया जाता है वह ब्याज कहलाता है।

दूसरे आर्थिक विद्वानों की परिभाषाएँ भी इस प्रकार की हैं। प्रो० सैलिगमैन के अनुसार—"ब्याज पूँजी कोष का पारितोषण है।"[2] प्रो० कारवर के अनुसार "ब्याज वह आय है जो पूँजी के स्वामी को प्राप्त होती है।"[3] विक्सेल का कथन है कि "ब्याज को एक ऐसा शोधन कहा जा सकता है जो उधार लेने वाले द्वारा पूँजी की उत्पादकता के कारण पूँजीपति के त्याग के लिए दिया जाता है।"[4]

सकल और शुद्ध ब्याज (Gross and Net Interest)—

अर्थशास्त्र में हम बहुधा सकल और शुद्ध ब्याज में भेद करते हैं। ब्याज शब्द हमारे दैनिक जीवन में लगातार प्रति दिन ही सुनाई पड़ता है। देखना यह है कि जन-साधारण इस शब्द को जिस अर्थ में उपयोग करते हैं, क्या अर्थशास्त्र में भी इसका आशय वही होता है? ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि ऐसी बात नहीं है। यथार्थ में अर्थशास्त्र में इस शब्द के बड़े संकुचित अर्थ

---

1 Knut Wicksell : *Lecutres on Political Economy*, p. 144-145.

2. "Irterest is the return from the fund of Capital"

—Seligman.

3. "Interest is the income which goes to the owner of Capital."—Carver : *Principles of Political Economy*, p 418.

4. "Interest may be defind as a payment made by the borrower of Capital, by virtue of its Productivity, as a reward for his (Capital's) Abstinence.

—Wicksell.

होते हैं और इसका उपयोग थोड़ी सावधानी के साथ किया जाता है। जब कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य से रुपया उधार लेता है तो बहुधा यह तय किया जाता है कि मूल रकम के अतिरिक्त उधार लेने वाला उधार देने वाले को कुछ और अधिक रुपया भी देगा। उदाहरणस्वरूप, यदि हम डाकखाने से एक सौ रुपये के राष्ट्रीय बचत पत्र (National Saving Certificate) खरीदते हैं तो १२ साल के पश्चात् हमें १५० रुपये अर्थात् ५० रुपये अधिक वापस मिलते हैं। यही ५० रुपये ब्याज कहलाते हैं। साधारण बोल-चाल में ब्याज का यही अर्थ होता है, परन्तु इस प्रकार के ब्याज की विवेचना करने से पता चलेगा कि यह ब्याज आर्थिक अर्थ में ब्याज नहीं हो सकता। इस प्रकार के ब्याज को हम अर्थशास्त्र में सकल या कुल (Gross) ब्याज कहते हैं, जबकि वास्तविक ब्याज शुद्ध अथवा आर्थिक (Net, Pure or Economic) ब्याज कहलाता है।

शुद्ध ब्याज सकल ब्याज का ही एक अङ्ग होता है, परन्तु सकल ब्याज में और भी बहुत खर्चे सम्मिलित होते हैं। सकल ब्याज में मुख्यतया निम्न चीजें शामिल होती हैं :—

(१) पूँजी की सेवाओं के उपयोग का पारितोषण या प्रतिफल अर्थात् शुद्ध ब्याज—जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि पूँजी का उपयोग करने से उत्पत्ति में वृद्धि होती है और इस बढ़ी हुई उत्पत्ति में से पूँजी के मालिक को हिस्सा मिलता है।

(२) जोखिम का प्रतिफल (Insurance against risk)—जो मनुष्य रुपया उधार देता है उसको थोड़ा डर अवश्य रहता है। यह सम्भव है कि उधार लेने वाला दिवालिया हो जावे अथवा अन्य किसी कारण से रुपया डूब जावे। यह भी सम्भव है कि उधार लेने वाले व्यवसायी को घाटा हो और वह समय पर पूरा रुपया न दे सके। हो सकता है कि ऋणदाता अपना मूल-धन भी खो बैठे, इसलिए जोखिम के अनुसार कुछ रुपया क्षति-पूर्ति (Compensation) के रूप में लिया जाता है, जो सकल ब्याज में सम्मिलित हो जाता है। यही कारण है कि जब सरकार अथवा किसी अच्छे व्यवसायी को रुपया उधार दिया जाता है तो ब्याज कम लिया जाता है, परन्तु सट्टेबाज को उधार दिया जाता है तो जोखिम के अधिक होने के कारण ब्याज की दर भी ऊँची होती है। ऋण के बदले में जेवर, जायदाद इत्यादि रखने की प्रथा भी इसी कारण है।

(३) ऋण प्राप्त की असुविधा—कर्ज का रुपया वापस मिलने में अनेक असुविधाएँ होती हैं। ऋणी समय पर रुपया नहीं देता, बार-बार तकाजा करना पड़ता है, थोड़ा-थोड़ा रुपया मिलता है, कभी-कभी कचहरी में मुकद्दमा चला कर रुपया वसूल किया जाता है। इन सब कठिनाइयों को उठाने के बदले में भी ऋणदाताओं को कुछ न कुछ अवश्य मिलना चाहिए।

(४) ऋणदाता की मजदूरी तथा ऋण की व्यवस्था का खर्च—ऋण का हिसाब रखा जाता है, ऋण पत्र लिखा जाता है, ब्याज तथा ऋणी द्वारा जमा की हुई रकमों का हिसाब-किताब किया जाता है। नोटिस आदि देने पड़ते हैं, रसीदें दी जाती हैं तथा कचहरियों में जाना पड़ता है। ये काम या तो ऋण-दाता स्वयं करता है या इसके लिए वह वेतनभोगी मुनीम रखता है। दोनों ही दशाओं में मजदूरी के रूप में ऋणदाता को कुछ मिलना आवश्यक है और ये सब खर्चे ऋणी से ब्याज के रूप में वसूल किए जाते हैं।

सकल और शुद्ध ब्याज के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए कुछ आर्थिक विद्वानों के मतों को देना भी उपयुक्त होगा। चैपमैन के अनुसार सकल ब्याज में निम्न को शामिल किया जाता है : "पूँजी के ऋण के लिए शोधन........, हानि की जोखिम के लिए शोधन, जो कि (क) व्यक्तिगत जोखिम अथवा (ख) व्यावसायिक जोखिम हो सकती है, विनियोग की असुविधाओं के लिए शोधन और विनियोग की देखभाल करने के कार्य और चिन्ता के लिए शोधन।"[1] इसके विपरीत "शुद्ध ब्याज वह शोधन है जो पूँजी के ऋण के लिए दिया जाता है, जबकि न तो कोई जोखिम होती है, न बचत करने की असुविधा के अतिरिक्त कोई असुविधा, जबकि ऋणदाता को कोई परिश्रम भी नहीं करना पड़ता है। इस इस प्रकार के शोधन को शुद्ध अथवा आर्थिक ब्याज कहते हैं।"[2] इसी सम्बन्ध में मार्शल ने कहा है कि "अर्थशास्त्र में हम जिस ब्याज का अध्ययन करते हैं अथवा जब हम यह कहते हैं कि ब्याज केवल पूँजी का पारिश्रमिक अथवा प्रतीक्षा का पारितोषण है तो वह शुद्ध ब्याज होता है, परन्तु साधारणतया जिसे ब्याज कहा जाता है उसमें ऐसे ब्याज के अतिरिक्त और भी बहुत सी चीजें शामिल होती हैं और इसे हम सकल ब्याज कह सकते हैं।"[3]

क्या ब्याज लेना उचित है (The Justification for Interest) ?—

यह विषय आरम्भ से ही विवादग्रस्त रहा है कि क्या ब्याज का लेना उचित है। लगभग सभी धर्मों में ब्याज की निन्दा की गई है। इस्लाम धर्म में शरियत के अनुसार ब्याज लेना एक धार्मिक पाप है। यहूदी तथा ईसाई धर्म

1 "......payment for the loan of capital......payment to cover risks of loss, which may be : (a) personal risks or (b) business risks, payment for the work and worry involved in watching the investment."—Chapman : *Outlines of Political Economy*, p. 279.

2. "Net Interest is a payment for the loan of Capital, when no risk, no inconvenience (apart from that involved in saving) and no work is entailed on the lender."—*Ibid*, pp. 289-290

3. The interest of which we speak (in Economics) when we say that interest is the earning of capital simply, or the reward of waiting simply is Net 'Interest', but what commonly passes by the name of interest includes elements beside this and may be called Gross Interest."—Marshall.

भी इसके पक्ष में नहीं हैं। हिन्दू धर्म यद्यपि ब्याज लेना पाप तो नहीं बताता, परन्तु मनुस्मृति के अनुसार यह वांछनीय नहीं है और ब्याज का न लेना ही अधिक अच्छा है। पुराने यूनानी लेखकों में अफलातून (Plato) और अरस्तु (Aristotle) दोनों ने ही कड़े शब्दों में इसकी बुराई की है। अरस्तु का कहना है कि द्रव्य पूर्णतया अनुत्पादक (Barren) है और इसलिए वह द्रव्य को उत्पन्न नहीं कर सकता, अतः जो लोग ब्याज लेते हैं वे दूसरों की कमाई को छीनकर उनका शोषण करते है। ब्याज लेने को अनुचित समझने का विचार एक अंश तक अभी भी प्रचलित है, परन्तु वर्तमान युग में इसका विरोध करने वालों की संख्या बहुत ही कम रह गई है और मानव समाज ने ब्याज लेने की प्रथा को लगभग स्वीकार ही कर लिया है। बैंकिंग प्रथा तथा औद्योगिक विकास के साथ-साथ ब्याज की वांछनीयता बढ़ती गई है।

अब हमें यह देखना है कि प्राचीन लेखकों ने ब्याज की निन्दा क्यों की है? इसको ठीक प्रकार से समझने के लिए दो प्रकार के ऋणों में भेद करना आवश्यक है—एक तो उपभोक्ता द्वारा लिया हुआ ऋण और दूसरा उत्पादक द्वारा लिया हुआ ऋण। पहले को हम उपभोग ऋण (Consumption Loan) और दूसरे को उत्पादन ऋण (Production Loan) कह सकते हैं। सारांश यह है कि कर्ज लेने के दो उद्देश्य हो सकते हैं:—प्रथम तो, वह मनुष्य जिसके पास अपनी और अपने परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त आय नहीं है या जिसको अचानक कुछ ऐसी आवश्यकतायें आ पड़ती हैं जिनके लिए उसने पहले से ही प्रबन्ध नहीं कर रखा है, कर्ज ले सकता है। स्पष्ट है कि यह कर्ज उपभोग के लिए लिया जायगा। दूसरे, यह भी सम्भव है कि कर्ज की रकम किसी व्यापार अथवा व्यवसाय में लगा दो जाय, जिससे अधिक उत्पत्ति हो कर आय मे वृद्धि हो। निश्चय ही यहाँ पर कर्ज की रकम पूँजी के रूप में उपयोग की जा रही है और इस उपयोग द्वारा आय में वृद्धि की जा रही है।

प्राचीन काल में कर्ज की रकम बहुधा उपभोग के लिए उपयोग की जाती थी। कर्ज ऐसी जरूरत के समय लिया जाता था जबकि किसी कारणवश कर्ज लेने वाला अपनी स्वयं की कमाई से अपना काम नहीं चला सकता था। उदाहरणस्वरूप, यदि कोई आदमी बीमार हो जाता था या किसी दैवी आपत्ति के कारण अकस्मात् ही निर्धन हो जाता था तो वह अपने पड़ौसियों अथवा सम्बन्धियों से सहायता के रूप में कर्ज लेता था और धीरे-धीरे अपनी भविष्य की कमाई में से उसको चुकाने का प्रयत्न करता था। निश्चय ही ऐसी दशा में ब्याज का माँगना अन्याय था और एक प्रकार से एक दुखी भाई की विवशता से लाभ उठाना था। यही कारण है कि ब्याज लेने वालों की निन्दा की जाती थी। श्रम और भूमि ही प्राचीन काल में उत्पत्ति के मुख्य साधन थे। पूँजी के उपयोग

का रिवाज नहीं के बराबर था और कर्ज की रकम को उत्पादन कार्य में लगाकर लाभ उठाने का प्रश्न ही नहीं उठता था, परन्तु धीरे-धीरे उत्पादन में पूँजी का महत्त्व बढ़ता गया और ऋण का उत्पादक उपयोग (Productive Use) होने लगा। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) ने तो संसार की काया पलट ही कर दी। मशीनों का उपयोग पूँजी के बिना सम्भव नहीं है। ऋणों को पूँजी के रूप में उपयोग करके उत्पादन की क्षमता बढाई जाने लगी और ऋण के उपयोग से कर्ज लेने वाले को लाभ होने लगा।

आधुनिक युग में अधिकतर ऋण उत्पादन के हेतु लिए जाते हैं। उनके उपयोग के फलस्वरूप उत्पत्ति और लाभ में वृद्धि होती है। यह कर्ज एक दुखी भाई की सहायता के रूप में नहीं होते, वरन् आय का साधन होते हैं, अतः पुराने आक्षेप वर्तमान युग में सारहीन हो जाते हैं। यह ऋणदाता उस बढी हुई उत्पत्ति में से जो ऋणी को ऋण के उपयोग के फलस्वरूप प्राप्त हुई है, हिस्सा माँगता है तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता है। यही कारण है कि आजकल ब्याज लेना न केवल उचित ही समझा जाता है, वरन् आधुनिक आर्थिक प्रणाली का एक अनिवार्य तथा आवश्यक अंग माना जाता है। ब्याज की वांछनीयता ऋण के उत्पादक उपयोग से ही सम्बन्धित है। दूसरों के रुपयों को उत्पादन कार्य में लगा कर लाभ उठाना आधुनिक व्यवसाय के प्रत्येक विभाग में पाया जाता है। उपभोग सम्बन्धी ऋणों का कोई महत्त्व नहीं रह गया है और न ही दोनों प्रकार के ऋणों में भेद करना बहुधा सम्भव होता है।

ब्याज के सिद्धान्त (The Theories of Interest)—

विभिन्न कालों में विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने ब्याज के अलग-अलग सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, परन्तु इस सम्बन्ध में हम यहाँ पर ब्याज के केवल कुछ मुख्य सिद्धान्तों की ही विवेचना करेंगे। प्रयत्न इस बात का किया गया है कि *इन सिद्धान्तों को उनके ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिया जाय,* अतः सबसे पहले पुराने सिद्धान्त को लिया जायगा। इस सम्बन्ध में यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि यद्यपि ब्याज का विचार बहुत पुराने समय से चला आता है, परन्तु ब्याज के सिद्धान्तों का इतिहास बहुत अधिक पुराना नहीं है। एडम स्मिथ तथा रिकार्डो के समय तक भी ब्याज का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं बन पाया था। उपरोक्त दोनों विद्वानों ने ब्याज और लाभ में कोई भेद नहीं किया है और दोनों की सामूहिक रूप में विवेचना (जो अधूरी ही थी) करने का प्रयत्न किया है। यथार्थ में पुराने लेखकों ने ब्याज और उनके सिद्धान्तों के अध्ययन को एक तुच्छ तथा घृणित विषय समझ कर छोड़ दिया था।

(१) *सीनियर का ब्याज का सिद्धान्त*—

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सीनियर (Senior) का ब्याज का सिद्धान्त

सबसे पुराना है। यह सिद्धान्त ब्याज के निग्रह अथवा त्याग सिद्धान्त (Abstinence Theory of Interest) के नाम से प्रसिद्ध है। सीनियर का कथन है कि ब्याज पूँजी का पारितोषण है, परन्तु देखना है कि पूँजी किस प्रकार उपलब्ध होती है। पूँजी का संचय बचत द्वारा होता है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि पूँजी बचत का वह भाग होती है जो भविष्य में उत्पादन कार्य में लगायी जाती है। बिना बचत के पूँजी नहीं मिल सकती और बचत करना कोई आसान काम नहीं है। किसी मनुष्य को जो आय प्राप्त होती है उससे वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना चाहता है, किन्तु बचत करने के लिये यह आवश्यक है कि आय के एक भाग को आवश्यकताओं की पूर्ति पर खर्च न किया जाय। इस प्रकार बचत करने वाले को अपनी आवश्यकताओं पर खर्च को कम करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। बचत करने के लिए उपभोग का त्याग करना पड़ता है, जो दुखदायी होता है। यही कारण है कि प्रत्येक बचत करने वाला बचत करने के लिए उसी समय तैयार होता है जबकि उसे किसी न किसी लाभ की आशा हो। इस प्रकार ब्याज वह पारितोषण है जो बचत करने वाले को उस त्याग के बदले (Compensation) के रूप में मिलता है जो उसने अपनी आय का उपभोग न करके किया है।

(२) मार्शल का प्रतीक्षा सिद्धान्त—

सीनियर के इस सिद्धान्त की बहुत सारी आलोचनायें की गई हैं। कहा जाता है कि बचत करना सदा दुखदायी नहीं होता। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि निर्धन वर्ग को बचत करने में थोड़ी-बहुत असुविधा अवश्य होती है, पर इसको 'त्याग' (Abstinence) कहना उचित न होगा। इसके विपरीत बहुत से धनी लोग बिना किसी असुविधा के बचत कर सकते हैं। कुछ लोगों की आय तो इतनी अधिक हो सकती है कि वे बिना बचत किये रह ही नहीं सकते हैं। उनको बचत करने की अपेक्षा उपभोग करना अधिक दुखदायी प्रतीत होता है। मार्शल का विचार है कि 'त्याग' शब्द का उपयोग ठीक नहीं है। उन्होंने 'त्याग' शब्द का उपयोग करने की सिफारिश की है। बचत करने में त्याग करना जरूरी नहीं है, परन्तु प्रतीक्षा करना आवश्यक है। आय के जिस भाग की बचत की जाती है उसके विषय में यह कहना भूल होगी कि जिसका उपभोग नहीं किया जाता। वास्तव में पूँजी का भी उपभोग होता है, परन्तु कुछ समय पश्चात्। इस प्रकार बचत में हमें वर्तमान उपभोग को त्याग कर भविष्य में उपभोग करना स्वीकार करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, आय के जिस भाग की बचत की जाती है उसके उपभोग की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अब प्रतीक्षा करना भी कोई सरल काम नहीं है। अधिकाँश मनुष्य प्रतीक्षा करना नहीं चाहते हैं। उनसे ऐसा कराने के लिए किसी प्रलोभन की आवश्यकता पड़ती है

और ब्याज ही वह प्रलोभन है ।[1] इस प्रकार ब्याज प्रतीक्षा (Waiting) का पारितोषण है और ब्याज की दर का इतना होना आवश्यक है कि जिससे यथेष्ठ पूँजी प्राप्त होने योग्य बचत हो सके।

मार्शल का विचार है कि प्रतीक्षा को उत्पत्ति का एक पृथक साधन कहा जा सकता है। आधुनिक उत्पत्ति प्रणाली में सभी जगह प्रतीक्षा करनी पड़ती है। एक किसान खेत को जोतता है, बीज और खाद इत्यादि का उपयोग करता है, परन्तु फल के लिए फसल के तैयार होने के समय तक प्रतीक्षा करता है। ठीक इसी प्रकार एक निर्माणकर्त्ता भी उद्योग को चालू करते ही लाभ नहीं उठा सकता। उपज के तैयार होने तथा बिकने में समय लगता है। जितनी ही उत्पत्ति की रीति अधिक परोक्ष होती है उतनी ही प्रतीक्षा की समस्या अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं है कि कुछ लोग प्रलोभन के बिना भी बचत कर सकते हैं और साथ ही कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जो बचत करने के लिए उलटा अपनी गाँठ से देने के लिए तैयार हो जायँ, परन्तु इस प्रकार की बचत से पूँजी की समस्त माँग पूरी नहीं हो सकती, इसलिए ब्याज का प्रलोभन साधारणतया आवश्यक होता है। इस सम्बन्ध में डा० रिचार्डस ने भी मार्शल का समर्थन किया है। डा० रिचार्डस का विचार है कि यद्यपि लोग बचत अनेक कारणों से करते हैं, परन्तु ब्याज का मुख्य कारण यही है कि बचत करने वाले को उपयोग के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। ब्याज मुख्यतया प्रतीक्षा का ही पारितोषण है।[2]

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यदि प्रतीक्षा को उत्पत्ति का साधन मान लिया जाता है और इसी के पारितोषण को ब्याज कहा जाता है तो फिर यह पारितोषण किस प्रकार निर्धारित होगा। स्पष्ट है कि ब्याज उस पुरस्कार अथवा पारितोषण के बराबर होगा जो बचत की सीमान्त वृद्धि (Marginal Increment of saving) के लिए आवश्यक होगा। पूँजी की आवश्यक पूर्ति के लिए कुछ व्यक्तियों को ब्याज का लालच देना आवश्यक होता है। ब्याज की दर ऐसी होनी चाहिये कि सीमान्त बचत करने वाला व्यक्ति बचत करने को तैयार हो जाय। पूँजी की एक निश्चित मात्रा प्राप्त करने के लिए सीमान्त बचत करने वाले को जितना प्रलोभन देना आवश्यक होता है वही ब्याज की दर निर्धारित करता है।

---

1 "The sacrifice of present for the sake of future has been called abstinence by economists......Since, however, the term is liable to be misunderstood we may with advantage avoid its use, and say that the accumulation of wealth is generally the result of postponement of enjoyment or of a waiting for it."—Marshall. *Principles of Economics*, pp 232-233

2. "Interest, however, primarily a reward for waiting"—Dr. Richards: *Groundwork of Economics*, p. 115.

आलोचनाएँ—

ब्याज का यह सिद्धान्त अधूरा है। बात यह है कि अन्य वस्तुओं की भाँति पूँजी भी एक वस्तु है और ब्याज उसका मूल्य है। किसी भी वस्तु का मूल्य माँग और पूर्ति द्वारा नियत होता है। 'त्याग' अथवा 'प्रतीक्षा' द्वारा केवल पूर्ति की ही विवेचना होती है, माँग की नहीं। बचत द्वारा पूँजी प्राप्त होती है और बचत त्याग तथा प्रतीक्षा द्वारा निर्धारित होती है, परन्तु पूँजी की माँग तथा इनके कारणों की विवेचना मार्शल अथवा सीनियर द्वारा नहीं की गई है। इसी कारण ब्याज के ये सिद्धान्त अपूर्ण हैं। दूसरे, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, इन सिद्धान्तों में पूर्ति की भी पूरी विवेचना नहीं की जाती है। त्याग और प्रतीक्षा के अतिरिक्त और भी बहुत से कारण हैं जो पूर्ति को प्रभावित करते हैं। मार्शल ने तो प्रतीक्षा को उत्पत्ति का साधन मान कर और भी कठिनाई उत्पन्न कर दी है।

(३) ब्याज का उत्पादकता सिद्धान्त (The Productivity Theory of Interest)—

इस सिद्धान्त के अनुसार पूँजी उत्पत्ति के अन्य साधनों की भाँति एक उत्पादक साधन है। जब पूँजी की सहायता के बिना उत्पत्ति की जाती है तो उत्पत्ति बहुत ही कम होती है, परन्तु पूँजी का उपयोग करने से उसमें बहुत काफी वृद्धि हो जाती है। उदाहरणस्वरूप, एक शिकारी बन्दूक तथा अन्य साधनों की सहायता से जितना शिकार कर सकता है उतना बिना उनकी सहायता के नहीं। जाल द्वारा हाथ की अपेक्षा बहुत अधिक मछलियाँ पकड़ी जा सकती हैं और जाल तथा नाव दोनों के उपयोग से तो और भी अधिक। इस प्रकार पूँजी का उपयोग उत्पादक (Productive) है और इसीलिए उसे उधार लेने वाले ब्याज देने को तैयार हो जाते हैं। ब्याज की दर का पूँजी की उत्पादकता से घनिष्ठ तथा प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर कैसे नियत होती है। पूँजी की कौन-सी उत्पादकता द्वारा ब्याज का निर्धारण होता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि अन्य साधनों की भाँति पूँजी की भी सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) का पता लगाया जा सकता है। अन्य साधनों की मात्राएँ यथास्थिर रख कर यदि हम पूँजी की मात्रा एक इकाई से बढ़ा दें तो पूँजी की सीमान्त उपज के बराबर ही कुल उत्पत्ति में वृद्धि होगी। इसी सीमान्त उपज का मूल्य ब्याज की दर को नियत करता है। लम्बे काल में, जैसा कि हम सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त में देख चुके हैं, पूँजी का पारितोषण इस मूल्य से कम या अधिक नहीं हो सकता है।

आलोचनाएँ—

परन्तु सीनियर तथा मार्शल के सिद्धान्तों की भाँति ब्याज का यह सिद्धान्त भी अधूरा तथा अपूर्ण है। यद्यपि यह सिद्धान्त ब्याज के कारण तथा ब्याज की दर के निर्धारण दोनों की विवेचना करता है, परन्तु यह विवेचना एकतरफा ही है। ऋणी ब्याज यदि इसलिए देता है कि ऋण उत्पादक होता है तो उन ऋणों पर ब्याज क्यों दिया जाता है जो उत्पादन के विपरीत उपभोक्ता के हेतु लिये जाते हैं? ऐसे कर्जों पर तो ब्याज नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे तो उत्पादक नहीं होते हैं। दूसरे, यदि सीमान्त उपज के मूल्य द्वारा ब्याज की दर नियत होती है तो सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की वे सारी आलोचनाएँ जिनका अध्ययन इस भाग के पहले अध्याय में किया जा चुका है, यहाँ पर भी लागू होती हैं। तीसरे, यह सिद्धान्त ब्याज की दर का केवल पूँजी की माँग के दृष्टिकोण से अध्ययन करता है। पूँजी की माँग उसकी उत्पादन-शक्ति पर निर्भर होती है। यदि उत्पादकता अधिक है तो माँग भी अधिक होगी और यदि उत्पादकता कम है तो माँग भी कम ही होगी। अन्तिम विवेचना में माँग पूँजी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा निश्चित होती है। पूँजी की पूर्ति की विवेचना इस सिद्धान्त में नहीं की जाती है। चौथे, पूँजी की उत्पादकता स्वयं भी ब्याज की दर पर निर्भर रहती है। यदि ब्याज की दर ऊँची होती है तो साधारणतया पूँजी की माँग कम होती है, जिसके फलस्वरूप पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार इस बात का निर्णय कठिन है कि ब्याज की दर सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर है या स्वयं सीमान्त उत्पादकता ब्याज की दर पर निर्भर है। पाँचवे, इस सिद्धान्त में एक टेढ़ा-मेढ़ा तर्क (Circular Reasoning) भी विद्यमान है। पूँजी के सभी साधनों तथा औजारों और मशीनों का मूल्य ब्याज की दर को मान कर ही निश्चित किया जाता है। मान लीजिये कि हम एक १०,००० रुपये की मशीन का उपयोग करते हैं, जिसके कारण हमें १,००० रुपये की वार्षिक आय होती है। इस आधार पर हम यह नहीं कह सकते हैं कि ब्याज की दर १० रुपया सैकड़ा होगी। हम केवल इतना कह सकते हैं कि यदि ब्याज की दर १०) रुपया सैकड़ा सालाना हो तो इस मशीन का मूल्य १०,००० रुपया होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मशीन का मूल्य बिना ब्याज की दर के ज्ञान के नहीं निकाला जा सकता, अतः पूँजी का मूल्य निकालने से पहले ही ब्याज की दर ज्ञात होनी चाहिये, जबकि यह सिद्धान्त ऐसा समझता है कि पहले पूँजी की कीमत मालूम की जाती है और बाद को ब्याज की दर।

(४) ब्याज का पारितोषिक अथवा समय-वरीयता सिद्धान्त (The (Agio or Time Preference Theory of Interest)—

इस सिद्धान्त का निर्माण सर्व प्रथम जॉन रई (John Rae) नामक अर्थशास्त्री ने किया था। बाद को प्रसिद्ध ऑस्ट्रियन अर्थशास्त्री प्रोफेसर बोम-बावर्क

(Bohm Bawerk) ने इस सिद्धान्त को अपनाया और आजकल यह उन्हीं के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। बोम-बावर्क का कथन है कि ब्याज का मुख्य कारण यह है कि मनुष्य के लिए वर्तमान और भविष्य का महत्व समान नहीं होता है। वह वर्तमान आवश्यकता पूर्ति में भविष्य की आवश्यकता पूर्ति की अपेक्षा अधिक सुख का अनुभव करता है। इसी कारण वर्तमान वस्तुओं के मूल्य में भविष्य की उस जैसी ही वस्तुओं की अपेक्षा एक पारितोषण या इनाम (Agio or Premium) रहता है, जो ब्याज की दर को नियत करता है।* उनका कहना है कि वर्तमान वस्तुओं की कीमत भविष्य की उसी मात्रा, गुण और कीमत वाली वस्तुओं को अपेक्षा थोड़ी अधिक रहती है। कारण यह है कि कुछ कारणों से लोग भविष्य के उपयोग की अपेक्षा वर्तमान उपयोग को अधिक पसन्द करते हैं। प्रथम तो, भविष्य धुँधला दिखाई पड़ता है और अनिश्चित जान पड़ता है, जिसके कारण मनुष्य भविष्य के सुख को वर्तमान सुख की अपेक्षा कम समझता है (Man Discounts Future)। दूसरे, भविष्य की आवश्यकताओं की अपेक्षा वर्तमान की आवश्यकतायें अधिक तीव्रतापूर्वक अनुभव को जाती हैं। यही कारण है कि वर्तमान आवश्यक्तायें पूरी करने वाली वस्तुओं की माँग भविष्य की आवश्यकतायें पूरी करने वाली वस्तुओं की अपेक्षा अधिक आग्रहपूर्ण होती हैं, अतः वर्तमान वस्तुओं की माँग अधिक होती है और उनकी कमी अधिक तेजी के साथ अनुभव होती है। तीसरे, वर्तमान वस्तुओं को भावी वस्तुओं पर एक विशेष शिल्प श्रेष्ठता (Technical Superiority) प्राप्त होती है। कारण यह है कि जैसे जैसे उत्पत्ति में अधिक समय लगता है और उत्पादन रीति भी और अधिक घुमावदार होती चली जाती है, भविष्य की वस्तुओं पर वर्तमान वस्तुओं की श्रेष्ठता बढ़ती जाती है, क्योंकि इस प्रकार की रीतियों के उपयोग में अधिक मात्रा में उत्पत्ति होने लगती है।

उपरोक्त कारणों से एक मनुष्य वर्तमान के १००) का मूल्य भविष्य के १००) रुपये के मूल्य से अधिक समझता है। यदि इस समय की १०० रुपये वार्षिक आय भविष्य की ११०) रुपये वार्षिक आय के बराबर है तो इस समय १००) रुपये वार्षिक आय देकर भविष्य की दर ११०) रुपये वार्षिक की आशा की जायगी। कहने का अभिप्राय यह है कि ब्याज की दर १० रुपया सैकड़ा होगी, क्योंकि इसी अंश तक वर्तमान को भविष्य पर पसन्दगी अथवा वरीयता (Preference) प्राप्त है।

फ़िशर का समय वरीयता सिद्धान्त—

फिशर (Fisher) ने बोम-बावर्क की विवेचना में थोड़ा सुधार करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि बोम-बावर्क ने वर्तमान को पसन्द करने

* Bohm Bawerk : *The Positive Theory of Interest.*

के जो तीन कारण बताये हैं उनमें से-पहले दो तो ठीक हैं, परन्तु तीसरा गलत है, क्योंकि इसके मान लेने से हमें परोक्ष रूप से ब्याज के उत्पादकता सिद्धान्त को मान लेना पड़ता है। साथ ही, उन्होंने यह भी बताया है कि भविष्य की अनिश्चतता के कारण वर्तमान को पसन्द नहीं किया जाता है। वास्तव में समान रूप से निश्चित भावी सन्तोष की अपेक्षा लोग फिर भी वर्तमान सन्तोष को ही पसन्द करते हैं। मुख्य बात यह है कि लोगों में समय वरीयता (Time Preference) होती है। वे अपनी आय को तुरन्त व्यय करने के लिए अधिक इच्छुक या आतुर (Impatient) होते हैं। यह आतुरता कितनी अधिक होगी, यह कई बातों पर निर्भर होता है: प्रथम, यह आय की मात्रा (Size) पर निर्भर होती है। दूसरे, उस आय के समय वितरण (Time Distribution) पर, अर्थात् आय की प्राप्ति कितने समय पर फैली हुई है। तीसरे, आय किस प्रकार प्राप्त होती है। चौथे, आय को भविष्य में उपभोग करने की निश्चतता पर और पाँचवे, व्यक्ति विशेष की मनोवृत्ति पर। जिन लोगों की आय अधिक होती है उनके लिए वर्तमान आवश्यक्ताओं को पूरा करने की सुविधा अधिक होती है, जबकि इसके विपरीत निर्धन लोग भविष्य को उनकी अपेक्षा बहुत कम महत्त्व देते हैं। अमीरों में गरीबों की अपेक्षा समय वरीयता कम होती है और वे भविष्य का निरादर कम दर से कम करते हैं।

फिशर का विचार है कि ब्याज का कारण समय वरीयता द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है। ब्याज इसीलिए दिया जाता है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आयु को तुरन्त व्यय करने के लिए व्याकुल या आतुर रहता है, परन्तु यदि सारी आय वर्तमान में ही व्यय कर दी जाय तो बचत नहीं हो सकती और न ही पूँजी एकत्रित हो सकती है, इसलिये तुरन्त व्यय करने की आतुरता को रोकना पड़ता है। ब्याज का प्रलोभन इस आतुरता को रोकने के लिए ही दिया जाता है। समय विशेष में ब्याज की दर इतनी होनी चाहिए कि पर्याप्त मात्रा में बचत की जा सके, अर्थात् व्यय करने की आतुरता इस अंश तक रोकी जानी चाहिए कि पूँजी की माँग के अनुसार बचत हो सके।

इस सम्बन्ध में यह बता देना उचित प्रतीत होता है कि जबकि बोम बावर्क के अनुसार ब्याज की दर पारितोषिक अथवा इनाम-दर (Premium Rate) द्वारा निश्चित होती है, फिशर के अनुसार यह समय-वरीयता के अंश पर निर्भर होती है और एक प्रकार बट्टा-दर होती है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक मनुष्य १०० रुपये से प्राप्त होने वाले वर्तमान सुख को एक साल बाद केवल ६२ रुपये के बराबर समझता है तो वह वर्तमान को भविष्य से ८ रुपया अधिक आँकता है अथवा भविष्य को वर्तमान से ८ रुपया कम आँकता है। ऐसी दशा में वह १०० रुपये एक साल तक के लिए उधार देने को तभी तैयार होगा, जबकि साल भर पीछे उसे बदले में १०८ रुपये मिलने की आशा होगी। यदि ऐसा नहीं

किया जाता है तो उसे उधार देने में हानि होगी और वह बचत करने के स्थान पर वर्तमान उपभोग को भी अधिक पसन्द करेगा। ८ रुपया अधिक मिल जाने से वर्तमान और भावी सन्तोष में समानता आ जाती है, अतः ब्याज की दर मनुष्य की व्यय करने की आतुरता पर निर्भर होती है। समय पसन्दगी की माप यह आतुरता ही है। व्यय करने की आतुरता जितनी अधिक होगी उतनी ही समय पसन्दगी भी अधिक होगी और उतनी ही ब्याज की दर भी ऊँची होगी और जितनी ही समय पसन्दगी कम होगी उतनी ही ब्याज की दर भी नीची होगी। इस प्रकार ब्याज की दर वह दर है जो वर्तमान सन्तोष को भविष्य के के लिये स्थगित करा देती है। अन्तिम दशा में वह समय पसन्दगी की दर बराबर होती है। यदि बाजार में ब्याज की दर किसी व्यक्ति की समय पसन्दगी की दर से ऊँची है तो वह व्यक्ति बचत करेगा और रुपया उधार देकर लाभ कमायेगा। इसके विपरीत यदि बाजार मे ब्याज की दर किसी व्यक्ति की समय पसन्दगी की दर से नीची है तो वह व्यक्ति रुपया उधार लेकर अपनी वर्तमान की आग्रहपूर्ण आवश्यकताओं को पूरा करेगा, क्योंकि यही उसके लिए लाभदायक होगा। कोई व्यक्ति उसी समय तक रुपया उधार देता है या उधार लेता है जब तक कि ब्याज की दर उसकी समय पसन्दगी की दर के बराबर नहीं हो जाती है। इस प्रकार साम्य की अवस्था में ब्याज की दर समय पसन्दगी की दर के बराबर होती है।

समय वरीयता सिद्धान्त की मान्यताएँ—

फिशर के अनुसार यह सिद्धान्त कई मान्यताओं पर आधारित है :— (१) द्रव्य की क्रय: शक्ति मे इसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए। यदि भविष्य में द्रव्य की क्रयः शक्ति बढ़ जाती है तो एक व्यक्ति भविष्य के ८० रुपये को भी वर्तमान के १०० रुपये से अधिक समझ सकता है। इस दशा में यह सिद्धान्त लागू न होगा। (२) पूँजीपति की परिस्थितियों मे कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। यदि एक व्यक्ति भविष्य में सादा और सयमी जीवन व्यतीत करना चाहता है तो हो सकता है कि वर्तमान के १०० रुपये का महत्व उसके लिये भविष्य में सौ रुपये से भी अधिक हो जाय।

बोम-बावर्क सिद्धान्त का महत्त्व—

यद्यपि फिशर ने बोम बावर्क के सिद्धान्त में सुधार करने का प्रयत्न किया है, परन्तु फिर भी बोम-बावर्क के सिद्धान्त का महत्त्व कम नहीं हो जाता है। दो कारणों से यह सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है :—(१) ब्याज के उत्पादकता सिद्धान्त में यह स्पष्ट नहीं किया गया था कि उपभोग हेतु लिये हुए ऋणों पर ब्याज क्यों दिया जाता है, परन्तु यह सिद्धान्त सभी प्रकार के ऋणों पर दिये जाने वाले ब्याज की व्याख्या करता है। उपभोग के लिए जो ऋण लिए जाते हैं उन पर, इसीलिए ब्याज दिया जाता है कि वर्तमान उपभोग भविष्य की तुलना में अधिक

महत्त्व रखता है। (२) यह सिद्धान्त इस बात को भी समझाता है कि जब तक व्यवसायी अपनी बचत को अपने कारोबार में लगाता है तो उसे ब्याज मिलना चाहिए, क्योंकि वह भी बचत के वर्तमान उपभोग को भविष्य के लिए स्थगित करता है।

आलोचनाएँ—

अन्य सिद्धान्तों की भाँति पारितोषिक अथवा समय-वरीयता-सिद्धान्त भी अपूर्ण है। यह सिद्धान्त भी ब्याज की दर का पूँजी की पूर्ति से सम्बन्ध स्थापित करता है, क्योंकि समय वरीयता तथा भविष्य निरादर की तीव्रता के अनुसार ही बचत, अर्थात् पूँजी की पूर्ति निश्चित होती है। साथ ही, यह भी ध्यान देने योग्य है कि पूँजी को समय-वरीयता पर ही पूर्णतया निर्भर नहीं होती। त्याग प्रतीक्षा और समय वरीयता के अतिरिक्त पूँजी की पूर्ति और भी बहुत सी बातों पर निर्भर होती है। तीसरे, बोम बावर्क का सिद्धान्त उत्पादकता सिद्धान्त के बहुत समीप पहुँच जाता है। ब्याज की समस्या, इसलिए उत्पन्न होती है कि भविष्य में अधिक उत्पादकता प्राप्त की जा सकती है। "मूलतया बोम बावर्क का ब्याज का सिद्धान्त एक सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त ही था, यद्यपि यह बात बहुधा भुला दी जाती है........।*"

(५) कीन्ज का द्रवता पसन्दगी सिद्धान्त (The Liquidity Preference Theory of Keynes)—

व्याख्या—

लॉर्ड कीन्ज ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "रोजगार, ब्याज तथा द्रव्य का सामान्य सिद्धान्त" (The General Theory of Employment Interest and Money) में ब्याज के एक नये सिद्धान्त का निर्माण किया है। उनका कथन है कि जब एक उपभोग की वस्तु को पूँजी की वस्तु के रूप में उपयोग किया जाता है अथवा जब किसी उपभोग की वस्तु को काम में लाने के अधिकार को एक पूँजी की वस्तु प्राप्त करने के अधिकार में बदल लिया जाता है, तो ऐसी दशा में केवल यह होता है कि वर्तमान तृप्ति को भावी तृप्ति में परिवर्तित कर लिया जाता है, किन्तु जब हम द्रव्य को लेते हैं तो उसके वर्तमान तथा भावी उपयोग जोड़ (Hoarding) तथा उधार देने का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार ब्याज को जोड़कर न रखने के पारितोषिक के रूप में समझा जा सकता है। इसी कारण कीन्ज के अनुसार ब्याज द्रवता (Liquidity) के परित्याग करने का पारितोषिक मात्र है। कीन्ज का विचार है कि स्वभाव से

* "Fundamentally, Bohm Bawerke's theory of interest was a marginal productivity theory, though this fact has usually been neglected because at different times he places different emphasis on the various stands of his thought."—Briggs and Joardan : *Text Book of Economics*, pp 462-466.

प्रत्येक मनुष्य अपनी आय को नकद रकम (Cash or Liquid Money) के रूप में रखना पसन्द करता है। इसका कारण है कि आय का यही उपयोग होता है कि उससे आवश्यकता के अनुसार तुरन्त ही वस्तुएँ और सेवायें खरीदी जा सकें। इस काम के लिए द्रवता, अर्थात् नकद रकम अत्यन्त सुविधा-जनक तथा उपयुक्त है, क्योंकि नकद द्रव्य तुरन्त ही वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त करता है। इस प्रकार जो द्रव्य किया जाता है वह जोड़ है, परन्तु जब हम रुपया दूसरों को उधार देते हैं तो द्रवता हमारे पास से चली जाती है। इसमें सन्देह नहीं है कि उधार दी हुई रकम का स्वामित्व अभी भी हमारे ही पास रहता है, परन्तु वह रकम हमारे पास नकदी, अर्थात् इस रूप में नहीं रहती है कि उसे तुरन्त वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने के लिए उपयोग किया जा सके। वह रकम अद्रव (Non-liquid) रूप में हमारे पास रहती है, जो किसी भी व्यक्ति के लिए नक्दी की भाँति सुविधाजनक नहीं है। यही कारण है कि कोई भी द्रवता का परित्याग करना नहीं चाहता, जब तक कि किसी लाभ अथवा लोभ की आशा न हो। यह लोभ ब्याज के रूप में उपस्थित किया जाता है, अतः ब्याज का मूल कारण द्रवता पसन्दगी है। "ब्याज एक निश्चित काल के लिए द्रवता का परित्याग करने का पारितोषण है।"* साथ ही, ब्याज की दर इतनी काफी होनी चाहिए कि लोग द्रवता का उस अंश तक परित्याग कर दें कि पर्याप्त मात्रा में उधार की माँग के अनुसार द्रव्य मिल सके।

कीन्ज के सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर बचत की पूर्ति और मांग द्वारा निश्चित नहीं की जाती है। समस्त द्रव्य, जो आय के रूप में प्राप्त होता है, उधार नहीं दिया जाता है। वास्तव में बचत का एक भाग ही ऋण के रूप में दिया जाता है, शेष केवल जोड़ लिया जाता है। इस प्रकार ब्याज की दर द्रव्य की उस पूर्ति द्वारा नियत होती है जो जोड़ कर नहीं रक्खी जाती है, अतः यह उपभोग न करने की अपेक्षा जोड़ न करने का मूल्य है। जितना द्रव्य जोड़ लिया जाता है उससे तो केवल जोड़ने वाले की द्रवता पसन्दगी की सन्तुष्टि होती है। अब क्योंकि उधार देने योग्य द्रव्य की मात्रा या पूर्ति द्रवता-पसन्दगी द्वारा निश्चित होती है, इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि द्रवता-पसन्दगी ही ब्याज की दर निर्धारित करती है।

द्रवता-पसन्दगी के कारण—

इस प्रश्न का उठना भी आवश्यक है कि लोग अपनी आय को नक्दी के रूप में रखना क्यों पसन्द करते हैं, जबकि उधार देकर वह ब्याज का लाभ उठा सकते हैं? ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि द्रवता-पसन्दगी के अनेक

* "Interest is the reward for parting with liquidity for specified period."—J. M. Keynes: *General Theory of Employment, Interest and Money*, p. 167.

कारण होते हैं—प्रथम तो, तुरन्त वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त कर लेने के उद्देश्य से नकद द्रव्य रक्खा जाता है। आय एक निश्चित समय पर होती है, जबकि व्यय प्रति दिन ही होता रहता है। कीन्ज के शब्दों में, नकदी की आवश्यकता "आय प्राप्त होने तथा व्यय करने के बीच के समय को पार करने के लिए पड़ती है।" दूसरे, प्रत्येक व्यवसायी तथा व्यापारी को हर समय कुछ न कुछ नकदी इसलिये रखनी पड़ती है कि नकदी की बहुधा माँग होती है। तीसरे, हर मनुष्य को आकस्मिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये भी नकद द्रव्य रखना पड़ता है। अन्त में कुछ लोग सट्टेबाजी के लिये भी नकद रुपया रखते हैं। ध्यान रहे कि पहले तीन कामों के लिये जो नकदी की व्यवस्था की जाती है उस पर ब्याज की दर का लगभग कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है, परन्तु चौथे प्रकार के नकदी के संचय पर इसका प्रभाव बहुत गहरा पड़ता है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि जब ब्याज की दर ऊँची होती है तो द्रवता-पसन्दगी कम हो जाती है। ब्याज की दर ऐसी होगी कि वह नकदी की माँग को उसकी पूर्ति के बराबर कर दे।

आलोचनाएँ—

इस सिद्धान्त की श्रेष्ठता दिखाने के लिए कीन्ज ने ब्याज के दूसरे सिद्धांतों की आलोचना की है। उनके विचार में उनका सिद्धान्त ब्याज की व्याख्या केवल द्रव्यिक दृष्टिकोण से करता है, जबकि दूसरों ने उसकी व्याख्या मनोवैज्ञानिक अथवा उत्पादन के दृष्टिकोणों से की है, जो ठीक नहीं है। निश्चय ही कीन्ज का ब्याज का सिद्धान्त उनके द्रव्य के मूल्य के सिद्धान्त (Theory of Value of Money) पर आधारित है।

साथ ही, कीन्ज के अनुसार ब्याज बचत का पारितोषिक नहीं है, क्योंकि बचत तो जोड़कर भी रखी जा सकती है, जिस दशा में ब्याज नहीं मिलती है। इसी प्रकार ब्याज की दर पूँजी की माँग और बचत में समानता लाने का काम भी नहीं करती है। इसके विपरीत बहुधा ऐसा होता है कि अधिक बचत से विनियोग (Investment) को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे अन्त में लोगों की आय बढ़ती है और उनकी बचत करने की शक्ति में भी वृद्धि होती है, अतः बचत पर ब्याज की दर की अपेक्षा आय के परिवर्तनों का प्रभाव अधिक पड़ता है।

परन्तु कीन्ज के सिद्धान्त में भी कई महत्वपूर्ण दोष हैं। सब कुछ होते हुये भी यह सिद्धान्त अधूरा है। यहाँ भी केवल पूर्ति की दिशा से ब्याज की दर का अध्ययन किया गया है। कीन्ज का यह कहना तो ठीक है कि पूँजी का संचय केवल बचत पर निर्भर नहीं होता है, परन्तु फिर भी बचत तथा द्रवता पसन्दगी दोनों मिल कर केवल पूँजी की पूर्ति को ही निश्चय करते हैं, उनका पूँजी की माँग पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। साथ ही, पूर्ति पर केवल द्रवता-पसन्दगी का ही प्रभाव नहीं पड़ता है, वरन् त्याग, प्रतीक्षा तथा समय-वरीयता का

भी प्रभाव पड़ता है। कीन्ज ने ब्याज की दर पर पूँजी की माँग के प्रभाव का अध्ययन न करके वास्तव में बड़ी भूल की है।

कीन्ज के तर्क पर दो और दृष्टिकोणों से भी आपत्ति की जा सकती है: प्रथम तो, ऐसा प्रतीत होता है कि कीन्ज ने पुराने अर्थशास्त्रियों के बचत शब्द को भली-भाँति से नहीं समझा है। जोड़े हुए धन को तो पूँजी कहा ही नहीं जा सकता है, क्योंकि वह तो केवल उपयोग की वस्तु नहीं। उसको तो प्रत्यक्ष रूप से आवश्यकता पूर्ति के लिए उपयोग किया जाता है। इस प्रकार के धन में वर्तमान सन्तोष के त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस प्रकार यथार्थ में बचत के मूल्य तथा न जोड़ने के मूल्य के अर्थ में कुछ भी अन्तर नहीं है। दूसरे, कीन्ज के अनुसार ब्याज का भुगतान केवल उसी दशा में किया जाता है जबकि ऋणी तथा ऋणदाता दोनों पृथक पृथक व्यक्ति होते हैं, परन्तु यह भी सम्भव है कि एक ही व्यक्ति एक ही साथ दोनों ही हो। ऐसी दशा में ब्याज पूँजी की कमाई (Earning) के रूप में प्रकट होता है। जोड़ा हुआ धन ठीक इसी प्रकार ब्याज कमाता है जैसे कि उधार दिया हुआ धन।* कीन्ज ने अपने सिद्धान्त और प्रतिष्ठित सिद्धान्त के बीच यह भेद बताया है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार ब्याज की दर साख की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। कीन्ज के अनुसार यह द्रव्य की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। इस सम्बन्ध में राबर्टसन और ओहलिन, दोनों का विचार है और यह सही भी है कि दोनों सिद्धान्त यथार्थ में एक ही हैं। द्रव्य की माँग द्रवता की माँग पर निर्भर होती जबकि साख की माँग क्रयः शक्ति पर और दोनों में कोई भी आधारभूत अन्तर नहीं है।

(६) पूँजी की माँग और पूर्ति का सिद्धान्त (The Demand and Supply of Capital Theory of Interest)—

ब्याज की दर नियत करने का सबसे सही तथा सबसे उपयुक्त सिद्धान्त हमारा जाना-पहचाना माँग और पूर्ति का सिद्धान्त ही है। वास्तव में पूँजी तथा अन्य वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं है और ब्याज को हमें उत्पत्ति के साधन पूँजी के मूल्य के रूप में ही समझना चाहिए। मूल्य का सामान्य सिद्धान्त, अर्थात् माँग और पूर्ति का सिद्धान्त, जिसके द्वारा वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य नियत होता है, पूँजी का भी मूल्य नियत करता है, अतः हम कह सकते हैं कि ब्याज की दर भी इसी प्रकार नियत होनी है कि उस दर पर पूँजी की माँग और पूर्ति बराबर हो जायँ। साम्य की दशा में ब्याज की सामान्य दर इससे कम अधिक नहीं हो सकती है।

* "The amount of hoarded money that is meant to satisfy the preference of the person for liquidity earns interest as much as the amount that is actually lent."—J. K. Mehta: *Advanced Economic Theory*, p. 244.

इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिए कि ब्याज के पूर्ववर्णित सिद्धान्तों का अध्ययन सारहीन नहीं है, क्योंकि यथार्थ में माँग और पूर्ति के सिद्धान्त में ये सभी सिद्धान्त समा जाते हैं। जब हम पूँजी की माँग की विवेचना करते हैं तो हम देखते हैं कि माँग पर पूँजी की उत्पादकता विशेष रूप से सीमान्त उत्पादकता का ही प्रधान प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत पूँजी की पूर्ति पर बचत करने के लिए किए गये त्याग (Abstinence), प्रतीक्षा भविष्य का निरादर, समय वरीयता तथा द्रवता-पसन्दगी आदि सभी बातों का प्रभाव पड़ता है। पूँजी की पूर्ति इन सब कारणों के सामूहिक फल द्वारा निश्चित होती है। जो कारण पूँजी की माँग अथवा पूर्ति में परिवर्तन कर देते हैं, निश्चय ही ब्याज की सामान्य दर (General rate of interest) को भी बदल देते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र में जोड़ा हुआ धन भी पूँजी ही माना जाता है। इस प्रकार का धन एक मनुष्य अपने आप को ही उधार देता है। इस दशा में ब्याज उस बढ़ी हुई उपयोगिता के रूप में दृष्टिगोचर होता है जो जोड़ने के कारण उत्पन्न हो जाती है।

इस सिद्धान्त को भली भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि पूँजी की माँग और पूर्ति की विस्तारपूर्वक विवेचना की जाय। सबसे पहले हम पूँजी की माँग को लेते हैं। पूँजी उत्पादन कार्य तथा उपभोग दोनों ही के लिये उधार ली जाती है। पूँजी की आवश्यकता अनेक प्रकार के कार्यों के लिए होती है, जिनमें सबसे अधिक महत्त्व उत्पादन के कार्यों के चलाने का होता है। उत्पादन कार्यों में भी पूँजी के अनेक उपयोग हो सकते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में पूँजी की एक निश्चित मात्रा का विभिन्न उपयोगों के बीच इस प्रकार वितरण हो जाता है कि प्रत्येक पूँजी की सीमान्त उपयोगिता अथवा सीमान्त उत्पादकता समान ही रहे। जब तक सभी उपयोगों में सीमान्त उत्पादकता समान नहीं हो जायगी, पूँजी एक उपयोग से दूसरे में बराबर बदलती रहेगी। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि पूँजी की माँग पूँजी की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होती है। जितनी ही पूँजी की सीमान्त उत्पादकता अधिक होगी उतनी ही पूँजी की माँग भी अधिक होगी और परिणामस्वरूप ब्याज की दर भी ऊँची होगी। जहाँ तक पूँजी की मांग की मात्रा का प्रश्न है वह देश की आर्थिक और व्यावसायिक परिस्थितियों पर भी बड़े अंश तक निर्भर होती है।

जहाँ तक पूँजी की पूर्ति का प्रश्न है यह बचत पर निर्भर होती है, परन्तु सारी की सारी बचत पूँजी नहीं होती है। बचत के जिस भाग का आसंचन (Hoarding) कर लिया जाता है वह पूँजी नहीं होती है, अतः पूँजी की पूर्ति पर बचत और आसंचन दोनों का प्रभाव पड़ता है। जहाँ तक बचत का प्रश्न है, किसी भी देश में बचत की मात्रा तीन बातों पर निर्भर होती है—(१) समाज की बचत करने की क्षमता, (२) बचत करने की इच्छा, और (३) बचत करने की सुविधा। बचत करने की क्षमता आय के आकार और जीवन-स्तर पर निर्भर

होती है तथा इन दोनों पर देश की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों का बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। बचत करने की इच्छा, पारिवारिक प्रेम, दूरदर्शिता, प्रतीक्षा का अंश, समय वरीयता आदि अनेक बातों पर निर्भर होता है। बचत करने की सुविधाओं में शान्ति और सुरक्षा, लाभपूर्ण विनियोगों की उपस्थिति तथा बैंकिंग के विकास को शामिल किया जाता है। आसंचन पर भी कई बातों का प्रभाव पड़ता है, जैसे—देश की व्यावसायिक उन्नति, बैंकिंग का विकास और देश के भीतर धनादेशों (Cheques) के चलन की प्रगति। ये सब मिलकर पूँजी की पूर्ति को निश्चित करते हैं।

पूँजी की माँग और पूर्ति की विवेचना के पश्चात् ब्याज के निर्धारण की समस्या सरल हो जाती है। साम्य की दशा में ब्याज की दर ऐसी होगी कि उस दर पर पूँजी की माँग उसकी पूर्ति के बराबर हो। मार्शल के शब्दों में—"इस प्रकार ब्याज किसी बाजार में पूँजी के उपयोग की कीमत होने के कारण एक संतुलन की दशा में इस प्रकार निर्धारित होती है कि उस दर पर उस बाजार में पूँजी की कुल माँग उस समय पूँजी के कुल स्टॉक के बराबर होती है।"[1] इसी प्रकार हम यह कह सकते हैं कि "ब्याज का सही सिद्धान्त प्रतिष्ठित सिद्धान्त है, जिसके अनुसार ब्याज बचत की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है।"[2] ब्याज के इस सिद्धान्त को निम्न रेखा की सहायता से स्पष्ट किया गया है:—
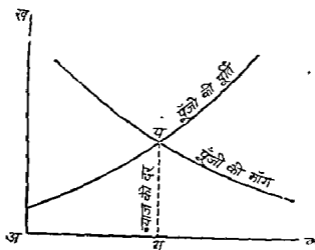
1. "Thus then interest, being the price paid for the use of Capital in any market, tends towards on equilibrium level such that the aggregate demand for capital in that market at that rate of interest is equal to the aggregate stock forthcoming there at that time."—Marshall : *Principle of Economics*.

2. "The correct theory of interest is the classical theory which maintains that interest is determined by the supply of, and the demand for saving."—J. K. Mehta and others : *Fundamentals of Economics*, p. 410.

प बिन्दु पर पूँजी की माँग और पूर्ति की रेखाएँ एक-दूसरी को काटती हैं। इसी बिन्दु पर बाजार में पूँजी की माँग उसकी पूर्ति के बराबर है, इसलिए साम्य की दशा में ब्याज की दर **प म** के बराबर होगी। ब्याज का सही और आधुनिक सिद्धान्त यही है। इस सिद्धान्त की प्रमुख विशेषता यह है कि पूँजी को एक साधारण वस्तु की भाँति माना गया है और ब्याज का निर्धारण ठीक इसी प्रकार होता है जैसे कि बाजार में किसी भी वस्तु की कीमत निर्धारित होती है।

ब्याज की दर में परिवर्तन होने के कारण—

उपरोक्त सिद्धान्त की सहायता से ब्याज की दर में परिवर्तनों के कारण सुगमतापूर्वक जाने जा सकते हैं। ये परिवर्तन पूँजी की माँग और पूर्ति के परिवर्तनों द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। यदि पूँजी की माँग बढ़ती है तो ब्याज की दर साधारणतया ऊपर उठ जाती है और इसी प्रकार यदि पूँजी की माँग घटती है तो ब्याज की सामान्य दर कम हो जाती है। पूर्ति के सीमित हो जाने से ब्याज बढ़ती है और यदि कुछ कारणों से पूर्ति बढ़ती है तो ब्याज की दर कम हो जाती है।

अल्पकाल में पूँजी की पूर्ति यथास्थिर ही होती है, इस कारण ब्याज की दर में पूँजी की माँग के परिवर्तनों का ही प्रभाव प्रधान रहता है। यदि नये आविष्कारों के कारण पूँजी के उपयोग की नई सम्भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं अथवा भविष्य में अधिक अच्छे व्यापार या व्यवसाय की आशा की जाती है तो ब्याज की दर ऊपर चली जाती है। ठीक इसी प्रकार यदि आर्थिक भविष्य का अनुमान निराशाजनक है तो ब्याज की दर गिर जायगी।

अल्पकाल में पूँजी की पूर्ति का भी ब्याज की दर पर प्रभाव पड़ सकता है। दैवी प्रकोपों, आर्थिक संकटों अथवा अन्य कारणों से बचत और पूँजी की पूर्ति में कमी आ सकती है और इस कारण ब्याज की दर बढ़ सकती है। इसी प्रकार अच्छी फसलें ब्याज की दर को गिरा सकती हैं। अल्पकालीन ब्याज की दर पर राजनैतिक कारणों का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। अनिश्चितता अथवा रक्षाहीनता (Insecurity) ब्याज की दर को बढ़ा देती हैं।

दीर्घकाल में भी अल्पकालीन कारणों का प्रभाव शेष रहता है, क्योंकि अल्पकालीन कोष दीर्घकालीन कोषों में परिवर्तित होते रहते हैं, परन्तु दीर्घकालीन ब्याज की दर पर दीर्घकालीन कारणों का ही अधिक प्रभाव पड़ता है। ऐसे कारण जन-संख्या तथा बचत करने की आदतों के परिवर्तनों द्वारा उपस्थित किए जाते हैं। साधारणतया जन-संख्या के बढ़ने से उत्पत्ति तथा पूँजी की माँग बढ़ जाने के कारण ब्याज की दर भी बढ़ जाती है। यदि लोग कालान्तर में पहले की अपेक्षा अधिक दूरदर्शी हो जाते हैं तो बचत तथा पूँजी की पूर्ति की वृद्धि के कारण ब्याज की दर में कमी हो जाती है। ठीक इसी प्रकार

भविष्य की अनिश्चितता का भी ब्याज की दर पर प्रभाव पड़ता है। यह अनिश्चितता पूँजी की पूर्ति को घटाकर ब्याज की दर को बढ़ा देती है।

साधारणतया दीर्घकालीन ब्याज की दर अल्पकालीन दर से ऊँची रहती है। दीर्घकाल में जोखिम का अंश अधिक होता है और ब्याज का एक भाग इस जोखिम के बदले के रूप में होता है, परन्तु कुछ दशाओं में दीर्घकाल की ब्याज की दर अल्पकालीन दर से भी कम हो सकती है, विशेषकर यदि भावी स्थिरता पर जनता को विश्वास हो। जिस प्रकार अल्पकालीन मूल्य में दीर्घकालीन मूल्य की अपेक्षा उतार-चढ़ाव अधिक होते हैं ठीक उसी प्रकार अल्पकालीन ब्याज की दर दीर्घकालीन दर की अपेक्षा अधिक तेजी तथा शीघ्रता से बदलती रहती है।

ब्याज की दरों में भिन्नता के कारण—

ब्याज के विभिन्न सिद्धान्तों में हमने ब्याज की सामान्य दर (General rate of Interest) का अध्ययन किया है, जो सभी स्थानों तथा उद्योगों में समान ही होती है और जिसमें कालान्तर में धीरे धीरे तथा बिना झटकों के ही परिवर्तन होते हैं, परन्तु ब्याज की सामान्य दर का अधिकतर सैद्धान्तिक महत्त्व ही होता है। व्यावहारिक जीवन में अलग-अलग स्थानों तथा अलग-अलग उद्योगों में ब्याज की दर में भारी अन्तर पाए जाते है। ऐसे अन्तरों के कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) विभिन्न स्थानों, देशों और उद्योगों के बीच पूँजी की गतिशीलता अपूर्ण (Imperfect) होती है। कुछ स्थानों अथवा उद्योगों में ब्याज की दर अधिक होते हुए भी पूँजी दूसरे स्थानों अथवा उद्योगों से हटाकर वहाँ नहीं ले जाई जाती है।

(२) साहूकार या ऋणदाता को कर्ज देने में कुछ न कुछ जोखिम अवश्य उठानी पड़ती है, इसलिए उधार लेने वाले से जमानत या धरोहर लिया जाता है। जो लोग अच्छी जमानत नहीं दे सकते या जिनकी साख अथवा आर्थिक स्थिति विश्वसनीय नहीं होती है, उनसे अधिक ब्याज लिया जाता है। इसके विपरीत प्रसिद्ध फर्म और व्यवसायी कम ब्याज पर ऋण पा जाते हैं।

(३) ऋण अलग-अलग समय के लिये लिए जाते हैं। कुछ लम्बे समय के लिए होते हैं और कुछ थोड़े समय के लिए। लम्बे समय के ऋणों पर ब्याज की दर अधिकतर ऊँची होती है, क्योंकि प्रतीक्षा और समय-वरीयता तथा द्रवता-पसन्दगी के त्याग की अवधि लम्बी होती है।

(४) अधिकांश लोग अपनी पूँजी को दूर के स्थान की अपेक्षा निकट के स्थानों में लगाना अधिक अच्छा समझते हैं। इस कारण दूर

के स्थानों पर, जहाँ पूँजी का अपेक्षतन अभाव है, ब्याज की दर ऊँची रह सकती है।

(५) पूँजी की उत्पादकता भी सभी उद्योगों में समान नहीं होती है। यदि उत्पादक पूँजी के उपयोग द्वारा अधिक लाभ उठाता है तो वह ऊँची ब्याज देने को तैयार हो जाता है। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत अन्त में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता सभी उद्योगों और स्थानों पर समान हो जायगी और ब्याज की दर के अन्तर समाप्त हो जायेंगे, परन्तु वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव इस स्थिति को आने ही नहीं देता है।

ब्याज की दर की भिन्नता के कारण की व्याख्या से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्याज की दरों में अन्तरों के कारण अधिकतर उधार देने से सम्बन्धित जोखिम तथा असुविधाओं से उत्पन्न होते हैं और पूँजी के बाजार का अपूर्ण होना ही उनका मुख्य कारण है। बाजार विशेष में शुद्ध ब्याज की दर सदा एक ही रहती है।

आर्थिक उन्नति और ब्याज की दर—

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि ब्याज की दर और आर्थिक उन्नति में क्या सम्बन्ध है? भविष्य के विषय में यह आशा की जा सकती है कि शिल्प, वैज्ञानिक (Technical) उन्नति, उत्पत्ति की मात्रा तथा उसके रूप, आय जीवन-स्तर, उपभोग स्तर, इत्यादि में उन्नति-तथा सुधार होंगे। इन सबके फलस्वरूप उत्पत्ति की माँग में वृद्धि होगी, जिसके लिए उत्पादन का बढ़ाना आवश्यक हो जायगा। उत्पत्ति की वृद्धि निश्चय ही पूँजी की माँग को बढ़ायेगी, जिसके कारण ब्याज की दर को ऊँचा जाना चाहिए, अतः माँग की वृद्धि के दृष्टिकोण से ब्याज की दरों की भविष्य में ऊपर जाने की आशा की जा सकती है।

परन्तु ध्यान रहे कि ब्याज की दर पर पूँजी की माँग के अतिरिक्त पूँजी की पूर्ति का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। आय के बढ़ने के साथ-साथ भविष्य में समाज की बचत करने की क्षमता भी बढ़ जायगी। उत्पत्ति अथवा आय और उपभोग का अन्तर बढ़ जायगा, जिससे अधिक पूँजी के संचय की सम्भावना उत्पन्न हो जायगी। साथ ही, शिक्षा, सुरक्षा तथा सम्पन्नता के कारण बचत करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा और बैंकों, बीमा कम्पनियों तथा उद्योग-धन्धों के विकास के कारण बचत करने की सुविधायें बढ़ जायँगी। इन सब कारणों का सामूहिक परिणाम यह होगा कि पूँजी की पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि होगी, परन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह भी याद रखना चाहिए कि भविष्य में कुछ ऐसी दशाएँ भी उत्पन्न होने की सम्भावना है, जो बचत को हतोत्साहित करें। बुढ़ापे को

पेन्शन, बेरोजगारी का बोमा, सरकारी निःशुल्क चिकित्सा, निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था आदि कारण बचत करने की प्रवृत्ति को कम करते हैं। फिर भी इन कारणों के होते हुए भी भविष्य में पूँजी की वृद्धि की अत्यधिक सम्भावना की जा सकती है और इस कारण ब्याज की दर के गिरने की आशा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भविष्य में माँग की शक्ति ब्याज की दर को ऊपर की ओर खींचेगी और पूँजी की पूर्ति उनको नीचे लाने का प्रयत्न करेगी। देखना यह है कि कौनसी शक्ति अधिक बलवान होगी। भाग्य से आधुनिक उत्पादन प्रणाली में एक ऐसी प्रवृत्ति कार्यशील है, जो भविष्य में पूँजी की माँग को काफी कम कर सकती है। आधुनिक आविष्कार केवल श्रम की बचत ही नहीं करते हैं, वरन् पूँजी की भी बचत करते हैं (Modern inventions are not only labour-saving but they are also capital-saving)। प्रतिदिन ही ऐसी नई-नई मशीनों का आविष्कार होता रहता है, जो द्रव्यिक पूँजी की माँग को कम कर देती हैं। उदाहरणस्वरूप, यदि कल एक ऐसी मशीन बनी थी, जो १०,००० रुपये की कीमत की है और २०० इकाई प्रतिदिन उत्पादन करती है तो आज एक ऐसी मशीन बनेगी, जो १५,००० रुपये की हो, परन्तु ४०० इकाई प्रतिदिन उत्पादन करे। निश्चय है कि इस दशा में प्रति इकाई उत्पादन के पीछे पूँजी की माँग घटती जाती है। दूसरे, पश्चिमी देशों में जन संख्या या तो गिरने और या स्थिर रहने की प्रवृत्ति रखती है, जो भविष्य में उत्पत्ति की माँग को रोकने का सूचक है, अतः शायद यह कहना अनुचित न होगा कि भविष्य में पूँजी की पूर्ति की, उसकी माँग की अपेक्षा, अधिक तेजी से बढ़ने की सम्भावना है और यही कारण है कि भविष्य में ब्याज की दर के गिरने की आशा की जाती है।

क्या ब्याज की दर शून्य के बराबर हो सकती है?—

अब देखना यह है कि इस प्रकार गिरते-गिरते क्या भविष्य में ब्याज की दर शून्य के बराबर हो सकती है? इस प्रश्न का अध्ययन सर्वप्रथम मिल (J.S. Mill) ने किया था। उनका विचार था कि भविष्य में ब्याज की दर अवश्य गिरेगी, परन्तु वह शून्य के बराबर कभी भी नहीं होगी। इसके विपरीत कुछ अर्थशास्त्री ऐसे भी हैं, जिनके विचार में ब्याज की दर शून्य (Zero) के बराबर हो सकती है। इस सम्बन्ध में शुमपीटर (Schumpeter) का विचार है कि स्थिर अवस्था (Static state) अथवा प्रगतिहीन समाज में ब्याज की दर शून्य पर आ जायगी, क्योंकि यहाँ लाभ का पूर्णतया लोप हो जाता है।*

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि यह विचार सही नहीं है। माँग

* See Robbins: On some ambiguity in the conception of Stationary Equilibrium, Economic Journal of June, 1930.

के दृष्टिकोण से इस अवस्था का अर्थ यह होता है कि पूँजी की सीमान्त उपज शून्य के बराबर हो जाय, अर्थात् अधिक पूँजी लगा कर भी उत्पत्ति को बढ़ाने की सम्भावना न रहे और मानव समाज की उत्पादन-शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाय। यह तभी सम्भव है, जबकि मनुष्य की सारी आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ, जो असम्भव है, क्योंकि यदि वर्तमान आवश्यकताएँ सन्तुष्ट भी हो जाती हैं तो प्रतिदिन ही और नई आवश्यकताएँ उत्पन्न होती रहती हैं। साथ ही, शिल्प-वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ उत्पत्ति-प्रणाली अधिक घुमावदार (Round-about) होती जाती है, जिससे पूँजी का महत्त्व तथा उसकी सीमान्त उत्पादकता घटने के स्थान पर बढ़ती ही जाती है। इस प्रकार पूँजी की सीमान्त उपज शून्य से ऊपर ही रहेगी।

इसी प्रकार पूँजी की पूर्ति के दृष्टिकोण से भी ब्याज की दर शून्य नहीं हो सकती। ऐसी ब्याज की दर का अभिप्राय यह होगा कि हम बिना ब्याज की आशा या प्रलोभन के भी बचत करते रहेंगे और कर्ज देते जायेंगे। दूसरे शब्दों में, बचत सम्बन्धी त्याग, प्रतीक्षा, पारितोषिक, समय-वरीयता तथा द्रवता-पसन्दगी समाप्त हो जायेंगी। ये सब बातें मनुष्य की मनोवृत्ति तथा कार्यवाहकता में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं कि इनका अन्त सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि ब्याज की दर गिरने से ही ये प्रवृत्तियाँ अधिक बलवान होने लगती हैं। रोबिन्स ने ठीक ही कहा है कि "संस्थाओं तथा मनोविज्ञान से सम्बन्धित कुछ ऐसे प्रभाव सदा ही विद्यमान रहते हैं, जो ब्याज की दर को शून्य से बहुत ऊपर ही रोक देते हैं।"* इस प्रकार ब्याज की दर के शून्य पर आ जाने की सम्भावना नहीं हो सकती है।

समाजवाद और ब्याज—

कार्ल मार्क्स तथा अन्य समाजवादी लेखक ब्याज के औचित्य पर आक्षेप करते हैं। वे मूल्य के श्रम सिद्धान्त के समर्थक हैं। मूल्य का निर्धारण उत्पादन में लगी हुई श्रम की मात्रा से होता है। कुल उत्पत्ति श्रम के फलस्वरूप ही होती है और उस पर उसी का अधिकार होना चाहिए, परन्तु पूँजीवाद में पूँजीपति श्रमिक को केवल उसके जीवन-निर्वाह योग्य ही मजदूरी देता है और शेष आय को स्वयं हड़प जाता है। इस प्रकार ब्याज श्रमिकों का शोषण है और एक प्रकार की चोरी या ठगी है।

स्मरण रहे कि ब्याज निजी सम्पत्ति (Private Property) व्यवस्था का ही एक अंग है। समाजवाद में इस प्रकार की सम्पति के न रहने के कारण ब्याज का अस्तित्व ही मिट जाता है। समाजवाद में ब्याज को आय की दृष्टि से नहीं देखा जाता है, वरन् केवल हिसाब-किताब रखने (Accounting) की दृष्टि से देखा जाता है। समाजवादी सरकार विभिन्न उद्योगों में पूँजी लगाने के

* *Ibid.*

पूर्व लाभ का मान निश्चित कर लेती है। सभी उद्योगों में समान लाभ नहीं होता। यदि सरकार यह निश्चय कर लेती है कि जिन उद्योगों में ५% से कम लाभ होगा, उनमें पूँजी नहीं लगाई जायगी तो ऐसे आदर्श लाभ की दर को एक प्रकार से उद्योग में लगाई हुई पूँजी की ब्याज की दर ही कहा जा सकता है। समाजवादी देशों में ब्याज की दर एक प्रकार की "छलनी है, जिसमें से उत्पत्ति की योजनाएँ छानी जाती हैं और केवल उन्हीं को ग्रहण किया जाता है, जिनसे भविष्य में अधिक लाभ की आशा की जाती है।"* इसी प्रकार उत्पादन और उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन का अनुपात निश्चित करते समय भी समाजवादी सरकार को ब्याज की दर की शरण लेनी पड़ती है। जो मजदूर उत्पादक वस्तुओं के निर्माण में लगाये जाते हैं, उनका पालन-पोषण उस समय तक जब तक कि ये उत्पादक वस्तुएँ उपभोग की वस्तुएँ नहीं बनाने लगती हैं, अन्य मजदूरों की उपभोग की वस्तुओं में से प्रति सैकड़ा कटौती काट कर ही किया जाता है।

ब्याज और लगान में अन्तर—

आधुनिक अर्थशास्त्र में, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भूमि को उत्पत्ति का एक साधन नहीं माना गया है। आधुनिक तथा प्राचीन भूमि की परिभाषाओं के अन्तर को हम देख ही चुके हैं। लगभग बहुत सी वे वस्तुएँ, जैसे—नहरें, खेती योग्य भूमि, इत्यादि, इन्हें प्राचीन अर्थशास्त्री भूमि कहते थे, आजकल पूँजी ही समझी जाती हैं। लगान उत्पत्ति के किसी भी साधन को प्राप्त हो सकता है, यदि उसमें विशिष्टता (Specificity) का गुण है। ब्याज पूँजी का पारितोषण है, जबकि पूँजी का लगान इस पारितोषण अथवा ब्याज के ऊपर एक आधिक्य है। ब्याज के निर्धारण तथा परिवर्तनों पर जिन कारणों का प्रभाव पड़ता है वे उनसे पूर्णतया भिन्न हैं, जिनसे लगान प्रभावित होता है। लगान कीमत में सम्मिलित नहीं होता, जबकि ब्याज कीमत अथवा उत्पादन व्यय का एक अनिवार्य अङ्ग है। अन्त में, ब्याज अल्पकाल में भी हो सकता है और दीर्घकाल में भी, जबकि लगान केवल अल्पकाल तथा आभास-दीर्घकाल में ही होता है। ब्याज लगान की भाँति एक आधिक्य (Surplus) नहीं है और केवल पूँजी को ही प्राप्त होता है।

---

* Henderson : *Supply and Demand*, p. 130.

अध्याय ६

लाभ और उसके सिद्धान्त

(Profit and the Theories of Profit)

लाभ किसे कहते हैं ?—

उत्पत्ति का चौथा साधन साहस है। उत्पादन में साहसी का कार्य भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक उत्पत्ति के कार्य में, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, कुछ न कुछ जोखिम अवश्य रहती है। साहसी का काम व्यवसाय की जोखिम अथवा अनिश्चितता को उठाना होता है। एक साहसी का प्रधान कार्य यही होता है कि वह उन सब खतरों और अनिश्चितताओं को सहन करे, जो प्रत्येक व्यवसाय का एक अनिवार्य अंग होते हैं। जोखिम उठाना कोई रुचिकर कार्य नहीं होता है। कोई भी मनुष्य अनिश्चितता नहीं चाहता है, अतः साहसी बिना किसी प्रलोभन के जोखिम नहीं उठायेगा और बिना जोखिम उठाये उत्पादन नहीं हो सकता। उत्पत्ति के साधन साहस को सभी साधनों की सामूहिक उपज में से जो हिस्सा मिलता है, उसी को हम लाभ कहते हैं। लाभ जोखिम उठाने का पारितोषिक है। प्रो० महता के अनुसार अनिश्चितता के कारण इस प्रवैगिक संसार में उत्पादन कार्यों में एक चौथे प्रकार का त्याग उत्पन्न हो जाता है। यह जोखिम उठाना अथवा अनिश्चितता सहन करना है, इसका पुरस्कार लाभ होता है।*

प्रतिदिन की बोल-चाल में लाभ शब्द बड़े विस्तृत तथा अनिश्चित अर्थ में प्रयोग होता है। जन-साधारण का लाभ से अभिप्राय कुल उत्पत्ति के मूल्य तथा उसके कुल उत्पादन व्यय के अन्तर से होता है। जितनी रकम कुल उपज को बेच कर प्राप्त होती है तथा उत्पत्ति करने में जितनी कुल लागत होती है, इन दोनों के अन्तर को ही लाभ का नाम दिया जाता है, परन्तु जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, आर्थिक भाषा में इस प्रकार के लाभ को सकल लाभ कहा जाता है, जबकि शुद्ध या आर्थिक लाभ इसका केवल एक भाग ही होता है, वह भाग जो साहसी को जोखिम उठाने के बदले में मिलता है।

लगान, मजदूरी और ब्याज की अपेक्षा लाभ का अध्ययन अधिक कठिन है। यह कठिनाई दो कारणों से उत्पन्न होती है : प्रथम तो, साहस तथा अन्य

* "This element of uncertainty introduces a fourth category of sacrifice in the productive activities of men in a dynamic world. This category is risk-taking or uncertainty-bearing. It is remunerated by profits."—J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 282.

साधनों में एक मौलिक भेद है। प्रत्येक साधन का स्वामी एक विक्रेता की हैसियत रखता है, जबकि साहसी इन सबका खरीददार होता है। तब फिर साहसी की सेवाओं को कौन खरीदता है? इस प्रश्न का उत्तर शायद यह हो सकता है कि सभी साधनों की सेवाएँ अन्त में समाज द्वारा खरीदी जाती हैं। अन्तर केवल इतना है कि अन्य सभी साधनों की सेवाओं का मूल्य साहसी द्वारा नियत होता है, जबकि साहसी की सेवाओं का मूल्य विभिन्न साहसियों की आपसी प्रतियोगिता द्वारा ही नियत होता है। दूसरी कठिनाई यह है कि साहसी को जो कुल पारितोषिक प्राप्त होता है, उस सबको हम साहस की सेवाओं का मूल्य नहीं कह सकते हैं। उसमे तो साहस के मूल्य के अतिरिक्त साहसी के श्रम का मूल्य भी सम्मिलित रहता है।

सकल लाभ तथा शुद्ध लाभ (Gross Profit and Net Profit)—

समस्त उत्पत्ति के कुल मूल्य में से कुल उत्पादन-व्यय को निकाल देने पर जो कुछ शेष रहता है, उसको हम सकल लाभ कहते हैं। साधारण बोलचाल में लोग लाभ शब्द को इसी अर्थ में उपयोग करते हैं। ऐसा लाभ साहसी की कुल कमाई को सूचित करता है, जो साहसी को इसकी समस्त सेवाओं के लिए प्राप्त होती है। यह केवल जोखिम उठाने का ही बदला नहीं है। शुद्ध लाभ साहस की केवल जोखिम उठाने सम्बन्धी सेवाओं का ही मूल्य होता है। सकल ब्याज में निम्न प्रकार के पारितोषिक सम्मिलित होते हैं:—

(१) शुद्ध लाभ—जो जोखिम उठाने का बदला होता है।

(२) साहसी की अपनी निजी भूमि का लगान—प्रायः साहसी अपनी निजी भूमि को भी उत्पादन में लगा देता है। अब क्योंकि वह स्वयं ही उस भूमि का स्वामी होता है, इसलिये ऐसी भूमि का लगान अलग से नहीं लेता है।

(३) व्यवसाय में लगाई हुई साहसी की अपनी पूँजी का ब्याज—जब साहसी अपनी निजी पूँजी को अपने व्यवसाय में लगाता है तो वह इसका ब्याज भी अलग से नहीं लेता है, यद्यपि इस पूँजी को उधार देने की दशा में उसे ब्याज अवश्य मिलता है।

(४) साहसी की प्रबन्धक अथवा निरीक्षक के रूप में मजदूरी—साहसी व्यवसाय का प्रबन्ध तथा उसकी देखभाल का भी काम करता है और इस कार्य के लिए उसे वेतन मिलना आवश्यक है।

(५) साहसी की योग्यता का लगान (Rent of ability)—कोई-कोई साहसी विशेष योग्यता रखता है और भूमिपतियों, श्रमिकों, पूँजीपतियों, कच्चे माल के उत्पादकों तथा यातायात कम्पनियों से लाभजनक सौदे करके विशेष बचत कर लेता है।

(६) एकाधिकारी लाभ—साहसी बाजार की अपूर्णता से लाभ उठा कर विशेष कमाई कर सकता है।

(७) आकस्मिक लाभ—ये लाभ विशेष परिस्थितियों, अवसर तथा भाग्य पर निर्भर होते हैं। उदाहरणस्वरूप, अकस्मात ही लड़ाई के आरम्भ होने अथवा बाढ़ आ जाने के कारण बिना आशा ही लाभ प्राप्त हो सकता है, जो केवल संयोग से ही उत्पन्न हो जाता है।

लाभ के विचार में एक बड़ी कठिनाई यह है कि विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने लाभ में विभिन्न वस्तुओं को सम्मिलित किया है। मार्शल तथा अन्य अंग्रेज आर्थिक लेखक लाभ में जोखिम उठाने के पारितोषिक के अतिरिक्त व्यवसायी की अपनी पूँजी के ब्याज और प्रबन्धक के पारितोषण को भी सम्मिलित करते हैं, परन्तु वाकर (Walker) तथा अन्य बहुत से विद्वान साहसी की शुद्ध कमाई को ही लाभ कहते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र में भी यही मत अपनाया गया है कि लाभ केवल साहसी के जोखिम उठाने का ही बदला है। "शुद्ध लाभ केवल जोखिम उठाने का ही पारितोषिक है। साहसी का आवश्यक कार्य (जोखिम उठाना) ऐसा है, जो केवल वही कर सकता है।"* उसे उत्पन्न होने वाली वस्तु की भावी माँग का अनुमान लगाना पड़ता है, जो सरल काम नहीं है।

लाभ का वर्गीकरण (The Classification of Profits)—

लाभ को अर्थशास्त्र में कई प्रकार से वर्गीकृत किया गया है, परन्तु निम्न वर्गीकरण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—(१) सामान्य लाभ और अतिरिक्त लाभ (Normal Profits and Surplus Profits), (२) प्रति वर्ष लाभ और क्रयः राशि पर लाभ (Annual Profits and Profits on the Turnover) और (३) एकाधिकारी लाभ और आकस्मिक लाभ, (Monopoly Profits and Windfall Profits)। इनमें प्रत्येक का अलग-अलग अध्ययन निम्न प्रकार है :—

(१) सामान्य लाभ और अतिरिक्त लाभ—इन दोनों प्रकार के लाभों के बीच अलग-अलग अर्थशास्त्रियों ने अलग-अलग भेद किया है। प्रो० नाइट के अनुसार जोखिम दो प्रकार की होती है—ज्ञात जोखिम अथवा निश्चित जोखिम और अज्ञात जोखिम अथवा अनिश्चित जोखिम। प्रथम प्रकार की जोखिम ऐसी होती है कि उसके बारे में काफी बड़े अंश तक पहले से ही अनुमान लगाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, ऐसी जोखिम वह जोखिम होती है, जिसके विरुद्ध बीमा कराया जा सकता है। इसके विपरीत अज्ञात अथवा अनिश्चित जोखिम वह है, जिसके बारे में पहले से कुछ भी नहीं जाना जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, एक माली, जो जुलाई के महीने में बाग लगाता

* "Pure profits are only the remuneration for risk-taking The essential function of the entrepreneur (risk-taking) is such that he alone can perform it."—Thomas : *Elements of Economics*, p 293.

है, यह जानता है कि दिसम्बर और जनवरी के महीनों में कोहरा (Frost) पड़ेगा, जो छोटे-छोटे पौधों को जला देगा। इस जोखिम के विरुद्ध वह पहले से ही उपचार करता है। साधारणतया जाड़ा आरम्भ होते ही छोटे-छोटे पौदों को ऊपर से ढक दिया जाता है। इस प्रकार की जोखिम के विरुद्ध पहले से ही व्यवस्था कर दी जाती है और इस प्रकार जो लागत पड़ती है, उसे उत्पादन व्यय में सम्मिलित कर लिया जाता है। ऐसी जोखिम के पारितोषण को हम सामान्य लाभ (Normal Profits) कह सकते हैं। इसके विपरीत बाग लगाने वाले व्यक्ति के लिए यह अनुमान लगाना कठिन होता है कि ओला (Hailstorm) अथवा बाढ़ से उसका सारा बाग नष्ट हो सकता है। इस प्रकार की जोखिम भी प्रत्येक व्यवसाय में रहती है। यही अज्ञात अथवा अनिश्चित जोखिम है। ऐसी जोखिम के पारितोषण को अतिरिक्त लाभ (Surplus Profits) कहा जा सकता है। इस आधार पर इन दोनों प्रकार के लाभों में निम्न प्रकार भेद किया जा सकता है :—

(१) सामान्य लाभ ज्ञात या निश्चित खतरों के उठाने के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं, जबकि अतिरिक्त लाभ अज्ञात और अनिश्चित खतरों के उठाने के लिए प्राप्त होते हैं।

(२) सामान्य लाभ उत्पादन व्यय में शामिल होता है, जबकि अतिरिक्त लाभ इस प्रकार शामिल नहीं होता है।

(३) सामान्य लाभ में स्थिरता रहती है और उसकी पहले से ही माप की जा सकती है। अतिरिक्त लाभ में तेजी के साथ परिवर्तन होते रहते हैं और उसकी कोई भी सामान्य दर नहीं होती है।

(४) सामान्य लाभ सदा ही धनात्मक (Positive) होता है, जबकि अतिरिक्त लाभ धनात्मक और ऋणात्मक दोनों ही प्रकार का हो सकता है।

पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में, जबकि कीमत इस प्रकार निर्धारित होती है कि लाभ समाप्त हो जाते हैं और कीमत उत्पादन व्यय के बराबर होती है, सामान्य लाभ अवश्य रहते हैं, क्योंकि सामान्य लाभों को पहले से ही उत्पादन व्यय में जोड़ लिया जाता है।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने दूसरे दृष्टिकोण से भी इन दोनों प्रकार के लाभों के बीच भेद किया है। यह निश्चय है कि प्रत्येक व्यवसायी लाभ की ही आशा पर व्यवसाय करता है, परन्तु अल्पकाल में कोई व्यक्ति थोड़े से लाभ, बिना लाभ अथवा घाटे पर भी व्यवसाय कर सकता है। दीर्घकाल में लाभों का होना आवश्यक है, अन्यथा व्यवसाय बन्द कर दिया जायगा। सामान्य लाभ वह लाभ है जिसकी आशा पर व्यवसायी अपने व्यवसाय में बना रहता है। यह दीर्घकालीन लाभ

होता है। ऐसा लाभ सीमान्त व्यवसायी (Marginal Producer) को भी प्राप्त होता है। मार्शल का विचार है कि किसी वस्तु का दीर्घकालीन मूल्य बाजार में प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन व्यय द्वारा निर्धारित होता है और इस उत्पादन व्यय में सामान्य लाभ भी शामिल होता है। श्रीमती जोन रोबिन्सन (Mrs. Joan Robinson) के अनुसार सामान्य लाभ उस लाभ को कहते हैं, जिसके प्राप्त होने पर कोई नई फर्म व्यवसाय में आकर्षित नहीं होती है और पुरानी फर्म व्यवसाय को बन्द नहीं करती है। यदि वास्तविक लाभ इससे अधिक है तो नई फर्में व्यवसाय में आयेंगी और यदि इससे कम है तो पुरानी फर्में व्यवसाय में से जाने लगेंगी।

इसके विपरीत अतिरिक्त लाभ लगान की भाँति एक प्रकार का आधिक्य है, जो सीमान्त साहसी के उत्पादन व्यय से ऊपर होता है। कीमत तो सीमान्त उत्पादक के उत्पादन व्यय द्वारा निश्चित होती है। अतिरिक्त लाभ कीमत को प्रभावित नहीं कर सकता है। व्यवसाय की ओर नई फर्मों को आकर्षित करने के लिए यह आवश्यक है कि सामान्य लाभ के साथ-साथ अतिरिक्त लाभ भी हो।

(२) प्रति वर्ष लाभ और क्रयः राशि पर लाभ—प्रति वर्ष लाभ से हमारा अभिप्राय कुल लगाई हुई पूँजी की वार्षिक लाभ की दर से होता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यवसाय में १०,००० रुपये की कुल पूँजी लगाई गई है और एक साल में इस पूँजी पर सब प्रकार के खर्चे काटकर १,००० रुपये का शुद्ध लाभ होता है तो लाभ की वार्षिक दर १०% होगी। क्रयः राशि पर लाभ से हमारा अभिप्राय उस लाभ से होता है जो पूँजी के प्रत्येक फेर (Turnover) पर प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि बहुत सी दशाओं में व्यवसाय में लगाई हुई पूँजी एक साल में कई बार फिर सकती है। रुपया उधार देने के व्यवसाय में तो यह बहुधा होता ही रहता है कि रुपया लौट-लौटकर आता रहता है और फिर आगे उधार दे दिया जाता है। यदि रुपये का इस प्रकार फेर न बने तो व्यवसायी के लिए व्यवसाय चलाना ही कठिन हो जाये। छोटे-छोटे फुटकर व्यापारी जिनके पास पूँजी की कमी होती है, कम लाभ पर भी वस्तुएँ बेच देते हैं, उद्देश्य यह होता है कि रुपये का फेर बना रहे। इस प्रकार फेर बने रहने से पूँजी की एक निश्चित मात्रा पर बार-बार लाभ प्राप्त होता है, जिसे हम क्रयःराशि पर लाभ (Profit on the Turnover) कहते हैं, यद्यपि इस लाभ की दर बहुत नीची होती है, परन्तु पूँजी का फेर इतनी जल्दी-जल्दी होता रहता है कि लाभ की वार्षिक दर काफी ऊँची हो जाती है। उदाहरणस्वरूप, यदि १,००० रुपये की पूँजी लगाई गई है, जिसकी एक वर्ष में १५ बार फेर होती है और प्रत्येक फेर पर लाभ २% होता है तो ऐसी दशा में क्रयःराशि पर २% लाभ होगा, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक फेर पर लाभ की दर समान हो रहे। ऐसी दशा में साल भर में १,००० रुपये की कुल

पूँजी पर २×१०×१५=३०० रुपये का लाभ होगा और लाभ की वार्षिक दर ३०% होगी। साधारणतया छोटे व्यवसायों और फुटकर व्यापारों में पूँजी का फेर जल्दी-जल्दी होता है। थोक व्यापार और बड़े व्यवसायों में पूँजी का फेर इतनी जल्दी-जल्दी नहीं होता है।

(३) एकाधिकारी लाभ और आकस्मिक लाभ—एकाधिकारी लाभ से हमारा अभिप्राय ऐसे लाभ से होता है, जो एक व्यवसाय को उसकी विशेष स्थिति के कारण उत्पन्न होता है। हो सकता है कि कुछ प्राकृतिक अथवा अन्य कारणों से व्यवसायी का बाजार में कोई दूसरा प्रतियोगी न हो। ऐसी दशा में व्यवसायी के लिए अपने माल को ऊँची कीमत पर बेच कर विशेष लाभ कमाने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार का अतिरिक्त लाभ उत्पादक की एकाधिकारी स्थिति के कारण उत्पन्न होता है। यह उस लाभ के अतिरिक्त होता है जो उत्पादक को प्रतियोगिता की दशा में प्राप्त होता है। ऐसे लाभ को हम एकाधिकारी लाभ कहते हैं।

आकस्मिक लाभ (Windfall Profit) ऐसा लाभ होता है जो संयोग से प्राप्त हो जाता है। यह सुअवसर के कारण उत्पन्न होता है और इसके निर्धारण पर किसी भी प्रकार के आर्थिक नियम लागू नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए, अकस्मात ही लड़ाई छिड़ जाने के कारण अथवा किसी दैवी प्रकोप के कारण माल के रखे-रखाये स्टॉक की कीमत में वृद्धि हो जाने से आकस्मिक लाभ प्राप्त हो सकता है।

लाभ के सिद्धान्त (The Theories of Profits)—

लगान, मजदूरी अथवा ब्याज की अपेक्षा लाभ का विषय अधिक विवादग्रस्त है। अभी तक भी अर्थशास्त्री लाभ के सिद्धान्त के विषय में एक मत नहीं हैं। कोई लाभ को एक विशेष प्रकार का लगान बताता है और कोई मजदूरी। जोखिम उठाने के महत्त्व को तो आधुनिक युग में सभी स्वीकार करते हैं, परन्तु जोखिम और लाभ के सम्बन्ध को बहुधा ठीक-ठीक नहीं समझा जाता है। फिर भी, जैसा कि हम अन्त में देखेंगे, लाभ-निर्धारण का सबसे अच्छा सिद्धान्त, मूल्य का सामान्य सिद्धान्त अर्थात् माँग और पूर्ति का सिद्धान्त ही है। लाभ के मुख्य मुख्य सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :—

(१) लाभ का लगान सिद्धान्त (The Rent Theory of Profits)—

लाभ का यह सिद्धान्त सर्वप्रथम वाकर (F. L. Walker) नामी अमेरिकन अर्थशास्त्री ने प्रतिपादित किया था। उन्होंने सबसे पहले पूँजीपति (Capitalist) तथा साहसी (Entrepreneur) के बीच भेद किया है। वाकर का मत है कि पूँजीपति का कार्य पूँजी की पूर्ति करना है। साहसी के लिये पूँजीपति होना आवश्यक नहीं है। वह अपनी कुछ भी पूँजी लगाये बिना व्यवसाय को आरम्भ कर सकता है।

वाकर के विचार में लाभ योग्यता का लगान है। जिस प्रकार विभिन्न प्रकार की भूमि का उपजाऊपन अलग-अलग होता है, उसी प्रकार विभिन्न साहसियों की व्यावसायिक योग्यता में भी बहुत अन्तर होता है। बहुत से साहसी काफी अकुशल होते हैं। वे व्यवसाय में केवल इसीलिए बने रहते हैं कि उनके उत्पादन की माँग होती है, अन्यथा वे कुछ भी लाभ नहीं कमाते, केवल उत्पादन-व्यय को ही प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु कुछ साहसी इनसे कुशल होते हैं और कुछ और भी कुशल। जिस प्रकार भूमि के कुछ टुकड़ों को अधिक उपजाऊपन अथवा अच्छी स्थिति के कारण दूसरे टुकड़ों पर कुछ विशेषक लाभ (Differential advantages) प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार अधिक योग्यता के कारण कुछ साहसियों को भी दूसरों की अपेक्षा विशेष लाभ प्राप्त होते हैं। लगान की भांति लाभ भी वह पारितोषिक है, जो अच्छे साहसियों को बुरे साहसियों के पारितोषिक से ऊपर उनकी विशेष योग्यता के कारण मिलता है।* जिस प्रकार लगान-रहित भूमि होती है, ठीक उसी प्रकार लाभ-रहित साहसी (no-profit entrepreneur) भी होते हैं, जो सीमान्त साहसी होते हैं और दामों के थोड़ा-सा कम होते ही व्यवसाय को छोड़ देते हैं। इस प्रकार लाभ को हम योग्यता का लगान कह सकते हैं। वाकर के अनुसार लगान की भांति लाभ भी उत्पादन-व्यय में सम्मिलित नहीं होता है। स्मरण रहे कि लाभ-रहित साहसी को भी कुछ न कुछ आय होती है, जो उसको उसकी प्रबन्धक के रूप में प्रस्तुत की हुई सेवाओं के फलस्वरूप मिलती है, परन्तु यह प्रबन्ध की मजदूरी होती है, लाभ नहीं। ऐसी मजदूरी को उत्पादन-व्यय में सम्मिलित किया जाता है।

आलोचनाएँ—

लाभ का यह सिद्धान्त सही नहीं है। जैसा कि स्पष्ट है, यह रिकार्डो के लगान सिद्धान्त पर आधारित है, जो स्वयं ठीक नहीं है। साथ ही, जिस प्रकार की कमाई को वाकर ने लाभ कहा है, उसको हम मार्शल के शब्दों में योग्यता का लगान कह सकते हैं, जो एक प्रकार का लगान ही होता है और केवल साहसी को ही नहीं, वरन् विशेष योग्यता रखने वाले उत्पत्ति के किसी भी साधन को प्राप्त हो सकता है।

दूसरे, लाभ का यह सिद्धान्त कुछ मौलिक प्रश्नों पर प्रकाश नहीं डालता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वाकर ने लाभ की प्रकृति को ही नहीं समझा है। लाभ को जोखिम उठाने का पारितोषिक कहा जाता है, जबकि साहसी की विशेष

1 "Profit is the Rent of Ability. Just as there is no-rent land whose produce just covers the price so there is no-profit firm or entrepreneur whose income just covers the cost of production; and just as rent of a piece of land is a surplus above the no-rent land and does not enter into price, so profit of a firm is a surplus above the no-profit firm."—Francis L. Walker.

योग्यता जोखिम उठाने से सम्बन्धित नहीं होती, वरन् जोखिम को दूर करने से सम्बन्धित होती है। इस प्रकार लाभ को जोखिम उठाने की योग्यता के विपरीत जोखिम उठाने की योग्यता का पुरस्कार माना गया है, जो ठीक नहीं है। तीसरे, व्यवसाय में कुछ लोगों को लाभ होते हैं तो कुछ को हानियाँ भी होती हैं, जो विभिन्न कारणों से उपस्थित होती हैं। यदि हम कुल लाभ में से कुल हानि की मात्रा को निकाल दें तो शायद कुछ भी शेष नहीं रहेगा, परन्तु वाकर ऐसा नहीं समझते हैं। चौथे, जैसा कि हम देखते हैं, सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों के साधारण हिस्सेदार बिना किसी विशेष योग्यता के उपयोग के ही लाभ कमाते हैं, जो इस सिद्धान्त के अनुसार नहीं होना चाहिए। पाँचवे, इस सिद्धान्त द्वारा लाभ के आकार की भी विवेचना नहीं होती है। वाकर के अनुसार अच्छे साहसियों की संख्या का सीमित होना ही लाभ का कारण है, परन्तु यह सीमितता क्यों और किस प्रकार उत्पन्न होती है, इसका इस सिद्धान्त में विचार नहीं किया गया है। अन्त में, हम यह भी कह सकते हैं कि यह कहना भूल है कि लाभ उत्पादन-व्यय में सम्मिलित नहीं होता है, क्योंकि दीर्घकाल में यह असम्भव है और फिर सामान्य लाभ (Normal Profit) तो उत्पादन-व्यय का एक आवश्यक अङ्ग ही है, अतः वाकर का सिद्धान्त ठीक नहीं है।

(२) लाभ का मजदूरी सिद्धान्त (The Wage Theory of Profits)—

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि लाभ को मजदूरी के रूप में समझना ही सबसे अधिक उपयुक्त है। टाजिग के अनुसार लाभ एक विशेष प्रकार की मजदूरी है। व्यवसायी की आय बहुत अनियमित और अनिश्चित होती है, क्योंकि वह उत्पादन की कुल लागत देने के पश्चात् बचती है, परन्तु यह आय संयोगवश प्राप्त नहीं होती है। इसका कारण कुछ विशेष प्रकार के गुणों, जैसे—कुशलता, संगठन की योग्यता, दूरदर्शिता, इत्यादि का उपयोग होता है और इन गुणों का उपयोग एक प्रकार का श्रम है, जिसे हम अधिक से अधिक मानसिक श्रम कह सकते हैं। टाजिग के अनुसार लाभ इसी विशेष प्रकार के मानसिक श्रम की मजदूरी है। यह श्रम लगभग उसी प्रकार का होता है जैसा कि एक वकील, डाक्टर या अध्यापक का श्रम।*

आलोचनाएँ—

इस सिद्धान्त में अच्छाई यह है कि यह लाभ की प्रकृति को समझाता है और लाभ को उचित सिद्ध करता है, परन्तु टाजिग ने लाभ और मजदूरी के साधारण भेद को भुला दिया है। अनेक कारणों से मजदूरी अनियमित,

---

1 "Profits are not due to mere chance, they are the outcome of the exercise of special ability; a sort of mental labour not much different from the labour of lawyers and judges."—Taussig: *Principles of Economics*, Vol II, p 273.

अनिश्चित तथा शून्य से कम नहीं हो सकती है, जबकि लाभ में ये तीनों गुण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) उत्पादक अथवा साहसी का प्रमुख कार्य जोखिम या अनिश्चितता उठाना है और लाभ इसी का पारितोषण है। एक श्रमिक, चाहे वह मानसिक काम करे या शारीरिक, जोखिम उठाने के लिए मजदूरी नहीं पाता है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि श्रमिक को भी अपना रोजगार खो देने का भय रहता है और आय के कम हो जाने का भय भी, परन्तु श्रमिक का पारितोषिक इस भय का फल नहीं होता, वरन् उसकी मेहनत का फल होता है।

(२) मजदूरी की अपेक्षा लाभ में संयोग या अच्छे भाग्य से प्राप्त होने वाला अंश अधिक प्रधान होता है। वास्तविक अर्थ में मजदूरी को कमाई हुई आय कहा जा सकता है, परन्तु लाभ सदा ऐसा नहीं होता है।

(३) अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में लाभ के बढ़ने की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि एकाधिकारी लाभ भी उसमें सम्मिलित हो जाते हैं, परन्तु यदि श्रम बाजार में स्पर्धा का अभाव है तो मजदूरी कम हो जाती है। सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों की आय की विवेचना से तो लाभ और मजदूरी का भेद और भी स्पष्ट हो जाता है। ऐसी कम्पनियों में प्रबन्ध की आय, जो मजदूरी होती है और साधारण हिस्सेदारों के पारितोषण भिन्न-भिन्न होते हैं और साधारण हिस्सेदार व्यवसाय की जोखिम उठाने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी काम नहीं करते हैं।

(३) लाभ का जोखिम-सहन सिद्धान्त (The Risk-bearing Theory of Profits)—

साधारणतया अधिकांश लोग खतरों को उठाना पसन्द नहीं करते हैं। जोखिम उठाना अरुचिकर होता है, इसीलिए साहसी व्यवसाय को आरम्भ करने में हिचकिचाता है। प्रत्येक व्यवसाय में एक प्रकार का सट्टा या जुआ होता है और जब तक साहसी को लाभ की आशा नहीं होती, वह व्यवसाय शुरू नहीं करता है। लाभ का प्रलोभन व्यवसाय आरम्भ करने के लिए अति आवश्यक है। जितनी अधिक जोखिम होती है, उतना ही अधिक लाभ का प्रलोभन भी होना चाहिये। जो लोग जोखिम उठाते हैं, वे साधारणतया पूँजी के ब्याज के अतिरिक्त और भी पारितोषण की आशा करते हैं। इस प्रकार लाभ को जोखिम उठाने की अरुचि का पुरस्कार समझना चाहिए। लाभ का

यह सिद्धान्त हाले (Hawley) द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उनका यह भी कहना है कि लाभ की मात्रा इतनी होनी चाहिए कि व्यवसाय आरम्भ करने की आवश्यकता के अनुसार पूरे अंश तक जोखिम उठाने की अरुचि का समाधान हो सके।

आलोचनाएँ—

इस बात से तो लगभग कोई भी इन्कार नहीं कर सकता है कि लाभ जोखिम उठाने के कारण प्राप्त होता है, यद्यपि इस सम्बन्ध में कारवर (Carver) का यह मत है कि लाभ खतरा उठाने से उत्पन्न नहीं होता, वरन् सुयोग्य व्यवसायी खतरा कम करके लाभ उठाते हैं*, सारहीन नहीं है, परन्तु यह समझना भूल होगी कि लाभ खतरे के अनुपात में होता है। यथार्थ में लाभ और खतरे के अंश के बीच कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नहीं है। हम इतना फिर भी कह सकते हैं कि शुद्ध लाभ एक प्रकार से ऐसे खतरों के उठाने से सम्बन्धित है, जो व्यवसायी उत्पत्ति के साधनों के नये संयोग (Combination) बनाने तथा भावी माँग के अनुमान लगाने में सहन करता है। दूसरे, इस सम्बन्ध में नाइट (F. H. Knight) की यह विवेचना कि खतरे दो प्रकार के होते हैं और केवल एक प्रकार के खतरे अर्थात् अनिश्चित खतरे उठाने से ही लाभ मिलता है, भी महत्त्वपूर्ण है।

(४) अनिश्चितता सहन सिद्धान्त (The Theory of Uncertainty-bearing)— Knight

प्रोफेसर नाइट के अनुसार अनिश्चितता सहन (Uncertainty-bearing) और जोखिम उठाने (Risk-taking) में भेद किया जा सकता है। उत्पत्ति तथा व्यवसाय से सम्बन्ध रखने वाले खतरे दो प्रकार के होते हैं। कुछ खतरे तो ऐसे होते हैं कि वे निश्चित अथवा जाने हुए होते हैं। उनका पहले से ही अनुमान लगाया जा सकता है और उनके लिये आरम्भ में ही व्यवस्था की जा सकती है। ऐसे खतरों की संख्या तथा गहराई नापी जा सकती है। उदाहरण के लिये, किसी समाज में दुर्घटनाओं के द्वारा मृत्यु अर्थ का अङ्क-विज्ञान की सहायता से पता लगाया जा सकता है और उसी के हिसाब से उसके लिए किश्त की दर (Premium) बाँधी जा सकती है। एक किसान जब वर्षा ऋतु में बाग में छोटे-छोटे पौधे लगाता है तो इस बात को भली-भाँति जानता है कि सर्दी के मौसम में कोहरा और पाला पड़ेगा और वह पहले से जाड़े में इन पौधों की सुरक्षा का प्रबन्ध कर लेता है। इस प्रकार के तमाम खतरे ज्ञात होते हैं और इनके लिए जो व्यवस्था की जाती है, वह भी पहले से ही ज्ञात होती है। प्रत्येक उत्पादक इस व्यवस्था को अपने उत्पादन-व्यय का एक

1 *Carver : *Distribution of Wealth*, p. 274.

आवश्यक अंग समझना है और इसलिए इस प्रकार के खर्च उत्पादन-व्यय में सम्मिलित होते हैं।

परन्तु अनिश्चितता इससे भिन्न है। नाइट के अनुसार अनिश्चितता "अनियमित आय की आशा है।" ये ऐसे खतरे होते हैं, जिनकी व्यापकता नापी नहीं जा सकती है और उनके लिए किश्त की दर पहले से नियत नहीं की जा सकती है। बाग लगाते समय किसान ने यह तो सोच लिया है कि जाड़ों में पाला पड़ेगा, परन्तु यह भी सम्भव है कि अक्टूबर में बाढ़ आ जाने के कारण बाग नष्ट हो जाय। इस खतरे को अज्ञात खतरा ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार की अनिश्चितता को उठाने के लिए लाभ मिलता है। इन अज्ञात खतरों को नाइट ने अनिश्चितता का नाम दिया है, जबकि ज्ञात खतरों को खतरा या जोखिम कहा जा सकता है।*

नाइट का विचार है कि अनिश्चितता उठाना भी एक उत्पत्ति का साधन है और साथ ही, इसकी अन्य साधनों की भाँति माँग की कीमत (Demand Price) भी होती है। माँग का कारण यह है कि अनिश्चितता उठाना एक उत्पादक कार्य है। इसी प्रकार अनिश्चितता सहन का पूर्ति-मूल्य भी होता है। जब एक निश्चित लाभ की आशा नहीं होगी, कोई भी अनिश्चितता सहन करने को तैयार नहीं होगा। यह पूर्ति-मूल्य कई बातों पर निर्भर होता है, जैसे कि साहसी का चरित्र और मनोवृत्ति। कुछ लोग स्वभाव से ही सुरक्षा के पक्षपाती होते हैं और इसके विपरीत कुछ लोग जुआरी प्रकृति के होते हैं और थोड़ी सी ही आशा पर खिंचे चले आते हैं। दूसरे, पूँजी लगाने वालों के कुल साधनों की मात्रा भी महत्त्वपूर्ण होती है। साधारणतया एक धनी व्यक्ति जिसने व्यवसाय को चलाने का पक्का इरादा कर लिया है, अधिक अनिश्चितता उठा सकता है। तीसरे, अनिश्चितता की पूर्ति का मूल्य इस बात पर भी निर्भर होता है कि साहसी अपने कुल साधनों का कौनसा भाग खतरे में डालने को तैयार हो जाता है। यदि पूँजी के बड़े भाग के लगाने का प्रश्न उठता है तो अधिक लाभ की आशा की जायगी। यदि कुल पूँजी का छोटा-सा भाग ही लगाना है तो थोड़े लाभ पर ही साहसी राजी हो जायगा। साम्य में लाभ इतना होना चाहिए कि अनिश्चितता-सहन की पूर्ति उसकी माँग के बराबर हो जाय।

इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि अनिश्चितता-सहन और पूँजी दोनों मिल कर ही पारितोषण पाते हैं। बिना अनिश्चितता उठाये कोई भी साहसी केवल पूँजी के द्वारा लाभ नहीं कमा सकता है। इसी प्रकार पूँजी के बिना अनिश्चितता उठाने का भी कोई अर्थ नहीं होता है, खतरा पूँजी के सम्बन्ध में तथा पूँजी के ऊपर ही उठाया जाता है।

1 F H. Knight : Risk, *Uncertainty and Profit.*

आलोचनाएँ—

नाइट के इस सिद्धान्त की कई कारणों से आलोचना की जा सकती है :—प्रथम तो, अनिश्चितता उठाने को उत्पत्ति का एक अलग साधन नहीं माना जा सकता है। यदि कुछ श्रमिक गन्दी परिस्थितियों में काम करके अधिक मजदूरी पाते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं हो जाता कि गन्दी परिस्थितियाँ ही ऊँची मजदूरी का कारण हैं। ठीक इसी प्रकार यदि एक उत्पादक अनिश्चित परिस्थितियों में काम करके लाभ कमाता है, तो लाभ को अनिश्चितता से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता है। अनिश्चितता तो उत्पादक के कार्य की विशेषता मात्र है, जिसका प्रभाव यह होता है कि पूँजी का मूल्य बढ़ जाता है। अनिश्चितता को उत्पत्ति का साधन तभी कहा जा सकता है, जबकि हम वास्तविक उत्पादन-व्यय (Real Cost of Production) के सिद्धान्त को अपनायें, जिसके अन्तर्गत हर प्रकार की लागत कष्ट अथवा अनुपयोगिता में नापी जाती है, परन्तु अपनी आर्थिक विवेचना में हम कष्ट के स्थान पर द्रव्य में ही प्रत्येक लागत को नापते हैं। दूसरे, केवल अनिश्चितता द्वारा ही साहसी वर्ग की पूर्ति प्रभावित नहीं होती है। सामाजिक वातावरण, राज्य के नियम, कोष की कमी, ज्ञान का अभाव, अवसरहीनता, आदि अनेक कारण हैं, जो साहसी वर्ग की पूर्ति को सीमित कर देते हैं। तीसरे, केवल अनिश्चितता का सहन करना ही साहसी का कार्य नहीं है। उसे और भी बहुत से काम करने होते हैं, जैसे—सौदा करना, साधनों के कार्य को सम्बद्ध करना, इत्यादि। लाभ इन सब कार्यों के फलस्वरूप प्राप्त होता है। चौथे, नाइट के सिद्धान्त के अनुसार लाभ एक प्रकार की आकस्मिक कमाई (Windfall Gain) है, जो बहुत अनिश्चित तथा पूर्णतया अज्ञात है। यह बहुत बार कोरी कल्पना हो सकता है और शून्य से भी नीचे अर्थात् हानि में हो सकता है।

(४) लाभ का प्रवैगिक या गतिशीलता का सिद्धान्त (The Dynamic Theory of Profits)—

प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री क्लार्क (J.B. Clark) का मत है कि लाभ का सम्बन्ध केवल प्रवैगिक स्थिति (Dynamic State) से ही है। गतिहीन अवस्था में जन-संख्या, पूँजी की मात्रा, मानव आवश्यकताएँ और उनके गुण, उत्पादन प्रणालियाँ, व्यावसायिक संगठन, व्यापारिक प्रथायें, इत्यादि यथास्थिर रहते हैं और इसलिये प्रतियोगिता के कारण अन्त में लाभ का अन्त हो जाता है। क्लार्क के अनुसार लाभ बिक्री के मूल्य और व्यय के अन्तर के बराबर होता है। यह यथार्थ में व्यय पर आधिक्य होता है, परन्तु जब कण्ठछेदी प्रतियोगिता बिना किसी प्रतिबन्ध के होती रहती है तो प्रत्येक विक्रेता दाम घटा कर और अधिक बिक्री करके लाभ कमाने का प्रयत्न करता है। अब क्योंकि इस अवस्था में ग्राहकों को कीमतों के परिवर्तनों

का पूर्ण ज्ञान होता है, इसलिये पूर्ण प्रतियोगिता की दशा उत्पन्न हो जाती है और लाभ का अन्त हो जाता है। साथ ही, गतिहीन दशा में न कोई खतरा होता है और न कोई अनिश्चितता, इसलिए लाभ का प्रश्न ही नहीं उठता।

परन्तु हम गतिहीन अवस्था में नहीं हैं। हमारा संसार प्रवैगिक है। दिन प्रति दिन ही इस संसार में परिवर्तन होते रहते हैं। इस गतिशील संसार में साहसी का कार्य, प्रबन्ध अथवा जोखिम उठाने से सम्बन्धित नहीं होता है। उसका कार्य पथ-प्रदर्शक (Pioneer) का होता है तथा वह नई-नई उत्पादन रीतियों को ग्रहण करके आर्थिक और औद्योगिक संगठन के रूप में बदलता रहता है। एक चतुर और अनुभवी साहसी नये आविष्कारों को अपनाकर अथवा बिक्री या विज्ञापन की नई रीतियों के द्वारा तो अपनी लागत को कम करता है या बिक्री को बढ़ाता है और इस प्रकार लाभ कमाता है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि कुछ समय पश्चात् दूसरे उत्पादक भी इन नई रीतियों को अपना लेते हैं और प्रतियोगी बन जाते हैं, जिसके फलस्वरूप लाभ फिर लुप्त होने लगता है, परन्तु इस परिवर्तनशील संसार में एक चतुर साहसी के लिए सुधार करने के असीमित अवसर रहते हैं। उत्पादन और बिक्री-विधि में नये परिवर्तनों की सम्भावना सदा ही बनी रहती है और इसीलिए लाभ कमाने का अवसर भी बना रहता है। स्पष्ट है कि यह अवसर केवल इसीलिए रहता है कि संसार प्रवैगिक अवस्था में है। यदि गतिहीन दशा हो तो साहसी को केवल प्रबन्धक की मजदूरी मिल सकेगी। उसे लाभ नहीं होगा।[1]

आलोचनाएँ—

नाइट और टाज़िग ने इस सिद्धान्त की आलोचना की है। नाइट का कहना है कि आर्थिक संगठन के परिवर्तन भी दो प्रकार के होते हैं: एक तो वे जो नियमित, ज्ञात अथवा निश्चित होते हैं। उनके लिए ज्ञात खतरों की भाँति पहले से ही व्यवस्था कर ली जाती है और वे लाभ को उत्पन्न नहीं करते हैं, परन्तु जो परिवर्तन अनिश्चित होते हैं उनके लिए कोई प्रबन्ध नहीं हो पाता है और वही लाभ का कारण होते हैं। इस प्रकार लाभ अनिश्चितता द्वारा ही उत्पन्न होता है।[2]

टाज़िग का विचार है कि क्लार्क ने लाभ और प्रबन्धक की आय के बीच जो भेद किया है वह बनावटी है और वास्तविक नहीं कहा जा सकता है। "पुराने स्थायी व्यवसायों में भी प्रबन्ध सम्बन्धी दैनिक समस्याओं के सुलझाने में निर्णय शक्ति और कुशलता की आवश्यकता होती है। आधुनिक प्रगतिशील

1. J. B Clark : *Essentials of Economic Theory*.
2. "It is not dynamic change, nor change as such which causes profits but the divergence of actual conditions from those which have been expected and on the basis of which business arrangements have been made." - F. H. Knight.

तथा शीघ्र-परिवर्तनीय काल में भी इन गुणों के लाभपूर्ण उपयोग की आवश्यकता शेष रहती है।"* गतिहीन स्थिति में भी कुछ कुछ खतरे जिन्हें व्यक्तिगत खतरे (Personal Risks) कहते हैं, जैसे—उत्पादक की लापरवाही, मजदूरों की काम टालने की प्रवृत्ति, इत्यादि अवश्य रहते हैं, इसलिए लाभ पूर्णतया समाप्त नहीं हो सकता है।

(६) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (The Marginal Productivity Theory)—

इस सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक अध्ययन हम पहले कर चुके हैं। इसके अनुसार उत्पत्ति के साधन, साहस का पारितोषण उसकी सीमान्त उत्पादकता द्वारा नियत होता है और दीर्घकाल में उसकी सीमान्त उपज के मूल्य के बराबर होता है। लाभ का मुख्य कारण साहस की उत्पादकता (Productivity) अथवा उत्पादन-शक्ति है।

इस प्रकार जितनी ही साहस की सीमान्त उत्पादकता अधिक होगी उतना ही लाभ भी अधिक होगा। साधारणतया आधुनिक उत्पादन प्रणालियों में विशेष प्रकार की योग्यता के साहसियों की कमी रहती है, इसीलिए लाभ ऊँचे रहते हैं। अनिश्चितता का अंश जितना ही अधिक होता है उतनी ही उसके लिए साहसियों की कमी होती है और उतना ही उसमें लाभ भी अधिक रहता है। इस सिद्धान्त को साहस और उत्पत्ति के दूसरे साधनों पर लागू करने में केवल एक ही अन्तर रहता है। प्रतियोगिता शक्ति दूसरे साधनों पर परोक्ष रूप में सेवायोजक के द्वारा लागू होती है, किन्तु साहस स्वयं सेवायोजक प्रस्तुत करता है।

आलोचनाएँ—

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनाओं का हमने पीछे भी अध्ययन किया है। प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार हैं:—(१) प्रत्येक दशा में सीमांन्त उपज की कीमत का पता लगा लेना सम्भव नहीं होता है। (२) सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त लाभ की विवेचना केवल साहस की माँग के दृष्टिकोण से करता है। यह सिद्धान्त साहस की पूर्ति पर विचार नहीं करता है। (३) साहस की सीमान्त उत्पादकता का पता लगा लेना विशेषकर कठिन होता है। साहस की एक इकाई को उत्पादन कार्य में से निकाल देने का परिणाम यह होता है कि सारा का सारा उत्पादन कार्य अस्त-व्यस्त हो जाता है और इस प्रकार निकाली हुई सीमान्त उपज साहस की असली देन को सूचित नहीं करेगी।

(७) लाभ का समाजवादी सिद्धान्त (The Socialist Theory of Profits)—

लाभ के इस सिद्धान्त को महान समाजवादी लेखक कार्ल मार्क्स (Karl

3. Taussing : *Principles of Economics*, Vol. II, p. 12?.

Marx) के नाम से सम्बन्धित किया जा सकता है कार्ल मार्क्स के अनुसार मूल्य का एक मात्र कारण श्रम है, इसलिए जितनी भी कुल उत्पत्ति होती है वह सारी की सारी श्रमिक को मिलनी चाहिए। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में कुल कीमत (श्रम की कुल कमाई) का केवल एक भाग ही श्रमिक को प्राप्त होता है, शेष पूँजीपति को लाभ के रूप में मिलता है। इस प्रकार श्रमिक कुछ समय तो अपनी मजदूरी उत्पन्न करने के लिए काम करता है, परन्तु अधिकांश समय तक वह ऐसे मूल्य का उत्पादन करता है जिसे पूँजीपति हड़प लेगा। ऐसे मूल्य को मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) कहा है। लाभ इसी अतिरिक्त मूल्य में से उत्पन्न होता है। इस प्रकार लाभ एक प्रकार की हड़प या एक प्रकार का कानूनी डाका है। यह पूँजीपति द्वारा श्रमिक के शोषण के अंश को दिखाता है। जो कुछ भी उत्पादक को लाभ के रूप में मिलता है वह शोषण द्वारा उत्पन्न होता है। पूँजीपति का हित इसी में होता है कि अतिरिक्त मूल्य की मात्रा को बढ़ाकर श्रमिकों का और अधिक शोषण करे तथा लाभों को और बढ़ाये।

आलोचनाएँ—

यह सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) पर आधारित है, जिसके अनुसार केवल श्रम ही मूल्य का सृजन करता है। वास्तव में यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। लाभ को लूट कहने का अर्थ यह होता है कि साहसी के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया जाता है। दूसरे, इस सिद्धान्त का अर्थ यह होगा कि योग्य साहसी ऊंचे लाभ नहीं कमा सकता है। ऊंचे लाभ तो तभी कमाये जा सकते हैं जबकि श्रम का और अधिक शोषण किया जाय। तीसरे, आधुनिक समाजवादी देशों में भी लाभ रहता है। कम से कम हिसाब रखने और विभिन्न उद्योगों की तुलनात्मक स्थिति का पता लगाने के लिए लाभ की दर अवश्य निकाली जाती है।

(८) लाभ की मांग और पूर्ति का सिद्धान्त (The Demand and Supply Theory of Profits)—

लाभ निर्धारण का यह सिद्धान्त सबसे नया तथा सबसे सही है। अन्य वस्तुओं का मूल्य जिस सिद्धान्त द्वारा नियत होता है वही साहस का मूल्य-निर्धारण भी करता है। उत्पत्ति के साधनों तथा साधारण वस्तुओं में भेद न करने की प्रवृत्ति आधुनिक अर्थशास्त्र का एक सर्वमान्य नियम है, अतः मूल्य का सामान्य सिद्धान्त, अर्थात् मांग और पूर्ति का सिद्धान्त, साहस के मूल्य अथवा लाभ निर्धारण के लिए भी उपयोग किया जाता है।

अन्य वस्तुओं की भाँति साहस की भी माँग होती है, जो उत्पत्ति के आकार (Size) तथा साहस की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होती है। इसी प्रकार साहस की पूर्ति भी होती है, जो जन-संख्या के चरित्र, उसकी मनोवृत्ति, व्यवसाय की अनिश्चितता, आदि अनेक कारणों पर निर्भर होती है। जिस स्थान पर साहस की माँग और पूर्ति बराबर होते हैं, साम्य में, चाहे वह स्थायी हो या प्रवैगिक, वहीं पर लाभ की दर नियत होती है।

इस सिद्धान्त को भली भाँति समझने के लिए साहस की माँग और पूर्ति को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक होगा। साहस की माँग मुख्यतया साहस की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होती है। जितना ही साहस अधिक उत्पादक होगा उतनी ही उसकी माँग भी अधिक होगी। इसके अतिरिक्त एक देश में साहस की माँग निम्न बातों पर और भी निर्भर होती है :—(१) देश में औद्योगिक विकास की स्थिति, (२) देश में उत्पत्ति के पैमाने का विस्तार और (३) देश में उद्योगों की प्रकृति। औद्योगिक विकास जितना आगे बढ़ता है और उत्पत्ति के पैमाने का जितना ही विस्तार होता है उतनी ही साहस की माँग अधिक होगी। इसी प्रकार कुछ उद्योगों में दूसरों की तुलना में जोखिम का अंश अधिक रहता है।

साहस की पूर्ति भी अनेक बातों पर निर्भर होती है। प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं :—(१) देश में औद्योगिक विकास की स्थिति। जितना ही किसी देश के निवासियों को औद्योगिक क्षेत्र में लम्बा अनुभव होगा उतनी साहस की पूर्ति भी अधिक होगी। (२) जन-संख्या का आकार। यदि किसी देश में जन-संख्या बड़ी है तो साहस की पूर्ति अधिक होगी। (३) एक धनी देश के साहस की पूर्ति अधिक होनी है। धनवान व्यक्ति में जोखिम उठाने की क्षमता अधिक होती है। (४) देश के आय के वितरण की दशा। जिस देश में कुछ व्यक्ति बहुत अमीर होते हैं और अधिकाँश व्यक्ति गरीब होते हैं, अर्थात् जिस देश में आय के वितरण की असमानताएँ अधिक होनी हैं वहाँ साहस की पूर्ति अधिक होती है। (५) जन-संख्या का चरित्र भी साहस की पूर्ति को निश्चित करता है। कुछ देशों के लोग स्वभाव से ही अधिक साहसी होते हैं। (६) व्यवसाय में जोखिम का अंश। साधारणतया जिन व्यवसायों में जोखिम का अंश कम होता है वहाँ साहस की पूर्ति अधिक होती है।

साहस की माँग और पूर्ति की विवेचना के पश्चात् लाभ के निर्धारण की समस्या सरल होती है। साम्य की दशा में लाभ की दर उस बिन्दु पर निश्चित होती है जहाँ साहस की माँग और पूर्ति बराबर होते हैं, जैसा कि नीचे के रेखा चित्र से स्पष्ट होता है :—
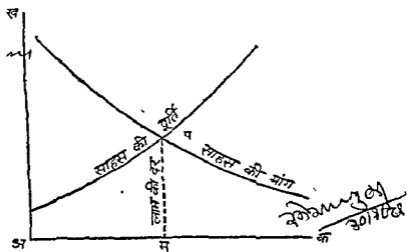
इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि साहस को एक साधारण वस्तु या सेवा की भाँति समझा गया है, जिसकी कीमत (लाभ) ठीक इसी प्रकार निर्धारित होती है जैसे किसी दूसरी वस्तु अथवा सेवा की कीमत, किन्तु इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि साहस और साधारण सेवा में अन्तर होता है। साहस किसी शारीरिक या मानसिक कार्य को सूचित नहीं करता है, यह तो खतरे या अनिश्चितता को सहन करने की क्षमता को दिखाता है।

क्या लाभ की कोई सामान्य दर होती है ?—

इस सम्बन्ध में यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि ब्याज और मजदूरी की भाँति लाभ की कोई सामान्य दर नहीं हो सकती है। दूसरे शब्दों में, लाभ की दर समान होने की सम्भावना नहीं होती है। यह सम्भव है कि कुछ दशाओं में कुछ प्रकार के लाभ सभी जगह तथा सभी उद्योगों में समान हो जायँ, परन्तु सामान्य रूप से ऐसा नहीं हो सकता। साम्य की दशा में प्रतियोगिता के अन्तर्गत सामान्य लाभ तथा प्रबन्ध की आय के रूप में प्राप्त होने वाले लाभ की दरें समान हो जायँगी, जबकि शुद्ध लाभ पूर्णतया समाप्त हो जायगा। इसी प्रकार अनिश्चितता का अभाव लाभ की दरों की समान[ता] प्रदान करने की प्रवृत्ति रखता है, परन्तु इस दशा में भी योग्यता के लग[ान] रूप में मिलने वाले लाभ की दरों में अन्तर रहेगा। हम केवल इतना क[ह सकते] हैं कि प्रतियोगिता का असीमित होना दीर्घकाल में लाभ को समान करने [की प्रवृत्ति] रखता है। अल्पकाल में तो इसकी दरों में भारी असमानता होना आ[वश्यक है।]

परन्तु वास्तव में हम गतिशील संसार में रहते है, जिसमें [सब कुछ] बदलता रहता है और अनिश्चितता सदा ही बनी रहती है। ऐ[सी दशा में] लाभ की दरों में समानता की दीर्घकालीन प्रवृत्ति भी नहीं होती है [और लाभ] की दरों में विशाल अन्तर हो रहेंगे, क्योंकि अनिश्चित वाता[वरण में साहसी] वर्ग की पूर्ति सीमित ही रहती है।

लाभ की वाँछनीयता या औचित्य (Justification)—

सभी समाजवादी लेखकों ने लाभ की कड़ी आलोचना की है। मार्क्स (Marx) के अनुसार लाभ एक चोरी है, क्योंकि यह वह अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) है जो मजदूरों से छीना गया है। अधिक लाभ मजदूरों के अधिक शोषण के अतिरिक्त और कुछ भी सूचित नहीं करता है। बात यह है कि कुल मूल्य श्रमिकों द्वारा उत्पन्न किया जाता है, परन्तु यह सब श्रमिकों को नहीं मिल पाता है, वरन् पूँजीपति उसमें से बहुत सा भाग स्वयं हड़प जाता है, जिसे हम लाभ कहते हैं। ऐसी दशा में लाभ का उचित नहीं कहा जा सकता है।

जन-साधारण भी लाभ को घृणा तथा शङ्का की दृष्टि से देखता है, क्योंकि लाभ में ऐसी आय भी समाविष्ट होती है जिसे नैतिकता के किसी भी आदर्श से उचित नहीं कहा जा सकता है। कुछ व्यवसायी एकाधिकार स्थापित करके तथा औद्योगिक संघ बना कर जनता का शोषण करते हैं और लाभ कमाते हैं। स्टॉक एक्सचेंज से लाभ कमाना एक प्रकार का जुआ खेलना ही होता है। मजदूरों की निर्धनता, असहाय अवस्था तथा उनके संगठन की कमजोरी से लाभ उठाकर उनका शोषण करने से कोई भी पूँजीपति नहीं चूकता है। अनेक अनुचित उपायों तथा बेईमानियों से लाभ में वृद्धि करने का प्रयत्न किया जाता है। धोखा देना और झूठ बोलना आजकल के व्यवसाय में व्यावसायिक नीति समझा जाता है।

परन्तु स्मरण रहे कि उपरोक्त दोष दो कारणों से उत्पन्न होते हैं : प्रथम तो, प्रतियोगिता का अभाव और दूसरे, व्यावसायिक चरित्र हीनता। इन दोनों दिशाओं में सुधार करके इन दोषों को एक अंश तक अवश्य दूर किया जा सकता है। निजी सम्पत्ति वाली अर्थ व्यवस्था में लाभ का होना आवश्यक है, क्योंकि पूँजीवाद लाभ के उद्देश्य पर ही आधारित है। जिस प्रकार प्रतीक्षा करने के लिए ब्याज का मिलना आवश्यक है उसी प्रकार अनिश्चितता सहन के लिए लाभ मिलना चाहिये। साहसी की सेवायें उपयोगी और उत्पादक होती हैं और उनको प्राप्त किये बिना समाज का काम नहीं चल सकता है, परन्तु यदि निजी सम्पत्ति का ही अन्त हो जाय तो फिर लाभ का अन्त स्वय हो जायगा।

लाभ और ब्याज—

व्य।

देश मे अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि लाभ और ब्याज में क्या
न्ध हैं। पुराने अर्थशास्त्रियों ने जिनमें एडम स्मिथ और रिकार्डो भी शामिल
अधिक है। और ब्याज में भेद नहीं किया है और दोनों को पूंजी का ही पारितोषिक
करता है। वु। अब भी ब्याज तथा लाभ दोनों की दरें पूंजी के अनुपात में ही नियत
व्यवसाय में जोसलिए दोनों में समानता दृष्टिगोचर होती है, परन्तु अर्थशास्त्र के
कम होता है वहलिए दोनों का अन्तर स्पष्ट होना चाहिए। पूंजी और साहस दोनों
लग-अलग साधन हैं और इसलिये दोनों के पारितोषिक भिन्न-भिन्न
साहस कीन काल में जोखिम उठाने के कार्य को बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं समझा
समस्या सरल होतकि उत्पत्ति छोटे पैमाने पर होती थी और बाजार तथा प्रतियोगिता
होती है जहाँ साहसी विस्तृत नहीं थीं जितनी आविष्कारों और यातायात के विकास
रेखा चित्र से स्पष्ट हैं कर दी हैं।